



सद्धर्ममण्डनम्

पूज्य श्री हुम्मीचन्द्रजी महाराजके पाटालुपाट पर विराजमान
 प्रतिपादिमानमर्दन विद्वद्भ्य १००८ पूज्य श्री
 जगद्गुरु लालजी महागज द्वारा
 विरचित ।

सरदार सहर निवासी तनसुखदास फूसराज दृगडने
 छपाकर प्रकाशित किया ।

स्वरजगजीवरत्नखण्डयट्ट्याए पावषण
 भगवया सुकहियं

वीर निर्माणवद् २५५८ सी. ए. वि. वि. क्रमाव्द १९८८
 ई. ए. ए. (न. न. न. न. न.)

मुद्रक
 किशोरमित्र कार्यालय
 १४१ ए, राम्बू चण्डी स्ट्रीट, कलकत्ता ।

प्रथमावृत्ति २०००]

मूल्य ५।।

प्रस्तावना ।

—*—

यस्य ज्ञान मनत वस्तुविषय य पूज्यते दैवते
 नित्य यस्य वचो न दुर्नय कृते कोलाहलैलुप्यते
 रागद्वेषमुत्सदिपाञ्च परिपत् क्षिप्ता क्षणागेन सा
 सश्रीवीरविभु विधूतकरुपा बुद्धि विधत्ता मम ?

जिसका ज्ञान अनत वस्तुओको विषय करता है, देवता जिसकी पूजा करते हैं, जिसका वचन दुर्नयकृत कोलाहलोसे छुप्त नहीं होता, और जिसने रागद्वेष प्रमुत्त शत्रु-समूहको क्षणभरमें भगा दिया था वह श्री वीर प्रभु हमारी बुद्धिको निर्मल करें ।

प्रिय वाचस्पत्यन् ।

इम समारमे धर्मके समान दूसरा कोई श्रेष्ठ और उपकारक वस्तु नहीं है । धर्म ही प्राणियोंको विपत्तिमें सहायता देने वाला सच्चा मित्र है । सासारिक सभी पदार्थ शरीर के साथ ही इस लोकमें रह जाते हैं पर धर्म परलोकमें भी जीरके साथ जाता है और विपत्तिसे दृष्टा कर जीवको सुख शान्ति देता है । जैसे कि कहा है—

“धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्य्या गृह द्वारि जना श्मशाने । देहश्चिताया परलोक
 माने धर्मानुगो गच्छति जीव एव”

अर्थात् धन पृथिवी पर, पशु गोष्ठमें स्त्री, घरके द्वार पर और वन्धु वान्धव श्मशानमें, देह चिता पर रह जाते हैं पर एक धर्म इस जीव के साथ परलोक में भी जाता है । अत जो मनुष्य धर्मका संग्रह नहीं करता उसको पशुकी उपमा दी गयी है । क्योंकि पशु और मनुष्योमें यही अन्तर है कि पशु धर्मका संग्रह नहीं कर सकता और मनुष्य कर सकता है ।

धड़े मड़े ऋषि महर्षियोंने मनुष्योंके कल्याणार्थ धर्माचरण करनेका उपदेश किया है और धर्मकी बड़ी विशद व्याख्या की है । शास्त्र धर्मकी व्याख्या मात्र हैं । जैसे वस्त्र तन्तुमय और घट मृण्मय होता है उसी तरह शास्त्र भी धर्ममय हैं । शास्त्रोंमें अनेक प्रकार के धर्म बतलाए हैं पर सब धर्मोंमें श्रेष्ठ और सबका मूलभूत धर्म जीवरक्षा रूप धर्म कहा गया है । जैनागमका तो इसीके लिये निर्माण ही हुआ है । प्रश्न व्याकरण सूत्रके प्रथम संवर द्वारमें लिखा है कि “सर्व्व जग जीव रक्षण दयकृशाए पात्रयण भयया सुकहिय”

अर्थात् जगन्के सम्पूर्ण जीवोकी रक्षा रूप दयाके लिये भगवान्ने प्रवचन कहा है। इस मूलपाठमे जीव-रक्षा रूप धर्मके लिये जैनागमकी रचना होना बतलायी गई है। अतः जीवरक्षा रूप धर्म जैन धर्मका प्रधान अङ्ग है। उस जीवरक्षाको जो धर्म मानता है और विधिवत् उसका पालन करता है वही तीर्थङ्करकी आज्ञाका आराधक पुरुष है। इसके विपरीत जो जीवरक्षाको धर्म नहीं मानता किन्तु इसको पाप अथवा अधर्म बतलाता है वह धर्मका द्रोही और वीतरागकी आज्ञाका तिरस्कार करने वाला है।

वे बल जैनधर्म ही जीवरक्षाको प्रधान धर्म नहीं बतलाता किन्तु दूसरे मतवाले शास्त्र भी इसे सर्वोत्तम और सर्वप्रधान धर्म मानते हैं। महाभारत शान्तिपर्वमे लिखा है कि—“प्राणिना रक्षणं युक्तं मृत्युभीतादि जन्तवः आत्मौपम्येन जानन्निरिष्ट सर्वस्य जीवितम्”

“दीयते मार्क्यमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा । धनकोटिं परित्यज्य जीवो जीवितु मित्ति” ।

जीवाना रक्षणं श्रेष्ठं जीवा जीवितं काक्षिण
तस्मात्समस्तदानेभ्योऽभयदानं प्रशस्यते
एकत काश्चनो मेरुर्द्रुवत्त्वा चसुन्धरा
एकतो भय भीतस्य प्राणिनः प्राणरक्षणम्”

अर्थात् जैसे अपना जीवन इष्ट है उसी तरह सभी प्राणियोंका अपना अपना जीवन इष्ट है, सभी जीव मरनेसे डरते हैं इसलिये सभीको अपने समान जान कर उनकी प्राणरक्षा करनी चाहिये ।

मारे जगने वाले पुरुषको एक तरफ करोडो धन दिया जाय और दूसरी ओर उसका जीवन दिया जाय तो वह धन छोड़ कर जीवनकी ही इच्छा करता है ।

जीव रक्षा करना सबसे प्रधान धर्म है। सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं । इसलिये सभी दानोंमें अभयदान यानि जीवरक्षा करना श्रेष्ठ है ।

एक तरफ सोनेका पर्वत मरु और बहु दान पृथ्वी रख दी जाय और दूसरे तरफ मृत्युभीत पुरुषका प्राणरक्षण रूप धर्म रख दियाजाय तो प्राणरक्षा रूप धर्म ही श्रेष्ठ सिद्ध हो गा ।

इसी प्रकार विष्णु पुराणमे भी लिखा है—

“क पशुना सहस्राण योद्विजन्म्य प्रयच्छति
एकस्य जीवितं दद्यान्नच तुल्यं युधिष्ठिर”

- अर्थात् जो पुरुष हजार गायें ब्राह्मणोंको दान देता है वह यदि एक प्राणी को जीवन दान देवे तो उसके इस कार्योंके तुल्य पहला कार्य नहीं है यानी जीवनदान देना गोदानसे भी श्रेष्ठ है।

इत्यादि अन्वय मतानुसारी शास्त्रोक्त भी जीवरक्षाको सर्वोत्तम धर्म माना है और जैनागमका तो यह प्राण ही है। पर आजकल हुण्डा अवर्षिणी कालके प्रभावसे श्वेताम्बर जैन धर्मके अन्दर एक 'तेरह पन्थ' नामक सम्प्रदाय प्रकट हुआ है। यह सम्प्रदाय जैनधर्मके मूल भूत जीवरक्षा धर्मको विनाश करके जैनधर्मका मूलोच्छेद करना चाहता है। इसके सिद्धांतोंके नमूने कुछ यहाँ बतलाये जाते हैं।

(१) गायोंसे भरे हुए बाड़ेमें यद्व आग लग जाय और कोई दयावान् पुरुष उस बाड़े के द्वारको खोल कर गायों की रक्षा करे तो उसे तेरह पन्थी एकान्त पापी कहते हैं।

(२) भारसे पूर्ण गाड़ी आ रही है और मार्गमें कोई बालक सोया हुआ है उस बालकको कोई दयावान् पुरुष उठा लेवे तो इस कार्यको तेरह पन्थ सम्प्रदाय एकान्त पाप बतलाता है।

(३) तीन मञ्जिल पर से कोई बालक गिरता हो तो उस को ऊपर ही पकड़ कर बचाने वाले दयावान् पुरुष को तेरह पन्थी एकान्त पाप करने वाला बतलाते हैं।

(४) पञ्चमहाव्रतधारी साधु के गले में किसी दुष्ट के द्वारा लगी हुई फासी को यदि कोई दयालु पुरुष खोल देवे तो उस में तेरह पन्थी एकान्त पाप होना बतलाते हैं।

(५) कसाई आदि हिंसक प्राणीके हाथसे मारे जाते हुए बकरे आदि की प्राण रक्षा करनेके लिये यदि कोई कसाईको नहीं मारनेका उपदेश देवे तो तेरह पन्थी उसे एकान्त पाप कहते हैं।

(६) किसी गृहस्थके नौके नीचे कोई जानवर आ गया हो तो उसको बतलाने वाले दयावान् पुरुषको तेरह पन्थी एकान्त पाप होना कहते हैं।

(७) तेरह पन्थके साधुओंके सिखाय संसारके सभी प्राणियों को तेरह पन्थी "कुपात्र" कहते हैं।

(८) तेरह पन्थके साधुओंके सिखाय दूबरेको दान देना, मांस भक्षण मद्यपान और वैश्यागमनके समान एकान्त पाप तेरह पन्थी बतलाते हैं।

(९) पुत्र अपने माता पिताकी और स्त्री, अपने पतिकी सेवा शुश्रूषा करे तो इस कार्यको तेरह पन्थी एकान्त पाप कहते हैं।

(१०) किसी गृहस्थके घरमें आग लग गयी हो और गृहस्थका परिवार घरका द्वार बन्द होनेके कारण बाहर नहीं निकल सकता हो किन्तु घरके भीतर आगमें जड़ते हुए मनुष्य, स्त्री और बच्चे आदि आर्तनाद करते हों तो उस घरका द्वार खोल कर उन प्राणियोंकी रक्षा करने वालेको तेरह पन्थी एकान्त पाप कानेवाला कहते हैं और उस घरका द्वार नहीं खोलना धम बतलाते हैं । जैसे कि भीषणजीने लिखा है—

“गृहस्थरे लायो लायो घर वरे निकलियो न जायो । बलशा जीव बिल बिड बोले साधु जाई किमाह न खोले”

यही भीषणजी इस तेरह पन्थ सम्प्रदायके प्रवर्तक हुए हैं । इनका वृत्तान्त दीप विजयजीकी चर्चामे इस प्रकार लिखा है ।

मारवाड देशमे ‘कण्ठालिया’ नामक ग्रामका रहने वाला ओसवाल सकलेचा गोश्री भीषणचन्द नामक व्यक्तिने सम्बत् १८०८ मे वाईस सम्प्रदायके पूज्य आचार्य श्री रघुनाथजी महाराजसे दीक्षा ग्रहण की । पश्चात् शहर मेरताके अन्दर श्री रघुनाथजी महाराज, भीषणचन्दजीको भगवती सूत्र पढ़ाने लगे । भीषणजीको कितनी बातें जचतीं और कितनी नहीं जचतीं । यह चेष्टा श्रावक समर्थमलजी धाडीवालने देखी । उक्त श्रावकने पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजसे कहा कि आप भीषणजीको भगवती सूत्र पढ़ा कर सर्पको दूध पिला रहे हैं । यह भीषणजी आगे चल कर निन्दव होगा और उत्सृष्ट प्ररूपणा करेगा ।

यह सुन कर पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने कहा कि पहले भी भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक और जामाली को पढ़ाया था और वे निन्दव हुए, यह उनके कर्मोंका दोष था ॥

इस प्रकार चौमासे भरमे सम्पूर्ण भगवती सूत्र बचवा कर चौमासा उतरने पर पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीसे कहा कि पुस्तक यहां रख कर जाना । पर भीषणजीने यह बात नहीं मानी । वह भगवतीका पुस्तक लेकर वडासे चल दिये । पश्चात् पूज्य श्री रघुनाथजीने दो शिष्योंको भेज कर भीषणजीसे पुस्तक मंगवाई । वहीं पर भीषणजीका पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज पर क्रोध उत्पन्न हुआ । और भीषणजीने निश्चय किया कि मैं नवीन मत निकाल कर पूज्य श्री रघुनाथजीको अपमानित करूँ ।

यह विचार कर भीषणजीने मेरतासे विशार का मेराड़में राजनगरके अन्दर चतुर्मास्य किया । वहाँ सूत्र वाचते हुए भीषणजीने यह प्ररूपणा की कि साधु मुनिराज को किसी ब्रह्म स्वामर आदि जोवोकी हिंसा नहीं करनी चाहिये और करानी भी नहीं चाहिये तथा करते हुए को अच्छा भी न समझना चाहिये । तथा किसी प्राणीको बाधना

नहीं चाहिये तथा पधना भी नहीं चाहिये और वाघते हुए को अच्छा भी नहीं समझना चाहिये ।

एव किसी बाधने हुए जीवको रक्षार्थ छोड़ना नहीं चाहिये छोड़ाना भी नहीं चाहिये और छोड़ने वालेको अच्छा भी नहीं जानना चाहिये । यह मुनिराजका आचार है इस प्रकार श्रावक भी तीर्थकरका लघु पुत्र है और देशजनी है इस लिये श्रावकको भी बाधे हुए प्राणीको रक्षार्थ नहीं छोड़ना चाहिये और छोड़ाना भी नहीं चाहिये तथा छोड़ने वालेको अच्छा भी नहीं समझना चाहिये ।

कोई किसी जीवको मारता हो तो छुड़ानेमें अन्तराय लगता है तथा छुड़ानेके बाद जो वह जीव हिंसा, मैथुन, पाप आदि कार्य करता है वह सन पाप छुड़ानेवालेके शिर पर लगता है । तथा गाय बैल आदिसे वाढा भरा हुआ है और उसमें यदि आग लग गई हो तो उध बाड़ेका द्वार खोल कर उन पशुओंकी रक्षा नहीं करनी चाहिये । क्योंकि मरनेसे बचे हुए वे गाय बैल आदि मैथुन और हिंसा आदि पाप करेंगे वह सन पाप उनकी रक्षा करने वालेको लगेगा । तथा हिंसकसे मारे जाने वाले बकरे, भैंसे आदि जीवित रह कर जो पाप करते हैं वह पाप छुड़ाने वालेको लगता है । यह प्ररूपणा भीषणजीने की थी ।

भीषणजी और जयमलजीके शिष्य वक्तोजी तथा वत्सराजजी ओसवाल और लालजी पोरवाल इन चारों जनोने मिल कर यह प्ररूपणा की थी । यह बात पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने सोजदके चातुर्मास्यमें सुनी और उन लोगोकी विपरीत श्रद्धा हुई जानी । चातुर्मास्य उतरने पर भीषणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके पास गये परन्तु पूज्य श्रीने भीषणजीको उत्सूत्र प्ररूपी जान कर आदर नहीं दिया । और शामिलमें आहार भी नहीं किया । यह देख कर भीषणजीने पूज्य श्रीजीसे पूछा कि मैंने क्या अपराध किया है जिससे आप नाराज हो गये हैं । पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने कहा कि तुमने उत्सूत्र प्ररूपणा की है यही अपराध है । फिर पूज्य श्रीजीने भीषणजीको अच्छी तरह समझा कर पश्चात्तिक प्रायश्चित्त देकर आहार पानी शामिलमें कर लिया । परन्तु भीषणजीके शिष्य भारीमलने अपनी यह श्रद्धा नहीं छोडी । पश्चात् पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीसे कहा कि जयमलजीके शिष्य वक्तोजीको, वत्सराज ओसवालको, लालजी पोरवालको तथा राजनगरके श्रावकोंको तुमने ही विपरीत श्रद्धा दी है इस लिये वह श्रद्धा तुमसे ही मिटेगी तुम-उनको समझाओ । ऐसी गुरुकी आज्ञा होने पर भीषणजी राजनगर आये । वहा आने पर भीषणजीको वक्तोजीने बहुत उपालम्भ दिया और कहा कि हम सबोने मिल कर एक नवीन पन्थ चलाना सोचा था लेकिन तुम

रघुनाथ भीके पास जाकर उनसे मिल गये। इत्यादि क्रम पर वक्तोजीने भीषणजीका मत फिरा दिया। अब भीषणजीकी श्रद्धा फिर पूर्वन्व ज्योकी त्यों हो गई। पश्चात् दो तीन मासके बाद भीषणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके पास आये। और पूज्य श्री ने फिर उनका आहार अलग कर दिया। इसके बाद भीषणजी पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजके गुन भाई पूज्य श्री जयमलजी महाराजके पास चले गये। इसी कारण पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज और जयमलजी महाराजमें मतभेद उत्पन्न हुआ और छ मास तक यह झंझट चलता रहा परन्तु भीषणजीने अपना मत नहीं छोडा।

इसके अनन्तर श्री रघुनाथजी महाराजने गोशालकका दृष्टान्त देकर बगडी गाव में मन्वत् १८१५ चैत्र सुदी नवमी शुकवारके रोज भीषणजीको गच्छसे अलग कर दिया।

पश्चात् भीषणजी, वक्तोजी, रूपचन्दजी, भारमलजी और गिरिधरजी आदि तेरह जनोंने मिल कर नवीन पन्थ चलाया। तेरह जनोंने इसे चलाया था इसलिये इसका नाम 'तेरह पन्थ' हुआ। ये लोग प्रत्येक प्रामोमे घूम घूम कर अपने मतका प्रचार करने लगे। और शास्त्रके ६५ बोलोंका अर्थ उल्ट पुर्ट कर दिया। और शास्त्रमें जहा जहा जीव रक्षा करनेका पाठ देखा उसके अर्थ देर दिये। इन लोगोंने यह प्ररूपणा की थी कि जीव रक्षा आदि करनेमे कोई लाभ नहीं है। ये मन सासारिक कर्म्म हैं।

पहले पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीको समझाया था कि भगवती सुत्र के पन्द्रहवें शतकमें गोशालकको वैश्यायन बाल तपस्वी तेजो लेश्याके द्वारा जला रहा था वहा भगवन् महावीर स्वामीने अनुकम्पा करके शीतल लेश्याके द्वारा गोशालक को बचाया था। इस लिये सिद्धान्तमे अनुकम्पा करना परम धर्म माना है उसको तुमने क्यों उठाया है।

यह सुन कर भीषणजीने कहा कि वीर समझदार होते तो दृक्स्थपनेमे गोशालकको दीक्षा क्यों देते, गोशालकको तिल क्यों बताते। वह तिल नहीं बताते तो गोशालक उसे क्यों उखाड फेंकता। तथा वीर गोशालकको तेजो लेश्या क्यों सिखाते। इस तेजो लेश्याके सिद्धान्तसे गोशालकने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जला दिया तथा स्वयं वीरको भी उस तेजो लेश्याके तापसे छ महीने तक रक्त व्याधि भोगनी पड़ी थी। इत्यादि बहुतसे अनर्थ हुए। यदि वीर समझदार होते तो ऐसा अनर्थकर कार्य क्यों करते। किन्तु वीर चूक गये, उनमें छ लेश्यायें और आठ कर्म थे। यह दृष्ट पकड़ कर भीषणजीने वीर भगवानके प्रति बहुत कुछ अवर्ण वाद कहा।

इसके अनन्तर फिर गुरुने समझाया कि तीर्थकर नीच कुलमे उत्पन्न नहीं होते और उनका गर्भापहार नहीं होता तथा केवल ज्ञान होने पर उनको उत्कृष्ट रक्त व्याधि

नहीं होती। इत्यादि जो दस आश्चर्य हुए हैं वे कभी नहीं होते पर किसी भावी योगसे हुए हैं। इस लिये गोशालक और भगवान् महावीर का पूर्वभवका धैर था उस धैरका फल भोगे बिना वह किस प्रकार मोक्ष पाते ? तथा वह छ महीने तक रक्तज्याधि भोगे बिना किस प्रकार मुक्त होते ? १३ वे सयोगी केवली गुणस्थानमें मोक्ष जानेके समय सात कर्म सम्पूर्ण होते हैं और वेदनीय कर्म बहुत होते हैं। केवल समुद्रघानको प्रकट करके वेदनीय कर्मों का क्षपण और आठ कर्मों को पूर्ण करके केवली मोक्ष जाते हैं। इसलिये गोशालक कृत वेदना और उसके धैरको सम्पूर्ण किये बिना भगवान् महावीर किस प्रकार मोक्ष जा सकते थे। यह भावी भाव था। इसी कारण भगवान् धीरने गोशालकको लेव्या सिपाई थी अतः धीर भूले यह शब्द तुम मत कहो। इन प्रकार पूज्य श्री रघुनाथजी महाराजने भीषणजीको बहुत कुछ समझाया पर भीषणजीने अपना हठ नहीं छोड़ा।

फिर पूज्य श्री रघुनाथजीने कहा कि उत्सूत्र प्ररूपणा करके तुम अनुकम्पा मत उठाओ। उपासक दशाग सूत्रमें श्रेणिक राजाने अनुकम्पा कर फसाई बाड़ा उठा लिया था और जीव नहीं मारनेका दिंडोरा पिटवाया था। तथा राजप्रश्नीय सूत्रमें प्रवेशी राभाने बारह घन धारण करके अपनी सपत्तिके चतुर्थभागसे अनुकम्पार्थ दानशाळा बनवाई थी। फिर उत्तराध्ययन सूत्रमें श्री नेमिनाथजीने विवाहार्थ जाते हुए पशुओंसे भरा हुआ बाड़ा देखा और अनुकम्पा कर उन्हें दूडा दिया। तथा ठाणाङ्ग सूत्रमें दश प्रकारके दान कहे हैं उनमें अनुकम्पा दानका वर्णन है। इस प्रकार शास्त्रमें ६५ जगह अनुकम्पा सम्बन्धी पाठ आये हैं उन पाठोंको धनत्र कर भी भीषणजीको समझाया पर भीषणजीने अपना हठ नहीं छोड़ा।

यही भीषणजी तेरह पन्थ सम्प्रदायके प्रवर्तक थे। इनका सम्प्रदाय शास्त्र विरुद्ध होनेके कारण यद्यपि क्षण भर भी ठहरने योग्य न था तथापि जनताके अन्दर मूर्खताका आधिपत्य होनेसे और हण्डा अवसर्पिणी कालक प्रभावसे इनका सम्प्रदाय चल निकला। और इस सम्प्रदायके चलनेसे जनताके अन्दर जीव रक्षा करनेमें एकान्त पापका विद्वास उत्पन्न हुआ।

इन भीषणजीके चौथे-पाठ-पर जीतमलजी नामक एक व्यक्ति आचार्य हुए। इन्होंने दान दयाका सर्वनाश करनेके लिये भ्रमविध्वंसन नामक एक मंत्र रचा और उसमें शास्त्रके अर्थका अनर्थ करके मूर्ख जनतामें भीषणजीके सिद्धान्तोंको पुष्ट करनेका पूर्ण प्रयास किया। जहा जहा भीषणजीकी श्रद्धा शास्त्रसे विरुद्ध होती थी वहा वहा इन्होंने शास्त्रका अर्थ बदल दिया है। और जहा अर्थ नहीं बदल सका वहाका पाठ ही नहीं

लिखा। तथा कहीं अपूर्ण पाठ लिख कर जनतामें भ्रम खण्डन करनेके यद्दानेसे भ्रमका प्रचार किया। इस प्रकार जीतमलजीने भ्रमविध्वसनमें दान दया आदि पत्र धर्मों का उच्छेद करनेके लिये पूर्ण प्रयत्न किया है। इस ग्रंथके प्रचार होनेसे जनताके अन्दर ऐसा अज्ञान फैल गया है कि थली प्रान्तमें रहने वाले तेरह पन्थी ओषवाल वन्धुओंने जीवरक्षा रूप धर्म का बहिष्कार सा कर दिया है। इस अनर्थ परम्पराको घटते देर कर जनताके कन्याणार्ग पूज्य श्री हुकुमीचन्दजी महाराजके पटानुपाट पर विराजमान १००८ पूज्य श्री जवाहिरलालजी महाराजने बहुत परिश्रम के साथ यह सद्धर्मखण्डन नामक ग्रंथ बनाया है।

इस ग्रंथमें मूल सूत्र और उनसे मिलती हुई टीका, भाष्य, चूर्णी और कहीं कहीं मूलानुसारीणी टिप्पणियोंका आश्रय लेकर सत्य धर्मको प्रकट करनेकी पूर्ण चेष्टा की गई है। इस ग्रंथको मनन पूर्वक अवलोकन करनेसे शास्त्र विरुद्ध तेरह पन्थियोंका सिद्धान्त साफ साफ मिथ्या नजर आने लगता है और जीवरक्षा तथा दान आदि धर्म, शास्त्रीय प्रमाणित होते हैं। अतः सत्य धर्म ज्ञान की इच्छा करने वाले पुरुषोंको अवश्य यह ग्रंथ देखने योग्य है और वाईस सम्प्रदायके आचरकों के लिये तो इसे देखना परम आवश्यक है। यद्यपि तेरह पन्थके शास्त्र विरुद्ध सिद्धान्तोंका खण्डन करनेके लिये अनेक मुनि महात्माओंने परिश्रमके साथ अनेक ग्रंथ बनाये हैं और तेरह पन्थकी कुयुक्तियोंसे चतुर्विध सचकी बहुत ही रक्षा की है। इस उपकारके लिये उन महात्माओंका यह वाईस सम्प्रदाय ऋणी है तथापि उन महात्माओंके ग्रंथ पुरानी भाषा में लिखे हैं और कई जगह दृष्टि दोषसे उनमें त्रुटियाँ भी रह गई हैं तथा कहीं कहीं उनमें अशुद्ध टिप्पणियाँ भी छप गयी हैं इस लिये आधुनिक प्रचलित भाषा में इस नवोन्नत ग्रंथको निकालनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई।

इस ग्रंथके बनानेमें सबसे प्रधान कारण यह है कि पूर्ण महात्माओंके बनाये हुए ग्रंथोंमें इस "भ्रमविध्वसन" का पूर्ण खण्डन नहीं आया है। क्योंकि वे सच ग्रंथ भ्रमविध्वसनके उपनेसे पहलेके ग्रंथ हैं। इस लिये उन ग्रंथोंमें भ्रमविध्वसनके कुयुक्तियों का खण्डन नहीं होना स्वाभाविक है। इस त्रुटिको दूर करनेके लिये यह ग्रंथ बनाना आवश्यक हुआ। परन्तु किसी अच्छे कार्याके लिये सुभवसरका मिलना सुलभ नहीं है। सौभाग्यवश १००८ पूज्य श्री जवाहिर लालजी महाराजका भीनासरमें सम्बत् १९८४ में चातुर्मास्य हुआ। महाराज साहेबसे इस कार्याके लिये सहको पहलेसे ही प्रार्थना थी और महाराज साहेब स्वयं भी इस कार्याको करना चाहते थे सुभवसर देख कर महाराजने घोर अन्धकारमें पड़ी हुई असन्मार्गमें प्रवृत्त जनताको सत्पथमें प्रवृत्त करनेके लिये

इस प्रत्यक्षा भीनासरमे ही बनाना आरम्भ कर दिया। और चातुर्मास्य भर भीनासरमे यह कार्य हुआ। पश्चात् सद्ध की प्रार्थनासे पूज्यश्रीका थली प्रान्तमें विहार हुआ वक्ष पर पौर अज्ञानान्धकारमे पडी हुई जनताको देख कर इस प्रत्यक्षो धनानेमे पूज्यश्रीकी और भी प्रबल इच्छा हुई। और सरदार शहरके चातुर्मास्यमे पुन यह कार्य प्रचलित किया पर सरदार सहरके चातुर्मास्य समाप्त होने पर पूज्यश्री का प्रामाण्य विहार होनेके कारण यह कार्य चूरुके चातुर्मास्य तक रुका रहा। पश्चात् चूरुके चातुर्मास्यमें होकर वीकानेके चातुर्मास्यमे सम्भत् १९८७ के अन्दर यह कार्य समाप्त हुआ।

बन्धुओ ?

भगवान् महावीर स्वामीसे लेकर आज तक जितने आचार्य्य [हुए हैं किसीने भी जीवरक्षाको पाप नहीं बतलाया है किन्तु सभीने इसे धर्म कहा है। पर आज तेरह पन्थ सम्प्रदाय इसे पाप कहता है यह इसकी अपनी कपोल कल्पना है शास्त्रकी यह राय नहीं है। तेरह पन्थियोंसे जन पूजा जाता है कि तुम्हारे समान प्ररूपणा किसी पूर्वाचार्य्यने पहले कभो की हो तो बतलाओ ?। इसका यथार्थ उत्तर तेरह पन्थियोंसे कुछ भी नहीं दिया जाता किन्तु भोली भाली श्रावक मण्डलीको बहकानेके लिये वे कहते हैं कि हमारी श्रद्धा ही पुरानी है और यही सच्चा जिनभाषित धर्म है परन्तु काल पाकर यह नष्ट हो गया था। पश्चात् हमारे पूर्वाचार्य्य भोषणजीने इसका पुनरुद्धार किया है। यह कह कर अन्धविश्रामी जनताको वे भूलाये दते हैं। परन्तु बुद्धिमानों को निर्मूल तथा शास्त्र-विरुद्ध इनकी बातें नहीं माननी चाहिये।

साक्षात् भगवान् महावीर स्वामीने भगवती सुत्र शतक २० उद्देशा ६ के मूलपाठ में चतुर्विध सद्धको लगातार २१००० वर्ष तक चरुता रहना बतलाया है इसलिये तेरह पन्थियों का तीर्थद्विच्छेद बतलाना एकन्त मिथ्या है। भगवती सुत्र का वह मूल-पाठ यह है—

जम्बू दीपेण भन्ते ? दीपे भारए वासे इमीसे ओसपिणीए देवाणुपियानं केर तिय काल तित्थे अणुसिज्जिस्सइ ? गोयमा ? जम्बूदीवे दीपे भारए वासे इमीसे ओस्स-पिणीए ममं एगविस वास सइस्साइ तित्थे अणुसिज्जिस्सइ” (सुत्र ६७९)

अर्थ—हे भगवन् ? जम्बू द्वीपके भारतवर्षमें इस अवसरपिणीकालमें आपका शीर्ष किन्ने काल तक लगातार चलता रहेगा ?

उत्तर—हे गोतम ? जम्बूद्वीपके भारतवर्षमें इस अवसरपिणी कालमें मेरा शीर्ष २१००० वर्ष तक लगातार चलता रहेगा।

इस पाठमें चतुर्विध सघका लगातार २१००० वर्ष तक चलना रहना साझान् तीर्थङ्करने बतलाया है अतः भगवान्‌के तीर्थको धीचमे टुटनेकी बात तेरह पन्थियोंकी नितात शास्त्रविरुद्ध समझनी चाहिये ।

अत्र यह पाठ तेरह पन्थियोंके सामने रक्खा जाता है तब वे कहते हैं कि—इस पाठमें तीर्थ शब्दका चतुर्विध सङ्ग अर्थ नहीं किन्तु शास्त्र अर्थ है । और इस पाठमें भगवान्‌ने अपने शास्त्रको २१००० वर्ष तक चलना बतलाया है पर यह भी उनकी दलील शास्त्रविरुद्ध ही ठहरती है । इसी जगह भगवान्‌ने मूलपाठमें तीर्थ शब्दका अर्थ चतुर्विध सङ्ग बतलाया है वह पाठ—

“तित्था भन्ते ? तित्था तित्थंकरे तित्थ गोयमा ? अरहा ताव णियमा तित्थं करे तित्थं पुण चाउवणगाहणो समणसंघे तजहा समणा समणीयो सावया सावियाओ”

(सुत्रम् ६८१)

अर्थ—हे भगवन् तीर्थको तीर्थ कहते हैं अथवा तीर्थङ्करको तीर्थ कहते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! अरिहत तो नियमसे तीर्थङ्कर होते हैं किन्तु चतुर्विध भ्रमण सङ्ग ही तीर्थ कहते हैं । वह भ्रमण संघ यह है—साधु, साध्वी, श्रावक और आविर्कायें ।

यहा भगवान्‌ने तीर्थ शब्दका साफ साफ साधु साध्वी श्रावक और आविर्का अर्थ किया है और इनके समूह को ही इसके पूर्व सूत्रमे २१००० वर्ष तक चलना बतलाया है । अतः तीर्थ शब्दका अर्थ यहा शास्त्र मानना और चतुर्विध सङ्ग ही धीचमें टुटनेकी प्ररूपणा करना एकात मिथ्या है ।

इसी तरह धीचमें तीर्थ टुट जानेके सम्बन्धमे जो तेरह पन्थी यह युक्ति देते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीके जन्म नक्षत्र पर भ्रमणका लगना कल्पसूत्रमें कहा है उस भ्रमणका कारण भगवान्‌का चलाया हुआ तीर्थ टूट गया था यह भी मिथ्या है क्योंकि कल्पसूत्रके उसी पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि भ्रमण गृहके लगाने के समय में भी भगवान् का तीर्थ चलना ही रहा था टूटा नहीं था । वह पाठ यह है—

“जप्पमिइं चण से खुहाए भासरासी महग्गहे दो वास सहस्सठिइं समणस्स भगवओ महावीरस्स जन्म नक्खत्त सक्त्ते तप्पमिइं चण समणाण णिग्गयाण निर्गं थीणय नोउदिए उदिए पूजा सक्कारे पवत्तइ” (कल्पसूत्र)

अर्थात् भ्रमण भगवान् महावीर स्वामीके जन्म नक्षत्र पर दो हजार वर्षकी स्थितिवाला भ्रमराशि नामक महाग्रह जबसे लगेगा तबसे भ्रमण निरन्तर और निरन्तरियोंका पूजा सत्कार उदय उदय न होगा ।

इस मूलपाठमें भ्रमग्रह लगनेसे भगवान् महावीर स्वामीका तीर्थ विच्छेद होना नहीं कहा किन्तु भ्रमण निमित्तोंकी उदय उदय पूजा वर्जित की है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भ्रमग्रहके समयमें भी भगवान् महावीर स्वामी का चलाया हुआ तीर्थ चलता ही रहा टूटा नहीं क्योंकि जब तीर्थ ही नहीं रहेगा तब फिर उदय पूजा किस की बन्द होगी ? अतः कल्पसूत्रका नाम लेकर भगवान् महावीर स्वामीके तीर्थका बीच में विच्छेद बतलाना मिथ्या है।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकी भूमिकामें जो यह लिखा है कि—

“पश्चात् १८५३ में धूमकेतु ग्रहके उतर जानेके कारण श्री स्वामी हेमराजजीकी दोक्षा होनेके अनन्तर क्रमानुक्रम जिन मार्गकी उन्नति होने लगी” यह भी मिथ्या है। क्योंकि धूमकेतु ग्रह वगचूलियाके पाठानुसार विक्रम संवत् १५६२ में ही उतर गया था। संवत् १८५३ में उस के उतरने की बात मिथ्या है। देखिये वगचूलिया का पाठ यह है—

“ततो सोलस्सर्हि नव नवति सजुर्हि वरीसिंहि ते दुष्ट वाणियग्गा अवमन्नहस्सति सुय मेय तस्मिणए अग्गिदत्त ? सघे सुय जम्मरासी नक्खत्ते अहतीसमो दुष्टो छगिस्सइ धूमकेउगहो । तस्सठिई तिन्नि सया ततीसा एगराशि परिमाण तस्मियमि ण पइओ सघसुयस्स उइथो अत्थि”

अर्थात् इसके अनन्तर १६९९ वर्षमें सघके जन्म नक्षत्र पर अट्टाइसवा धूमकेतु नामक महाग्रह लगेगा वह तीनसौ तैतीस वर्ष तक बड़ा स्थित रहेगा इसकी स्थिति-काल में सङ्घ और शास्त्र की पूजा प्रतिष्ठा कम होमी। यह इस पाठका भावार्थ है।

यहां वीर निर्वाणसे १६९९ पर तीनसौ तैतीस वर्षके लिये धूमकेतु का लगना बतलाया है और विक्रम संवत् १२०९ में वीर निर्वाण काल १६९९ वर्षका होता है। इसका हिसाब इस प्रकार लगाइये वीर निर्वाणके अनन्तर ४७० वर्ष तक नन्दी वाहनका शक चलता रहा उसके बाद विक्रम संवत् आरम्भ हुआ। इसलिये विक्रम संवत् १२०९ में ४७० वर्ष मिला देनेसे १६९९ वर्ष होते हैं। यही वगचूलियाके हिमावसे धूमकेतुग्रहके प्रवेशका समय है। वह धूमकेतु ३३३ वर्ष तक रहा इसलिये विक्रम संवत् १२०९ में ३३३ जोड़ देनेसे १५६२ वर्ष होता है। इसी विक्रम संवत् १५६२ में धूमकेतु ग्रह उतरा। अतः भ्रमविध्वंसनकी भूमिकामें विक्रम संवत् १८५३ में धूमकेतुके उतरनेका समय बतलाना मिथ्या समझना चाहिये।

तथा इस ऊपर लिखे हुए वगचूलियाके पाठमें धूमकेतु ग्रहके समयमें चतुर्विध सङ्घकी उदय उदय पूजाका ही निषेध किया है सङ्घका टूट जाना नहीं बतलाया है

अतः धूमकेतुके समयमें भी चतुर्विध सङ्घ का बना रहना सिद्ध होता है। तथापि जो तेरह पन्थी बीच में चतुर्विध सङ्घ के टूटने की प्ररूपणा करते हैं वह एकान्त मिथ्या है।

तेरह पन्थियोंको अपने सिद्धान्तका समर्थक जब कई प्रमाण नहीं मिलता तब वे लाचार होकर सङ्घ का टूटना बतलाने लगते हैं। लेकिन इन की यह बात भी जब भगवती शतक २० उद्देशा ६ के मूलपाठके विरुद्ध ठहराई जाती है तब वे क्रोधान्ध हो कर पूजने वालेको अपमानित करने लगते हैं।

इनके जितने ग्रन्थ बने हैं उन सर्वोंका एकमात्र उद्देश्य दया दानका वहिष्कार करना ही है। पर सभी ग्रन्थोंमें जितमलजाका बनाया हुआ भ्रमविध्वंसन ग्रन्थ प्रधान है। इसमें षड्ही चातुरीके साथ दयादानका खण्डन किया है। इसी एक दयादान का खण्डन करनेके लिये भ्रमविध्वंसनकारको अनेकों जगह शास्त्रके अर्थको अनर्थ करना पडा है। जैसे महाजनकी वहीमे एक जगह परिवर्तन होने पर सारी वहीके रक्षम बदलने पडते हैं उसी तरह एक दयादानका खण्डन करनेके लिये जीतमलजीको अनेकों शास्त्र विरुद्ध बातें स्वीकार करनी पडी हैं। जैन दर्शन तथा जैनेतर दर्शन समीका यह सिद्धोत है कि अज्ञान तथा मिथ्यात्वके साथ फी जाने वाली क्रिया मोक्ष देनेवाली नहीं होती और उस क्रियाका आराधक पुरुष मोक्षमार्गका आराधक नहीं होता किंतु सम्यक्त्व और ज्ञानपूर्वक फी जानेवाली क्रिया ही मोक्षदायिका होती है पर दयादानका खण्डन करनेके लिये तेरह पन्थियोंको अज्ञान और मिथ्यात्वके फी जानेवाली क्रियासे भी मोक्षमार्गकी अ राधना स्वीकार करनी पडी है।

जैन और उससे इतर शास्त्रोंको एकमतसे मिथ्यात्वकी क्रिया के विषयमें यही मान्यता है कि मिथ्यात्वकी क्रियासे मोक्षमार्गकी आराधना नहीं होती। देखिये बृहदारण्यक उपनिषदमें लिखा है कि—

“योवा एतद्दशरं गार्थविदित्वाऽस्मिन्नोके जुहोति यजते तपस्तप्यते ब्रह्मि वर्ण सःस्त्रायन्सवदेवास्यतद्भवति

अर्थ—हे गार्थि ? जो अविनाशी—आत्माको बिना जाने इस लोकमें होम करता है यज्ञ करता है तपस्या करता है वह चाहे हजारो वर्ण तरु इन क्रियाओं को करता रहे पर वह ससारके लिये ही है। (बृहदारण्यक)

प्राचीन कालसे लेकर इस समय तकके प्रत्येक आग्निज आर्य्य धर्मने आत्माका आत्माने बन्वनका और मोक्षका वर्णन किया है। जैसे अहिंसा या दयाके विषयमें ये सब धर्म एक मत हैं जैसे ही इस मान्यता में भी किसीको विवाद नहीं है कि बिना

सम्यक् ज्ञानके मोक्ष अथवा मोक्षकी आराधना नहीं हो सकती। इसका कारण यह है कि बन्धनसे छूटना मोक्ष है। जब तक आत्मा अपने असली स्वरूपको, अपन बन्धनको, बन्धनके कारणको, मोक्षके उपायोको सम्यक् प्रकारसे नहीं जान लेता तब तक उसे न वर्तमान विकारमय अवस्थासे मुक्त होनेकी इच्छा हो सकती है और न वह उसके लिये-किसी प्रकारकी प्रवृत्ति ही कर सकता है। जिस रोगीको यह मालूम नहीं है कि मैं रोगी हूँ, मैं रोगी हुआ हूँ, रोगसे मुक्त होनेके उपाय क्या हैं नीरोगता क्या चीज है, वह अपना रोग मिटानेकी न कभी इच्छा करेगा और न उसकी प्रवृत्ति ही करेगा।

यही कारण है कि समस्त धर्मों ने सम्यग्ज्ञानको अवश्य ही मुक्तिके साधनोंमें प्रधान माना है। ऊपर बृहदारण्यकके उल्लेखमें भी यही बात बताई गई है। बृहदारण्यकके सिवाय अन्य उपनिषदोंमें तथा प्रत्येक दर्शन शास्त्रमें भी यही मान्यता स्वीकार की गई है। कुछ उदाहरण हम नीचे देते हैं, जिसमें विषय स्पष्ट हो जाय।

“नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसोवाऽप्यलिङ्गत्
पतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान्तस्यैव आत्मा विशते ब्रह्मधाम”

अर्थात् जिसमें आत्मरत्न नहीं है वह पुरुष आत्मा (आत्माके असली स्वरूप) को नहीं पा सकता। न वह आत्मा प्रमादसे, और लिंग (साधुका भेष) हीन तपसे ही प्राप्त हो सकता है। हा, जो ज्ञानी बन कर इन उपायोंको आत्मरत्न, अप्रमाद, लिंग युक्त तपको काममें लाता है वही ब्रह्मधाम (आत्माके असली निवासस्थान) में प्रवेश करता है।

बृहदारण्यक और मुण्डकोपनिषद्के इन दोनों उल्लेखोंसे यह विषय साफ समझ में आ जाता है कि जो मनुष्य ज्ञान हीन होकर तपस्या आदि करता है वे उसके सप्त कर्म ससारके ही कारण हैं और जो ज्ञान युक्त होकर इन्हीं तपस्या आदि कर्मोंको करता है, उसके वे ही कर्म मुक्तिके कारण होते हैं।

“यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्क सदाऽशुचि ।

न स तत्पदमाप्नोति ससारं चाधिगच्छति ।

यस्तुविज्ञानवान् भवति समनस्क सदाऽशुचि ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।

(कठोपनिषत्)

अर्थात् जो ज्ञानी नहीं है वह ठीक ठीक विचार नहीं कर सकता और वह सदा अपवित्र है। वह मोक्ष नहीं पा सकता प्रत्युत ससारमें ही परिभ्रमण करता है। जो ज्ञानी है वह ठीक ठीक विचार कर सकता है और वह सदा पवित्र है। वह-ऐसे पदधो पाता है जिससे फिर कभी वापस नहीं लौटना पड़ता है।

इस षट्श्लोखमें अज्ञानीको सदा अपवित्र बताया है 'सदा' शब्द देनेका तात्पर्य यह है कि अज्ञानी चाहे जब जो क्रियाएँ करे पर ज्ञानका अभाव होनेसे उसको सब क्रियाएँ पवित्रताका कारण नहीं हो सकती वरन् अपवित्रताका ही कारण होती हैं।

ठीक इसी प्रकारका उल्लेख जैन सूत्र सूत्ररत्नाग सूत्रमें है—

“जेयाऽसुद्धा महाभागा वीरा असम्मत्त दसिणो

असुद्ध तेसिं परक्कं सफलं होइ सव्वसो ।

जेय बुद्धा महाभागा वीरा समत्तदसिणो

सुद्धं तेसिं परक्कं तं अफलं होइ सव्वसो ।”

(सु० ध्रु० १ अ० ८ गाथा २३-२४)

अर्थात् जो असम्यग्दर्शी और अज्ञानी है वह जगतमें महाभाग यानी पूजनीय अथवा बड़ा भारी वीर समझा जाता हो पर उसकी सभी क्रियाएँ अपवित्र और संसारिक फलको ही देने वाली होती हैं। जो सम्यग्दर्शी और ज्ञानी है उस महाभाग और वीर पुरुष की दानाध्ययनादि रूप सभी पारलौकिक क्रियाएँ पवित्र और मोक्ष फल देती हैं।

ऊपर कहे हुए उपनिषद्के वाक्य और मुय० की उक्त गाथाओके मिलान करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि इस विषयमें जैन और वैदिक सम्प्रदायकी मान्यता एक ही है। क्रियाएँ समान होने पर भी सम्यग्ज्ञानी होनेसे एक व्यक्ति उनसे मोक्ष प्राप्त करता है और दूसरा अज्ञानी होनेसे इ ही क्रियाओंको ससारका कारण बना लेता है।

“हिरण्यये परे कोपे विरज ब्रह्म तिष्फलम्

तच्छुभ्र ज्योतिषा ज्योतिस्तद् यदाऽत्मविदोविदुः”

(मुण्डकोपनिषत्)

मुनहरी पद्म कोपमे निर्मल निरवयव ब्रह्म (आत्मा) है वह शुभ्र है, ज्योतियो की ज्योति है उसे वे ही जान सकते हैं जो अपनी आत्माको जानते हैं।

इस वाक्यमें भी ज्ञानको ही मुक्तिका साधन माना है अज्ञान या मिथ्यात्वको नहीं। बौद्ध धर्ममें मुक्तिके अंग आठ माने हैं। उन सभमें सभसे पहले सम्यग्दृष्टि अर्थात् दुःख दुःखके कारण और उन्हें दूर करनेके उपायोंको सम्यक्प्रकार जानना, बतलाया है। मूल पाठ यह है—

“सम्यग्दृष्टि सम्यक्सकल्प सम्भवाक् सम्यक्कामान्त सम्यगाशीव सम्याव्यवसाय सम्यक्स्मृति सम्यक्समाधिश्च । तत्र सम्यग्दृष्टिः दुःखतद्धेतु तन्निरोधमार्गाणां यथा सध्येन दर्शनम् ।”

यहा सम्यग्दर्शनको पहला स्थान दिया है और सम्यक्चारित्रको चौथा, क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक् चारित्र नहीं होता। यहा तक कि सम्यक् प्रकारका संकल्प भी नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शन होने पर ही सम्यक् स्वरूप और मोक्ष प्राप्तिकी दृढ इच्छा होती है, इसी कारण यहा सम्यग्दर्शनके बाद सम्यक् स्वरूप गिनाया गया है।

न्याय दर्शनमें गोतम मुनि कहते हैं—“दु ख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञानाना मुत्तरोत्तगपाये तद्वनतरापायादपमर्ग”

(न्याय अ० १)

अर्थात् मोक्षके लिये सर्व प्रथम मिथ्या ज्ञानका नाश होना आवश्यक है। मिथ्या ज्ञानके नाश होने पर रागादि दोष, रागादि दोषोके नाशसे प्रवृत्ति और प्रवृत्तिके नाशसे जन्म और जन्मके नाशसे दुःखनाश होता है। दुःखोका नाश होने पर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

यहा पर भी यह बताया गया है कि मोक्षके लिये सबसे पहले सम्यग्ज्ञानकी आवश्यकता है। बिना सम्यक् ज्ञानके मिथ्या ज्ञानका नाश नहीं होना और मिथ्या ज्ञानके नाशके बिना इह लोक और परलोकके सुखोका अनुराग आदि नष्ट नहीं होते। जब तक सासारिक सुखोका अनुराग आदि नष्ट नहीं होते तब तक मोक्ष पाना अत्यन्त दुर्लभ है इस लिये मोक्ष प्राप्तिके लिये सम्यग् ज्ञानकी सर्व प्रथम आवश्यकता न्याय दर्शन में बतलाई है। वैशेषिक दर्शनमें कहा है —

“तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसम्” (वै० सूत्र) तत्त्वज्ञानमात्मसाक्षात्कार इह विवक्षित-
स्तैव सवासन मिथ्याज्ञानोन्मूलनक्षमत्वात्” “तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य पन्था
विद्यतेऽनाय”

अर्थात् आत्माका साक्षात्कार हो जानेको तत्त्वज्ञान कहते हैं क्योंकि उसीसे मिथ्या ज्ञानका नाश हो सकता है। तत्त्वज्ञान होने पर ही मोक्ष होता है। आत्माका प्रकाशके सिवाय सुखितका और कोई उपाय नहीं है।

यह मान्यता भी जैन धर्मसे मिलती है। जैन धर्मका मत है कि आत्मामें जब सम्यग्दर्शन होता है तब मिथ्या ज्ञानका नाश होता है और वैशेषिक दर्शन भी यही कहता है कि आत्म साक्षात्कार ही मिथ्या ज्ञानका नाशके द्वारा मोक्ष देनेमें समर्थ है।

फलिप ऋषि प्रणीत सारय दर्शनमें इस विषय पर और भी अधिक प्रकाश डाला गया है। साख्य दर्शनके प्रारम्भिक सूत्र यो है—

“अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्ति परम पुरुषार्थ । नदृष्टाचरित्सद्भिर्निवृत्तोऽप्यनु-
वृत्ति दर्शनात् । प्रात्यहिकश्रुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकार चेष्टनात्पुरुषार्थत्वम्” सर्वासम्भवात्
सभवेऽपि सत्वासम्भवाद्देय प्रमाणकुशलै । उत्कर्षादपिमोक्षस्य सर्वोत्कर्ष श्रुते”

(सारय दर्शन सूत्र १-२-३-४-५)

अर्थात् तीन प्रकार (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) के दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाना अत्यन्त पुरुषार्थ (मोक्ष) है । दुःखोंकी आत्यन्तिकनिवृत्ति (मोक्ष) लोकमें देने जाने वाले धन, प्रियजनोके संयोग आदि उपायोंसे नहीं हो सकती जैसे भोजन कानेसे सदाके लिये भूख नहीं मिटती वैसे ही लौकिक उपायोंसे सदाके लिये दुःख दूर नहीं होते । इन उपायोंसे दुःख पूर्ण रूपसे नष्ट नहीं होते, थोड़े बहुत होते भी हैं तथापि वे विद्यम न रहते हैं । लौकिक उपायोंसे उत्कृष्ट राज्य आदि लौकिक पदार्थ प्राप्त होते हैं लेकिन वेदमें मोक्ष उनसे भी बहुत उत्कृष्ट बताया है इसलिये भी उन उपायों से वह प्राप्त नहीं हो सकता ।

इसके बाद यह प्रश्न किया गया है कि "यदि दृष्ट साधनसे सर्वथा दुःखका नाश नहीं होता तो वेद विहित यज्ञ आदि कर्मों से हो जायगा ? इसका उत्तर ऋषि कृपिल ऋषि कहते हैं—“अविशेषश्चोभयो ” (सू० ६) इसके भाष्यका अर्थ यह है—दोनोंका अर्थात् दृष्ट जो लोभसे देखनेमें आता है व अदृष्ट जो यज्ञ साधन धर्मकष्ट देखनेमें नहीं आता इन दोनोंका जैसा कहा गया है, आत्यन्तिक दुःखकी निवृत्तिके साधन होनेमें विशेष नहीं है । अर्थात् दोनों ही एक समान हैं, अत्यन्त दुःखकी निवृत्ति यज्ञ आदिसे भी नहीं होती । मोक्षके साधक होनेमें विवेक (सम्यग् ज्ञान) होना ही मुख्य उपाय है । विवेक से अविवेकका नाश होने पर दुःख मात्रका नाश होता है अन्यथा नहीं होता”

इस प्रकार बिना विवेक (सम्यग् ज्ञान) के मोक्ष होना अरथन्त असम्भव बता कर सूत्रकार स्वयं कहते हैं “ज्ञानान्मुक्ति ” (अ० ३ सूत्र २४) अर्थात् ज्ञान होने पर ही मुक्ति होती है और “बन्धो विपर्ययात्” (सूत्र २५) अज्ञानसे बन्ध होता है ।

इस तरह साध्य दर्शनके अनुसार भी यह सिद्ध है कि कोई व्यक्ति यज्ञ, जप, तप, आदि क्रियाएँ भले ही करता रहे परन्तु जब तक उसे सम्यग्ज्ञान नहीं होता तब तक उसकी ये क्रियाएँ मुक्तिका कारण नहीं हो सकतीं ज्ञान होने पर ही मोक्षकी आराधना हो सकती है ।

पतञ्जलि ऋषि अपने योगदर्शनमें कहते हैं—

“तस्यहेतु रजिषा । तदभावात्सयोगाभावो हान तद्दृशे कैवल्यम्”

(साधनपाद सूत्र २४।२५)

अर्थात् संसारका मूल कारण अविद्या है । अविद्या, मिथ्याज्ञानको कहते हैं । मिथ्या ज्ञानका नाश होनेसे आत्माको मोक्ष प्राप्त होता है वही मोक्ष आत्माका कैवल्य है । अन्य वस्तुका ससर्ग न होनेसे वही आत्माकी शुद्ध निरालस अवस्था है ।

पातञ्जल योगसूत्रसे भी उपर्युक्त विषयका ही समर्थन होता है। इसमें ससार का मूलकारण अज्ञान बताया है, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि जब तक आत्मामें अज्ञान है तब तक मोक्षकी आराधना या मोक्ष नहीं हो सकता। इसी विषय का आगे और भी रुलासा किया गया है—

“विवेक ख्याति रविप्लवा हानो पाय” (सूत्र २६)

“मिथ्याज्ञानात्प्राप्तनयाऽन्तराभिभक्तो विप्लवस्तद्रहितो विवेकत पुस्तसाक्षात्कारो मोक्षोपाय सवासनात्रिचोन्मूलन द्वारेत्यर्थः ।” (भाष्य)

अर्थात् मिथ्याज्ञानके सन्धारोसे आत्मामें एक प्रकारका विप्लव होता रहता है। वह विप्लव सम्यग्ज्ञान होने पर नष्ट होता है वही सम्यग्ज्ञान आत्मामें सच्चे स्वरूपका अवलोकन—मोक्षका उपाय है। यहाँ भी वही बात बताई गयी है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं।

इन सब उल्लेखोंसे भलीभांति सिद्ध है कि मोक्षकी सिद्धिके लिये सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान अनिवार्य है। प्रत्येक मनुष्यको सर्वप्रथम कारण माना है अन इस विषयमें भी सन्देह नहीं कि सम्यग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान होने पर ही मोक्षकी आकांक्षा होती है। उपनिषदोंके प्रमाणोंसे यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि बिना सम्यग्ज्ञानके किये जाने वाले तपस्या आदि आचरण मोक्षके कारण नहीं हैं बल्कि ससारके ही कारण हैं।

ऊपर जो मान्यता प्रकट की गयी है ठीक वही जैन धर्मकी भी है। बिना ज्ञान का किये जाने वाले तपको जैन परिभाषामें “बाल तप” कहते हैं और वह ससार का ही कारण है।

प्रत्येक धर्मकी ऐसी मान्यता होने पर भी आश्चर्यकी बात है कि थोड़े दिन पहले पैदा होने वाले भीषणजीने इनसे विरह एक विचित्र मत निकाला है। इ होने भारत धर्मके तमाम दर्शन—सिद्धांतोंका तरजना ही उलट देनेकी चेष्टा की है। इनका मत है कि जो जीव, अपने स्वरूपको, बन्धको, और मोक्षको जानता ही नहीं वह भी मोक्ष की आराधना करता है। अर्थात् जिम व्यक्तिको यह भी ठीक नहीं मालूम है कि, सुखे रोग है या नहीं, है तो क्या रोग है, कथो उत्पन्न हुआ है, कैसे दूर होगा, दूर होने पर क्या सुख दुःख होगा ? वह भी अपना रोग दूर कर सकता है। जो बात आज तक किसी ऋषि महर्षिको न सुझी थी वह महाशय भिक्खुजीको सुझी। इसीलिये वे कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि जीव भी मोक्षका आराधक है। वस्तुतः यह सिद्धांत प्रत्येक दर्शन से, अनुभवसे और युक्तिसे सर्वथा बाधित है। जिसे जिस वस्तुका सम्यग्ज्ञान ही नहीं है वह उसकी प्राप्तिके लिये कत्रापि प्रयत्न नहीं कर सकता। अगर कोई करता भी है तो

कृतकार्य नहीं हो सकना अतः सिद्ध हुआ कि सम्पगर्जन और सम्पगृहण होने पर ही मोक्षाराधना का आरम्भ होता है पहले नहीं।

(भीषणजीने सर्व भारतीय दर्शनोके विरुद्ध अज्ञान दशाकी क्रियासे मोक्ष की आराधना क्यों अङ्गीकार की ?)

भीषणजीने अपने गुरुको नीचा दिखानेके लिये जो संकल्प किया था उसकी पूर्तिके लिये सिद्धान्तमें हेर फेर करके एक नवीन सम्प्रदाय निकाला और इसका मूल-सिद्धान्त दयादानमें एकान्त पाप मानना अङ्गीकार किया। ऐसा मानने पर यह सम्प्रदाय अनायास ही वाइस सम्प्रदायके सिद्धान्तोसे असहमत होकर पृथक् हो गया। इन्होंने दयादानको एकान्त पापमें सिद्ध करनेके लिये और कोई मार्ग न देख कर जिन आह्वामें ही धर्म और पुण्य होना मान लिया परन्तु मिथ्यादृष्टि अज्ञानी जीव भी अकाम निर्जरा आदि क्रियाके द्वारा पुण्य बांध कर स्वर्ग जाते हैं यह देख कर इनको मिथ्यादृष्टि और अज्ञानी जीवकी क्रिया भी जिन आह्वामें ही माननी पड़ी। इस प्रकार मिथ्यादृष्टि की क्रियाको आह्वामें मान कर हीन दीन दुःखी जीवोंको दिये जाने वाले अनुकम्पादान की आह्वा वाहर बताकर उसे एकान्तपापका कारण बताया।

जीतमलजीने भीषणजीके उक्त मतकी पुष्टिके लिये भ्रमविध्वंसन नामक ग्रन्थ बनाया और उसके पहले प्रकरणमें विविध कुतुहियोंका आश्रय और शास्त्रोंका अनर्थ करके मिथ्यादृष्टि की क्रियाको आह्वामें स्थापन करनेकी चेष्टा की दूसरे प्रकरण दानाधिकारमें हीन दीन जीवको दिये जाने वाले अनुकम्पा दानको आज्ञा वाहर ठहरा कर उसमें एकान्त पाप बनलाया। हीन दीन दुःखी जीवोंको दिये जाने वाले दानमें प्रत्यक्ष अनुकम्पारूप गुण देखनेमें आना है और अनुकम्पा करना शास्त्रमें सातपेदनीय कर्मका कारण माना है यह देख कर जीतमलजीने अनुकम्पाका शास्त्रविरुद्ध मान्य और निरव्यय दो भेद बताया और इसके लिये अनुकम्पाविध्वंसन नामक तीसरा प्रकरण लिखा। भगवान् महावीर रजामीने गोशालकके उपर अनुकम्पा करके उनके प्राण बचाये थे और जगतमें जीववर्क्षा करनेका एक पवित्र आदेश रक्खा था इस कार्यसे अनुकम्पाका समर्थन होता देख कर जीतमलजीने भगवान् महावीर रजामीपर चूक जाने का लाठन लगाने के लिये लब्धि गोशालक और गुण वर्णन आदि प्रकरण लिखे और उन प्रकरणोंमें शास्त्र क अर्थका अनर्थ करके यथा क्वचित् भगवान् महावीर रजामीके चूकनेका साधन किया। यह सब अनर्थ इन लोगों को दया दान में पाप स्थापन करनेके लिये करना पडा है।

इन लोगोंके शास्त्र विरुद्ध सिद्धान्तोका प्रकाश करनेके लिये इस सद्धर्ममण्डन नामक ग्रन्थकी रचना हुई है अतः इस ग्रन्थके प्रकरणोंका दूसरा नाम न रखकर भ्रम-

विध्वंसनके प्रकरणोंका ही नाम क्रमशः दिया गया है और उन प्रकरणोंमें भीपगजी और जीतमलजीके शास्त्र विरुद्ध सिद्धान्तोंका प्रमाणानुसार निराकरण किया गया है। भ्रमविध्वंसनको सामने रख कर बुद्धिमान् पुरुष यदि इस ग्रन्थका मन्तव्य करें तो अनायास ही वे तथ्यातथ्यका निर्णय कर सकते हैं कालिकासने लिखा है कि "हेमन्त, सलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिं ज्यामिकाऽपिवा" अर्थात् मोना विशुद्ध है या, नहीं है यह बात आग में ही जानी जाती है। अतः विद्वान् जीवासे इस ग्रन्थ की सत्यता या असत्यता लिप नहीं सकते।

अन्तिम निवेदन ।

प्रारम्भमें यह ग्रन्थ, प्रतिवादिमानमहंन श्रीमज्जैमाचार्या १००८ पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराजने कच्चे खरके रूपमें अपने मन्तोको लिखवाया था। श्रीयुक्त पण्डित अम्बिकादत्तजी ओझाने उस खरके खरको देग कर तथा अन्यान्य नये विचार पूज्य श्री के मुगारविन्दसे सुन कर बड़े परिश्रमके साथ ग्रन्थको इस रूपमें तय्यार किया और जहाँ उन्हें उचित प्रतीत हुआ वहाँ संशोधन भी किया। पण्डित महोदय यद्यपि व्याकरण आदिके बहुत अच्छे विद्वान् हैं परन्तु जैन सिद्धान्तोंको जानने और उनके विषय में कुछ लिपनेका यह पहला ही मौका है। इसलिये सम्भव है कि पूज्यश्रीके कहे हुए आशयको समझनेमें पण्डित महोदयको कहीं भ्रम हुआ हो और इस प्रकार ग्रन्थमें कोई त्रुटि रह गयी हो। साथ ही दृष्टिदोष और प्रेमके कर्मचारियोंकी असावधानीसे भी ग्रन्थ में त्रुटियोंका रहना सम्भव है। अतः पाठकोंसे निवेदन है कि किसी त्रुटिके दृष्टिगोचर होने पर हमें सूचित करनेकी कृपा करें। न्याय्य बातको स्वीकार करनेमें हमको किसी प्रकारका दुःसाहस नहीं हो सकता। तथा त्रुटियोंका मशोधन होना भी उचित है इसलिये पाठकोंकी ओरसे आई हुई ऐसी सूचनाका स्वागत करते हुए हम पाठकों का आभार मानेंगे तथा दुःखी आवृत्तिमें उन त्रुटियोंको न रहने देनेका भर सफ़ प्रयत्न करेंगे।

गच्छत स्वरूपेण कापि भवत्येव प्रमादत

हसति दुर्जनास्तत्र समाधत्ति साधव ।

भवदीय —

तनसुखशाम फ़सरान दूगड (सरदार शहर

अनुक्रमणिका ।



मिथ्यात्व क्रियाविकारः ।

— १० —

बोल १ पृष्ठ १ से ७ तक

धर्म दो तरहका है—एक श्रुत और दूसरा चार्ित्र । इन्हींका आराधक वीतराग की आज्ञाका आराधक है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि नहीं ।

बोल दूसरा पृष्ठ ७ से नौ तक

मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी अज्ञानपूर्वक की जाने वाली अकाम निर्जरा आदिकी क्रिया वीतरागकी आज्ञामे नहीं है ।

बोल तीसरा पृष्ठ १० से ११ तक

अकाम निर्जराको धर्मका भेद ठहरानेके लिये धर्मका दो भेद सवर और निर्जर बताना शास्त्र विरुद्ध है ।

बोल चौथा पृष्ठ ११ से १३ तक

धर्मो मगल सुखिदृष्टं इष गाथामें कहा हुआ तप, चार्ित्रका ही भेद है चार्ित्ररहित मिथ्यादृष्टिका तप नहीं है ।

बोल ५ वा १३ से १७ तक

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा १० की चतुर्भंगीके प्रथम भङ्गका स्वामी देश राधक चार्ित्री पुरुष है मिथ्यादृष्टि अज्ञानी नहीं है ।

बोल छठा पृष्ठ १७ से १८ तक

सवर रहित निर्जराकी करनी करने वाले मिथ्यादृष्टिको उवाइसूत्रमे जिन आज्ञाका अनाराधक कहा है ।

बोल सातवा पृष्ठ १९ से २१ तक

असकिलष्ट परिणामसे हाडी बन्धनादिका टुटा सहने वाले जो वाग्द्वे हजार वर्ष की आशुके देवता होते हैं वे उवाइ सूत्रमें वीतरागकी आज्ञाके अनाराधक कहे गये हैं ।

बोल आठवा पृष्ठ २१ से २२ तक

जो जीव, अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि हैं, परन्तु माता पिताकी सेवासे चौदह हजार वर्ष की आयुके देवता होते हैं वे उवाइ सूत्रमे मोक्ष मार्गके अनाराधक कहे गये हैं ।

बोल ९ वा पृष्ठ २० से २३ तक

अकाम ब्रह्मचर्या पारन करके चौसठ हजार वर्षकी आयुके देवता होने वाली अज्ञानी मिथ्यादृष्टि स्त्री वीनरागकी आज्ञाकी आराधिका नहीं है।

बोल दशता पृष्ठ २३ से २५ तक

अन्न जल आदिका नियम रख कर चौगसी हजार वर्षकी आयुके देवता होने वाले अज्ञानी तापस मोक्ष मार्गक आराधक नहीं हैं।

बोल ११ वा पृष्ठ २५ से २६ तक

कन्द मूल फलादिका आहार करने वाले पञ्चमि सेवी अज्ञानी तापस जो एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयुके दरता होते हैं वे परलोकक आराधक नहीं हैं।

बोल १२ वा पृष्ठ २६ से २७ तक

सत्र रहित निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गके आराधनमे नहीं है।

बोल १३ वा पृष्ठ २७ से २९ तक

भगवती शतक ८ उद्देश १० की चतुर्भ गीके प्रथम भङ्गका स्वामी देशागधक पुरुष पापसे सत्रया हटा हुआ चारित्र्यी है और उपाई सूत्रोक्त मोक्ष मार्गका अनाराधक पुरुष पापसे सर्वथा नहीं हटा हुआ मिथ्यादृष्टि है अतः ये दोनों भिन्न भिन्न हैं एक नहीं है। अकाम निर्जराभी करने मोक्षमार्गमे नहीं है इसलिये उपाई सूत्रमे अकाम निर्जराकी करने वालेको परलोकका अनाराधक कहा है।

बोल १४ वा पृष्ठ ३० से ३२ तक

तामली तापस और पूरण तापस सम्यक्त्व पानेके पहले शास्त्रमें मोक्ष मार्गके आराधक नहीं कहे गये हैं। दूसरी जगह सुद जीतमलजीने अज्ञान दशाकी क्रियासे मोक्ष मार्गका आराधन न होना बतलाया है।

बोल १५ वा पृष्ठ ३२ से ३५ तक

सुदत्त अनगारथो भिक्षा देते समय सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं। अनन्तानुबन्धी क्रोधादिके नाश हुए विना समार परिमित नहीं होता और सम्यक्त्व पाये विना अनन्तानुबन्धी क्रोधादिना नाश नहीं होता।

बोल १६ वा पृष्ठ ३५ से ३६ तक

मेघकुमारका जीव हाथीके भयमे शशकादि प्राणियोंकी रक्षा करत समय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं।

बोल १७ वा पृष्ठ ३६ से ३७ तक

दौलतगामजी और दल्पति गयजी की प्रश्नोत्तरमें हाथी तथा सुमुख ग थापति को मिथ्यादृष्टि नहीं कहा है।

बोल १८ वा पृष्ठ ३७ मे १० तक

शकडाल पुत्रने वरनाके कर्नेसे भगवान् महाश्री मन्मीको वन्दन नमस्कार किया था और मुमुक्षु गाथापतिने अपनी इच्छासे सुदत्त अनगारको वन्दन नमस्कार किये थे इस लिये इन दोनोंके वन्दन नमस्कार एक समान नहीं थे ।

बोल १९ वा पृष्ठ ४० से ४२ तक

विशिष्ट क्रियावादी मनुष्य और निश्चय्य एक वैमानिक की ही आयु बाधत हैं सभी क्रियावादी नहीं । सामान्य क्रियावादी नरक योनिकी आयु भी बाधता है । दशाश्रुत स्कन्ध सूत्र ।

विग्राहक श्रावक क्रियावादी होने पर भी जघन्य सुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमे उत्पन्न होता है । प्रमाण भगवती शतक १ उद्देशा २ ।

बोल २० वा पृष्ठ ४२ से ४३ तक

भगवती शतक ८ उद्देशा दशकी टीकामे चारित्र गहिन ज्ञान दर्शन और देव व्रत की आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भय होना कहा है । जीवमलजिने भी इसे माना है ।

बोल २१ वा पृष्ठ ४३ ४४ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ७ गाथा २० मे सम्यग्दृष्टिको "सुव्रत" कहा है मिथ्यादृष्टिको नहीं ।

बोल २२ वा पृष्ठ ४५ से ४७ तक

वहग नागतूयाका प्रियवाल मित्र सामान्य व्रतधारी होकर भी मनुष्य योनिमें जन्म पाया था । भगवती शतक ७ उद्देशा ९

बोल २३ वा पृष्ठ ४७ से ४९ तक

मास मास क्षमण रूप घोर तपस्या करने वाला मिथ्यादृष्टि, जिन भाषित धर्मका आचरण करने वाले पुरुषक सोलहवें अक्षरमें भी नहीं है । उत्तराध्ययन अ० ९ गाथा ४४

बोल २४ वा पृष्ठ ४९ से ५१ तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) मास मास पर्यान्त उपवास करके उसक अन्तमें पारणा करता हुआ भी जन्म मरणके चक्रसे नहीं छूटता । सुयगडाग श्रुत स्कन्ध १ अ० २ उद्देशा १ गाथा ९)

बोल २५ वा पृष्ठ ५१ से ५३ तक

जिसको जीवाजीवादि पदार्थका ज्ञान नहीं है उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है । (भगवती शतक ७ उद्देशा २)

बोल २६ वा पृष्ठ ५३ से ५६ तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) की तपोदानादिरूप पारलौकिक क्रियाएँ संसारके ही कारण हैं। सम्यग्दृष्टिकी ये ही क्रियाएँ मोक्षके हेतु हैं। सुयगहाग श्रुत० १ अ० ८ गाथा २३। २४

बोल सत्ताइसवा पृष्ठ ५६ से ६० तक

मिथ्यादृष्टि (अज्ञानी) के घटपटादिज्ञान भी कारण विपर्यय, सबन्ध विपर्यय और स्वरूप विपर्ययके कारण अज्ञान हैं। कर्म विशुद्धिकी उत्कर्षापरकर्षाको लेकर चौदह गुण स्थान कहे गये हैं मम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। (समवायाग सूत्र)

बोल २८ वा पृष्ठ ६० से ६३ तक

अज्ञोशा केवलीका विभग अज्ञान, सम्यक्त्व प्राप्तिका साक्षात् कारण होने पर भी जन् वीतरागकी आज्ञामे नहीं है तब उसके प्रकृति भद्रता आदि गुण, जो कि सम्यक्त्व प्राप्तिके परम्पर कारण हैं वे आज्ञामे कैसे हो सकत हैं।

बोल २९ वा पृष्ठ ६३ से ६४ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा १ के मूलपाठमे वस्तुस्वरूपको जाननेकी चेष्टा का नाम "ईहा" है। उस चेष्टाके बाधक कारणको हटा देना "अपोह" है। सजातीय और विजातीय धर्मकी आलोचना करनेका नाम क्रमश मार्गण और गरोपण है अतः मार्गण शब्दका जिनभाषिन धर्मकी आलोचना और गरोपण शब्दका अधिक धर्मकी आलोचना अर्थ करना अज्ञान है।

बोल ३० वा पृष्ठ ६४ से ६७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१-३२ मे विशिष्ट शुभल लेश्यका लक्षण कहा है सामान्य शुभलेश्याका नहीं। जो ध्यान, श्रुत और चारित्र धर्मके साथ होता है वही धर्मध्यान है।

बोल ३१ वा पृष्ठ ६७ से ६९ तक

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिकी उपमा क्रमश सुगन्ध और दुर्गन्ध घटकी नन्दी सूत्रकी टीकामें दी है ब्राह्मण और भङ्गीके घड़ेकी नहीं।

बोल ३२ वा पृष्ठ ६९ से ७० तक

साधुको साधु समझ कर उसके निकट शील तप और सुपात्र दानकी आज्ञा मागने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि नहीं है सम्यग्दृष्टि है।

बोल ३३ वा पृष्ठ ७० से ७१ तक

सूर्याभ देव क अभियोगिया देवताके मिथ्यादृष्टि होनेमें कोई प्रमाण नहीं है।

बोल ३४ वा पृष्ठ ७१ से ७२ तक

गोतम स्वामीने स्कन्दकजीको भक्तिभावके साथ भावरूप वंदन नमस्कार करने की आज्ञा दी जो मिथ्यात्वके साथ द्रव्य वंदन करनेकी नहीं ।

बोल ३५ वा पृष्ठ ७२ से ७५ तक

तामली वाल तपस्वी और सोमिल ऋषिकी अनित्य जागरणा उनकी प्रव्रज्याके समान वीतराग मत प्रसिद्ध अनित्य जागरणसे भिन्न थी ।

बोल ३६ वा पृष्ठ ७५ से ७७ तक

बाल तपस्या और अकाम निर्जरा जिन आज्ञामें नहीं है तथापि इनसे स्वर्गप्राप्ति होती है । अकाम निर्जरा और बाल तप करने वाले को साक्षात् उचवाई सूत्रमें परलोक का अनाराधक कहा है ।

बोल ३६ वा पृष्ठ ७७ से ७९ तक

गोशालकृतोक्त जिब्वेन्द्रियप्रतिसंलीनता वीतराग मतकी जिब्वेन्द्रिय प्रति-संलीनतासे भिन्न है ।

बोल ३८ वा ७९ से ८१ तक

प्रश्नव्याकरण सूत्रके दूसरे सम्प्रदाय द्वारमें व्रतधारियोंसे सत्यका ग्रहण करना कहा है दाग्भिकोमे नहीं ।

बोल ३९ वा पृष्ठ ८१ से ८३ तक

व्यन्तर सङ्कर देवताओंके पूर्वभव के कार्य्य को आज्ञामें नहीं कहा है किन्तु उनसे भोगे जाते हुए सुग्न विशेष की तरह उसे भी शुभ कह कर वस्तु स्थिति बताई है ।

बोल ४० वा पृष्ठ ८३ से ८६ तक

माता पिताकी सेवा शुश्रूषा करने वाले पुत्रको उचवाई सूत्रमें स्वर्गगामो कहा है ।

अथ दानाधिकारः ।

बोल पहला ८७ से ९४ तक

हीन दीने जीवोंको अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है । जो अनुकम्पा दानको एकान्त पाप बता कर श्रावकोसे उसका त्याग करगता है वह ठाणाग सूत्रके मूल पाठानुसार "पिहित्ता गामि पथ" नामक अन्तराय कर्म बाधता है ।

बोल दूसरा पृष्ठ ९४ से ९७ तक

आनन्द श्रावकने हीन दीन दुःखी जीवोंको अनुकम्पा दान देनेका अभिप्रह नहीं धारण किया था । किन्तु अन्य तीर्थीको गुरु बुद्धिसे दान न देनेका अभिप्रह धारण किया था ।

बोल तीसरा पृष्ठ ५७ से १०० तक

आनन्द श्रावकके समाप्त ही अभिमह धारी चारह प्रतधारी श्रावक राजा प्रदेशीने दानशाला खोल कर हीन दीन दुःखी जीवको अनुकम्पा दान दिया था।

बोल चौथा १०० से १०१ तक

राज प्रश्नीय सूत्रमें राजा प्रदेशी को दाता देता हुआ निचरना लिखा है दान देने से न्यारा होकर नहीं।

बोल पाचवा १०१ से १६० तक

भगवती शतक ८ उद्देश्य ६ के मूलपाठमें मिथ्या धर्मका समर्थन करने वाले तथा मिथ्यादर्शनानुसारी वेद धारण करने वाले असयतिको गुरु बुद्धिसे दान देनेसे एकान्त पाप कहा है अनुकम्पा दान देनेसे नहीं।

बोल छठा पृष्ठ १०६ से २०९ तक

आर्द्रकुमार मुनिने दया धर्मके निन्दक और हिंसा धर्मके समर्थक वैडाल प्रतिक नीच वृत्ति वाले ब्राह्मणको गुरु बुद्धिसे भोजन देनेसे नरक जाना कहा है और मनुस्मृति में भी यही बात कही है, अनुकम्पा दानका खण्डन नहीं किया है।

बोल सातवा पृष्ठ १०९ से ११० तक

भृशु पुगोहितके पुत्रोंने अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप नहीं कहा है किन्तु जो लोग यज्ञयागादि करने और पुत्रोत्पादन करनेसे ही दुर्गतिक्षा रुकना बतला कर प्रश्रया प्रहण करनेको व्यर्थ कहते हैं उनके मन्तव्यको मिथ्या कहा है।

बोल ८ वा पृष्ठ ११० से ११२ तक

सुयगडाग सूत्र श्रुतस्फन्ध २ अ० ५ गाथा ३३ में भाषा सुमतिको उपदेश किया है अनुकम्पा दानका खण्डन नहीं किया है। उस गाथामें वर्तमान कालका नाम भी नहीं है।

बोल ९ वा पृष्ठ ११२ से ११३ तक

नन्दन मनिहार अनुकम्पा दान देनेसे मेढक नहीं हुआ किन्तु नन्दा नामक पुष्क-रिणीमें आसक्त होनेसे हुआ। ज्ञाता सूत्र अध्ययन १३।

बोल १० पृष्ठ ११४ से ११९ तक

धर्मदानको छोड़ कर बाकीके नौ दान एकान्त अधर्मदान नहीं हैं। इनके गुणानुसार नाम रक्ते गये हैं, यह भोषणजोने भी लिखा है।

बोल ११ पृष्ठ ११९ से ११९ तक

विश्रामस्थानसे बाहरकी सभी क्रियाएँ एकान्त पापमें नहीं हैं।

बोल १२ वा पृष्ठ १२० से १२४ तक

ग्राम धर्मादि लौकिक धर्म और प्रमस्थविरादि लौकिक स्थविर ग्राम आदिके चोरी जारी आदि सुराह्या दूर करते हैं इसलिये उन्हें एकान्त पापमें बताना मूर्खोंका कार्या है।

बोल १३ वा पृष्ठ १२४ से १२७ तक

ठाणाङ्ग ठाणा नौ मे कहे हुए नवविध पुण्य केवल साधुको ही दान देनेसे नहीं किन्तु उनसे इतरको दान देनेसे भी होते हैं।

बोल चौदहवा १२७ से १३० तक

भीषणजीके जन्मसे पहलेके घने टन्ना अर्थमें लिखा है कि "पात्रने विषे अन्ना-दिक दीजै तेहथकी तीर्थ पर नामादिक पुण्य प्रकृतिनो बन्ध तेहथकी अनेराने देवु ते अनेरी पुण्य प्रकृतिनो बन्ध। तीर्थकर नामकी पुण्य प्रकृति ४२ पुण्य प्रकृतियोंके आदिमें नहीं अपितु अन्तमें है अतः तीर्थ करादि कहनेसे सभी पुण्य प्रकृतियोंका प्रद्वग नहीं हो सकता।

बोल १५ पृष्ठ १३० से १३१ तक

ठाणाङ्ग ठाणा नौके मूलपाठमें न कहे जाने पर भी जैसे साधुको पढिहारी सुदे कतरनी आदिके दानसे पुण्य ही होता है उसी तरह साधुसे इतरको धर्मानुकूल वस्तु देने से पुण्य ही होता है एकान्त पाप नहीं।

बोल १६ वा पृ० १३१ से १३३ तक

साधुसे इतर सभी जीवको कुपात्र कायम करके उनको दान देनेसे मास भक्षण व्यसन कुशीलादि सेवनकी तरह एकान्त पाप कहना अज्ञान है। साधुसे इतर होने पर भी श्रावकको तीर्थमें गिना गया है और उसे गुण रत्नका पात्र कहा गया है। कुपात्र नहीं कहा।

बोल १७ वा पृष्ठ १३३ से १३५ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ४ की चौभगीमें साधुसे इतरको दान देने वाला अक्षेत्र वषों नहीं कहा है अपितु जो प्रवचन प्रभावनाके लिये सबको दान देता है उसकी टीकाकारने प्रशंसा की है क्योंकि प्रवचन प्रभावनाके लिये दान देनेसे ज्ञाता सूत्रमें तीर्थकर गोत्र बाधना कहा है।

बोल १८ वा १३६ से १३८ तक

शकडाल पुत्र श्रावकने गोशालकको दान देनेसे धर्म तपका निषेध किया है पुण्य का निषेध नहीं किया है तथा निर्जरा के साथ ही पुण्य बन्ध होनेका कोई नियम भी नहीं है।

बोल १९ वा पृष्ठ १३८ से १४० तक

चोर जार हिसक आदि महारम्मी प्राणीको चोरी जारी हिंसा आदि महारम्भका कार्य करनेके लिये दान देनेसे मृगालोटके दु ख भोगनेका प्रश्न विपाक सूत्रमे किया गया है अनुकम्पा दानसे नहीं ।

बोल २० वा पृष्ठ १४० से १४२ तक

क्रोधी, मानी, मायी और हिंसा, झूठ, चोगी और परिग्रहके सेवी ब्राह्मणको उत्तराध्ययनके अध्याय १२ गाथा २४ में पापकागी क्षेत्र कहा है सभी ब्राह्मणको नहीं ।

बोल २१ वा पृष्ठ १४२ से १४६ तक

व्यभिचारिणी स्त्रीको रस कर भाड़े पर उससे व्यभिचार कराना पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन करना है हीन दीन दु स्त्रीको अनुकम्पा दान देना अथवा साधुसे इतरको पोषण करना नहीं ।

बोल २२ वा पृष्ठ १४६ से १४८ तक

बिसी भी अभिप्रायसे अपने आश्रित प्राणीका वध, वन्धन छविच्छेद और अतिभार आदि डालनेसे अतिचार होता है प्राणवियोग करनेके अभिप्रायसे ही नहीं क्योंकि वह अनाचार है ।

बोल २३ वा पृष्ठ १४९ से १५१ तक

भिक्षुकोका धेरीक टोक प्रवेश करनेके लिये तुङ्गिया नगरीके श्रावकोके दरवाजे खुले रहते न ।

बोल २४ वा पृष्ठ १५१ से १६० तक

श्रावकको अप्रत्याख्यान (अव्रत) की क्रिया नहीं लगती ।

बोल २५ वा पृष्ठ १६१ से १६२ तक

जैसे मिथ्यादर्शन के अशत नहीं हटने पर भी श्रावकको मिथ्यात्वकी क्रिया नहीं लगती उसी तरह अप्रत्याख्यानसे अशत नहीं हटने पर भी श्रावकको अप्रत्याख्यानिष्ठी क्रिया नहीं लगती है ।

बोल २६ वा पृष्ठ १६३ से १६५ तक

भगवती शतक ३ उद्देशा १ में श्रावकके हित, सुख, पथ्य और अनुकम्पाकी इच्छा करनेसे सनत्कुमार देवेन्द्रको भव सिद्धिमे लेकर यावत् स्वरम होना कहा है । स्ववाहै सूत्रमें श्रावकको धार्मिक, धर्मानुग, धर्मेष्ट, धर्माख्यायी धर्म प्ररजन आदि कहा है ।

बोल २७ वा पृष्ठ १६६ मे १६७ तक

जिसमें भाव शस्त्र मौजूद है वह यदि कुपात्र है तो फिर पष्ट गुण स्थान वाले

- प्रमादी साधु भी कुपात्र ही ठहरेंगे । राजप्रशनीय सूत्रमें साधुके समान श्रावकसे भी आर्ग्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे दिव्य ऋद्धि की प्राप्ति नहीं गई है ।

बोल २८ वा १६८ से १६१ तक

श्रावक अन्नपारम्भ और अन्नपरिग्रहसे द्रवता होते हैं प्रत्याख्यान और प्रत से नहीं ।

बोल २९ वा १७१ से १७३ तक

सुयगडाग सूत्रकी गाथाका नाम लेकर गृहस्थके दानकी सत्ता भ्रमणका हेतु बताना मूर्खता है ।

बोल ३० पृष्ठ १७३ से १७९ तक

साधु यदि उत्सर्ग मार्गमें गृहरथको अन्नादि दान देवे तो निशीथ सूत्र उद्देश १५ बोल ७८।७९ में प्रायश्चित्त होना कहा है परन्तु हीन दीन दुःखीको अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थको प्रायश्चित्त नहीं कहा है तथा उस गृहस्थके अनुकम्पा का अनुमोदन करने वाले साधुको भी प्रायश्चित्त नहीं कहा है ।

अपवाद मार्गमें अन्य युथिक और गृहस्थको शामिलमें मिली हुई भिक्षाको वाट कर साधु भी देते हैं ।

बोल ३१ वा १७९ से १८२ तक

अपनी निरवद्य भिक्षा वृत्ति कायम रखनेके लिये तथा ज्ञान दर्शन और चाग्रिमें शिथिलता न आने देनेके लिये उत्सर्ग मार्गमें साधु गृहरथको दान नहीं देते एकान्त पाप जान कर ।

बोल ३२ वा पृष्ठ १८२ से १८३ तक

साधुसे इतरको अनुकम्पा दान देनेके लिये जो अन्न बनाया जाता है उसे दस वैकालिक सूत्रमें पुण्यार्थ प्रकृत कहा है पापार्थ प्रकृत नहीं कहा और जिसके घरमें उक्त अन्न बनाया जाता है उसे शिष्ट कहा है ।

बोल ३३ वा १८३ से १८४ तक

भगवती शतक २ उद्देश ५ में साधुकी तरह श्रावककी सेवा करनेका भी शास्त्र श्रमणसे लेकर मोक्ष तक फल मिलना कहा है ।

बोल ३४ पृष्ठ १८५ से १८७ तक

उत्तराव्ययन सूत्रके अट्टाश्रवणो अव्ययनमें सहधर्मी भाईको मातृपत्नी आदिने द्वारा वचित सत्कार करना समभित्तका आचार कहा है । व्यवहार सूत्रके दूसरे उद्देशके भव्य में प्रवचने द्वारा श्रावकका साधुर्मी साधु और श्रावक दोनों बड़े गये हैं ।

बोल ३५ वा पृष्ठ १८७ से १८८ तक

भगवती शनक १२ उद्देशा १ में अपने सहधर्मों भाईको भोजन कराना पोष्य धर्मकी पुष्टिमें माना है ।

बोल ३६ वा पृष्ठ १८८ स १९० तक

एग्यारह प्रतिमाओंका विधान तीर्थकारोने किया है ।

बोल ३७ वा पृष्ठ १९० से १९३ तक

एग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक, दश विध यति धर्मका अनुष्ठान करने वाला बड़ा हो पवित्रात्मा एव सुपुत्र होता है इमें कुशात्र कहने वाले अज्ञानी हैं ।

बोल ३८ वा पृष्ठ १९३ से १९४ तक

अम्बड सन्यासी और वरुग नागचूयाके पाठमें आये हुए कल्पका दृष्टान्त देखकर एग्यारहवीं प्रतिमाधारीके कल्पको तीर्थ करकी आज्ञासे बाहर कहना अज्ञान है ।

बोल ३९ वा पृष्ठ १९४ से १९७ तक

सामायक और पोषाके समय श्रावक, पूजनी आदि उपकरण जीवदुयाके लिये रखते हैं अपने शरीर रक्षाने लिये नहीं अतः श्रावकके पूजनी आदि उपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना मूर्खता है ।

बोल ४० वा पृष्ठ १९७ से १९९ तक

अढाई द्वीपसे बाहर रहने वाले तियन्त्र श्रावक कई व्रतोंमें श्रद्धा मात्र रखनेसे चारह व्रतधारी माने जाते हैं । मनुष्य श्रावककी तरह सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करनेसे नहीं ।

बोल ४१ वा पृष्ठ १९९ से २०३ तक

श्रावक देश समय पालनार्थ जो मन, वचन, क्वाय और उपकरणोंका व्यापार करता है वह सुप्रणिधान है दुष्प्रणिधान नहीं ।

इति दानाविकार ।

अथ अनुकम्पाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ २०४ से २०७ तक

मरते हुए शणीकी प्राणरक्षा और मारने वालेकी हिंसा छोड़ानेके लिये साधु धर्मोपदेश करता है केवल हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये ही नहीं ।

बोल दूसरा पृष्ठ २०७ से पृष्ठ २०९ तक

राज प्रशनीय सूत्रमें चित्त प्रधानने द्विपद्, चतुष्पद्, मृग पशु पक्षी और सरीसृपों की प्राणरक्षाके लिये वेशी स्वामीसे राजा प्रदेशीको धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की थी ।

बोल तीसरा २०९ से २११ तक

दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करना भो अभय दान है केवल अपनी ओरसे भय न देना ही नहीं। अरिदमन राजाकी चौथी रानीने चोरको सुलीसे बचाया था और उसे टीकाफारने अमय दान कहा है।

बोल चौथा पृष्ठ २११ से २१६ तक

आर्यक्षेत्रके जीवोका उपकार और अपने कर्मों का क्षुण्ण करनेके लिये भगवान् महावीर स्वामी धर्मोपदेश करते थे। जीवोंकी प्राण रक्षा करना उनका प्रधान उपकार है।

सुय० श्रु० ५ अ० ६ गाथा १७-१८

भगवान् महावीर स्वामी त्रस और स्थावरके क्षेम करने वाले थे क्षेम नाम रक्षा, और शान्तिका है।

सुय० श्रु० २ अ० ६ गाथा ४

बोल ५ वा २१६ से २१८ तक

साधु असंयति जीवकी प्राण रक्षा उनसे असंयम सेवन करानेके लिये नहीं करते किन्तु उनका आर्तरीद्र ध्यान मिटाने और हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये करते हैं।

बोल छठा पृ० २१८ से २२१ तक

भगवान् नेमिनाथजी, पिंजड़ेमे मारनेके लिये रोके हुए प्राणियोंको छुड़ा कर लौट गये थे।

बोल सातवा पृष्ठ २१८ से २२१ तक

हाथीने शशकादि प्राणियोंकी प्राणरक्षा कर्के सप्तर परिमित किया था।

बोल आठवा पृष्ठ २२३ से २२५ तक

सुयगडाग सूत्रकी 'वज्झापाणा न वज्झेत्ति' इत्यादि गायामें वध दण्ड देने योग्य अपराधीको निरपराधी कहनेका निषेध है किधी प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये मत्त मार कहनेका निषेध नहीं है।

बोल नवा पृष्ठ २२५ से २२७ तक

आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० १ उद्देशा १ में मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके भयसे साधुको गृहस्थके निवास भूत मकानमें रहना वर्जित नहीं किया है किन्तु ऊचा नीचा मन होनेकी भावनासे वर्जित किया है।

बोल दसवा पृष्ठ २२७ से २२९ तक

आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २ उ० ३ में अपने स्वार्थके लिये गृहस्थ द्वारा अग्नि जलाने और न जलानेकी भावना करना साधुके लिये वर्जित की है कीड़ी आदि जीवों की रक्षाकी भावनासे उक्त फार्म वर्जित नहीं किया है

बोल ११ वा पृष्ठ २२९ से २३१ तक

उत्तराध्ययन सूत्रके २६ वें अध्यायनमें अपनी प्राण रक्षाके लिये साधुको आहार अन्वेषण करनेका विधान किया है। भगवती शतक १ उद्देशा ९ में साधुको पृथिवी काय आदिके जीवोंकी रक्षा करनेके लिये प्रामुख और एषणिक आहार लेना लिया है।

बोल १२ वा पृष्ठ २३१ से २३३ तक

स्थ वर जगम जन्तुओंको दण्ड देकर असयमके साथ जीने या चिर काल तक जीनेकी इच्छा साधुके लिये वर्जित की गई है। प्राणियोंकी रक्षाने साथ और यथा प्राप्त आयु तक जीनेकी इच्छा करना वर्जित नहीं है।

सुय० अ० १ गथा २४

बोल १३ वा पृष्ठ २३३ से २३६ तक

सुयगडाह्न श्रु० १ अध्याय १५ सुयगहाग श्रु० १ अ० ५ उ० १ गाथा ३ सुय-
गहाग श्रुत० १ अध्याय १० गाथा ३ सुय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६ में हिंसक हाथ से मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राण रक्षा करनेका निषेध नहीं है।

बोल १४ वा पृष्ठ २३६ से २३७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र ४ गाथा ७ में गुणका उपार्जनके निमित्त साधुको जीवित रहना कहा है। प्राणियोंकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देना गुणका उपार्जन करना है इस लिये जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें पाप बनलाना अज्ञान है।

बोल १५ पृष्ठ २१८ से २३८ तक

सुय० श्रु० १ अ० २ गथा, १ में समय प्रदान जीवनको दुर्लभ कहा है। जीव रक्षाके लिये जीवन व्यतीत करना समय जीवन है।

बोल १६ वा पृष्ठ २१९ से २४० तक

नमिराज ऋषिसे इन्द्रने जीव रक्षा करनेमें पाप या पुण्यका होना नहीं पूछा था किन्तु सासारिक पदार्थोंमें उनकी ममताके होने व न होनेकी परीक्षा की थी। नमिराज ऋषि प्रत्येक बुद्ध साधु के स्थविर कटपी नहीं उनका उदाहरण स्थविर कल्पियोंके लिये देना अज्ञान है।

बोल १७ वा पृष्ठ २४० से २४२ तक

दश वैकालिक सूत्र अ० ७ गाथा ५० में देवता मनुष्य और निर्यन्त्रोंमें परस्पर युद्ध होने पर एककी हार और दूसरेकी जीत कहना साधुके लिये वर्जित है परन्तु उप-
देश देकर युद्ध शान्त कर देना या मरते जीवकी रक्षा करनेका निषेध नहीं है।

बोल १८ वा पृष्ठ २४२ से २४४ तक

दशवैकालिक अध्ययन ७ गाथा ५१ में वायु आदि सात वातोंके होने वा न होनेकी प्रार्थना करना साधुको अपने स्वार्थके लिये वर्जित की गई है क्योंकि इससे प्राणियोंका अनिष्ट भी होता है।

बोल १९ वा पृष्ठ २४५ से २४७ तक

ठाणाङ्ग ठाणा चारकी चौभगीमें जो अपनी ही रक्षा करता है दूसरेकी नहीं करता उसे प्रत्येक बुद्ध, जिनरूपी और निर्देय कहा है। स्थविर वृत्पीको अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करने वाला बताया है।

बोल २० वा पृष्ठ २४७ से पृष्ठ २५० तक

जैसे अपना जेवर उतार कर साधुका दर्शन करने वाली स्त्री धार्मिक है उसी तरह जेवर उतार कर मरते जीवकी रक्षा करने वाली स्त्री भी धार्मिक है।

बोल २१ वा पृष्ठ २५० से २५२ तक

अन्य यूथिक और गृहस्थ रास्तामें कदाचित् किमी पशुका घात करे अथवा वे चोर आदिसे लूट लिये जाय इस लिये साधु मार्ग नहीं बताते, अनुष्म्पाको सावध जान कर नहीं।

बोल २२ वा पृष्ठ २५२ से २५४ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा ४ में जीव रक्षा करनेका निषेध नहीं किया है परन्तु अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग करने वालेको धर्मोपदेश देकर समझाना या उसकी उपेक्षा करना अथवा ब्रह्मसे अन्यत्र चला जाना कहा है।

बोल २३ वा पृष्ठ २५४ से २५५ तक

अपने स्वार्थके लिये किसी जीवको सतानेके भावसे भय देना निशीथ सूत्रमें वर्जित किया है, आत्म रक्षा या पर रक्षा के लिये नासमझ प्राणीको भय दिखाकर हटा देना वर्जित नहीं है।

बोल २४ वा पृष्ठ २५५ से २५७ तक

निशीथ सूत्रमें भूति कर्म करने तथा मत्र आदि करनेका निषेध है अपनी कल्प मर्यादाके अनुसार मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करने का निषेध नहीं है।

बोल २५ वा पृष्ठ २५७ से २६१ तक

अपराधी प्राणीको मारनेके लिये क्रोध कणके दौड़नेसे चुल्लणी प्रियका घृत और पौषध नष्ट हुआ था माताकी रक्षाके भाव आनेसे नहीं।

बोल २६ वा पृष्ठ २६१ से २६४ तक

नात्रमें आता हुआ पानी बतलाना छाधुष्ठा कल्प नहीं है इसलिए वह नाच में आता हुआ पानी नहीं उतलाता परन्तु शास्त्रीय विधानानुसार वह अपनी और दूसरेकी रक्षा करता है ।

बोल २७ वा पृष्ठ २६४ से २६८ तक

निशीथ सूत्रमें, बन्धन और मोचनसे होने वाले दोषकी निवृत्ति के लिये त्रम प्राणीको बाधने और छोड़नेका निषेध किया है परन्तु जहा बाधे और छोड़े बिना त्रम प्राणीकी रक्षा नहीं हो सकती हो वहा बाधने और छोड़नेका निषेध नहीं है ।

बोल २८ वा पृष्ठ २६८ से २६९ तक

आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पा दूसरी है इसलिए आने जाने की क्रिया के सावध होने से सुहृत्सापर हारिणगमेसीकी अनुकम्पा सावध नहीं हो सकती ।

बोल २९ वा पृष्ठ २६९ से २७० तक

श्रीकृष्णजीकी वृद्ध पर अनुकम्पा करना सावध नहीं थी क्योंकि ईद चपाडनेकी क्रिया न्यारी है और अनुकम्पा न्यारी है ।

बोल ३० वा पृष्ठ २७० से २७२ तक

हरिकेशी मुनि पर अनुकम्पा करके यक्षने ब्राह्मणोंको समझाया था परन्तु जब वे मारने दौड़े तो मारनेके वृत्तेमें बसने भी मारा था ।

बोल ३१ वा पृष्ठ २७३ से २७५ तक

धारिणी रानीकी गर्भानुकम्पाको मोहअनुकम्पा कहना अज्ञान है । धारिणी ने गर्भानुकम्पासे मोहको छोड़ दिया था तथा अजयणाका परित्याग किया था ।

बोल ३२ वा पृष्ठ २७५ से २७६ तक

ब्राह्मण सूत्रके मूलपाठमें अश्वत्थामारकी प्रीतिके लिये दैवताका भेष बरसाना कहा है अनुकम्पाके लिये नहीं ।

बोल ३३ वा पृष्ठ २७६ से २७९ तक

रथणा देवी पर जिन ऋषि का करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा उत्पन्न नहीं हुई थी ।

बोल ३४ वा पृष्ठ २७९ से २८२ तक

वीतरागकी भक्ति दूसरी चीज है और नाटक दूसरा है अब नाटक के सावध होने पर भी भक्ति सावध नहीं है ।

बोल ३५ वा पृष्ठ २८२ से २८४ तक

मुनिका व्यावच दूसरा है और व्यावचके लिये की जाने वाली क्रिया दूसरी है इसलिये यक्षसे क्रिया हुआ हरिकेशी मुनिका व्यावच साग्रय नहीं है ।

बोल ३६ वा पृष्ठ २८४ से २८५ तक

शीतलदृश्या प्रकट करके भगवान्ने गोशालक की प्राणरक्षा की थी इस अनु-
कम्पाको सावद्य कहना अज्ञान है । शीतल दृश्यासे जीवविराधना नहीं किन्तु जीव
रक्षा होती है ।

बोल ३७ वा पृष्ठ २८५ से २९० तक

विम्बसागका पुत्र राजा कौणिकने भगवान् महाबोर स्वामीके वदनार्थ जाने क
लिये चतुरङ्गिणी सेना सजाई थी परन्तु सेना सभाने रूप कार्थ्यके वजहसे जैसे भग-
वान् का वदन सावद्य नहीं हुआ उसी तरह ईट उपाडनेसे बुड्ढे पर कृष्णजी की अनु-
कम्पा सावद्य नहीं हुई ।

अथ लब्ध्यधिकारः ।

बोल १ वा पृष्ठ २९९ से २९० तक

शीतल दृश्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्रघात नहीं होता इसलिये उसमे जघन्य
तीन और उत्कृष्ट पाच क्रिया नहीं लगती ।

बोल दूसरा पृष्ठ २९२ से २९३ तक

तेजो छविधारी साधु क्रोधित होकर क्रिमीको जलानेके लिये जो दृष्ण तेजो-
दृश्या का प्रयोग करता है उसीमे तेजका समुद्रघात होना कहा है मरते प्राणीकी प्राणरक्षा
करनेके लिये शीतल दृश्याका प्रक्षेप कानेमे नहीं ।

बोल तीसरा २९३ से २९६ तक

कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेपिकी, पारितापनिकी, और प्राणातिपातिकी ये
क्रियायें हिंसाके भाव आनेसे लगती हैं रक्षाके भाव आनेसे नहीं ।

बोल चौथा पृष्ठ २९६ से २९७ तक

अतिशय दयालुताके कारण दया करने योग्य पुरुष के प्रति तेजोदृश्याको शान्त
करने में समर्थ शीतल तेजो विशेष के छोडने की शक्तिका नाम शीतल दृश्या है ।

बोल पाचवा पृष्ठ २९७ से २९८ तक

गोशालकके द्वारा सुनक्षत्र और सर्पानुभूतिका मरना अवश्य भावी जान कर
भगवान्ने उनकी रक्षा नहीं की रक्षामे पाप जान कर नहीं ।

बोल छठ्ठा २९९ से ३०१ तक

रक्षामें राग करना, सावद्य नहीं है जैसे धर्ममें धर्माचार्यमें राग रखना सावद्य नहीं है ।

बोल सातवा पृष्ठ ३०१ से ३०२ तक

भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठ में उद्योग तेजो लेश्याके पुद्गल को अचित्त कहा है इस लिये शीतल लेश्या के द्वारा उस को शान्त करने में आरम्भ दोष नहीं लगता ।

बोल आठवा पृष्ठ ३०२ से ३०३ तक

भगवती शतक २० उद्देशा ९ की टीकामें जह्वा चरण और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना प्रमाद सेवन करना कहा है शीतल लेश्या का प्रयोग करना प्रमाद सेवन करना नहीं कहा है ।

बोल नवा पृष्ठ ३०३ से ३०४ तक

लब्धिका प्रयोग न करके किसी दूसरे उपायसे भी भगवान् यदि गोशालक की प्रागरक्षा करते तो भी जीतमलज्जिके मतमें पाप ही होता अतः इनका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है ।

इति लब्धधिकार ।

अथ प्रायश्चित्ताद्यधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ३०५ से ३०६ तक

शीतल लेश्याका प्रयोग करके मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें शास्त्रमें कहीं भी पाप होना नहीं कहा है तथा इस के लिये कहीं प्रायश्चित्तका भी विधान नहीं है अतः सीहो अनगार, अतिमुक्त, रहनेमि आदि की तरह भगवान् के प्रायश्चित्त करने की कल्पना करना अज्ञान है ।

बोल दूसरा ३०६ से पृष्ठ ३०८ तक

भगवान् महावीर स्वामी उच्च श्रेणिके कणाय कुशील थे अतः भ्रमविषयसन्धारके कथनानुसार भी वह दोषके प्रतिसेवी नहीं हो सकते ।

बोल तीसरा पृष्ठ ३०८ से ३०९ तक

भगवान् महावीर रक्षामीने छद्मस्थानस्थामें स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था ।

बोल चौथा पृष्ठ ३०९ से ३१० तक

आचाराग सूत्रकी "गणगणसे" और "अकसाइ" इत्यादि गाथाओं में भगवान् का फल गुण वर्णन मात्र नहीं किंतु उनके दोषोक्ता निषेध भी है ।

बोल पाचवा पृष्ठ ३१० से ३१२ तक

उपवाह्य सूत्रमें भगवान् महावीर स्वामीके जिघ्र्योमे पाप और प्रमाद होने का निषेध नहीं किया है इसलिये उनके दृष्टान्तसे भगवान् महावीर स्वामीमें दोषका स्थापन करना मिथ्या है।

बोल उट्टा ३१२ से ३१३ तक

उपवाह्य सूत्रमें यह नहीं कहा है कि कौणिक राजा कभी भी माता पिताका अविनीत नहीं था परन्तु आचार्याग सूत्रमें कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीने कभी भी पाप और प्रमादका सेवन नहीं किया था अतः कौणिकके दृष्टान्तसे भगवान् महावीर स्वामीमें दोषका स्थापन करना अज्ञान है।

बोल सातवा पृष्ठ ३१३ से ३१४ तक

उपवाह्य सूत्रमें श्रावकोको पापसे सर्वथा हटा हुआ नहीं कहा है परन्तु आचार्याग में भगवान् को पाप और प्रमादसे सर्वथा हटा हुआ कहा है अतः श्रावकके दृष्टान्तसे भी भगवान्में पापका स्थापन करना अज्ञान है।

बोल आठवा पृष्ठ ३१४ से ३१७ तक

जिस समय गौतम स्वामी आनन्द के घर पर बचन बोलने में चूक गये थे उस समय उन में कपाय कुशील नियण्ठा तथा चौदहपूर्वका ज्ञान नहीं था।

बोल नवा पृष्ठ ३१७ से ३१८ तक

दशैकालिक सूत्रके आठवें अध्ययनके दशवीं गाथामें जो दृष्टिवादका अध्ययन कर रहा है उसीका वाक्स्फुल्लन होना लिखा है परन्तु जिसने दृष्टिवादका अध्ययन कर लिया है उसका वाक्स्फुल्लन होना नहीं कहा है।

बोल दशवा ३१८ से ३२० तक

भगवती शतक २५ उ० ६ में स्पष्ट लिखा है कि कपाय कुशील दोषका अप्रतिसेवी होता है।

बोल एग्याहवा पृष्ठ ३२० से ३२१ तक

जिस सम्बुद्धा साधुका सच्चा स्वप्न देखनेका शास्त्रमें वर्णन है उसीका झूठा स्वप्न देखनेका भी शास्त्रमें पाठ है परन्तु कपाय कुशीलके चूकनेका शास्त्रमें कहीं भी पाठ नहीं है।

बोल बाह्यवा पृष्ठ ३२२ से ३२३ तक

ठाणाङ्ग ठाणा सातके मूल पाठमें यह नहीं कहा है कि सभी छद्मस्थ सात दोषके सेवी ही होते हैं अतः उक्त पाठका उदाहरण देकर भगवान्में दोषका सद्भाव कहना मूर्खता है।

बोल तेरहवा प्रश्न ३२३ से ३२४ तक

केतलीकी तरह छद्मस्थ तीर्थ कर भी आगम व्यवहारी और कृपातीत होते हैं इस लिये सूत्र व्यवहारीके कल्पका नाम लेकर उनमें दोषका स्थापन नहीं किया जा सकता ।

बोल चौदहवा प्र० ३२४ से ३२५ तक

भगवती शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कपाय कुशीलको कृपातीत भी कहा है ।

बोल पन्द्रहवा प्र० ३२५ से ३२७ तक

भगवती ठाणाङ्क और व्यवहार सूत्रमें व्यनहारके छ भेद कहे हैं उनमें पून पूर्वके होने पर उत्तरोत्तरसे व्यवस्था नहीं दी जाती यह भी कहा है ।

बोल सोलहवा प्र० ३२७ से ३२९ तक

भगवती शतक १५ की टीकामें लिखा है कि भगवान्से गोशालकका स्वीकार करना अवश्यम्भावी भाव था इस लिये भगवान्ने गोशालकको स्वीकार किया था ।

बोल १७ वा ३२९ से ३२९ तक

ठाणाङ्क ठाणा नौ के अर्थमें लिखी हुई गायी किसी मूलपाठ या प्रामाणिक टीका में नहीं मिलती और उसमें शिष्यवर्गको दीक्षा देनेका निषेध है एक शिष्यको दीक्षा देनेका निषेध नहीं है ।

बोल १८ वा ३३० से ३३१ तक

सुवर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे सुन कर जम्बू स्वामीसे कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीको छद्मस्थ दशमे किञ्चिन्मात्र भी पाप नहीं लगा था ।

बोल १९ वा ३३१ से ३३१ तक

भगवान् महावीर स्वामीको दश स्वप्न आये थे उस समय उनको अन्तर्मुहूर्त तक द्रव्य निद्रा आई थी । विधिपूर्वक द्रव्य निद्रा लेना प्रमादका सेवन नहीं है ।

इति प्रायश्चित्ताधिकारः ।

अथ लेख्याधिकारः ।

बोल १ प्र० ३३२ से ३२५ तक

सयतिथीमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाग लक्ष्याप नहीं होती ।

बोल दूसरा प्र० ३३५ से ३३७ तक

भगवती शतक १ उद्देशा ७ के मूलपाठमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाग लक्ष्याओं में सगामी वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकारके साधुओंका निषेध है ।

बोल ३ रा पृ० ३३७ से ३३९ तक ।

तेज पद्म लेश्यामे जो सरागोष्ठा सदभाव मानते हैं उनके मतमे अष्टम, नवम और दशम गुण स्थान वाले साधुओंमें भी तेज पद्म लेश्या होनी चाहिये ।

बोल चौथा पृ० ३३९ से ३४१ तक

पन्नावणा सूत्र १७ के मूलपाठमे भगवती सूत्रकी तरह साधुओंमें भाव रूप कृष्ण लेश्याका निषेध किया है परन्तु सदभाव नहीं बताया है ।

बोल पाचवा ३४१ से ३४२ तक

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमे कपाय कुशीलमे छ द्रव्य लेश्या कही है भाव लेश्या नहीं ।

बोल छठा पृ० ३४२ से ३४५ तक

भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में कपाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है ।

बोल सानवा पृ० ३४३ से ३४५ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१३२ में अजितेन्द्रियता और चोरी आदिमे प्रवृत्त रहना कृष्ण लेश्याका लक्षण कहा है परन्तु साधु जितेन्द्रिय और चोरी आदि दुष्कर्मसे निवृत्त रहते हैं इस लिये उनमे कृष्ण लेश्याके लक्षण नहीं हैं ।

बोल आठवा पृ० ३४५ से ३४७ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४ गाथा ३१३२ मे बताया हुए कृष्ण लेश्याके लक्षण सामान्य साधुमें भी नहीं पाये जाते फिर भगवान् महावीर स्वामी मे उनके होनेके विषय मे कहना ही क्या है ।

बोल नवा पृ० ३४८ से ३४९ तक

पुलाक, वकुल और प्रतिसेवना कुशील दोषके प्रतिसेवी होते हैं परन्तु उनमे तीन विशुद्ध भाव लेश्या ही होती है इस लिये अप्रशस्त भाव लेश्याके बिना दोषका प्रतिसेवन नहीं होता यह कहना भी अज्ञान है ।

बोल दसवा पृ० ३५० से ३५१ तक

यदि विराधक होनेसे कपाय कुशील दोषका प्रतिसेवी हो तो फिर निमग्नको भी दोषका प्रतिसेवी कहना चाहिये क्योंकि भगवती शतक २५ उद्देशा ६के मूलपाठमे कपाय कुशीलकी तरह निमग्न भी विराधक कहा गया है ।

बोल ११ वा पृष्ठ ३५१ से ३५३ तक

शास्त्रोक्त चार ध्यानोमें अविघ्नास होनेसे जो अतिचार आता है उसकी निवृत्ति के लिये साधु प्रतिक्रमण करता है परन्तु चार ध्यानोके साधुओंमें होनेसे नहीं ।

बोल १२ वा पृ० ३५३ से ३५४ तक

पन्नावणा सूत्रकी मलयगिरि टीकामे मन पट्ट्यावज्ञानियोंमें कृग लेख्या बताया गई है परन्तु वह टीका भगवतो सूत्रकी टीकामे विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है ।

बोल १३ वा पृ० ३५४ से ३५८ तक

संघादिकी रक्षा करनेके लिये वैक्रिय लब्धिका प्रयोग करने वाले साधुको शास्त्र-कारने भविनात्मा अनगर कहा है । पद्विध लेख्याओंका स्वरूप समझानेके लिये आर-श्यक सूत्रकी टीकामे जामुनके फल रानेकी इच्छा करने वाले छ पुरुषोंका उदाहरण दिया है ।

इति लेख्या प्रकरणम् ।

अथ वैद्यावृत्त्यधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ३५९ से ३६० तक

जैसे बन्दनार्थ किया जाने वाला वैक्रिय समुद्रघात व दनसे भिन्न है उसी तरह हरि बेडी मुनिका व्यावचके लिये यज्ञसे किया जाने वाला ब्राह्मण कुमारोंका वादन मुनि के व्यावचसे भिन्न है ।

बोल दूसरा पृष्ठ ३६० से ३६१ तक

सूर्याभने नाटकको भक्ति स्वरूप नहीं कहा है इस लिये नाटकको भक्ति मानकर उसे सावध बताना अज्ञान है ।

बोल तीसरा पृष्ठ ३६१ से ३६२ तक

गुरु आदिके चित्तमें शान्ति उत्पन्न करनेसे ज्ञाता सूत्रमें तीर्थंकर गोत्र वाचना कहा है । गुरु केवल साधु ही नहीं होते माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि भी होते हैं ।

बोल चौथा पृष्ठ ३६२ से ३६५ तक

सुय० सु० १ अ० ३ उ० ४ गाथा ६।७ में जो लोग विषय सुख भोगनेसे मोक्षकी प्राप्ति मन्ते हैं उनके सिद्धान्तका रण्डन है परन्तु साधुमे इतर प्राणीको माता देनेसे धर्म पुण्य होनेका निषेध नहीं है ।

बोल पाचवा पृष्ठ ३६६ से ३६८ तक

गृहस्थसे साता पुत्रता तथा उसका व्यावच करना सधुके लिये अनाचार है गृहस्थके लिये नहीं ।

बोल छठा पृष्ठ ३६८ से ३७१ तक

उन ई सूत्रमें दशविध व्यावच कह गये हैं उनमें साधर्मिक व्यावच भी शामिल हैं । प्रवचनके द्वारा श्रावक भी श्रावकका साधर्मिक होता है अत उमका व्यावच भी साधर्मिकके लिये निर्जराका हेतु है ।

बोल सातवा पृष्ठ ३७१ से ३७२ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ५ उद्देश २ में श्रावकोंके वर्ण बोलनेसे सुलभ घोषी और अर्ण बोलनेसे दुर्लभ घोषी होना कहा है अतः श्रावकको अन्नदानादि द्वारा धार्मिक सहायता करनेसे एकान्त पाप कइना अज्ञान है।

बोल आठवा पृष्ठ ३७२ से ३७३ तक

श्रावक और श्राविकाओंके दिन, सुख और पथ्य आदि की इच्छा करनेसे सन्त्कुमार देवेन्द्र भवसिद्धिसे लेखर यावत् चरम हो गये हैं। भगवती शतक ३ व० १

बोल नवा पृष्ठ ३७३ से ३७६ तक

साधु या साध्वीको गनमें या विकालके समय सर्प काटनेपर क्रमशः गृहस्थ स्त्री और पुरुषके द्वारा झाडा दिलाया वृत्कल्प सूत्रमें लिखा है। आचाराग सूत्रमें कहा है कि गहूटे आदिमें गिरनेकी सभाना होनेपर गृहस्थका हाथ पकड कर साधु मार्गको पार कर सक्रता है।

बोल दशवा पृष्ठ ३७६ से ३७९ तक

साधुकी गलेकी फासी काटने तथा आगमें जलते हुए साधुको बाहर निकालनेमें एकान्त पाप कइने वाले निन्द्य और शास्त्र विरोधी हैं।

बोल ११ वा पृष्ठ ३७९ से ३८१ तक

साधुकी नासिकामें लटकते हुए अर्णको धर्म बुद्धिसे काटने वाले गृहस्थको पुण्य बन्धकी क्रिया लगती है और लोभसे काटने वालेको पाप लगता है।

बोल १२ वा ३८१ से ३८२ तक

साधुको गृहस्थके द्वारा अपने फोड़े आदिके छेदन कइनेकी इच्छा करना बुरा है परन्तु गृहस्थको धर्मबुद्धिसे साधुके फोड़े आदिका छेदन करना पापका कारण नहीं है।

इति वैयावृत्य प्रकरणम्।

अथ विनयाधिकारः।

बोल १ पृष्ठ ३८३ से ३८५ तक

मम्यगृष्टि अपनेसे अधिक गुण वाले मम्यगृष्टिकी और श्रावक अपनेसे श्रेष्ठ श्रावककी तथा ये सभी लोग मम्यगृष्टि साधुकी जो सेवा शुश्रूषा करते हैं यह इनका दर्शन विनय सभङ्गना चाहिये।

बोल दूसरा पृष्ठ ३८५ से ३८६ तक

उत्पला श्राविकाने पोखली श्रावकको और पोखलीने शङ्ख श्रावकको वन्दन नमस्कार किये थे।

बोल तीसरा पृष्ठ ३८७ से ३९१ तक

सामायक्रमे बैठे हुआ श्रावक सामायक्रमे नहीं बैठे हुए श्रावकसे श्रेष्ठ है इसलिये वह सामायक्रमे नहीं बैठे हुएको नमस्कार नहीं करता है ।

बोल चौथा पृष्ठ ३९१ से ३९६ तक

अम्बडजी के शिष्योंने सधारा पर बैठने के समय बारह व्रत ग्रहण कराने का उपाय मानकर अम्बडजी को नमस्कार किया था कुप्राञ्चनिक धर्माचार्य मान कर नहीं ।

बोल पाचवा पृष्ठ ३९७ से ३९९ तक

दिक्कुमारियो ने गर्भस्थ तीर्थङ्कर और उनकी माताको वन्दन नमस्कार किये थे ।

बोल छठा पृष्ठ ३९९ से ४०२ तक

जन्मते समय तीर्थङ्करको वदना नमस्कार धर्म जान कर इन्द्र करते हैं लौकिक रीतिके अनुसार नहीं ।

बोल सातवा पृष्ठ ४०२ से ४०४ तक

भगवती शतक २ उद्देशा ५ में तथारूपके श्रमण और माहन (श्रावक) की सेवा भक्ति करनेसे धर्म श्रमणसे लेकर मोक्षपर्यान्त फल मिलना कहा है ।

बोल आठवा पृष्ठ ४०५ से ४०६ तक

जैसे परतीर्थी धर्मोपदेशक श्रमण और माहन दो हैं उसी तरह स्वर्गीय धर्मोपदेशक भी साधु और श्रावक दो हैं ।

बोल नवा पृष्ठ ४०६ से ४०७ तक

सुबुद्धि प्रधानके उपदेशसे जित्तगुण राजाने बारह व्रत ग्रहण किये थे ।

बोल दशवा पृष्ठ ४०७ से ४०८ तक

भगवती शतक १ उद्देशा ७ की टीकामे श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है ।

बोल ग्यारहवा पृष्ठ ४०८ से ४११ तक

भगवती शतक १५ के मूलपाठमे साधु और श्रावक दोनों ही से धीर्यना और दोनोंको वन्दन नमस्कार करना कहा है ।

बोल १२ पृष्ठ ४१० से ४११ तक

उत्तगण्ययन सूत्र की गाथाओं मे कहहुए माहन के लक्षण श्रावकों में भी पाये जाते हैं ।

इति त्रिनयाधिष्ठार ।

अथ पुण्याधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४१२ से ४१३ तक

पुण्यानुबन्धी पुण्य आदरणीय है, मोक्षार्थी पुष्ट भी इसका आदर करते हैं ।

बोल दूसरा पृष्ठ ४१३ से ४१४ तक

साधन दशामें मोक्षार्थी भी पुण्य फलका आदर करते हैं ।

बोल तीसरा पृष्ठ ४१४ से ४१६ तक

मनुष्य शरीर पुण्यका फल है मोक्षार्थियोंके लिये इसकी आवश्यकता उसी तरह है जैसे नदीसे पार जाने वालेको नौका की ।

बोल चौथा पृष्ठ ४१६ से ४१९ तक

भगवती शतक १ उद्देशा ७ में कही हुई पुण्यकामना और स्वर्गकामना बुगि नहीं है किंतु मोक्षका उपकारक है ।

इति पुण्याधिकार ।

अथ आश्रवाधिकारः ।

बोल १ ४२० से ४२१ तक

पाच इन्द्रिय, चार ऋषाय, पाच अन्न, पचीस क्रिया, तीन योग ये ४२ आश्रव हैं ।

बोल दूसरा ४२१ से ४२५ तक

पचीस क्रियाएं अजीव की कही हैं और ये आश्रव हैं इस लिये आश्रव अजीव भी हैं ।

बोल तीसरा पृष्ठ ४२५ से ४२६ तक

पुण्य पाप और बन्ध भी व्यवहार दशा में जीव हैं इन्हें एकान्त अजीव कहना अज्ञान है ।

बोल चौथा पृष्ठ ४२६ से ४२७ तक

भगवती शतक १७ उद्देशा २ में सराग सत्त्विय और समोह जीव को रूपी कहा है अत जीव स्वरूप आश्रव भी रूपी सिद्ध होता है उसे एकान्त अरूपी कहना अज्ञान है ।

बोल पाचवा पृष्ठ ४२७ से ४२८ तक

पाप, पुण्य, बंध, ये व्यवहार दशामें जीव और निश्चयनयके अनुसार अजीव हैं इन्हें एकान्त जीव या एकान्त अजीव कहना मिथ्या है ।

बोल छठा पृष्ठ ४२८ से ४२९ तक

ठाणाङ्ग ठाणा ५ के मूषपाटसे आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव सिद्ध करना जनताको धोखा देना है ।

बोल मातृवा पृष्ठ ४२९ से ४३० तक

भगवती शतक १२ उद्देश ५ के मूलपाठमें तीन दृष्टियों को अरूपी और मिथ्यादर्शनशाल्य को रूरी कहा है अतः मिथ्यात्व आश्रव एकान्त अरूपी नहीं हो सकता ।

बोल आठवां पृष्ठ ४३० से ४३१ तक

कृष्ण लेख्या ससारी जीव का परिणाम है । ससारी जीव भगवती शतक १७ उद्देश २ में रूरी भी कहा है अतः कृष्णलेख्या रूपी भी सिद्ध होती है ।

बोल नवा पृष्ठ ४३२ से ४३३ तक

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के होने पर जो क्रिया की जाती है वह जीव की हो या पुद्गल की हो क्रमशः सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया कही जाती हैं ।

बोल दशवा पृष्ठ ४३३ से ४३४ तक

ठाणाङ्ग ठाणा १० के पाठ की साक्षी से आश्रव को एकान्त जीव बतलाना मिथ्या है ।

बोल १ वां पृष्ठ ४३४ से ४३५ तक

भगवती शतक १७ उद्देश २ के मूल पाठ की साक्षी से आश्रव को एकान्त जीव कहना अज्ञान है ।

बोल १२ वां पृष्ठ ४३५ से ४३८ तक

ठाणाङ्ग ठाणा १० के मूल पाठ में रूपी अजीव भी जीव का परिणाम कहा गया है ।

बोल तेरहवा पृष्ठ ४३८ से ४३९ तक

भाव गति आदिनी जीवका परिणाम मान कर द्रव्य गति आदिको जीव का परिणाम न मानना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध है ।

बोल चौदहवां पृष्ठ ४३९ से ४४० तक

दुग्ध जल की तरह पकाकार होकर रहनेसे गति आदिको ठाणाग ठाणा दशमे जीवका परिणाम कहा है ।

बोल १५ वां पृष्ठ ४४० से ४४१ तक

भगवती शतक १० उद्देश १० में क्पाय और योगको आत्मा कहा है । क्पाय और योग रूपी हैं इस लिये ससारी आत्मा भी रूपी हैं और क्पायाश्रव तथा योगाश्रव भी रूपी हैं ।

बोल १६ वां पृष्ठ ४४१ से ४४१ तक

भाव क्पाय और भाव योग को आत्मा मान कर द्रव्य क्पाय और द्रव्य योगको आत्मा न मानना शास्त्र विरुद्ध है ।

बोल १७ वा पृष्ठ ४४२ से ४४४ तक

भगवती शतक १२ उद्देशा १० में आत्म मात्रका भेद कहा गया है भाव आत्मा का ही नहीं। भगवतो शतक १३ उ० ७ में आत्माका शरीरके साथ कश्चित् अभेद और कश्चित् भेद कहा है।

बोल १८ वा पृष्ठ ४४५ से ४४६ तक

जीवोद्यनिष्पन्न भावको एकान्त जीव और अजीवोद्यनिष्पन्न भाव को एकान्त अजीव बताना अज्ञान है।

बोल १९ वा पृष्ठ ४४६ से ४४७ तक

भाव रूप होनेसे न कोई पदार्थ एकान्त अरूपी होता है और द्रव्य रूप होने से न एकान्त रूपी ही हो जाता है अतः भाव रूप होने से क्रोधादि को एकान्त अरूपी कहना मिथ्या है।

बोल २० वा पृष्ठ ४४७ से ४४९ तक

क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मों के उद्भयसे उत्पन्न होते हैं इस लिये अपने कारणके अनुसार ये रूपी और पौद्गलिक हैं।

बोल २१ वा पृष्ठ ४४९ से ४५१ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा ७ में मन और वचनको रूपी तथा जीव से भिन्न कहा है इसलिये उनके योग भी रूपी और अजीव हैं अतः योगाश्रवको एकान्त अरूपी और जीव कहना अज्ञान है।

बोल २२ वा ४५१ से ४५३ तक

ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें आश्रवको जीव और अजीव दोनोंमें गतार्थ किया है।

बोल २३ वा पृष्ठ ४५३ से ४५४ तक

कर्म भी कर्मके ग्रहण करनेमें काण्य होनेसे आश्रव है। वरि पौद्गलिक कहा गया है इस लिये आश्रवको एकान्त अजीव मानना अज्ञान है।

इति आश्रवाधिकार ।

अथ जीवाजीवदि पदार्थ विचारः ।

बोल १ पृष्ठ ४५५ से ४५६ तक

जीव और अजीव आदि नौ ही पदार्थ किसी न्यायसे रूपी और किसी न्यायसे अरूपी हैं।

बोल दूसरा पृष्ठ ४५६ से ४५७ तक

मुख्य नयसे चार पदार्थ रूपी चार अरूपी और एक मिश्र है।

बोल तीसरा पृष्ठ ४५७ से ४५८ तक

शब्द आदि तीन नव वादोंके मतसे नव ही तत्त्व जीव हैं। किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ अजीव हैं। किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ जीव हैं।

बोल चौथा पृष्ठ ४५८ से ४५९ तक

किसी अपेक्षासे चार जीव और पाच अजीव हैं।

बोल पाचवा पृष्ठ ४५९ से ४६० तक

एक अपेक्षाने एक जीव, एक अजीव और सात दोनोंक पर्याय है।

इति नव तत्त्वविचार ।

अथ जीवभेदाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४२१ से ४६३ तक

प्रथम नारिक भुवनपति और व्यन्तर देवोमे जीवका तीसरा भेद न मानना मूर्खा है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४६३ से ४६४ तक

असहोसे मर कर प्रथम नारिक भुवनपति और व्यन्तर देवोमे उत्पन्न होने वाले जीवोंको शास्त्रमें कहीं भी सज्ञी नहीं कहा है अतः पन्नावणा सूत्रके मनुष्य विषयक पाठक' दृष्टान्त देकर उक्त जीवोमे असहोका अपर्याप्त भेद न मानना अज्ञान है।

बोल तीसरा पृष्ठ ४६४ से ४६५ तक

छोटे बालक और बालिका मनोयुक्त होते हैं मनोत्रिकल नहीं होते इसलिये उनका दृष्टान्त देकर असहोसे मर कर प्रथम नारिक भुवनपति और व्यन्तर देवोमे उत्पन्न होने वाले जीवोंमे असहोका अपर्याप्त भेद न मानना अज्ञान मूलक है।

बोल चौथा पृष्ठ ४६५ से ४६६ तक

कीडी आदि जीवोंको दशरैकालिक सूत्रमे छोटा होनेके कारण सूक्ष्म कहा है सूक्ष्म जीवका भेद मान कर नहीं क्योंकि वे त्रस जीवमे गिने गये हैं परन्तु असहोसे मर कर नारिक आदिमें उत्पन्न होने वाले जीव कहीं भी सज्ञी नहीं कहे हैं अतः उनमें असहोका भेद न मानना अज्ञान है।

बोल पाचवा पृष्ठ ४६६ से ४६७ तक

समूर्द्धिम मनुष्यका दृष्टान्त देकर प्रथम नारिक भुवनपति और व्यन्तर देवोमें असहोके अपर्याप्त भेदका निषेध करना भिद्यता है।

बोल छठा पृष्ठ ४६७ से ४६८ तक

भगवती शतक १३ उद्देशा २ के मूलपाठमें असुरकुमार देवनामे नपुंसक वेदका निषेध इस लिये किया है कि उनकी वह अवस्था अन्तमुर्द्धुकी होती है।

इति जीवभेदाधिकार ।

अथ सूत्र पठनाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४६९ से ४७१ तक
श्रावकको भी शास्त्र पढ़नेका अधिकार है ।

बोल दूसरा पृष्ठ ४७१ से ४७२ तक

शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार श्रावकको भी होते हैं यदि श्रावकको शास्त्र पढ़ने का अधिकार न होता तो उसको अकालमे स्वाध्याय करने और कालमे स्वाध्याय न करनेका अतिचार कैसे लगता ।

बोल तीसरा पृष्ठ ४७२ से ४७३ तक

नन्दी और समवायाग सूत्रमे साधु और श्रावक दोनोंको "सुयपरिगहिया" कहा है इस लिये साधुकी तरह श्रावकका भी सूत्र और अर्थ दोनों जाननेका अधिकार है । उत्तराध्ययन सूत्रमें पालित नामक श्रावकको निग्रथ प्रवचनका पण्डित कहा है ।

बोल चौथा पृष्ठ ४७३ ४७५ तक

प्रश्न व्याकरण सूत्रके मूल पाठमे सत्य रूप महात्रयकी प्रशंसा की गई है शास्त्र पढ़ने और पढ़ानेका कुछ जिक्र भी नहीं है ।

बोल पाचवा पृष्ठ ४७६ से ४७७ तक

व्यवहार सूत्रमे तीन वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात् निशीथ सूत्र पढ़नेका और दश वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात् भगवती सूत्र पढ़नेका विधान किया है वह एकान्त नहीं है क्योंकि तीन वर्षकी प्रव्रज्या वाला साधु उत्कृष्ट द्वादशागधारी भी कहा गया है ।

बोल छठा पृष्ठ ४७७ से ४७८ तक

गुरुसे बिना पढे अपने मनसे शास्त्र पढ़ने पर 'सुण्ड्वदिन्न' नामक अतिचार होता है उसकी निवृत्तिके लिये श्रावक गुरु से पढ कर ही शास्त्रका अध्ययन करते हैं ।

बोल सातवा पृष्ठ ४७८ से ४७९ तक

ठाणाग ठाणा तीनका नाम लेकर सभी श्रावकोंको अविनीत लोलुप और क्रोधी ठहरा कर शास्त्र पढ़नेका अनधिकारी बताना मूर्खता है ।

बोल आठवा पृष्ठ ४७९ से ४८१ तक

सूर्य्य प्रज्ञप्तिका नाम लेकर श्रावकको अभाजन कहना मिथ्या है ।

बोल ९ वा पृष्ठ ४८१ से ४८२ तक

उसन्न पासत्थ और कुशील आदि श्रावक भी होते हैं साधु ही नहीं । इसलिये निशीथ सूत्र उद्देशा १९ के मूलपाठमे उसन्न पासत्थ और कुशील श्रावक और साधुको शास्त्र पढ़ानेका निषेध है जो श्रावक उसन्न पासत्थ और कुशील नहीं है उसको शास्त्र पढ़नेका निषेध नहीं है ।

बोल १० वा पृष्ठ ४८२ से ४८३ तक

आठ प्रकारके ज्ञानाचारोंमें दोष लगाने वाला पादर्वस्थ कहा जाता है। आचारा झारि अह्न और उत्तराध्ययनादि वाश अज्ञोको पढ कर जो सम्यक्त्वका लाभ करता है उसे उत्तराध्ययन सूत्रमें सूत्र रुचि कहा है।

इति सूत्र पठनाधिकारः ।

अथ क्रियाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४८४ से ४८४ तक

आज्ञा वादरकी करनीसे भी पुण्य बन्व होता है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४८४ से ४८५ तक

मिथ्या दर्शनी भी अकाम निर्जरा आदि आज्ञा वादरकी करनी करके स्वर्गगामी होते हैं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४८५ से ४८६ तक

आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण और सघकी निन्दा करने वाले वीतरागकी आज्ञाका अनागधक अज्ञानी, आज्ञा वादरकी क्रियासे स्वर्गगामी होते हैं यह उपाई सूत्रमें कहा है।

इति क्रियाधिकारः ।

अथ अल्प पाप बहु निर्जराधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ४८७ से ४८९ तक

तथा रूपके श्रमण मानको अकल्पनीय आहार देने वाले आवकन्धी घोडा पाप और अधिक निर्जरा होना भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में कही है।

बोल दूसरा पृष्ठ ४८९ से ४९० तक

भगवतीके टीका कारणे अल्पतर पाप शब्दका अर्थ निर्जराकी अपेक्षा घोडा पाप लिखा है पाप न होना नहीं।

बोल तीसरा पृष्ठ ४९० से ४९१ तक

बहु शब्दके साथ आया हुमा अल्प शब्दका कहीं भी अभाव अर्थ नहीं होता।

बोल चौथा पृष्ठ ४९१ से ४९२ तक

आचाराग सूत्रकी स्वरचित २७वा अर्थमें जीतमलजीने 'अफामुअ' का अर्थ अकल्पनीय कहा है।

बोल पाचवा ४९२ से ४९६ तक

भगवती शतक पाच उद्देशा ६ के मूलपाठमें आधाकर्मी आहार बनाने और शूठ श्लोक कर उसे साधुको देनेमें जो प्राणातिपात और मिथ्या भाषण होता है उससे अल्प आयुका बन्धन होना कहा है वह अल्प आयु क्षुल्लक भय प्रदण रूप नहीं है किन्तु दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प है।

बोल ६ द्वा ४९६ से ४९९ तक

भगवती शनक १८ उद्देशा १० के मूलपाठमें उत्सर्ग मार्गमें अनेपणिक साधुको अभक्ष्य कहा है कारण दशमे नहीं ।

बोल सातवा पृष्ठ ४९९ से ५०० तक

नित्य पिण्ड और उद्दिष्ट भक्त दोनों ही दुर्गतिके कारण कह गये हैं । परन्तु नामधारी साधु बिना कारण ही नित्य पिण्ड लेते हैं ।

इति अरूप पाप बहु निर्जराधिहार ।

अथ कपाटाधिकारः ।

बोल १ पृष्ठ ५०१ से ५०२ तक

तेरह पंथी साधु अपने हाथसे लिहनीका कपाट खोलते हैं और बन्द करने भीपगजी सिद्धकीका कपाट खोल कर रातमें बाहर गए थे तथा सोजदमें जी नाथाजी आदि सात आचार्याओको अपने हाथसे छत्रीका कपाट खोल कर उतारा

बोल दूसरा पृष्ठ ५०२ से ५०३ तक

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ४ गाथा ३५ में इन्द्रियोंकी चञ्चलताको रोक्नेके कहा है कि साधु, मनोहर, चित्र युक्त मद्य और धूपसे सुवासित तथा कपाट वाले म में न रहे, कपाट बन्द करने और खोलनेके भयसे उक्त मकानमें रहनेका निषेध नहीं

बोल तीसरा पृष्ठ ५०४

आवश्यक सूत्रमें बिना पूजे कपाट खोलनेका प्रायश्चित्त स्वरूप मिच्छामि देना कहा है पूज कर खोलनेका नहीं है ।

बोल ४ पृष्ठ ५०४ से ५०५ तक

सुय० गाथा बाह तेरहमें अकेला विहार करने वाले साधुके लिये कपाट करनेका निषेध किया है स्थविर कल्पीके लिये नहीं ।

बोल पाँचवा पृष्ठ ५०६ से ५०७ तक

दश वैकालिक अ० ५ उ० १ गाथा १८ में सण आदिके पर्देसे ढके हुए द्व गृहस्थकी आज्ञासे कारण दश में खोलनेका विधान किया है ।

आचाराग सूत्रमें गृहस्वामीकी आज्ञासे प्रमाज्जन आदि करके गृहस्थके खोलनेका विधान किया गया है ।

बोल छठा पृष्ठ ५०७ ५०८ सेतक

आचाराग सूत्रके मूलपाठमें कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे कपाटवाले म रहनेका निषेध नहीं है किन्तु गृहस्थके ससर्ग वाले गृहमें रहनेका निषेध किया गया

बोल सातवा पृष्ठ ५०८ से ५१२ तक

घृहस्वरूप सूत्रके भाष्यमें कारण पड़ने पर साधुको जयगाके साथ कपाट खोल और बन्द करनेका विधान किया है ।

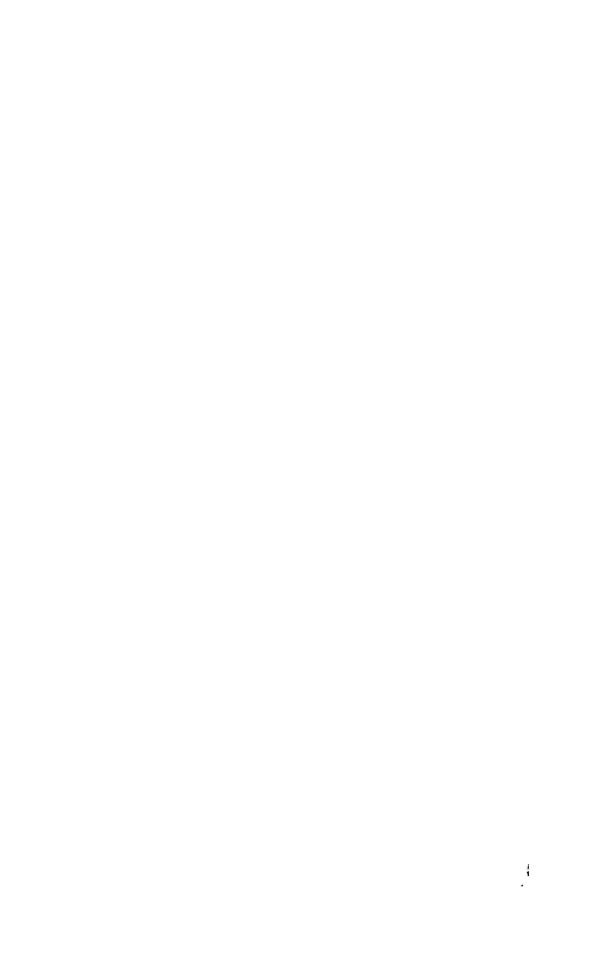
शुद्धाशुद्धि पत्र ।



पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७	नियुक्ति	निर्युक्ति
१४	धम	धर्म
३०	सथा	मर्था
११	जा	जो
२	रेसी	ऐसी
३	मोक्ष मार्ग	मोक्ष मार्ग
४	तथा	तथा
५	लिंगे गये हैं	लिये गये हैं
८	लटका दिये हैं	लटका दिये गये हैं ।
९	उन्हें मोक्ष मार्ग का	उन्हें अज्ञानी होनेसे मोक्ष मार्ग का
७	पठमें	पठमें
१०	दशाराधक	देशाराधक
२४	अथात्	अर्थात्
३१	सम्यादृष्टिका	सम्य दृष्टि या
१८	धिपाक	विपाक
३०	ज्ञान अध्ययन	ज्ञानाध्ययन
१८	क्रियावादी	क्रियवादी ही
२७	सुसल	सुसल
२७	विरतिपुक्त	विरतिमुक्त
२०	निमल	निर्मल
२६	मिथ्यदृशत्व	मित्यत्त्व
३०	अद्दे	अद्दे
१८	पितृव्य	पितृव्य
२०	उद्योग ?	उद्योग ?

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६३	१५	उद्देशा १	उद्देशा ३१
६३	२८	"	"
६४	९	"	"
६९	२५	होता	होता है
७२	१४	चन्तवना	चिन्तवना
८२	३	अच्छा	शुभ
८२	७	"	"
८२	२०	"	"
८५	५	पूर्वत्	पूर्वेत्
८८	१४	चार	चौर
८८	१७	अधम	अधम
९६	६	वनछाते	वतछाते
९६	२८	निर्वाह	जीविका निर्वाह
९९	१७	मुनि	मुनि /
१०५	१८	अथमें	अर्थमें
१०७	९	अहत	आहत
१०७	१०	शिरमणि	शिरोमणि
१०७	११	प्रतिप्रह	प्रतिप्रह
१०७	२९	बैडाल घ्रातिक	बैडाल घ्रातिक
१०८	५	जना	जाना
१०९	२	जनता	जानता
१११	२३	टकानुसार	टोकानुसार
१२८	२७	तहर	तरह
१३८	९	अथमें	अर्थमें /
१४४	३	करसेने	करनेसे
१४६	११	मरवाने	मारवाने
१४८	१४	फरने	कारने
४५३	१३	सरम्म	सरम्म
१५५	४	परिप्रहमें	उसकी ममता परिप्रहमें /
१५६	१२	गतम	गोतम

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३११	२५	अनेक दिनके	अनेक वर्षके
३१४	२८	तिर्णय	निर्णय
३१८	२७	दोप अप्रतिसेवी	दोपका अप्रतिसेवी
३२३	४	घोल (०)	घोल १२ वा
३२४	१७	गाथाका अर्थ है	पाठका अर्थ है
"	२५	छद्मस्थ	छद्मस्थ
३२५	८	गोशालको	गोशालक को
३२९	५	टोकामें	अर्थमें
३४८	१७	लेइया	लेइया
३४९	२	पश्चमखाण	पश्चमखाण
३५२	४	द्रु	द्रु
३५४	२८	गच्छजा	गच्छेजा
३५५	९	सादिका	आदिका
"	२०	स्वीकारण	सीरीकारण
२६१	२	भगवद्भक्ति	भगवद्भक्ति
"	१५	छ	छै
३६९	१३	भगोंमें	भगमें
३७१	१	कतव्य है	कर्तव्य है
"	१६	आवकोको	आवकों के
३७५	७	'	शु० २ अ० ३ उ० २
३७९	२६	सूत्रको	सूत्रका
३८०	४	अथ	अर्थ
"	९	कराने वाले	कराने वाले
३८२	४	धर्म बुद्धिसे	धर्म बुद्धिसे
"	११	अण्णपरण	अण्णपरण
३८३	१३	भगवती शत १५	भगवती शतक २५
३८४	१	असातना	अनासातना
३८७	५	निर्जाराक	निर्जाराका
३८९	६	असनानुप्रदान	आसनानुप्रदान
३९१	१	मुनियोको	मुनियोको
३९२	३	वाहर	चारह
३९६	१९	कुप्रावाचनिक	कुप्रावचनिक
३९८	५	सिरसावत्त	सिरसावत्त
४०५	२९	साथ	धर्मके साथ
४०६	१४		अपने ७०० शिष्योको



पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४९७	१४	मौनन्द्रागम	मौनीन्द्रागम
४९८	७	उपयोग	उपभोग
"	२८	तथापि	अतएव
५०३	४	छ्लोच	रह्योच
५०४	११	प्रमाजन	प्रमार्जन
५०५	१	सुन्नधरस्स	सुन्नधरस्स
५०६	१०	अलसीके काण्डकी टट्टं से	सणके
"	२५	प्रम जन	प्रमार्जन
"	२७	कके	करके
५०८	३०	अन्तो	अन्तो
५०९	५	खले	खले
५१०	१९	वाघादय	व्याघ्रादय

—*—

परिशिष्ट ।

पृष्ठ ६१, पक्ति चौथीके १५ वें अक्षरके आगेका छुटा हुआ पाठ यह है —

“विसुञ्जमाणेविजाणइ”

पृष्ठ ७६, पक्ति १७ के २३ अक्षरके आगेका पाठ यह है —

“अगाराहगा”

पृष्ठ १६७, पक्ति ११ के १४ अक्षरके आगेका छूटा हुआ पाठ यह है —

“किंवा द्वा”

पृष्ठ २६८ पक्ति २२ के दश अक्षरके आगेका छूटा हुआ वाक्य यह है .--

“वास्तवमें शास्त्रसे मिलती हुई सभी चूर्णों मान्य हैं ।

पृष्ठ ३२३ के चौथी पंक्तिके आगेका छूटा हुआ बोल यह है —

(बोल १२)

३३५ पृष्ठके २९ वीं पंक्तिके आगेका छूटा हुआ वाक्य यह है —

“जहा जहा आरम्भ है वहा सर्वत्र यदि कृष्ण लेश्या है तो फिर शुक्ल लेश्या केवल अनारम्भो में ही पाई जानी चाहिये परन्तु वह आरम्भोमें भी पाई जाती है अतः पूर्वोक्त नियम मिथ्या है ।



❀ श्रीवीतरागाय नमः ❀

सद्धर्ममण्डनम् ।

मिथ्यात्विक्रियाधिकारः ।

अथ सद्धर्ममण्डनमारभ्यते

सिद्धाण नमो क्रिद्या संजयाणंच भावओ

अस्य धम्म गइं तच्चं अणुसिद्धिं सुणेहमे १

भव वीजांकुर जनना रागाद्याः क्षय मुपागता यस्य

ब्रह्मावा विष्णुर्वा हरो जिनोवा नमस्तस्मै २

सिद्ध और साधुओंको भावपूर्णक नमस्कार करके हिताहितका ज्ञान देनेवाला सदुपदेश दिया जाता है उसे छनिये। भगवोजका अकुर उत्पन्न करनेवाले रागादि दोष जिनके क्षीण हो गये हैं वह प्रक्षा हो, विष्णु हो चाहे शिव या जिन हो उसे मेरा नमस्कार है।

(सम्यग् ज्ञान, दर्शन, चारित्र, विद्या चारित्र और श्रुत चारित्र को "सद्धर्म" कहते हैं। उसका मण्डन तथा मिथ्या ज्ञान दर्शन और चारित्रका मण्डन और जीविका तथा अनुकम्पा दान आदिके विरोधी सिद्धान्तोंका निराकरण, छास्त्रीय प्रमाणमे इस ग्रन्थमें किया जाता है, इसलिये इसका नाम "सद्धर्म मण्डन" रक्खा है। अन्य जीवोंके उपकारार्थ, तथा आत्मलाभार्थ, यह ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है।)

श्रीवीतरागदेवकी आज्ञाराधना रूप धर्मके दो भेद ठाणाङ्ग सूत्रके दूसरे ठाणमे कहे हैं। वह पाठ—

"दुविहे धम्मे पन्नतो तंजहा—सुयधम्मे चेव चारित्तधम्मे चेव" (ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा २)

अर्थ—धर्म दो प्रकारका है एक श्रुत और दूसरा चारित्र ।

(सम्यग्ज्ञान, दर्शन, आठ ज्ञानाचार और आठ सम्यक्त्वके आचार श्रुतधर्म माने जाते हैं । मातृ धर्म, तथा गृहस्थ धर्मके मूलगुण एवं आठ चारित्रिक आचार, चारित्र धर्ममें कहे गये हैं ।) इस प्रकार श्रुत और चारित्र ये दो ही वीतरागकी आज्ञाका धर्म हैं । इनसे भिन्न कोई तीसरा धर्म, वीतराग भाषित या वीतरागकी आज्ञाका धर्म नहीं है । इन्हीं श्रुत और चारित्र धर्मोंका आराधक पुरुष वीतरागकी आज्ञाका आराधक है ।

श्रीवीतरागकी आराधनाके तीन भेद भगवती सूत्रमें कहे हैं

वहपाठ—“कतिविहाणं भन्ते ! आराहणा पणत्ता ?

गोयमा ! तिविहा आराहणा पणत्ता तंजहा नाणाराहणा

दंसणाराहणा चारित्ता राहणा । णाणाराहणाणं भन्ते !

कतिविहा पणत्ता गोयमा ! तिविहा पणत्ता तजहा—

उक्कोसिया मज्झिमा जहण्णा । दंसणाराहणाणं भन्ते !

एवंचेव तिविहावि एवं चारित्तराहणावि”

(भगवती शतक ८ उद्देश १०)

अर्थ—हे भगवन् ! आराधनाके भेद कितने होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! आराधनाके भेद तीन हैं, ज्ञानाराधना (ज्ञानकी आराधना) दर्शनाराधना (दर्शनकी आराधना) और चारित्राराधना (चारित्रकी आराधना) ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! ज्ञानाराधनाके कितने भेद होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! ज्ञानाराधनाके तीन भेद हैं, उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य । इसी तरह दर्शनाराधना और चारित्राराधनाके भी तीन तीन भेद समझने चाहिये ।

यहां भगवान्ने आराधनाके तीन प्रकारकी कही हैं ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना । इसलिये इन्हींका आराधक पुरुष मोक्ष मार्ग तथा वीतरागकी आज्ञाका आराधक समझा जाता है । परन्तु इनकी आराधना नहीं करके, जो किसी दूसरे धर्मका आराधन करता है वह मोक्ष मार्ग तथा वीतरागकी आज्ञाका आराधक नहीं है । ऊपर बताये हुए मूलपाठमें उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके भेदसे जो तीनों आराधनाओंको तीन तीन प्रकारका कहा है उनमें किस भेदका आराधक पुरुष कितना भव करता है यह निर्णय भी इसी जगह भगवतीजीके मूलपाठमें कर दिया है वह पाठ—

“उक्कोसियाणं भन्ते ! णाणाराहणां आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणे हिं सिज्झंति जाव अन्तं करेति ? गोयमा ! अत्थोगहए, तेणेव

भवग्गहणेणं सिञ्जन्ति जाव अन्तं करेति अत्येगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिञ्जन्ति जाव अन्तं करेति अत्ये गइए कप्पोवएसुवा कप्पाती एसुवा उववज्जन्ति । उक्कोसियणं भन्ते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं एव चेव उक्कोसियणं भन्ते ! चारित्ताराहणं आराहेत्ता एवंचेव नवर अत्येगइए कप्पातीणसुउववज्जन्ति । मज्झिमियणं भन्ते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिञ्जति जाव अन्तं करेति ? गोयमा ! अत्येगइए दोच्चेणं भवग्गहणेणं सिञ्जइ जाव अन्तं करेति तच्च पुण भवग्गहणं नाइक्कमइ । मज्झिमियं णं भन्ते ! दंसणाराहणं आराहेत्ता एवंचेव एवं मज्झिमियं चरित्ताराहणंवि । जहन्नियणं भन्ते ! णाणाराहणं आराहेत्ता कतिहिं भवग्गहणेहिं सिञ्जति जाव अन्तं करेति ? गोयमा ! अत्येगइए तच्चेणं भवग्गहणेणं सिञ्जइ जाव अन्तं करेति सत्तइभवग्गहणाइ पुण नाइक्कमइ एवं दसणाराहणं वि एवं चरित्ताराहणं वि” (भगवती शतक ८ उ० १०)

इस पाठमें ज्ञान, दर्शन और चारित्रिकी उत्कृष्ट आराधना करनेवाले पुरुषको जघन्य एकभ्रम और उत्कृष्ट दूसरे भवमें मोक्ष जाना कहा है तथा उत्कृष्ट ज्ञान और दर्शनकी आराधना करनेवालेको कल्प और कल्पानीत नामक स्थानमें ही देवता होना, एवं उत्कृष्ट चारित्रिकी आराधना करनेवालेको अनुत्तर विमानमें ही जाना कहा है। इसी तरह इन तीनों आराधनाओंक मध्यम आराधकको जघन्य दो और उत्कृष्ट तीन भवमें, तथा इनके जघन्य आराधकको जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवमें मोक्ष जाना बतलाया है। इसका खुलासा करते हुए टीकाकारन लिखा है कि—जिस ज्ञान दर्शनकी जघन्य आराधनासे उत्कृष्ट सात आठ भवमें मोक्ष जाना इस पाठमें बतलाया है वह ज्ञान और दर्शनकी आराधना चारित्रिकी आराधनाके साथ की जानेवाली समझनी चाहिए। परन्तु चारित्रिकी आराधनासे गृहित जघन्य ज्ञान और दर्शनकी आराधना नहीं। क्योंकि चारित्रिकी आराधनासे गृहित जघन्य ज्ञान और दर्शनकी आराधनासे, तथा श्रावकपनेके दैर्घ्यकी आराधनासे उत्कृष्ट असत्य भ्रम भी होते हैं। इस प्रकार जिन पुरुषमें चारित्रिकी आराधना नहीं है किन्तु ज्ञान और दर्शनकी जघन्य आराधना है वह पुरुष, तथा दशग्रन्थी श्रावक, जघन्य तीन और उत्कृष्ट असत्य भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस न्यायसे जो

पुरुष वीतरागकी आज्ञाराधनाके किसी भी भेदका आराधक है वह दो तीन भवों अथवा असंख्य भवोंमें अवश्य ही मोक्ष जाता है पर जो पूर्वोक्त आराधनाओंके किसी भी भेदका आराधक नहीं है वह कभी भी मोक्ष नहीं जाता किन्तु वह अनन्त कालके ससारमें ही पडा रहता है। अत मिथ्यादृष्टि पुरुष वीतरागकी आज्ञाका किञ्चित् भी आराधक नहीं है क्योंकि आज्ञाराधक पुरुष पूर्वोक्त पाठ और टीकानुसार दो तीन भवमें अथवा उत्कृष्ट असंख्य भवमें अवश्य ही मोक्ष जाता है पर मिथ्या दृष्टि नहीं जाना। इसलिये वह वीतराग की आज्ञाराधनाके किसी भी अज्ञान आराधक नहीं है यह उक्त मूल पाठसे सिद्ध होता है। जो लोग मिथ्यादृष्टिको देखसे मोक्ष मार्गका आराधक मानते हैं उन्हें उक्त मूल पाठ और उस की टीकानुसार मिथ्यादृष्टि को उत्कृष्ट असंख्यभवं मोक्ष जाना भी मानना चाहिये। यदि मिथ्यादृष्टिको असंख्य भव में वे मोक्ष जान नहीं मानते, तो फिर उसे वीतरागकी आज्ञाका देशसे आराधक भी नहीं मान 'सकल' जो आज्ञाका आराधक तो हो और असंख्य भव में भी मोक्ष न जाय यह बात उक्त मूल पाठ और उस की टीका से विरुद्ध है।

पूर्वोक्त त्रिविध आराधना श्रुत और चारित्रिक ही अन्तर्गत हैं। ज्ञानके बिना दर्शन और दर्शनके बिना ज्ञान नहीं होता इसलिए ज्ञान और दर्शन ये दोनों श्रुत धर्ममें माने जाते हैं और चारित्र्याराधना चारित्रस्वरूप है इसलिए धर्मके मूलभेद श्रुत और चारित्र ये दो ही हैं। दशमस्कालिक सूत्र में "अहिंसा सजमो तवो" यह कह कर अहिंसा सयम, और तपको जो धर्म कहा है वह श्रुत और चारित्रको ही अहिंसा सयम और तप कह कर बतलाया है। पर श्रुत और चारित्र से अतिरिक्त अहिंसा सयम तप धर्म नहीं कहे हैं। अतएव इम गाथा की निर्युक्ति में धर्म की व्याख्या करते हुए लिखा है कि "दुविहो लोमुत्तगियो सुयधम्मो सत्तु चरित्त धम्मोय" अर्थात् लोकोत्तर धर्म दो प्रकारका होता है एक श्रुत और दूसरा चारित्र। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र रूप लोकोत्तर धर्मको ही उक्त गाथा में अहिंसा, सयम और तप कह कर बतलाया है परन्तु किसी लौकिक धर्मको नहीं।

इसी तरह उत्तगाध्ययन सूत्रके २८ वें अज्ययनमें मोक्षका मार्ग बतलानेके लिए यह गाथा कही है कि —

“नाणञ्च दंमणचैव चरित्तंच तवो तत्ता । एस्समग्गुत्ति पन्नतो जिणेहिं वरदस्सिहिं” (उत्तरा० अ० २८ गाथा २)

अर्थात् ज्ञान दान चारित्र और तपको तत्त्वज्ञान जिनमें ही मोक्षका मार्ग बतलाया है।

यहा गाथामे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, और तप ये चार मोक्ष के मार्ग कहे हैं। ये चारो ही श्रुत और चारित्र धर्म के भेद हैं ज्ञान और दर्शन तो श्रुत के अन्दर और चारित्र तथा तप चारित्र के अन्दर माने जात हैं। अत गाथा मे कहे हुए ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप, श्रुत तथा चारित्रके अन्तर्गत हैं। अतएव इस गाथाकी पाई टीका मे तप के विषय में लिखा है कि—

“तपो बाह्याभ्यन्तर भेद भिन्न यदहद्वचनानुमागि तदेवो पादीयते”

अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तरके भेदसे भिन्न अहद्वचनानुमागि जो तप है उसी का इस गाथा मे प्रहण है।

यहा टीकाकारने वीतगग भाषित तप को ही मुक्तिका मार्ग बतला कर गाथामे उसीका प्रहण होना बतलाया है पर मिथ्यादर्शनानुसारी तपको मुक्ति का मार्ग नहीं कहा है। अत वीतगगकी आज्ञामें होने वाला यह तप चारित्र का ही भेद है। अतएव इस गाथा की टीकामे चारित्रसे पृथक् तपको लिखनेका प्रयोजन बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि—“इहच चारित्र भेदत्वेऽपि तपस पृथगुपादान मन्थैव क्षण प्रत्यसाधारण हेतुत्वमुपदर्शयितुम्।” अर्थात् तप, चारित्रका ही भेद है तथापि कर्मक्षय करनेमे यह सबसे प्रथम है यह बतलानेके लिए इस गाथामे चारित्रमे अलग तप कहा गया है।

यहा टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि तप चारित्र का ही भेद है अत सिद्ध हुआ कि ऊपर लिखी हुई गाथामे श्रुत और चारित्र धर्म ही ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा तप कह कर बतलाये गये है इस न्यायसे श्रुत और चारित्रसे भिन्न कोई तीसरा वीतगगकी आज्ञाका धर्म नहीं है यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है।

ठाणाङ्ग सूत्रमे त्रिधा और चारित्रके द्वारा संसार-सागरसे पार जाना कहा है, वह त्रिधा और चारित्र भी श्रुत तथा चारित्र धर्म ही हैं इनमे पृथक् नहीं। वह पाठ—

“दोहिं ठाणेहिं अणगारे सम्पन्ने अणादिय अणवयगग दोह-
मद्व चाउरतर संसारकंनारं वीतिवचोज्जा । तंजहा विज्जाएचेव चर-
णेणचेव” (ठाणाङ्ग ठाणा २ उद्देशा ३)

इस पाठमें त्रिधा और चारित्रके द्वारा संसार सागर से पार जाना कहा है और मूलपाठ में त्रिधा और चरण शब्द के साथ “एव कार” लगाकर भ्रममाग को पार करने के लिये अन्य उपाय का निषेध किया है। इसलिए मोक्ष प्राप्ति के लिये त्रिधा और चरण ये दो ही कारण सिद्ध होते हैं इनसे भिन्न कोई तीसरा कारण नहीं। यहा त्रिधा शब्द से ज्ञान दर्शन का और चरण शब्द से चारित्र का प्रहण है इसलिये इस पाठ मे श्रुत और

चारित्र्य ही विद्या, तथा चरण कहकर बतलाये हैं । अतः इस पाठसे भी यही सिद्ध होता है कि श्रुत और चारित्र्य धर्म ही मोक्ष प्राप्ति के कारण हैं इनसे भिन्न कोई दूसरा नहीं है ।

यहाँ कोई यह शङ्का करे कि विद्या शब्द तो केवल ज्ञान अर्थमें ही प्रसिद्ध है उससे ज्ञान और दर्शन इन दोनों का ग्रहण क्यों होगा ? तो इसका उत्तर यह है कि इस पाठ की टीका में विद्या शब्दसे ज्ञान और दर्शन दोनों ही का ग्रहण होना लिखा है । वह टीका यह है—“ननु सम्यग्ज्ञान दर्शन चारित्र्याणि मोक्ष मार्ग इति श्रूयते इह तु ज्ञान क्रियाभ्यामसायुक्त इति कथं न तद्विरोध अथ द्विस्थानकानुरोधादेवं निर्देशोऽपि न विरोधो नेवमवधारणगर्भत्वान्निर्देशस्येति । अत्रोच्यते विद्याग्रहणेण दर्शनमप्यविरुद्धं द्रष्टव्यं ज्ञानमेतत्त्वात्सम्यग्दर्शनस्य । यथाहि अवोधात्मकत्वे सति मतेरनाकारत्वादवग्रहणे दर्शन साकारत्वाद्यापायधारणे ज्ञानमुक्तमेव व्यवसायात्मकत्वे सत्यत्रायस्य रचिरुपोऽजोऽत्राय एते ति न विरोध । अवधारणतु ज्ञानादिव्यतिरेकेण नान्यउपायो भव व्यवच्छेदस्येति दर्शनार्थं मिति”

अर्थ—सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र्य मोक्ष के मार्ग सुने जाते हैं परन्तु यहाँ ज्ञान और क्रियासे मोक्ष कहा गया है इस कारण उससे विरोध क्यों नहीं ? यदि कहो कि ठाणाङ्ग सूत्रका यह दूसरा ठाणा है इसमें तीनों का समावेश नहीं है इसलिये यहाँ ज्ञान और क्रियासे मोक्ष कहा, किन्तु दर्शनसे नहीं । तो यह अयुक्त है । क्योंकि इस मूल पाठमें “त्रिज्जाए चैव चरणेण चैव” इन पदोंमें विद्या और चरण से ही मोक्ष जाने का नियम करके दूसरे से मोक्ष प्राप्ति का निषेध किया है । इसका उत्तर यह है कि विद्या शब्द से यहाँ दर्शन का भी ग्रहण समझना चाहिये । क्योंकि सम्यग्दर्शन, ज्ञानका ही भेद है । जैसे कि अवबोध स्वरूप और अनाकार स्वरूप होने से मतिज्ञान के अग्रग्रह और ईद्वारूप भेद दर्शन स्वरूप है और साकार होने के कारण अवाय और धारणा रूप मतिज्ञान के भेद, ज्ञान के अन्दर कहे हैं इसी तरह व्यग्रसाय स्वरूप अत्राय का रचि रूप अग सम्यग्दर्शन है और अवगमरूप अग अवाय, ज्ञान स्वरूप ही है इसलिये कोई विरोध नहीं है । इस पाठ में जो “एत्रकार” आया है वह सम्यग्ज्ञान दर्शन और चारित्र्य से भिन्न कोई मोक्ष प्राप्ति का उपाय नहीं है यह दर्शन के लिये समझना चाहिये । यह उक्त टीका का अर्थ है ।

यहाँ टीकाकार ने विद्या शब्द से ज्ञान और दर्शन दोनों ही का ग्रहण बतलाया है और सम्यग्ज्ञान दर्शन ही श्रुत कहलाते हैं इसलिये उक्त मूलपाठ में श्रुत और चारित्र्यधर्म ही विद्या और चरण शब्द से कहे गये हैं । मूलपाठ में ‘एवकार’ देकर इनसे भिन्न पदार्थ को मोक्ष प्राप्ति में निषेध किया है अतः श्रुत और चारित्र्यधर्म ही मोक्ष के मार्ग तथा बीतराग की आज्ञा के धर्म सिद्ध होते हैं । श्रुत तथा चारित्र्य अथवा विद्या या चारित्र्यधर्म

अज्ञानी और मिथ्यात्वियो मे नहीं होत सम्यग्दृष्टि पुरुषो मे ही होत है अत सम्यग्दृष्टि पुरुष ही वीतराग की आज्ञाराधक या मोक्ष मार्गके आगधक है मिथ्यादृष्टि नहीं ।

(१) पहला बोल समाप्त ।

जो जीव अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि है उनसे जो परलोक के लिये तपोदानादि रूप क्रिया की जाती है वह वीतराग की आज्ञा में नहीं है और वे पुरुष मोक्ष मार्गके किञ्चित् भी आगधक नहीं है यह बात शास्त्र के प्रमाण से बतलाई जाती है ।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ४ मे कहा है कि जो पुरुष अज्ञानी तथा मिथ्या-दृष्टि है उनकी परलोक सम्बन्धी क्रिया मोक्ष कर्म के उदय से होती है । वह पाठ—

“जीवेणं भन्ते ! मोहणिज्जेणं कहेणं कस्मेण उदिन्नेणं उवट्टा-
वेज्जा ? हंता गोयमा उवट्टाएज्जा । से भन्ते ! किं वीरियत्ताए उवट्टा-
एज्जा अवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा ? गोयमा ! वीरियत्ताए उवट्टाएज्जा
णोअवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा । जड वीरियत्ताएउवट्टाएज्जा किं बाल वीरि-
यत्ताए उवट्टाएज्जा पण्डियवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा बालपंडियवीरिय-
त्ताए उवट्टाएज्जा गोयमा ! बालवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा णोपंडियवीरि-
यत्ताए उवट्टाएज्जा णो बालपंडियवीरियत्ताए उवट्टाएज्जा” (भगवती
शतक १ उद्देशा ४)

अर्थ—हे भगवन् ! मिथ्यात्व-मोहनीय कर्मके उत्पत्तिसे जीव परलोकनी क्रिया स्वीकार करता है या नहीं ?

(उत्तर) हे मोक्षम ! करता है ।

(प्रश्न) हे भगवन् वीर्यके द्वारा स्वीकार करता है या अवीर्यके द्वारा करता है ?

(उत्तर) वीर्यके द्वारा स्वीकार करता है अवीर्यके द्वारा नहीं क्योंकि परमेश्वरी क्रिया परनेमें वीर्यकी आवश्यकता होती है ।

(प्रश्न) यदि वीर्यके द्वारा स्वीकार करता है तो क्या बाल वीर्यके द्वारा करता है या पण्डित वीर्यके द्वारा करता है अथवा बाल पण्डित वीर्यके द्वारा स्वीकार करता है ?

(उत्तर) बाल वीर्यके द्वारा स्वीकार करता है पण्डितवीर्य अथवा बालपण्डितवीर्यके द्वारा नहीं । यह हम पाठका अर्थ है ।

यहां “बाल” शब्दका अर्थ टीकाकारने मिथ्यादृष्टि किया है । वह टीका यह है—

“बालवीर्यत्ताए” त्ति बाल सम्यगर्थानवबोधान् सद्वोधकार्यविगत्यभावाच्च मिथ्यादृष्टि तस्य वीर्यता परिणति विशेष सा तथा तथा”

अर्थात् जिसको सम्यक् अर्थका बोध नहीं है और सद्वोधसे उत्पन्न होनेवाली विरति भी नहीं है वह जीव “बाल” कहलाता है अर्थात् मिथ्यादृष्टि को बाल कहते हैं। उसकी वीर्यता बाल वीर्यता कहलाती है। यह टीकाका अर्थ है।

यहा मूलपाठ और टीकामे मिथ्यात्वमोहनीय कर्मके उदयसे जो परलोककी क्रिया की जाती है उसे बालवीर्यके द्वारा होना कहा है और बालवीर्य (मिथ्यात्वीका वीर्य) वीतरागकी आज्ञासे बाहर है इसलिए उस वीर्यके द्वारा जो परलोककी क्रिया की जाती है वह भी आज्ञासे बाहर सिद्ध होती है। अतः अज्ञानी और मिथ्यादृष्टियोंकी परलोकके लिए की जानेवाली तपोदानादिरूपा क्रिया वीतरागकी आज्ञासे बाहर समझनी चाहिए।

ठाणाङ्ग सूत्रके तीसरे ठाणेमे मिथ्यादृष्टियोंकी क्रिया अज्ञान क्रिया कही हैं और अज्ञान भगवान्की आज्ञासे बाहर है अतः मिथ्यादृष्टि की क्रिया भी आज्ञा बाहर सिद्ध होती है वह पाठ—

“अण्णाणकिरिया तिविहा पण्णात्ता तंजहा—मतिअण्णाण
किरिया सुय अण्णाण किरिया विभंगण्णाण किरिया”

(ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ३ उद्देशा ३)

(टीका) “मइ अण्णाण किरिए” ति । “अविसेसिया मइच्चिय सम्मदिट्ठिस्स मा मइ-
ण्णाण मइअण्णाण मिच्छदिट्ठिस्स सुयं वि एवमेव” ति मत्यज्ञानात् क्रियाऽनुष्ठान
मत्यज्ञानक्रिया एवमितरेऽपि नगर विभंगो मिथ्यादृष्टेरवधि स एवाज्ञान विभगा
ज्ञानमिति ।”

अर्थात्—जो क्रिया, अज्ञानसे की जाती है उसे “अज्ञान क्रिया” कहते हैं। उसके तीन भेद हैं मत्यज्ञानक्रिया, श्रुताज्ञानक्रिया और विभगाज्ञानक्रिया।

यह मूलपाठका अर्थ है। इसमे अज्ञानक्रियाके जो मत्यज्ञानादिक तीन भेद बत-
लाए हैं इनका अर्थ जो उपरोक्त टीकामे किया है उसका भाव यह है—

मध्यदृष्टि पुरुषकी मतिको “मतिज्ञान” कहते हैं। और मिथ्यादृष्टि की मतिको
“मतिअज्ञान” कहते हैं। इसी तरह श्रुतके विषयमे भी जानना चाहिये। जो क्रिया
मत्यज्ञानसे की जाती है वह मत्यज्ञानक्रिया कहलाती है। इसी तरह श्रुताज्ञानक्रिया
और विभगाज्ञान क्रिया समझनी चाहिये। “विभङ्ग” नाम मिथ्यादृष्टि के अवधि ज्ञान का
है वह ज्ञान भी अज्ञान है इसलिए इसे “विभङ्गाज्ञान” कहते हैं। यह टीका का अर्थ है।
यहा टीकाकार ने मिथ्यादृष्टि अज्ञानी की मति, श्रुत, और अवधि को मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान,
और विभङ्गाज्ञान कहा है और इनसे की जाने वाली उसकी क्रियाओं को मत्यज्ञान विद्या,

श्रुताज्ञान क्रिया और विभङ्गाज्ञान क्रिया कहा है। ये सभी क्रियाय उपरोक्त मूल पाठमें अज्ञान क्रिया के भेद कही हैं। अज्ञान, वीतराग की आज्ञा से बाहर है इसलिये अज्ञानसे की जाने वाली मिथ्यादृष्टियों की ये क्रिया भी आज्ञा से बाहर ही हैं।

आवश्यक सूत्र में अज्ञान को त्यागने योग्य और ज्ञानको आदरने योग्य कहा है।

**वह पाठ—“अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपवज्जामि मि-
च्छत्तं परियाणामि सम्मत्तं उवसपवज्जामि” (आवश्यक सूत्र)**

अर्थ—साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं अज्ञान को छोड़ता हूँ और ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। तथा मिथ्यात्व को छोड़ता हूँ और सम्यक्त्व को प्राप्त करता हूँ। यह इस पाठका अर्थ है।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान और मिथ्यात्व वीतराग की आज्ञा से बाहर है इसलिये अज्ञान तथा मिथ्यात्व से जो क्रिया कीजानी है वह भी आज्ञा से बाहर ही सिद्ध होती है।

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश २ में जिसको जीव, अजीव, व्रस और स्थावरका ज्ञान नहीं है उसके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान कहा है इसलिये अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की क्रिया आज्ञा बाहर सिद्ध होती है क्योंकि मिथ्यादृष्टि को जीव, अजीव, व्रस और स्थावरका सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

उनाई सूत्रमें कहा है कि जो पुरष, अकामनिर्जगकी क्रिया करके दश हजार वर्षकी आयुके दवता होते हैं जो हाडी बन्धनादिक दुःख सह कर बागह हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो माना पिना आदिकी सेनासे चौदह हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो स्त्री अकाम ब्रह्मचर्य्य पालन करके चौसठ हजार वर्षकी आयुकी देवता होती है जो अन्न जल आदिका नियम रक्खकर चौरासी हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं जो कन्द मूलादि खाकर एक पल्योपम और एक लाख वर्षकी आयु के देवता होते हैं जो परिव्राजकर्मका पालन करके दश सागरकी आयुके देवता होते हैं तथा गोशालक मतानुयायी जो चाईस सागरकी आयुके देवता होते हैं ये सभी लोग मोक्षमार्ग के आराधक नहीं हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान तथा मिथ्यात्वसे की जाने वाली क्रिया वीतराग की आज्ञासे बाहर है और उन क्रियाओका आचरण करनेवाले मिथ्या दृष्टि पुरुष मोक्ष मार्गके आराधक नहीं है किन्तु जो ज्ञानवान और सम्यग्दृष्टि हैं वे ही भगवान् की आज्ञाके आराधक हैं।

(दूसरा बोल समाप्त ।)

(प्रेरक)

आपने पहले चोलमे ठागाङ्ग आदि सूत्रोंका प्रमाण देकर धर्मके दो भेद श्रुत और चारित्र बतलाये हैं और मिथ्यादृष्टिमें इन धर्मोंके न होनेसे उसे मोक्ष मार्गका किञ्चित् भी आराधक न होना कहा है । परन्तु भ्रमविध्वंसनकार आपकी तरह धर्मका भेद नहीं करते जैसे कि भ्रमविध्वंसनके पहले पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है “ते धर्मग दो भेद संनिर्जरा । ए वीटू भेदामे जिन आज्ञा छै । ए सवर निर्जरा वीटूई धर्म छै । ए सवर निर्जरा टाल अनेरो धर्म नहीं छै । कई एक पाठगड़ी सवरने धर्मश्रद्धे पिग निर्जराने धर्म श्रद्धे नहीं । त्यारे सवर निर्जरारी ओलखगा नहीं” इसका क्या समाधान—

(प्ररूपक)

शास्त्रमे कहीं भी धर्मके दो भेद सवर और निर्जरा नहीं कहे हैं । किन्तु ठागाङ्ग सूत्रके दूसरे ठागेमे श्रुत और चारित्र ये दो धर्मके भेद बताये हैं । वह पाठ पहले धोने में लिखा जा चुका है । इसलिए सवर और निर्जराको धर्मका भेद बतलाना अप्रामाणिक है । * शास्त्रकारको यदि यह इष्ट होता तो ठागाङ्ग सूत्रमे जहा यह पाठ आया है कि “दुवि हे धम्मे पन्नत्ते तजहा—सुय धम्मे चेव चारित्त धम्मेचेव ।” वहा ऐसा पाठ आता कि “दुविहे धम्मे पन्नत्ते तजहा सवर धम्मेचेव निजरा धम्मेचेव” मगर ऐसा पाठ नहीं आया । इसलिए सवर और निर्जराको धर्मका भेद कायम करना मिथ्या है । भ्रमविध्वंसनकारने मिथ्यादृष्टिकी अप्रशस्त निर्जराको वीतरागकी आज्ञाके धर्ममे कायम करनेके लिये अपने मनसे धर्मके दो भेद सवर और निर्जरा लिख दिये हैं । परन्तु यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है । सवर रहित निर्जरा कहीं भी वीतरागकी आज्ञामे नहीं कही है और इसका आराधक भी कहीं मोक्ष मार्गका आराधक नहीं कहा है । तथापि यदि सवर रहित निर्जराको धर्ममें मान कर मिथ्यादृष्टिको मोक्ष मार्गका आराधक माना जाय तो कोई भी जीव मोक्ष मार्गका अनाराधक न होगा । क्योंकि सवर रहित अप्रशस्त निर्जरा सभी प्राणियोंमें होती है । ऐसी निर्जरासे २४ ही दुण्डकके जीव युक्त हैं, अत

नोट—सवर और सकाम निर्जरा श्रुत तथा चारित्रके अन्तर्गत हैं अत ये धर्म हैं पर अकाम निर्जरा धर्म नहीं है । लेकिन धर्मके दो भेद “सवर और निर्जरा” कहनेसे अकाम निर्जरा भी धर्म में ठहरती है और अकामनिर्जरा मिथ्यादृष्टिमें भी होती है इसलिए वह भी मोक्षमार्ग का आराधक कायम होता है परन्तु यह बात शास्त्र सम्मत नहीं है । इसलिए शास्त्रानुसार धर्मके दो भेद श्रुत और चारित्र ही कहने चाहिये । इस प्रकार सवर और सकाम निर्जरा धर्ममें कायम होंगे और अकाम निर्जरा न होगी, क्योंकि वह श्रुत तथा चारित्रसे बाहर है और अकाम निर्जरा के धर्मसे पृथक् होनेपर मिथ्यादृष्टि मोक्षमार्गका आराधक न होगा इस प्रकार शास्त्रके कोई विरोध न आवेगा यही यहाँका तात्पर्य है ।

सभी जीव भ्रमविध्वसनकारके मतमें मोक्ष मार्गके आराधक ही ठहरेंगे। पर यह बात शास्त्र विरुद्ध है। भगवती सूत्र शतक ८ उद्देश १० के मूल पाठमें स्पष्ट लिखा है कि जो मोक्ष मार्गके एक अशका भी आराधक नहीं है वह सर्वविराधक कहलाता है। यदि सवर रहित अप्रशस्त निर्जरा, धर्ममे हो तो कोई भी जीव सब विराधक नहीं हो सकता। अतः अप्रशस्त निजराको धर्ममे कायम करनेके लिए धर्मका दो भेद सवर और निजरा बनलाना दुरामहका परिणाम समझना चाहिए।

बोल तीसरा ।

(प्रेरक)

सवर और निर्जरा, ये दो धर्मके भेद हैं ऐसा अर्थ उतलानेवाला यद्यपि कोई मूल पाठ शास्त्रमें नहीं आया है तथापि भ्रमविध्वसनकारने दशवैकालिक सूत्रके पहले अध्ययनकी पहली गाथा लिख कर संवर रहित अप्रशस्त निर्जराको वीतगगकी आह्वामे सिद्ध करनेके लिए उक्त गाथाकी समालोचनामे यह लिखा है कि “इहा धर्मने माङ्गलिक उत्पृष्ट क्यो। ते अहिंसाने सयमने अने तपने धर्म क्यो छै। सयमते सवर धम अने तपते निर्जरा धर्म छै। अने त्याग बिना जीवरी दया पाले ते अहिंसा धर्म छै। अने जीव हणवाग त्याग ते सयम पिण कहीजे अने अहिंसा पिण कहीजे अहिंसा तिहा तो सयमनी भजना छै अने सयम तिहा अहिंसानी नियमाछै। ए अहिंसा धम अने तप धम तो पहिला चार गुणठाणा पिण पावे छै”

(अ० पृ० २)

इसका क्या समाधान ।

(प्ररूपक)

दशवैकालिक सूत्रके प्रथम अध्ययनकी पहली गाथामे श्रुत और चाग्रि धर्म ही अहिंसा, सयम, तथा तप कह कर बनलाये हैं परन्तु सम्यक्त्व रहित द्रव्य अहिंसा और सवर रहित तप नहीं कहे हैं क्योंकि जो अहिंसा, सम्यक्त्वक बिना होती है और जो तप सवर रहित होता है उनमे कोई महत्त्व नहीं है। ऐसी द्रव्यरूपा अहिंसा और सवर रहित द्रव्य तप जीवने अनन्त वार क्रिये हैं पर उनसे स्वल्प भी मोक्ष मार्गकी आराधना न हुई। अतः उनका कथन न होकर इस गाथामे श्रुत और चाग्रि धमके अन्तर्गत जो सम्यक्त्वके साथ होनेवाली अहिंसा तथा सवरके साथ होनेवाला तप है उन्हींका कथन है। इसलिए गाथोक्त अहिंसा और तप धर्मको मिथ्यादृष्टिमें कायम करना अज्ञान मूलक है। अतएव गाथामे कहे हुए धर्म पदकी व्याख्या करते हुए नियुक्तिकारने लिखा है कि—

आराधना करता है पर विशेषरूपसे ज्ञानवान् नहीं है। जैसे कोई धनवान् यदि धनकी प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न नहीं करता तो उसे दृग्नि नहीं कह सकते, वैसे ही यदि कोई पुरुष ज्ञान प्राप्तिके लिये विशेष प्रयत्न (आराधना) नहीं करता तो उसे अज्ञानी नहीं कह सकते। अतः उक्त भगवतीकी चौभङ्गीके पहले भङ्गका स्पष्ट अर्थ इस प्रकार है—

(१) देवाराधक—जो चारित्रिकी आराधना करता है पर विशेषरूपसे ज्ञानवान् नहीं है।

ऐसा मानना ही शास्त्रके अनुकूल है इससे विरुद्ध अर्थ करनेसे “अविष्णायधम्म” इस पाठमें दिया हुआ “वि” उपसर्ग निरर्थक ठहरता है और उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथा से भी विरोध होता है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्रमें यह गाथा कही है—

“नादंसणिस्स नाणं नाणेण विना न होति चरणगुणा”

अर्थात् मिथ्यादृष्टिको ज्ञान नहीं होता और विना ज्ञानके चारित्र तया गुण (पिण्ड विमुक्ति आदि) नहीं होते। यह उक्त गाथाका अर्थ है।

इसमें ज्ञानके विना चारित्रिका न होना स्पष्ट कहा है इस लिये भगवती सूत्रोक्त प्रथम भङ्गके स्वामी चारित्रिकी पुरुषको अज्ञानी मानना इस गाथासे भी विरुद्ध होता है अतः भगवती सूत्रोक्त प्रथम भङ्गके स्वामीको अज्ञानी मिथ्यादृष्टि कायम करना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये। मन्यगुज्ञान दर्शन और चारित्रिकी आराधनासे भिन्न कोई मोक्ष मार्गकी आराधना नहीं कही है और उक्त आराधना जिसमें नहीं है उसको आराधक भी नहीं कहा है ऐसी दृष्टिमें सब रहित निर्जराकी करनीसे कोई मोक्ष मार्गका आराधन करने वाला कैसे हो सकता है ? यह पाठकोंको स्वयं सोच लेना चाहिये। अतएव इस चतुर्भङ्गी में आराधक विराधकोका चारभङ्ग बतला कर आराधनाका भेद बतलाते हुए आगेके मूलपाठमें तीन ही आराधना कही हैं पर चौथी निर्जरा आदिकी आराधना नहीं बतलाई है। वह पाठ—

“कतिविहाणं भन्ते ! आराहणा पण्णत्ता गोयमा ! तिविहा
आराहणा पण्णत्ता तंजहा—गाणाराहणा दंसणाराहणा चारित्ताराहणा”

(भगवती शतक ८ उ० १०)

अर्थ—हे भगवन् ! आराधना कितनी होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! आराधना तीन प्रकारकी होती है ज्ञानकी आराधना दर्शनकी आराधना और चारित्रिकी आराधना ।

यहा मूल पाठमें ज्ञान दर्शन और चारित्र इन तीनकी ही आराधना कही है पर निर्जराकी करनी आदिकी आराधना वीतरागकी आत्मा में नहीं कही है। अतः सब रहित

निर्जराकी करनी करक कोई मोक्षमार्गकी आराधना करने वाला कदापि नहीं हो सकता । ऐसी दशामे सधर रहित निर्जराकी करनीको वीतरागकी आज्ञामे ठहरा कर उस कर्मीसे मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्षमार्गका ठेगाराधक कहना उत्सूत्र भाषण करनेवालोंका कार्य्य समझना चाहिये ।

बोल पाचवां ।

(प्रेरक)

सधर रहित निर्जरा की करनी मोक्ष मार्ग के आराधन में नहीं है इसलिए उस करनी से कोई मोक्ष मार्ग का आराधक नहीं हो सकता यह मुझे ज्ञात हुआ । परन्तु किसी मूलपाठ में सधर रहित निर्जरा की करनीकरनेवाड़े को मोक्ष मार्गका आराधक न होना स्पष्ट लिखा हो तो उसे भी बतलाइये ।

(प्ररूपक)

उवाई सूत्र के मूलपाठो में सधर रहित निर्जरा की करनी करने वाले जीयों को अलग अलग गिन कर उन्हें मोक्ष मार्ग का आराधक न होना स्पष्ट लिखा है । व पाठ यहा दिये जाते हैं ।

“जीवेणं भन्ते ! असंजए अविरए अपडिहयपच्चन्त्वाय पाव रुम्मे इओत्तुए पेच्चा देवेसिया ? गोयमा ! अत्ये गइया देवेसिया अत्ये गइया णो देवेसिया । सेकेणट्ठेणं भन्ते ! ऐव बुच्चइ अत्येगइया देवेसिया अत्येगइया णो देवे सिया ? । गोयमा ! जेइमे जीवा गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड कच्चड मडं व दोणमुह पट्णासम सवाह सणिवेसेसु अकामण्हाण अकामच्छुहाए अकामवभचेर वासेण अकामअण्हाण सीय ताव दंस मसग सीय जल्ल मल्ल पड्क परितावेणं अप्पतरां वा भुज्जनरोवा काल अप्पाण परिकिले सन्ति, अप्पतरावा भुज्जनरोवा कालं अप्पाणं परिकिलेसित्ता काल मासे काल किच्चा अण्णयरेसु वाणभंतरेसु देवल्लोएसु देवत्ताए उवव चारो भवन्ति । तहिं तेसिं गनी तहिं तेसिं ठोति तहिं तेसिं उववाए पण्णत्ते । तेसिंणं भन्ते ! देवाण केवइयं काल ठीई पण्णत्ता गोयमा ! दसवाससहस्साड ठीई पण्णत्ता । अत्थिण भन्ते ! तेसिं देवाण

इड्हीवा जुईवा जसेतिवा वलेतिवा वीरिग्वा पुरिसकार परिकमेइवा ?
हन्ता ! अत्थि । तेण भन्ते ! देवा परलोगरस्स आराहगा ? णोइणट्ठे
समट्ठे”

(उवाई मू)

अर्थ—

(प्रश्न) हे भगवान् ! जो, समय और धिरतिते रहित है तथा जिमने भूत काल क पापो का हनन और भविष्यत् के पापो का प्रत्याप्यान नहीं किया है वह इम लोक से मर कर क्या देवता हो सकता है ?

(उत्तर) कोई कोई देवता होता भी है और कोई नहीं भी होता है ।

(प्रश्न) इसका धजह क्या है ?

(उत्तर) ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, लेड, कञ्चड, मडंघ, प्रोगमुख, पट्टणासम, संवा और सन्निनेतो मं रहनेवाले जो जीव निर्जरा की इच्छा के बिना अकाम तृष्णा, अकाम क्षुधा, अकाम ब्रह्मचर्य पालन, अकाम स्नानका न करना तथा अकाम से शार्दी, गर्मी, दवा, मसक, स्वैद, धूलि, पद्म, और मलका सहन करते हैं वे थोडे या बहुत दिनों तक क्लेश सहन करके मरण काल आने पर मृत्यु को प्राप्त होकर घाण व्यन्तर मज्जक देवलोक में उत्पन्न होते हैं । धर्मी उनकी गति स्विति और देवभय की प्राप्ति होती है ।

(प्रश्न) वे जीव देवता होकर देवलोक में कितने काल तक रहते हैं ?

(उत्तर) दवा हजार वर्ष तक वे देवलोक में रहते हैं ।

(प्रश्न) उन देवताओं की क्या पारिवारिक सम्पत्ति, दारीर तथा भूषणोंकी दीप्ति, वाः धर, धीर्ष्य पुरपाणिमान और पराक्रम होते हैं ?

(उत्तर) होते हैं ।

(प्रश्न) वे देवता परलोक यानी मोक्षमार्गके आराधक हैं ?

(उत्तर) नहीं । वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नहीं हैं । यह उवाई सूय के उपर लिखे हुए मूलपाठ का अर्थ है ।

इस मूलपाठ मे अकाम क्षुधा तृष्णा अकाम ब्रह्मचर्यपालन अकाम शार्दी, गर्मी, दवा मज्जक आदिका कष्ट सहन करके दवा हजार वर्षकी आयुसे देवता होनेवाले जीव को श्री तीर्थकर देवने मोक्ष मार्ग का आराधक न होना बतलाया है । इससे स्पष्ट निश्च होता है कि सवर रहित निर्जरा की करनी मोक्ष मार्ग के आराधन मे नहीं है । अन्यथा इस मूलपाठ मे फहे हुए पुरुष को भगवान् मोक्ष मार्ग का आराधक न होना कैसे बतलाते ? अतः सवर रहित निर्जरा की करनी को मोक्ष का मार्ग कह कर उस करनी के करने से मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको मोक्ष मार्ग का देशाराधक बतलाना प्रत्यक्ष इम पाठसे विरुद्ध समझना चाहिये ।

(६ छट्टा बोल समाप्त)

(प्ररूपक)

जो जीव असच्छिष्ट परिणाम से हाडी (सोडा) बन्धनादि दुःख सह कर बारह हजार वर्षकी आयु से देवता होते हैं उन्हें इमी जगह उवाई सूत्र मे मोक्षभाग का आगधक न होना कहा है । वह पाठ—

“से जे इमे गामागर गयर गिगम रायर्हाण खेडु कब्बड मडंव दोणसुह पट्टणासम संवाह सन्निवेसेसु मणुआ भवन्ति तंजहा—
अडुवद्धका णियलवद्धका हाडिवद्धगा हत्थछिन्नका पायछिन्नका कण्ण-
छिन्नका णकछिन्नका उट्टछिन्नका जिम्भछिन्नका सोसछिन्नका मुख-
छिन्नका मज्झछिन्नका वेरुछिन्नका हियउत्पाडियगा णयणुत्पाडियगा
दसणुप्पाडियगा वसणुप्पाडियगा गेवछिण्णका तंडुलछिन्नका कागणि
मंसक्खाइयया ओलंविआ लम्बियया धंसियया घोलियया फाडियया
पोलियया सुलाइयया सुलभिण्णका खारवत्तिया वज्झवत्तिया सोहपु-
च्छियया दवग्गिदडिद्धगा पकोसण्णका पंकेखुत्तका वलयमयका वसट्ठ-
मयका नियाणमयका अन्तो^{५९}मल्लमयका गिरिपडियका तरुपडियका गिरि-
पंखंदोलिया तरुपखदोलिया मरुपखंदोलिया जलपवेसिका जलण
पवेसिका विसभन्निखतका सत्थोवाडितका वेत्ताणसिया गिद्धपिटका
कंतारमतका द्दुभिकखमतका असंकिलिट्टपरिणामा ते कालमासे
कालं किच्चा अण्णनरेसु चाणमतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो
भवन्ति । तहि तेसि गतो तहिं तेसि ठिती तहि तेसि उववाए
पण्णत्ते । तेसिण भन्ते ! देवाण केवइयं कालं ठिई पण्णत्ता ?
गोयमा ! वारसवाससहस्साइ ठिती पण्णत्ता । अत्थिणं भन्ते !
तेसि देवाणं इड्ढीवा जुट्ठा जसेत्तिवा चलेत्तिवा धीरिण्णा पुरिसक्कार
परक्कमेट्ठा ? हन्ता ! अत्थि । तेण भन्ते ! देवा परलोगस्स आरा-
ह्मा ? णोइण्णे समट्ठे”

(उगई सूत्र)

अर्थ—

ग्राम, नगर, निगम, राजधानी, ऐंड, कन्वड, मडव, ट्रोगमुख, पट्टणासम, सवाह गैर सनिदेशों में रहने वाले मनुष्य जो हाथ और पैर में काष्ठ या लोहे के ग्रन्थन से बांधे गये हैं, जो पैर में बेडियो द्वारा बांधे गये हैं, जो हाडीग्रन्थन में पडे हैं, जो बन्धीगृह में पडे हैं, तथा जिनके हाथ, पाव, कान, नाक, ओठ, जीभ, मस्तक, मुख और पेट काट लिये गये हैं, जो चादर की तरह चीर दिये गये हैं, जिनके हृदय, नेत्र, दात और अण्डकोश उपाड लिये गये हैं, एवं चावलकी तरह जिसका शरीर खण्ड खण्ड कर दिया गया है जिसके शरीर के घाँकने चीकने मास खा लिये गये हैं जो रस्सी से बांध कर गड्ढे आदि में लटका दिये हैं, जिनकी भुजा वृक्ष की शाखा में बांध दी गयी है, जो पत्थर आदि पर चन्दन के समान धिसे गये हैं, जो वही की तरह घोल दिये गये हैं, जो कुठार से लकडी के समान काट दिये गये हैं, जो यन्त्र के द्वारा ईंट की तरह पारे गये हैं, जो शूली दे दिये गये हैं, जिनका मन्तक फाड कर शून्त निकल गया है, जो क्षार में डाल दिये गये हैं, या निम पर क्षार रखा गया है, या, जो, क्षार खिलाये गये हैं, जो रस्सीसे बांधे गये हैं, जिनका लिङ्ग काट लिया गया है, जो ठावाग्निमें जल गये हैं, जो कीचड में फ सकर उमसे पार जाने में असमर्थ हैं, जो कुंधा आदि की पीडा से मर गये हैं, जो विषय में परतन्त्र होकर मर गये हैं, जो बालतपस्या करके मृत्यु को प्राप्त हुए हैं, जो मिथ्यात्व आदि शल्य को, तथा पेटमें चुभे हुए भाले आदि को न निकाल कर मर गये हैं, जो पर्वत से गिर कर मर गये हैं, जो वृहत् पायाण के शरीर पर गिरने से मर गये हैं, जो वृक्ष से गिर कर मर गये हैं, जो निर्जल देश में या निर्जल देशके स्थल विशेष से गिराये हुए मर गये हैं, जो तृण कपास आदि के भार से दम कर मर गये हैं, जो मल के लिये पर्वत या वृक्ष के एक देशमें कम्पायमा होकर ब्रह्मा से गिर कर मर गये हैं, जो शस्त्र के द्वारा अपने शरीर को चीर कर मर गये हैं, जो वृक्ष की शाखा में लटक कर मर गये हैं, जो मरने के लिये हाथी, ऊट, गन्धे आदि के शरीर के नीचे गिर जाते हैं और गीघ आदि पक्षियों से नोच कर खा लिये जाते हैं, जो घोर जङ्गल में दुर्भिक्षसे मर जाते हैं, ये सब मनुष्य यदि असंख्य परिणामी होते हैं सो काल मास में काल करके वाणव्यन्तर सञ्जक देवलोक में देवता होते हैं । वहाँ पर उनकी गति स्थिति और देवभव की प्राप्ति होती है ।

(प्रश्न) देवलोक में उनकी स्थिति कितने काल की होती है ? (उत्तर) ब्रह्मा उनकी बारह हजार वर्ष की स्थिति होती है ।

(प्रश्न) उन देवों की ब्रह्मा पर पारिवारिक सम्पत्ति, शरीर और भूषणों की वीप्ति, यश धल, चीर्ष्य, पुण्याभिमान, पराक्रम, ये सब होते हैं ? -

(उत्तर) हां होते हैं ।

(प्रश्न) ये परलोक (मोक्ष मार्ग) के आराधक हैं ?

(उत्तर) नहीं, ये परलोक के आराधक नहीं हैं ।

पद ऊपर लिखे हुए मूलपाठ का अर्थ है ।

इसमें कहा है कि जो मनुष्य अस्किण्ड परिणाम से हाडीबन्धनादिक दुःख सह कर धारह हजार वर्ष की आयु के देवता होते हैं वे मोक्ष मार्गके आगधर नहीं हैं । यदि सवर् रहित निर्जरा की करनी मात्र मार्गमे होती और उस करनी के करने से मोक्षमार्ग की आराधना होती, तो श्रीतीर्थ करद्व, अस्किण्ड परिणाम से हाडीबन्धन आदिका दुःख सहने वाले पुरयोको मोक्षमार्ग का आगधर न होना क्या कहत ? क्योंकि ये पुण्य सगर रहित निर्जरा की करनी विशेष रूपसे करते हैं । परन्तु सगर रहित—निजरा, मोक्ष मार्गमे नहीं है इसलिए इन पुण्योको भगवानने मोक्ष मार्गका आगधर न होना कहा है । अतः सवर् रहित निर्जरा की करनीको मोक्षमार्ग के आराधन मे कायम करके उस करनी से मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को मोक्ष मार्गका आगधर कहना शास्त्र विरुद्ध ममज्ञाना चाहिये ।

बोल ७ वां समाप्त

(प्ररूपक)

जो जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी हैं, परन्तु माता पिता की सेवा शुश्रूषा करके चौदह हजार वर्षकी आयुके देवता होते हैं उनको मोक्षमार्गका आगधर न होना उनी पाठके नीचे कहा गया है वह पाठ—

“तेजे इमे गामागर नधर णिगम रायहाणि खेइ कच्चइ मड व दोणसुह पट्टणासम संवाहसंनिवेशेसु मणुआ भवंति, तजहा—पगइभइगा पगइउवसता पगइपतणुकोहमाणमायालोहा मिउमइवसंपन्ना अल्लीणा विणीया अम्मापिउ सुससगा अम्मापिईण अणतिकमणीज्जवयणा अप्पिच्छा अप्पारभा अप्पपरिग्गहा अप्पेण आरंभेण अप्पेणं समारंभेणं अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्ति रूपे-भाणा वहुइ वासाइं आउय पालंति पालित्ता कालमासे कालं किच्चा अण्णत्तरेसु घाणमत्तरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति । तहिं तेसिगती तहिं तेसिं ठिती तहिं तेसि उववाए पण्णत्ते तेमिणंमन्ते ! देवाणं केवइयं कालं ठिती पण्णत्ता गोयमा ? चउटसवाससहस्सा”

(उदाई)

अर्थ—

मार्गमे लेकर धारह सन्निवृत्तों में रहने वाला जो मनुष्य स्वभावसे परोपकारा स्वभाव मे उपशान्त स्वभावने ही प्रोथमान, माया और एोभ को न्यून किया हुए, अज्ञान रहित, गुण क

आश्रय में रहने वाले, विनीत, माता पिता के धार्यका उद्बुद्धन न करनेवाले माता पिता की सेवा करनेवाले, अल्प इच्छा अल्प आरम्भ समारम्भ से अपनी जीविका चलाने वाले बहुत बरों तक अपनी आयु को व्यतीत करते हैं वे काल आने पर मृत्यु को प्राप्त होकर घाण व्यन्तर सन्नक देवलोक में देवता होते हैं । वहाँ पर उनकी गति स्थिति और देवत्वकी प्राप्ति होती है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! यहा वे कितने काल तक रहते हैं ?

(उत्तर) यहा वे चौदह हजार वर्ष तक रहते हैं ।

(प्रश्न) वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक है ?

(उत्तर) नहीं, वे परलोक (मोक्षमार्ग) के आराधक नहीं हैं ।

यह ऊपर लिखे हुए मूलपाठका अर्थ है ।

यहा माता पिता की सेवा शुश्रूषा करनेवाले, स्वभावसे परोपकारी, उपदान्त, क्रोधमान माया और लोभ को न्यून किये हुए अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको चौदह हजार वर्ष की आयु के देवता होना बतला कर भगवानने इन्हे मोक्षमार्ग का आराधक न होना बतलाया है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सवर रहित निर्जरा की कर्मी मोक्षमार्ग में नहीं है । इसीसे इस पाठ मे माता पिताकी सेवा करने वाला जो पुरुष चौदह हजार वर्ष की आयु का देवता होता है उसे भगवानने मोक्षमार्गका आराधक न होना कहा है । अन्यथा इसे कदापि मोक्षमार्गका आराधक न होना न कहते क्योंकि इस पुरुषमें सवर रहित निर्जरा की कर्मी विश्रमान है अतः सवर रहित निर्जरा की कर्मी को मोक्षमार्ग कायम करके मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को मोक्षमार्गका आराधक कहना इस पाठ से विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल आठवां)

(प्ररूपक)

जो स्त्री अकाम प्रह्वर्ष्य पालन करने चौमठ हजार वर्ष की आयु की देवता होती है उसे इसी पाठके नीचे मोक्षमार्गका आराधक न होना बतलाया है । यह पाठ—

“सेजाओ इमाओ गामागर णयर णिगम रायहाणि खेव
कन्वर मडं व दोणसुह पट्टणासम संवाह संन्निवेसेसु इत्थियाओ
भवन्ति तंजहा—अंतो अत्तेउरिआओ गयपइआओ मयपइयाओ
वालविहवाओ छड्डित्तल्लिताओ भाडरक्खिआओ पियरक्खिआओ
सत्तरकुलरक्खिआओ पारुहणहंसकेसकक्खरोमाओ ववगयपुक्क
गंधमल्लालङ्काराओ अण्हाणगसेयजह्मल्लपड्कपरिताविआओ ववगय-

खीरदहिणवणीतसपितेलगुल्लोणमहुमज्जसंपरिचत्तकयाहारो अप्पि-
च्छाओ अप्पारंभाओ अप्पपरिग्गहाओ अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं
समारंभेण अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिं कप्पेमाणीओ अक्का-
मवंभचेरवासेणं तमेव पडसेज्ज णाडक्कमह ताओण इत्थिआओ
एयारूवेणांविहारंणं विहरमाणीओ वहुडं वासाहं सेसं तंचेव जाव
चउसद्धिं वाससत्तसाहं ठिई पण्णात्ता”

(ज्वाई सूत्र)

अर्थ—

ग्रामसे ऐकर थावत् सन्निवेदो में रहने वाली जिम् खीर पति कर्दी चला गया है या, मर
गया है तथा जो बाल्य काल में विधवा हो गई है, जो पति से छोड़ दी गई है, जो अपने माता
पिता या भाई से पाली जाती है, जो पिता या श्वशुर के घर में पाली जाती है, जो अपने शरीरका
सम्भार नहीं करती, जिसके नख, केरा, और काल के बाल बढ़ गये हैं, जो पूर की माला गन्ध
और पूर नहीं धारण करती, जो स्नान नहीं करती और पसीना धूलि तथा कीचड़का कष्ट सहन
करती है, जो दूध, दही, मखन, घां, गुड, नमक, मधु, मद्य और मास से रहित भोजन करती
है, जो अल्पइच्छा अन्य आरम्भ और अल्प परिपह करती है, जो अल्प आरम्भ और अप समारम्भ
से जीविका करती है, जो अनाम भ्रञ्जचर्य पालन करती हुई पतिरि शय्याका उल्लङ्घन नहीं करती है,
यह स्त्री इस प्रकार अपने जीवन को व्यतीत करती हुई काल आने पर श्वत्यु को प्राप्त होकर चाग
घ्यन्नर संज्ञक देवलोक में उत्पन्न होती है। शेष पूर्व पाठ की तरह समझना चाहिये विनोप
थात यह है कि यह स्त्री चौंसठ हजार वर्ष तक देवलोक में रहती है। यह स्त्री भी मोक्ष मार्गका
आराधक नहीं है। यह इन पाठ का अर्थ है।

यहा मूलपाठ में अकाम भ्रञ्जचर्य पाल कर चौंसठ हजार वर्ष की आयु से व्रता
होने वाली स्त्री को श्रीतीर्थङ्क देवने मोक्षमार्ग का आगधक न होना बतलाया है।
इससे भी पूर्व यही बात सिद्ध होती है कि सत्र रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्ग क
आगधन मे नहीं है। क्योंकि इस पाठ में नही हुई स्त्री सत्र रहित निर्जरा की करनी
भली भाँति करती है तो भी वह मोक्षमार्ग की आराधिका नहीं मानी गई है। अतः सत्र
रहित निर्जरा को मोक्ष मार्ग मे कायम करना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

जो मनुष्य अन्न जल आदिका नियम रख कर चौंसठी हजार वर्ष की आयु के
देवता होते हैं उन्हें भी भगवान् ने मोक्षमार्गका आगधक न होना बतलाया है। यह पाठ—

“सेजे इमे गामागर णयर णिगम रायहाणि खेइ कंब्वइ
मडं व दोंणमुह पट्टणासम संवाह सन्निवेशेसु मणुआभवन्ति तंजहा—
दगविडया दगतहया दगएक्कारसमा गोअमा गोच्चडया गिण्ठिम्मा
धम्मचिंतका अविच्छदविच्छद बुद्धसावरुप्पभिअओ तेसिं मणुआणं
णो कप्पह इमाओ नवरस विगईओ आहारित्तण तंजहा—खीरं
दहिं णवणीयं सप्पिं तेल्लं फाणिय महुं मज्जं णणत्थ एक्काए
सरसव विगए तेणं मणुआ अप्पिच्छा तंचेव सव्वं णवरं चउरासीदं
वाससहस्साइं ठिई पणत्ता ॥ ९ ॥

(उपाई)

अर्थ—

ग्रामसे लेकर यावत् सन्निवेशो में रहने का जो मनुष्य भात और पानी इन दो ही बन्धुओंका आहार करता है। जो भात तथा एक ओर पदार्थ, तोमरा पानी का ही आहार करता है जो, भात आदि छ और सातवा पानी का आहार करता है जो भात आदि दवा और परवाहका पानीका आहार करता है जो छोटे बैल को पैर पर गिरने आदि की शिक्षा देकर उससे मनुष्यों को प्रसन्न करके भिक्षा वृत्ति करता है, जो गाय के चरने पर चलता है और बैठने पर बैठता है भोजन करने पर भोजन करता है और सोने पर सोता है, जो गृहस्थ धर्मको श्रेष्ठ जानकर देवता अतिथि आदिका सत्कार तथा दान करता हुआ गृहस्थधर्मका आचरण करता है, जो धर्मशास्त्र को पढ़ता है, जो देवता आदि में परम भक्ति रखता हुआ विनीत है, जो आत्मा आदि पदार्थों को नहीं मानता हुआ अक्रियावादी (नान्तिक) है जो, वृद्ध यानी तापस है जो धर्मशास्त्रका श्रवण करने वाला श्रामण (ब्राह्मण) है इन मनुष्योंको र्माले ९ पदार्थ अभ्यक्ष्य होते हैं। ये ये हैं—दूध, दही, नमनीत, घी, तेल, गुड़, मद्य, और मास। परन्तु एक सर्पपका (सर्पों) तेल भक्ष्य होता है, ये सब मनुष्य अल्प आरम्भ और अल्पपरिमह, कर्क चौरामी हजार वर्ष की आयुके देवता होते हैं। और सब पूज्यत्व समझना चाहिये।

यह इस पाठ का अर्थ है।

इस पाठमें अत्र जल आदिका नियम रखने वाले धर्मशास्त्र पाठी गोत्रत करने वाले गृहस्थ धर्म के पालक रसवान् नौ पदार्थों का भोजन नहीं करने वाले मनुष्यों की चौरामी हजार वर्ष की आयु के देवता होना कह कर भगवान् ने इन्हे मोक्षमार्ग का आशय न होना बतलाया है क्योंकि ज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया ही मोक्ष देती है परन्तु ये लोग इन क्रियाओंको करते हुए भी अज्ञानी हैं उन अज्ञान (मिथ्यात्व) के कारण इन्हे मोक्षमार्ग का आशय न होना कहा है। यदि मवर रहित निर्जग की करनी

मोक्षमार्ग के आगमन में होती तो भगवान् ^{इस पुरुषों को} मोक्षमार्ग का आराधक न होना कदापि न कहते । क्योंकि सवर रहित निर्जग की क्रिया इन पुरुषोंमें पूर्णतया विश्वमान है । अतः सवर रहित तथा अज्ञान (मिथ्यात्व) के साथ की जाने वाली निर्जग की करनी को बीजगम की आज्ञा में मानना उत्सृज भाषको का कार्य समझना चाहिये ।

[बोल दशवां समाप्त]

(प्ररूपक)

जो गङ्गाजी के तट पर रहते हैं, जो अग्निहोत्री हैं जो वानप्रस्थ हैं जो कन्द मूल फल आदि का आहार करते हैं उनको एक पत्न्योपम और एक लाख वर्षकी आयु का देवता होना प्रता कर भगवान् ^{अगुनी होने के} उन्हे मोक्षमार्ग का आराधक न होना बतलया है । वह पाठ—

“ सेजे इमे गंगाकूलगा वाणपत्या तावसा भवन्ति तंजहा—

होतिया पोतिया कोतिया जण्णई सड्हुई, घालई, हुंपउद्धा दंतु-
कखलिया उम्मज्जका संमज्जका निमज्जका संपक्खाला दक्खिण
कूलका उत्तरकूलका संखधमका कूलधमका मिगलुद्धका हन्थितावसा
दिसापेक्खिणो वारुवासिणो अंबुवासिणो विलवासिणो जलवासिणो
वेलवासिणो कश्खमूलिया अंबुभक्खिणो वायुभक्खिणो सेवाल
भक्खिणो मूलाहारा कन्दाहारा तोयाहारा पत्ताहारा पुष्पाहारा वीया-
हारा परिसडियरुन्दमूलतयपत्तपुष्पफलाहारा जलाभिसेअकठिण
कायभूण आयावणाहिं पंचग्गितावेहिं इङ्गालसोल्लिय कडुसोल्लियं
कठसोल्लियं पिव अप्पाणं करेमाणा बहुईं वासाइं परियायं पाउ-
णति । बहुईं वासाइं परियाय पाउणित्ता काल मासे कालं किच्चा
उक्कोसेणं जांइसिएसु देवेषु देवत्ताण उच्चत्तारो भवन्ति । पलि-
ओपमं वाससयसहस्समब्भहियं ठिई । आराहगा ? णो इण्ठे
समट्ठे ”

(उवाइं सूत्र)

अर्थ —

गंगातटर्म निवास करनेवाले वानप्रस्थ तापस जो अग्निहोत्र करते हैं जो बख्तारी और पृथ्वीपर सोते हैं जो यज्ञ कराते हैं, जो धरदा रखते हैं, जो भाण्ड ग्रहण किये रहते हैं जो कमण्डलु-धारी हैं जो सिर्फ फूल खाकर रहते हैं जो पानीमें एक बार डुबवी लगाकर निकल जाते हैं जो

पानामें धार धार डुब्नी लगाते हैं जो पानीमें डुब्नी लगाकर बहुत देर तक रहते हैं जो क्षीर में मृत्तिका लगाकर स्नान करते हैं जो गंगाके दक्षिण तटपर रहते हैं जो गंगाके उत्तर तटपर रहते हैं जो शङ्ख भजा कर भोजन करते हैं जो तटके ऊपर शब्द करके भोजन करते हैं जो मृग मार कर उसके मांससे बहुत दिन तक अपना निवाह करते हैं जो हाथी मार कर उनके मांससे चिरकाल तक अपना उदर पालते हैं जो त्रिशुभोके अन्दर जल छिड़क कर फल तोड़ते हैं जो षण्डको ऊचा करके भोजन करते हैं जो वृक्षके छिलके पहिनते हैं जो जलमें निवास करते हैं जो घिल बना कर रहते हैं जो जलमें प्रवेश करके रहते हैं जो समुद्रके तट पर रहते हैं जो वृक्षकी जड़में निवास करते हैं जो पानी पीकर रहते हैं जो हवा पीकर रहते हैं जो खाकर रहते हैं जो कन्द, मूल, त्वचा, पत्ते फूल और फल खाकर रहते हैं जो सबे गले कन्द मूल फल आदिको खाकर रहते हैं जिनका शरीर जल स्नान करनेसे कठिन हो गया है जिसका शरीर पद्मान्नि तापनेसे कोयला, बडाही और अधजले काष्ठी तरह बाला हो गया है ये सब तापस बहुत वर्षों तक अपनी प्रव्रज्याका पालन करके काल आने पर मृत्युको प्राप्त होकर उच्च ज्योतिष्क नामक देव लोकमें जाते हैं । वहा पर उनकी एक पत्योपम और एक लाल पत्यो स्थिति होती है । शेष पूर्ववत् जानना चाहिये । ये सब तापस भी परलोक (मोक्षमार्ग) आराधक नहीं हैं । यह ऊपर लिखे हुए मूल पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें कहा है कि जो अज्ञानी तापस कन्द मूल फलादिका आहार करके पचाग्नि तापकर अग्निहोत्र करके तथा जलमें शयन आदि करके एक पत्योपम और एक लाल वर्पकी आयुके देवता होते हैं वे परलोकके आराधक नहीं हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सत्र रहित निर्जरा की करनी मोक्षमार्गकी आगधनामें नहीं है क्योंकि उक्त पाठमें गिनाये हुए तपस्वी संव्र रहित निर्जगकी करनी करते हैं तो भी उन्हें मोक्ष मार्ग का आराधक न होना कहा गया है । यदि संव्र रहित निर्जराकी करनी मोक्ष मार्गके आराधनमें होती तो उक्त तपस्वी मोक्षमार्गके अनाराधक क्यों कहे जाते ? अतः सत्र रहित निर्जगकी करनीको मोक्षमार्गमें कायम करना प्रत्यक्ष मूल पाठसे विरुद्ध मन्वन्तना चाहिए ।

(बोल ग्यारहवां समाप्त)

(प्ररूपक)

उठे बोलसे लेकर ग्यारहवें बोल तक उवाई सूत्रके मूल पाठोंकी माक्षीसे संव्र रहित निर्जराकी क्रियाको मोक्ष मार्गके आराधनमें न होना कहा गया है । उवाई सूत्रमें इस विषय पर और भी पाठ आये हैं । इन सभी पाठोंमें संव्र रहित निर्जगकी करनीको और इन काव्याका आचरण करने वाले अज्ञानी तापसोंको अलग अलग गिन कर कहा गया है कि ये अज्ञानी तापस मोक्षमार्गके आगधक नहीं हैं । यह देखने से निश्चल-

न्दह मानना पडता है कि सवर रहित निर्जराकी करनी मोक्षमार्गके आराधनमे नहीं है अन्यथा ये तापमादि मोक्ष मार्गके अनागधक क्यों कहे जात ? यद्यपि उवाई सूत्रके एक ही पाठ द देनेसे यह बात सिद्ध हो जाती थी तथापि इतने पाठ यहा इमलिये दिखलाये गये हैं कि इन पाठोमे सभी अक्राम निर्जराकी क्रियायें और सभी अज्ञानी तापस गिना दिये गये ह । इनमें भिन्न एक भी अक्राम निर्जराकी क्रिया, तथा अज्ञानी तापस शेष नहीं रह जाते । । जब कि सभी अक्राम निर्जराकी क्रिया और उनक आराधक सभी अज्ञानी तापस मोक्षमार्गके अनागधक यहा कह दिये गये ह तो यह अपने आप ही सिद्ध हो जाता है कि सनामनिर्जराकी क्रिया, और ज्ञानवान् सम्यग्दृष्टि पुरुष ही मोक्षमार्गक आगधक ह । अन सवर रहित निर्जराको आज्ञामे कायम करके अज्ञानी मिथ्यात्वीको मोक्षमार्गका आराधक कहना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिए ।

बोल चारहवां ।

(प्रेरक)

उवाई सूत्रक पूर्वोक्त मूल पाठोंसे सवर रहित निर्जराकी करनी मोक्षमार्गसे अलग सिद्ध होती है और उस करनीका आचरण करनेवाले मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुष भी मोक्ष मार्गके अनागधक मिद्ध होने ह तथापि इन पाठोंका तात्पर्य बतलाने हुए भ्रमविश्वसन-कार भ्रमविश्वसन पृष्ठ २७ पर लिखत हैं कि—“प्रथम गुणठाणारोधगी शुद्ध करणी करे तेहने उवाईमे तो कह्यो परलोकना आगधक न थी । अने भगवनी शतक ८ उद्देशा १० कह्यो ज्ञान गिना से करणी कर त दश आगधक छै । एविहूई पाठरो न्याय मिलाणो सर्वथकी तथा सवर आश्रीतो आराधक नथी अने निर्जरा आश्री तथा देशथकी तो आराधक छै । पिण जायक किञ्चिन्मात्र पिण आराधक नथी एहवो ऊधी थाप करणी नही ” इमके पहले लिखा है कि “जिम भगवनी शतक १० उद्देशा १ कह्यो पूर्व दिशे “धर्मस्त्रिकाए” धर्मास्तिकाय नथी एहवू कह्यो । अने धर्मास्तिकायने देश प्रदेश तो छै । ते पूर्व दिशे धर्मास्तिकायनो ना कह्यो ते तो सर्वथकी धर्मास्तिकाय वर्जा छै । पिण धर्मास्तिकायनो देश वर्ज्यो नथी । तिम अक्राम शील उपशान्तपणो ए करणीरा धगीते परलोकना आगधक नथी इम उहा त पिण सर्वथकी आगधक न थी पर निर्जरा आश्री देशागधक तो छै ।” (भ० पृ० २५)

उमका क्या उत्तर—

(प्ररूपक)

भगवनी शतक ८ उद्देशा १० मे कही हुई चतुर्भङ्गीमे जिमको मोक्ष मार्गका दशा-गधक कहा है उसी पुरुषको उवाई सूत्रमें मोक्ष मार्गका आगधक न होना नहीं कहा है ।

किन्तु जो पुरुष अपनी बुद्धिके द्वारा पापसे हट गया है उसे भगवतीमे देशाराधक कहा है और जो पापसे नहीं हटा है उदाई सूत्रमे उसे मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है। उन उदाई सूत्रोक्त मोक्षमार्गके अनाराधक पुरुषको भगवतीका नाम लेकर दशाराधक कहना भ्रमविध्वसनकारका अज्ञान समझना चाहिए।

देखिए भगवती सूत्रमे देशाराधक

पुरुषका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है —

“ तत्थण जेते पट्टमे पुरिसजाए सेणं पुरिसे सीलवं असुयं उवरए अविण्णाय धम्मो, एसणं गोयमा ! मए पुरिसे देसाराहए पणत्ते । ”

अर्थात् इन चार प्रकारके पुरपोमं जो पहले पुरुष है, ये शीलवान् और अश्रुतवान् हैं। अर्थात् ये पुरुष पापसे हटे हुए और धर्मके विशिष्ट ज्ञाता नहीं हैं। इन पुरपोको मे मोक्ष मार्गका दशाराधक मानता हू। यह भगवतीके उक्त पाठका अर्थ है। इसमें कहा है कि —

“जो पुरुष पापसे हट गया है वह मोक्ष मार्गका देशाराधक है” परन्तु पापसे नहीं हटे हुए पुरुषको देशाराधक नहीं कहा है। और इस पाठकी टीकामें “उवरत्त” इत् पदका अर्थ टीकाकारने भी पापसे हटा हुआ ही किया है। वह टीका यह है—“नित्तु स्वबुद्ध्या पापात्” अर्थात् भगवती सूत्रोक्त आराधक विराधक चतुर्भ गीके प्रथम भङ्ग का स्वामी वह है जो अपनी बुद्धिके द्वारा पापसे हट गया है। यही बात खुद भ्रम विध्वसनकारने भी लिखी है। जैसे कि “पोतानी बुद्धिण पाप थी नित्त्यो छै” (भ्रम० पृ० ३) इसलिए भगवती सूत्रोक्त चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गका स्वामी देशाराधक पुरुष पाप से हटा हुआ है परन्तु उदाई सूत्रमे कहा हुआ निर्जराकी करनी करने वाला पुरुष पापसे हटा हुआ नहीं है इसलिए ये दोनों पुरुष भिन्न भिन्न हैं एक नहीं हैं। देखिए उदाई सूत्र के मूल पाठमे अकाम निर्जराकी करनीसे स्वर्ग जानेवाले पुरुषका स्वरूप इस प्रकार बतलाया है—“जीणेणभन्ते असजाए अविरए अपडिहय पक्कत्ताय पावक्कम्मे” (उदाई सूत्र)।

“अथात् जो पुरुष सयम रहित विरतिहीन और भूत कालके पापोका हनन और भविष्यत्के पापोका प्रत्याख्यान नहीं करने वाला है” वह पुरुष उदाई सूत्रमे कहा हुआ है। इसलिए उदाई सूत्रमे कहे हुए अनाराधक पुरुषको भगवती सूत्रकी चतुर्भङ्गीके प्रथम भङ्गका नाम लेकर देशाराधक बताना मिथ्या है।

उदाई सूत्रोक्त पुरुष पापसे हटा हुआ नहीं है और भगवती सूत्रोक्त पुरुष पापसे सर्वथा हटा है इसलिये ये दोनों कदापि एक नहीं हो सकते तथापि सपर रहित निर्जराकी

करनीको मोक्षमार्गके आराधनमें ठहर्गनेके लिये जीतमलजीने पापयुक्त और पापसे रहित पुरुषोको एक कह दिया है अत बुद्धिमानोंको इनकी प्ररूपणा शास्त्रविरुद्ध समझनी चाहिये ।

इसी तरह भ्रमविध्वंसनकारने जो उपाई सूत्रोक्त अकामनिर्जागकी क्रिया करने वाले पुरुषको सवर नहीं होनेसे अनाराधक होना बतलाया है यह भी मिथ्या है क्योंकि गौतम स्वामीने कहा पर यह पूछा है कि जो पुरुष सवरसे रहित है पर अकामनिर्जागकी करनी करके स्वर्गमें जाता है वह मोक्षमार्गका आराधक है या नहीं ? इस प्रश्नका आशय यही हो सकता है कि उक्त पुरुषकी अकाम निर्जाग मोक्ष मार्गके आराधनमें है अथवा नहीं ? यदि है तब तो वह आराधक है और नहीं है तो आराधक नहीं है क्योंकि किसी बातका सशय होनेसे ही प्रश्न होता है निश्चय होनेसे नहीं होता अब कि उपाई सूत्रोक्त पुरुषमें सवरकी आगधना न होना स्वयं गौतम स्वामीको निश्चित है तब वह इस पुरुषको आराधक होनेके विषयमें जो प्रश्न करते हैं इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि इसकी अकाम निर्जागकी क्रिया मोक्ष मार्गके आराधनमें है अथवा नहीं । इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान्ने इसे मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सवर रहित निर्जागकी क्रिया मोक्षमार्गके आराधनमें नहीं है पर उसके द्वारा पुण्य वाध कर वह स्वर्गगामी होता है । यदि सवर रहित निर्जागकी क्रिया मोक्षमार्गके आराधनमें होती तो भगवान् इस पुरुषको मोक्षमार्गका अनाराधक क्यों कहते ? इस प्रकार बातके स्पष्ट होते हुए भी भोले जीवोंमें भ्रम फैलानेके लिये जीतमलजीने उपाई सूत्रोक्त पुरुषमें सवर नहीं होनेसे जो अनाराधक और निर्जागके होनेसे आराधक कहा है यह मिथ्या है ऐसा कभी नहीं होता कि “आम्नान् पृष्ठ को विदागन् आचष्टे” आमक विषयमें बात पूछी जाय और “को विदाग” के विषयमें उत्तर मिले । अब कि गौतम स्वामी अकाम निर्जागकी करनीके विषयमें प्रश्न करते हैं और उसीके होनेसे उक्त पुरुषको आराधक होने की जिज्ञासा करते हैं तब तीर्थङ्कर प्रकृत प्रश्न अकाम निर्जागके सम्बन्धमें उत्तर न देकर अप्रस्तुत विषय मवरक न होनेसे अनाराधक रहे यह कदापि नहीं हो सकता । इसलिये यहाँ भगवान्ने गौतम स्वामीकी पूछी हुई बातका ही उत्तर दिया है और सवर रहित निर्जागकी करनीके मोक्ष मार्गमें न होनेसे ही उक्त पुरुषको मोक्षमार्गका अनाराधक कहा है अत उपाई सूत्रोक्त पुरुषको निर्जागकी करनीसे मोक्षमार्गका आराधक बतलाना प्रत्यक्ष शास्त्र विरुद्ध है । वास्तवमें अकाम निर्जागकी क्रियाके मोक्षमार्गमें न होनेसे उपाई सूत्रोक्त पुरुषको मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है यही शास्त्र सम्मत बात समझनी चाहिये ।

(बोल तेरहवां)

(प्रेरक)

सवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गमें नहीं है यह शास्त्रप्रमाणानुसार सिद्ध हुआ पर भ्रमविश्वसनकार भ्रमविश्वसन पृष्ठ ४ पर लिखते हैं कि "तामली तापस सह हजार वर्ष तार्द बेंले बेंले तपस्या की थी तेह थी घगा कर्मक्षय किया, पठे सम्यग्दृष्टि पामी मुक्तिगामी एकावतारी थयो । जो ण तपस्या न करतो तो कर्मक्षय न हुन्ता ते कर्माणि निर्जरा विना सम्यग्दृष्टि किम पावतो अने एकावतारी किम हुन्तो वली पूरण तापस वाह हजार वर्ष बेंले बेंले तपकारी घणा कर्म रपयाया चमरेन्द्र ययो सम्यग्दृष्टि पामी एकावतारी ययो इत्यादिक घणा जीव मिव्यात्वी वना शुद्ध करणी एका कर्म रपयाया ते करणी शुद्ध छै मोक्ष तो मार्ग छै' इमका क्या समाधान—

(प्ररूपक)

संवर रहित निर्जराकी कर्मीको मोक्ष मार्गमें कायम करनेके लिये तामली तापस और पूरण तापसका उदाहरण देना अयुक्त है क्योंकि तामली तापस और पूरण तापस जब तक अज्ञान दशामे अक्राम निर्जराकी करनी करते थे तब तक उन्हें शास्त्रकारने मोक्ष मार्गका आराधक होना नहीं कहा । जब वे ज्ञानवान् सम्यग्दृष्टि हुए हे तब भर्गवर्ती शतक ३ उद्देश १—२ में मोक्ष मार्गके आराधक कहे गये हैं । यदि अक्राम निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गमें होती तो ये लोग सम्यक्त्वकी प्राप्तिसे पहले भी मोक्षमार्गके आराधक कहे जाते परन्तु सम्यक्त्व पानेके पहले ये लोग मोक्ष मार्गके आराधक नहीं कहे गये हे इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अज्ञान दशामे की जानेवाली संवर रहित निर्जराकी क्रिया मोक्ष मार्गके आराधनमें नहीं है । तथा उपाई सूत्रके पूर्वोक्त पाठोमें जो संवर रहित निर्जरा की क्रिया गिनाई गई ह उन क्रियाओके अन्दर तामली तापस और पूरण तापसकी क्रिया भी शामिल है । उपाई सूत्रोक्त क्रियाओका मोक्ष मार्गमें न होना स्पष्ट सिद्ध है' इस लिये तामली तापस और पूरण तापसकी अज्ञान क्रियाका मोक्षमार्गमें न होना भी स्पष्ट है । अत तामली और पूरण तापसकी अज्ञान दशामे की क्रियाओंको मोक्ष मार्गमें कायम करना अज्ञान मूलक है ।

दूसरी जगह जीतमलजी और भीषणजीने स्वयं यह स्वीकार किया है कि सम्यक्त्वको पाये बिना कैसा ही साधुका आचार पाळा जाय पर उससे किंचित् भी मोक्ष मार्ग की आराधना नहीं होती । भीषणजीने "श्रावक धर्म विचार" नामक पुस्तकमें लिखा है कि "ममकिन विन सुध पालियो अज्ञान पणे आचार नवप्रवेक उच्यो गयो नहीं सगी गरज लिगा" इमका अर्थ तेरह पन्थी श्रावक गुलाव चन्द्रजी का किया हुआ इस प्रकार है—

“सम्यक्त्व विना समयकी शुद्ध क्रिया पालन कर जीव न प्रवेक स्वर्ग तरु गया पगन्तु छुल गरज नहीं मरी मिथ्यात्वी ही रहा ।” इसके आगे भीषगजीने फिर लिखा है कि “नवतत्व ओल्टया विना पहर साधुगे मेप । समझ परे नहीं तहने भारी हुय विशेष” इसका अर्थ उक्त श्रावक गुलाब चन्द्रजीने इस प्रकार किया है कि “नवतत्वको जाने विना पर्द मनुष्य साधु वेप पहन कर साधु बन जाने हैं लेकिन उनको साधुके आचारकी क्रिया शाख बचनोंकी समझ नहीं पडती सिर्फ वेपधारी द्रव्य साधु हैं । ग्जोहरण चद्द पात्रादि साधु वेप अनन्तराग प्रदण किया ओग गोतम स्वामी जैसी क्रिया मिथ्यात्व पनेमे ककके नप्रवेक कल्पानीन तक जीव जा पहुचा पगन्तु छुल भी मोक्ष फलितार्थ न हुआ ।”

इन पद्योमे भीषगजीने साफ साफ स्वीकार किया है कि सम्यक्त्व पाये विना अज्ञान दशामे चाहे गोतम स्वामी जैसी साधुपनेकी क्रिया भी की जाय पर उमने किंचित् भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होता । यदि मिथ्यात्व दशाकी करनी मोक्ष मार्गमे होती तो भीषग जी उस कर्णीसे किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना कैसे कहते ? अत भीषगजीने इस पद्यमे अकाम निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गमे न होना स्पष्ट स्वीकार किया है । तथा जीतमलजी ने भी आगधनाकी ढालमे अकाम निर्जराकी करनीको मोक्ष मार्गमे न होना स्वीकार किया है । जैसे कि उन्होने लिखा है—

“जे समकित विन म्हैं । चारित्रनी क्रियाग, वाग अनन करी पिण काज न सरि-
यारे” अर्थात् सम्यक्त्व पाये विना मने अनन्त वाग चारित्रकी क्रिया की थी, पर हमसे कुछ भी कार्य नहीं सिद्ध हुआ । इस पद्यमे जीतमलजीने स्पष्ट स्वीकार किया है कि मिथ्यात्व दशाकी करनीमे कार्य नहीं सिद्ध होता । यदि मिथ्यात्व दशामे की जाने वाली अकाम निर्जराकी करनी मोक्ष मार्गके आगधनमे है तब फिर उसमे कार्य नहीं सिद्ध होने का क्या कारण है ? इसमे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यात्व दशाकी करनी मोक्ष मार्गमे नहीं है तथापि जान नूझ कर भोले जीवोमे भ्रम फैलानेके लिये जीतमलजीने भ्रमविध्वसन मे अपनी उक्ति तथा भीषगजीकी उक्ति और शाखसे भी विरुद्ध मिथ्यात्व दशाकी करनी को मोक्ष मार्गमे कह दिया है । अन तामली तापस और पूरण तापसका उदाहरण देकर सग रहित निर्जराकी क्रियाको मोक्ष मार्गमे कायम करना मिथ्या ममझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि “भीषगजी और जीतमलजीके पूराक पद्योमे “नही सगी गरज लिगार” और “काज न सरियारे” इसका भाव यह नहीं है कि मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे मोक्ष मार्गका आगधन नहीं होता किन्तु सम्यक्त्व पाये विना मुक्ति नहीं होती यह आगय है” तो यह भी मिथ्या है उसी भवमें मोक्षकी प्राप्ति तो कबल क्षीणमोह चारित्र वालोंको ही होती है उनसे इतरकी उमी भ्रममे मुक्ति नहीं

होती । यदि मुक्ति नहीं होनेसे मिथ्यात्व दशाकी करनी किंचित् भी प्रयोजन नहीं सिद्ध करती तो फिर चतुर्थागुणस्थानसे लेकर ११ वें गुणस्थान तककी क्रियासे भी किंचित् प्रयोजन न सिद्ध होना मामला पडेगा क्योंकि इन गुण स्थानोंके जीव भी द्वादशागुण स्थानोंमें गये बिना मोक्षगामी नहीं होते । यदि कहो कि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर ११ वें गुण स्थान तकके जीवोंकी क्रिया परम्परासे मोक्षका कारण होती है इसलिये उन क्रियाओसे किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना नहीं कहा जा सकता तो फिर भ्रमविध्वंसन कारकी श्रद्धानुसार मिथ्यात्व दशाकी क्रिया भी परम्परासे मोक्षका कारण होती है इसलिये उससे भी प्रयोजनका न सिद्ध होना नहीं कहना चाहिये । परन्तु भीषणजी और जीतमलजीने उक्त पद्योंमें मिथ्यात्वदशाकी क्रियासे किंचित् भी प्रयोजन सिद्ध न होना कहा है इससे स्पष्ट जाना जाना है कि मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे ये लोग भी मोक्ष मार्ग की आराधना नहीं मानते परन्तु अपने शास्त्र विरुद्ध पक्षके आप्रहमे पड कर भ्रमविध्वंसन में मिथ्यात्वकी क्रियाको जीतमलजीने मोक्ष मार्गमें कह दिया है अतः भ्रमविध्वंसन कारकी यह प्रवृत्तिका मिथ्या समझनी चाहिये ।

बोल चौदहवां

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसन कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ६ के ऊपर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको मोक्ष मार्गमें कायम करनेके लिये यह लिखते हैं कि—“बली प्रथम गुणठाणारो धगी सुपात्र दान देई परित ससार करी मनुष्यनो आयुषो वाध्यो सुनाहु कुमाने पाछिले भवे सुमुख गाथा पति इ” इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि सुमुख गाथा पतिते मिथ्यात्व दशाकी करनीसे संसार परिमित करके मनुष्यकी आयु वाधी थी, इससे मिथ्यात्व दशाकी क्रिया मोक्ष मार्ग में सिद्ध होती है । यदि मिथ्यात्वकी क्रिया मोक्ष मार्गमें न होती तो सुमुखगाथा पतिका संसार उससे परिमित कैसे होता ? इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम गुणस्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंका संसार परिमित नहीं होता क्योंकि संसारका कारण मिथ्यात्व उनमें मौजूद रहता है । जब सम्यग् दर्शनके उदयसे मिथ्यात्व का विनाश होता है तब संसार परिमित होता है परन्तु मिथ्यात्वके रहने पर नहीं होता । कारण के रहने पर कार्यका न होना असम्भव है । अतः मिथ्यादृष्टियोंका संसार परिमित होना जो बनलता है उसे अज्ञानियोंका गिरोमणि समझना चाहिये ।

सुमुख गाथापति मुनिको दान देते समय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यात्वकी नहीं था इसी लिए उसका संसार परिमित हुआ । अब प्रश्न यह होता है कि सुमुख गाथापति मुनिको दान देते समय सम्यग्दृष्टिका इसमें क्या प्रमाण ?

तो इसका उत्तर यह है कि सुमुख गाथापतिके नियमों जो विपाक सूत्रमें मूलपाठ, प्राया है वही प्रमाण है । यह जान मूलपाठ लिख कर बतलाई जाती है ।

वह पाठ यह है ।

“तेणं कालेणं तेणं समणं धम्मघोसाणं थेराणं अन्तेवासी सुदत्ते नामं अणगारे उराले जाव संखित्त विउल तेउलेसे मास मासेणं खममाणे विहरन्ति । तत्तेणं सुदत्ते अणगारे मासखमणपारणं गंसि पढमाए पोरसीए सज्झायं करेति जहा गोयमसामी तहेव सुधम्मयेरे आपुच्छति जाव अडमाणे सुमुहस्स गाहावदस्स गिहं अणुपविट्ठे । तत्तेणं सुमुहे गाहावद सुदत्तां अणगार एज्जमाणं पासह पासित्ता हट्टुट्ठ आसणाओ अब्भुट्ठेति अब्भुट्ठिता पादपीठाओ पच्चोक्खति पाओयाओ मुयह एगसाडियं उत्तरासङ्गं करेह सुदत्तं अनगार सत्तट्ठपयाइं पच्चुगच्छड तिकखुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेह वंदइ नमंसइत्ता जेणेव भत्तघरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता सयहत्थेण विउलेणं असण पाण खाइम साइम पडिलाभेस्सामीति तुट्ठे ३ तत्तेणं तस्स सुमुहस्स तेणं दब्बसुद्धेणं तिविहेण तिकरण सुद्धेणं २ सुदत्ते अणगारे पडिलामएसमाणे परीत्त संसारकए मणुस्साउए निवट्ठे ॥”

(विपाक सूत्रसह विपाक)

अर्थ —

उस समय धम घोष नामक स्थविरके अन्तेवामी शिष्य सुदत्त नामक अनगार उदार यावत् तेजो ऐश्याको गुप्त रखने वाले मास मासका क्षमण करतेहुए जीवन व्यतीत करते थे वे मासक्षमण तपस्याके पारणके दिन प्रथम पौरुषीमें स्वाध्याय करते थे दोष गोतम स्वामीकी तरह समझना चाहिये । वह सुदत्त अनगार अपने गुरु धर्मघोष स्थविरसे पूछ कर यावत् गोचरीके निमित्त जाते हुए सुमुख नामक गृहस्थके घरपर गये । अनन्तर सुमुख गाथापतिके सुदत्त अनगारको आते हुए देख कर इनके साथ आसन छोड़ दिया और पादपीठसे नीचे उतरकर पादुकाको छोडकर एक श्राविक घड़की उत्तरार्धग करके मुनिके सम्मुख मात आठ पैर तक आगे गया । दाहिनी ओरसे उमने मुनिनी तीन बार प्रदक्षिणादी और मुनिके बन्दन नमस्कार करके वह अपने भोजन गृहमें आया । वहा उसको इस बातके लिए बहुत हर्ष हो रहा था कि आज मैं अपने हाथसे मुनिको

विपुल अशनपान खाद्य और स्वाद्य दूंगा। इतने समय भी उसे हृण हो रहा था और इतने अगन्तर भी उसे हर्ष हुआ था इस प्रकार शुद्ध भाव शुद्ध मन वचन और वायसे जो छुन गाथापतिने सपात्रके लिए शुद्ध द्रव्यका प्रदान किया था उससे उमने अपना संसार परिमित कर मनुष्यकी आयु पायी। यह इस मूल पाठका अर्थ है।

इसमे कहा है कि “सुमुख गाथापतिने सुदन्त अनगारको आते हुए देस का आसन छोड दिया और पादपीठसे उतर कर एक नाटिक बख्शका उत्तगसग करक मुनिके सम्मुख सात आठ पैरतक गया, और मुनिको दाहिनी ओरसे तीन बार प्रदक्षिणा दी इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुमुख गाथापति सम्यग्दृष्टि था मिथ्यात्वी नहीं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि पुरुष साधुको साधु नहीं समझता किन्तु असाधु समझता है इसलिये वह इन प्रकारका आदर सत्कार मुनिका नहीं कर सकता। जैसे हरिकेशी मुनिको देस कर कुमारोने आदर सत्कार नहीं किया था किन्तु उनका अनादर करने लगे थे उसी तरह सुमुख गाथापति भी मिथ्यादृष्टि होता तो मुनिका आदर सत्कार नहीं करता किन्तु अनादर करता परन्तु उसने मुनिका सत्कार सम्मान किया था इससे उसका सम्यग्दृष्टि होना सिद्ध होता है। कदाचित् मिथ्यादृष्टि भी कारणवश मुनिका आदर सत्कार कर तो उसका हार्दिक भाव शुद्ध नहीं होता किन्तु उसके हृदयमे मुनिके प्रति अश्रद्धा मनी रहती है परन्तु सुमुख गाथापतिका हार्दिक भाव शुद्ध था इसीलिये मूलपाठमे “हृदयुद्ध” यह पद आया है इसका अर्थ यह है कि सुमुख गाथापति मुनिका सत्कार सम्मान करत समय हृदयमें बहुत प्रसन्न था। यदि वह मिथ्यादृष्टि होता तो साधुके प्रति हृष्ट तुष्ट नहीं होता अतः सुमुख गाथापति उस समय सम्यग्दृष्टि ही था मिथ्यादृष्टि नहीं। तथा सुमुख गाथापतिने जो मुनिको दान दिया था उसका वर्णन करते हुए उक्त मूलपाठमे कहा है कि “सुमुख गाथापतिका दान, दातृ शुद्धि, द्रव्य शुद्धि, और पात्र शुद्धि इन तीनों शुद्धियोंसे युक्त था”। ये तीनों शुद्धियां सम्यग्दृष्टिके दानमें ही होती हैं मिथ्यादृष्टिके दानमें नहीं होतीं क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी साधुके प्रति अश्रद्धा होनेसे उसका हृदय शुद्ध नहीं होता और हृदय शुद्ध न होनेसे उसके दानमे दाताकी शुद्धि नहीं होती अतः मिथ्यादृष्टियोंके दानमें त्रिविध शुद्धियां नहीं होतीं परन्तु सुमुख गाथापतिका दान तीनों प्रकारकी शुद्धियोंसे युक्त था इसलिए सुमुखगाथापतिका सम्यग्दृष्टि होना स्पष्ट प्रमाणित होता है।

इसी तरह इन मूलपाठमें सुमुख गाथापतिके दानको मानसिक शुद्धिसे युक्त होना कहा है यह भी सुमुख गाथापतिके सम्यग्दृष्टि होनेका साधक है। सम्यग्दृष्टिका ही साधुके प्रति मन शुद्ध होता है मिथ्यादृष्टिका नहीं। सुमुख गाथापतिका साधुके प्रति मन शुद्ध था इस लिये वह सम्यग्दृष्टि ही था मिथ्यादृष्टि नहीं। एव सुमुख गाथापतिने मुनिको

ज्ञान देकर अपना ससार परिमित किया था यह भी हमने सम्यग्दृष्टि होनेका साधक है । यद्यपि भ्रमविश्रम्भनकारने मिथ्यादृष्टिका भी ससार परिमित होना लिखा है परन्तु यह वात शास्त्र विरुद्ध है । जगतक अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया और लोभका क्षयोपशम या उपशम नहीं होता तत्रतक ससार परिमित नहीं होता । अनन्तानुबन्धी क्रोधादिका यही अर्थ है कि वह अनन्त ससारका अनुबन्ध करना है । उसके होते हुए ससार परिमित हो जाय यह बात असम्भव है । ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें “अनन्तानुबन्धी” शब्द का अर्थ इस प्रकार लिखा है “अनन्तं भ्रमनुपप्रात्यविच्छिन्नकरोतीत्येवगीलोऽनन्तानुबन्धी” जो धारा प्रवाह विच्छेदग्रहित अनन्तकाल तक ससारको उत्पन्न करता है उसे “अनन्तानुबन्धी” कहते हैं ।

अनन्तानुबन्धी क्रोधादि जगतक सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती तत्रतक नष्ट नहीं होता और उसमें रहने रहते ससारका समुच्छेद नहीं होता इसलिए सुमुख गाथापतिमें अनन्तानुबन्धी क्रोधादिका क्षयोपशम या उपशम होना अवश्य ही मानना पड़ेगा और उसके मान लेनेपर सुमुख गाथापतिकी सम्यग्दृष्टि होना अपन आप ही सिद्ध हो जाता है । अन सुमुख गाथापतिकी मिथ्यादृष्टि कायम करके मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे ससार का परिमित होना, बतला कर उसे मोक्ष मार्गमें कायम करना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिए ।

(बोल १५ वां)

(प्रेरक)

भ्रमनिश्वसनकार भ्रमनिश्वसन पृष्ठ ८ के ऊपर मिथ्यात्व दशाकी क्रियासे ससार परिमित होना सिद्ध करनेके लिए लिखते हैं कि—“बली मेघकुमारगे जीव पा जिले भवे हाथी सुसलारी टया पाली पगीत मसार मिथ्यात्वी धके क्रियो ।”

इमका क्या समाप्त ?

(प्ररूपक)

हाथीका भव पाया हुआ मेघ कुमारका जीव शशक आदि प्राणियोंकी प्राणरक्षा करते समय सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि नहीं यह बात ज्ञाना सूत्रमें मूलपाठसे सिद्ध होती है । उस मूलपाठमें हाथीको साक्षान् सम्यग्दृष्टि कहा है वह पाठ निम्नलिखित है—

‘तंजड ताच तुमं मेहा - तिरिस्वजोणियभावमुवागएणं
अपडिलद्वसंमत्तरयणलंभेणं सोपाए पाणाणुकम्पघाण जाव अन्तरा-
चेव सन्धारिए णोचेवण णिकिस्रत्ते ’

ज्ञाना अच्यन्न १)

इसका टब्बा अर्थ यह है—“ त० तमाटे तिद्वा तुम्मे तांज भय, मे० मेवा ? विथ्याण
योनि भाष्य सु० उपनाहता अ० अनपाम्यो अलतो सम्यक्त्व लीधो रत्नपाम्यो मे० तकि
तेप्राणिनी अनुकम्पाद् जा० दयाद् करी जा० धायत् तिद्वापग ऊ घो राल्यो तेणे मनुष्य भवपाम्या ।

यह टब्बा अर्थ भीषणजीके जन्मसे पहलेका लिखा हुआ प्राचीन है ५
प्रतियोग इसके लिखे जानेकी मिति संवत् १७६८ लिखी है—

जैसे कि—“संवत् १७६८ वर्षे शा० १६६३ प्रथम कार्तिक मासे शुक्ल पक्ष ११
तितौ भृगुवासरे लिपिचक्रे मुनिरूर्ध्वसागर ” यह लिखा है । इसमें “अपडिल्लदस
रयण लभेगं ” इस पदका अर्थ यह किया है कि “अनपाम्यो अलतो
रत्न पाम्यो ” अर्थात् “हाथीने पहले नहीं पाये हुए सम्यक्त्व रूपी रत्नको उम सम
प्राप्त किया था ।” इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वह हाथी शशक आदि प्राणियोंकी प्रा
ग्रा करतेसमय सम्यग्दृष्टि था मिथ्यादृष्टि नहीं । इस टब्बा अर्थमें जो “अपडिल्लद सम्म
रयणलभेण ” इस पदका सम्यक्त्व रूपी रत्नको पाना अर्थ लिखा है वह व्युत्पत्ति
भी निकलता है । जैसे कि इस पदकी ससृज्जया “अप्रतिलब्ध सम्यक्त्व त
लभेत्” वनती है । और इसकी व्युत्पत्ति यह है कि “अप्रतिलब्धमप्राप्तयत्सम्यक्त्व
रत्नं तल्लभत इति अप्रतिलब्ध सम्यक्त्व रत्न लभस्तेन ” अर्थात् पहले कभी नहीं पाये
हुए सम्यक्त्व रत्नको प्राप्त करने वाला ” यह इसका अर्थ है । इस लिये टब्बाकारका
किया हुआ अर्थ व्युत्पत्तिसे भी मङ्गल है तथापि हाथीको मिथ्यादृष्टि कायम कर
मिथ्यात्वदशाकी क्रियासे सारका समुच्छेद वतलाना उत्सूत्र भाषियोंका कार्य सम
झना चाहिये । कई अशुद्ध टब्बाओंमें उक्त पदका अर्थ अशुद्ध क्रिया है । जैसे भ्रम
विध्वनने उक्त पदका अशुद्ध टब्बा अर्थ लिखा है ऐसे अशुद्ध टब्बाओका आश्रय ले
जगत्में भ्रम फैलाना सच्चे साधुओंका कर्तव्य नहीं है । अतः भ्रमविध्वननकारने जो
मूलपाठसे विरुद्ध हाथीको मिथ्यादृष्टि वतलाया है वह मिथ्या समझना चाहिए ।

बोल १६ वां

(प्रेरक)

ज्ञाता सूत्रके मूलपाठमें हाथीको शशकादि प्राणियोंकी प्रागरक्षा करते समय सम्य
ग्दृष्टि ही लिखा है यह ज्ञात हुआ । परन्तु भ्रमविध्वननकार भ्रमविध्वनन पृष्ठ १० के ऊपर
लिखते हैं कि “वचीन्यामे इज दलपतिगयजी प्रभू पृ०या तेहना उत्तर वौलतगमजी दीधा
छै । ते प्रभोत्तर मध्ये पिण हाथीने तथा सुमुख गाथापतिने प्रथम गुणठाणे कहा छै ” ।
इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दौलतरामजीके साथ दलपतिरायजीके जो प्रश्नोत्तर हुए हैं उसकी सम्बन्ध १८९१ की लिखी हुई प्रति मेरे पास मौजूद है उसमें हाथी और सुमुखगाथापतिका प्रथम गुण स्थानमें होना नहीं कहा है अत उक्त प्रश्नोत्तरीका उदाहरण दकर हाथी और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कायम करना मिथ्या है । तथा भ्रमविष्वसन पृष्ठ १० क नोटमें दौलतराम जी और दलपतिरायजीको “कोटा वू दीके आसपाम विचरनेजागे वाईस सम्प्रदायक साधु” लिखा है यह भी मिथ्या है । दलपतिरायजी देहलीके रहन जाले वाईस सम्प्रदायके प्रसिद्ध श्रावक थे साधु नहीं थे तथा इनके प्रश्नोत्तरमें हाथी तथा सुमुखगाथापतिको मिथ्यात्वी होनेका कथन भी नहीं है अत उक्त प्रश्नोत्तरीका दाखला दकर जो नोटके अन्दर लिखा है कि “उक्त प्रश्नोत्तरीके १३८ वें प्रश्नके उत्तरमें हाथीको और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कहा है” यह मत्र मिथ्या समझना चाहिए ।

तेरह पन्थियोंको इस प्रश्नोत्तरीकी बात यदि मान्य हो तो इसके ५८ वें प्रश्नके उत्तरमें मिथ्यात्वीके अन्दर मोक्षप्राप्तिरूप सकाम निर्जराका प्रतिषेध किया है इस लिये मिथ्यादृष्टिको मोक्षमार्गका देगाराधक नहीं मानना चाहिये । वह ५८ वा प्रश्न और उसका उत्तर निम्नलिखित है—

“मिथ्यात्वीनो सकाम निर्जरा हो वा न 'हो, तहनो उत्तर—मोक्ष प्राप्ति सकाम निर्जरा न होने” इस प्रश्नोत्तरमें मिथ्यादृष्टिमें मोक्षमार्गका न'होना स्पष्ट कहा है तथापि इसी प्रश्नोत्तरीका उदाहरण देकर जीतमलजीने मिथ्यादृष्टिको मोक्षमार्गका आगधक जल-लाया है, यह इनका प्रत्यक्ष मिथ्याभाषण समझना चाहिये ।

यहा विशेष ध्यानमें रखने योग्य बात यह है कि—किसी भी आधुनिक दृश्य अल्पज्ञकी बात शास्त्राधारके प्रिना नहीं मानी जाती यह आप्रह नो भ्रमनिध्वसनकारक मनानुयायियोंका ही है जो बाबा चाक्यको प्रमाण मान कर लकीरन फकीर बने हैं । उनका भीषणजी आदिकी बात यदि सूत्रके मूलपाठमें भी विरुद्ध हो तो भी उसे व नहीं छोड़त यही तो आभिनिवेशिक मिथ्यात्वका लक्षण है । परन्तु म्म्यादृष्टि पुरुष सूत्रप्रमाणको समझ कर हठ नहीं करते । चाहे किमीका कथन हो सूत्र विरुद्ध बात व नहीं मानत ।

[बोल १७ वां समाप्त] A

(प्रेरक)

सुमुखगाथापतिने मुन्त अनगारको जैसे वन्दन नमस्कार किया था ज्मी तह गोपालक शिष्य शरुतल पुरने भी भगवान महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार किया था यदि मुनिको वन्दन नमस्कार करना ही सम्म्यादृष्टिका लक्षण है तो फिर गोपालक

शिष्य शकडाल पुत्रको भी सम्यग्दृष्टि ही मान लेना चाहिये । परन्तु यदि उसे आप सम्यग्दृष्टि नहीं मानते तो फिर सुमुखगाथापतिको सम्यग्दृष्टि क्यों मानते हैं ?

(प्ररूपक)

सुमुखगाथापतिके वन्दन नमस्कारको गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रके वन्दन नमस्कार जैसा बनलाना अयुक्त है सुमुखगाथापतिने बिना किन्हींकी प्रेरणा और द्वात्र के अपनी हार्दिक इच्छा और श्रद्धाभक्तिसे सुदत्त अनगारको वन्दन नमस्कार किये थे परन्तु शकडाल पुत्रने देवताके कहने, और उसके द्वात्रसे भगवानको वन्दन नमस्कार किया था । इसलिये इन दोनोंके वन्दन नमस्कार तुल्य नहीं है ।

जैसे कोई मनुष्य अपनी रचाभाविक इच्छासे साधुका आचार पालता है और दूसरा अभव्य होकर भी सासारिक पूजा प्रतिष्ठा आदिके लोभसे साधुका आचार पालता है ये दोनों पुरुष व्यवहार दशमे यद्यपि साधुका आचार पालने वाले ही रहे जाते हैं तथापि इनके आचार पालनमे तुल्यता नहीं है किन्तु महान भेद है उसी तरह जो अपनी मानसिक इच्छा और श्रद्धाभक्तिसे मुनिको वन्दन नमस्कार करता है और जो किसीकी प्रेरणा या द्वात्रसे वन्दन नमस्कार करता है इन दोनोंके वन्दन नमस्कारमे भी तुल्यता नहीं है महान् अन्तर है । सुमुखगाथापतिने अपनी इच्छा और स्वाभाविक श्रद्धा से मुनिको वन्दन नमस्कार आदि किये थे इसलिये उसका वन्दन नमस्कार सम्यग्दृष्टिका वन्दन नमस्कार है और वह मोक्षका मार्ग है परन्तु शकडाल पुत्रने देवताके कहनेसे वन्दन नमस्कार किये थे इसलिये उसका वन्दन नमस्कार आन्तरिक भक्तिशून्य द्रव्य रूप होनेसे मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार है वह मोक्षका मार्ग नहीं है । अतः इन दोनोंको तुल्य बनलाना मिथ्या है । शकडाल पुत्रने देवताके कहनेसे भगवान् महाश्रीस्वामीको वन्दन नमस्कार किया था अपनी इच्छासे नहीं यह बात उपासक दशाग सूत्रके मूलपाठम कही है । वठ पाठ यह है—

“समणे भगवं महावीरे सद्दालपुत्तं आजीवियोवासयं एवं वयासी से नूनं सद्दाल पुत्ता ! कैल्लं तुमं पुब्बावरण्हकालयंसि जेणेव असोगवणिया जाव विहरसि तएणं तुब्भं एगे देवे अंतियं पाउब्भवित्था तएण से देवे अंतलिक्खपडिच्चन्ने एवं वयासी—
हंभो महाल पुत्ता ! तंचेव सच्चं जाव पच्चुवासिस्सामि सेनूनं सद्दाल पुत्ता ! अट्टे समट्टे ! हंता, अत्थि । नो खलु सद्दाल पुत्ता ! तेण देवेण गोसाल मंखलि पुत्तं पणिहाय एवं घुत्ते । तएणं तस्स सद्दाल

पुत्रस्स आजीवियो वासयस्स समणेणं भगवया महावीरेणं एवं वुत्त-
स्स समाणस्स इमेयारूवे अज्झत्थिये ४ एत्थण समणे भगवं महा-
वीरे महामाहणे उप्पन्ननाणदंसणधरे जाव तच्चकम्मसंपया संपउत्ते”

(उपामक श्लोक अ० ७० ७०)

अर्थ—

श्रमण भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रसे कहा कि हे शकडाल पुत्र ! कल सन्ध्या समय अशोक वाटिकामें तू गया हुआ था। वहा एक देवताने तुम्हारे निकट आकाशमें स्थित होकर यह कहा था कि कल यहा महामाहन ज्ञान दर्शनका धारक यावत् सफल क्रियाओंसे युक्त पुत्र आयेगा तुम उसका वन्दन नमस्कार आदि यावत् क्षय्या सथारसे उपनिमत्रित करना। यह छन कर तुमने निश्चय किया कि “कल भरे गुरु गोशालक मखलिपुत्र आवगे उनकी वन्दना नमस्कार आदि यावत् उपासना मे करूंगा” क्या यह बात सत्य है ? यह छन कर शकडाल पुत्रने कहा कि हा सत्य है। तत्र फिर भगवान्ने कहा कि हे शकडाल पुत्र ! उस देवताने गोशालक मखलिपुत्रके लिये ऐसा नहीं कहा था। इस प्रकार भगवान् महावीर स्वामीक कहने पर शकडाल पुत्रको यह निश्चय हुआ कि यह तो भगवान् महावीर स्वामी के यदी महामाहन ज्ञान-दर्शनक धारक यावत् सफल क्रियाओंसे युक्त है यह इम पात्रका अर्थ है।

इसमें स्पष्ट कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीन जन गोशालक शिष्य शकडाल पुत्रने यह कहा कि “अशोक वाटिकाके अन्दर देवताने जो बात कही थी वह गोशालक मखलिपुत्रके लिये नहीं” तत्र शकडाल पुत्रको यह मालूम हुआ कि यह श्रमण भगवान् महावीर स्वामी हैं पर हमारे गुरु गोशालक नहीं हैं। इससे निश्चित होता है कि शकडाल पुत्र अपने गुरु गोशालकको आया हुआ जानकर जहा आया था और आते समय उसने भगवान् महावीर स्वामीको गोशालक समझ कर वन्दन नमस्कार किया था। अत उसका यह वन्दन नमस्कार वास्तवमे भगवान् महावीर स्वामीको न होकर उसके गुरु गोशालक मखलि पुत्रका ही हुआ। पश्चान् भगवान् महावीर स्वामीने कहने पर जब उसका वह भ्रम दूर हुआ और उसने भगवान् महावीरको जान लिया तत्र अशोक वाटिकामें मिले हुए देवताकी प्रेरणासे भगवान् महावीर स्वामीको वन्दन नमस्कार किया था परन्तु उनको गुरु जान कर आन्तरिक भक्तिके साथ नहीं इसलिये इमना यह वन्दन नमस्कार भी भावशून्य होनेसे फाग्य अहंभाषित धर्मका अङ्ग नहीं था किन्तु अहंदाज्ञानाह और मिथ्यात्व युक्त था। अत, इसे मोक्षमार्गमें नहीं कह सकते। परन्तु सुमुखायापतिका वन्दन नमस्कार आन्तरिक श्रद्धासे साथ होनेसे भावरूप था, इसलिये वह मोक्षका मार्ग और वीतराग भाषित धर्मका अङ्ग था। ऐसा भावरूप वन्दन नमस्कार

सम्यग्दृष्टियोंका ही होता है मिथ्यादृष्टिका नहीं। अतः सुमुखगाथापतिके बन्धन नमस्कारको शकडाल पुत्रके बन्धन नमस्कार जैसा घतलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल समझना चाहिये ।

[बोल १८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४ के ऊपर लिखते हैं कि “अथ क्रियावादी मनुष्य तिर्यश्च रे एक वैमानिक गे वध कश्यो और आयुषो बाधे नहीं इमि कश्यो ते माटे सुमुख गाथापति, तथा हाथी तथा सुप्रती मनुष्य इहा कस्या तेसर्वने मनुष्यनो आयुषानो बन्ध कश्यो ते भगी ए सम्यग्दृष्टि नहीं ते माटे मनुष्यनो आयुषो बाध्यो उँ सम्यग्दृष्टि हुवे तो वैमानिकरो बन्ध कहता” इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ३० उद्देशा १ मे कहा है कि “क्रियावादी मनुष्य एक वैमानिक सिवाय दूसरेकी आयु नहीं बाधते” इसका अभिप्राय भ्रमविध्वसनकारने नहीं समझा है इसीलिये वह मनुष्यका आयुवध देख कर सुमुख गाथापति और हाथीको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। भगवतीके उक्त कथनका आशय यह है कि जो मनुष्य और तिर्यश्च विगिष्ट क्रियावादी होते हैं और अतिचार रहित निर्मल व्रतका पालन करते हैं वे वैमानिक की ही आयु बाधते हैं परन्तु सामान्य क्रियावादी नहीं। यदि कोई कहे कि भगवतीमे तो सिर्फ क्रियावादी ही लिखा है विगिष्ट क्रियावादी नहीं लिखा है फिर आप विगिष्ट क्रियावादी अर्थ क्यों करते हैं ? तो इसका उत्तर यह है कि दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रके मूलपाठमे महारभी महापरिभ्रती क्रियावादी मनुष्यको उत्तरपथगामी नरकयोनिमें जाना भी कहा है यदि सभी क्रियावादी वैमानिककी ही आयु बाधते तो दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रमे क्रियावादी मनुष्यको नरकयोनिकी आयु बाधना कैसे कहा जाता ? अतः निश्चित होता है कि भगवतीके मूलपाठमे जिस क्रियावादीके लिये एक वैमानिककी ही आयु बाधनेका नियम किया है वह विगिष्ट क्रियावादी है पर सभी क्रियावादी नहीं। दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमे क्रियावादी मनुष्यको नरक योनिमें जाना कहा है वह पाठ यह है—

सेकित क्रियावाद्यावि भवइ ? तंजहा—आहियवाइ आहि-
यपन्ने आहिय दिट्ठी सम्मावादी निडवादी संतिपरलोकवादी अत्थि
इहलोके अत्थि परलोके अत्थि माया अत्थि पिया अत्थि अरिहन्ता
अत्थि चक्रवती अत्थि बलदेवा अत्थि वासुदेवा अत्थि सुकडदुक्क-

माणं फलवित्तिविसेसे सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवति सफले
 ल्ल्याणे पावए पद्यायति जीवा अत्थि नेरइया देवा सिद्धि से एववादी
 पवप्पने एवदिट्ठी छन्दरागमतिनिविट्ठे आविभवह से भवह
 हेच्छे जाव उत्तर गामिए नेरइए सुक्कपाप्पिए आगमेसाण सुलभ
 हियाधि भवइ सेत किरियावादी सव्वयम्मरुचियावि भवइ”

(दशाधृत स्वल्प सूत्र)

इसका टीकानुसार अर्थ यह है—

(प्रश्न) क्रियावाणी किसे कहते हैं ?

(उत्तर) जो शास्त्रोंक आत्मादिपदार्थों को मन्थ और मोक्षोपयोगी पदार्थों को उपादेय तथा
 के प्रतिमूल धन्दुनो हेय समझते हैं जो, जिसका जेसा स्वरूप है उसे उसी तरह अविपरीत
 खाते हैं और धाम्निकताके समर्थक सम्यग्दृष्टि हैं जो, मोक्षकी मिल्यता और स्वर्ग, तरक,
 ता, पिता, इहलोक, परलोक, अरिहत, चरन्ती, यद्देव, घाउदेव, इन्का अस्तित्व मानते हैं ।
 शुभ और अशुभ कर्मों का क्रमदा शुभ तथा अशुभ फल होना स्वीकार करते हैं जो शुभाशुभ
 र्णों का फल भोगनेके त्रिपे आत्मको विविध योनियोंमें जाना अङ्गीकार करते हैं जो नरक,
 इय, तिर्य्यञ्च, देवता, और मुक्तिको मत्स्य यताते हैं तथा पूर्वोक्त सभी बातोंमें जिसकी निश्चया-
 क मान्यता है वे क्रियावाणी कहलान हैं । जेमे क्रियावाणी यदि महापरिग्रही और महान्
 ज्ञानाले हों तो उत्तरपथगामी नरकयोनिमें पन्म पाते हैं परन्तु व शुद्धप्राय और भविष्यमें
 प्रम घोरी हाते हैं । यह उक्त मूलपाठका अर्थ है ।

इसमें कहा है कि जो क्रियावादी मनुष्य महापरिग्रही और महान् इच्छा
 ले होते हैं वे उत्तरपथगामी नरकयोनिमें जात हैं । यदि सभी क्रियावादी एक वैमानिक
 ही आयु बाधते तो इस पाठमें क्रियावादी मनुष्यको नरकयोनिमें जाना कैसे कहा
 ला ? अतः भगवती सूत्र शतक ३० उद्देश १ में विविष्ट क्रियावादीक लिपि ही
 मानिकके आयुधका नियम क्रियाजाना समझना चाहिय सभी क्रियावादियोंके
 ल्ये नहीं ।

इस विषयमें भगवती सूत्र शतक १ उद्देश २ का मूलपाठ भी प्रमाण है । वह पाठ
 है—

“अविराहिय संजमाणं जहण्णेणं सोहम्मे कप्पे उक्कोसेणं स-
 वट्ठसिद्धे विमाणं । विराहिय संजमाणं जहण्णेणं भुवणवासिसु
 उक्कोसेण सोहम्मे कप्पे । अविराहिय संजमासंजमाणं जहण्णेणं सो-

हममे कप्पे उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे । विराहिय संजमारांजमाणं जह्णणेणं भुवणवासीसु उक्कोसेणं जोइसिएसु ।

(भगवती श० १ उद्देशा २)

अर्थ—

संयमकी विराधना नहीं करने वाले आराधक साधु यदि देवलोकमें उत्पन्न हों तो जन्म प्रथम स्वर्ग सौधर्म कल्पमें और उत्कृष्ट सर्वांगसिद्ध नामक विमानमें उत्पन्न होते हैं । तथा संयम की विराधना करने वाले विराधक साधु यदि देवलोकमें उत्पन्न हों तो जन्म भुवनवासी और उत्कृष्ट सौधर्म कल्प प्रथम स्वर्गके देवता होते हैं । एवं अतिचार रहित अपने व्रतकी आराधना करने वाले आराधक धावक देवलोकमें उत्पन्न हों तो जन्म प्रथम स्वर्ग सौधर्म कल्प और उत्कृष्ट अत्युत्तम कल्प यानी वाराहवें स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं । तथा विराधक धावक यदि देवलोकमें उत्पन्न हों तो जन्म भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमें उत्पन्न होते हैं । यह मूलपाठका अर्थ है ।

इसमें विराधक आचरको जन्म भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमें उत्पन्न होना कहा है । यदि सभी क्रियावादी एक वैमानिक देवकी ही आयु बाधते तो इस मूल पाठमें विराधक आचरको जन्म भुवनवासी और उत्कृष्ट ज्योतिष्कमें जाना क्यों कहा जाता ? क्योंकि विराधक आचर भी क्रियावादी ही है अक्रियावादी नहीं है । अतः तिश्रित होता है कि सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च एक वैमानिककी ही आयु नहीं बाधते किन्तु सामान्य क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च अपने अपने कर्मानुसार दूसरे भवोंमें भी जाते हैं । अतः भगवती शतक ३० उद्देशा १ के मूलपाठका नाम लेकर सभी क्रियावादियोंको एक वैमानिककी ही आयु बाधतलाना मिथ्या है । जय कि क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च वैमानिकके सिवाय दूसरे की भी आयु बाधते हैं तब मनुष्य का आयुर्वय होना दंग कर हाथी और सुमुखगाथापतिको मिथ्यादृष्टि कहना मिथ्या कष्टियोंका कार्य्य समझना चाहिये ।

(बोल १९ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

सामान्य क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्च वैमानिक देवके सिवाय दूसरे भवमें भी जाते हैं इसका प्रमाण और भी दिया जाता है—

भगवती शतक ८ उद्देशा १० के मूलपाठमें जन्म ज्ञान और जन्म दर्शनागधनाकी कल्प जन्म तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवसे मोक्ष जाना बतलाया है इसका अर्थमन्त्रोक्त उत्कृष्ट हीकोपराग्रे लिखा है कि जन्म तीन और उत्कृष्ट सात आठ भवमें जो भवों की संख्या है, संयमके जन्म उत्पन्न होने पर ही तब, सहित जन्म ज्ञान और जन्म

दर्शनाराधनाका फल समझना चाहिये क्योंकि चारित्र रहित ज्ञान दर्शन तथा देश प्रनकी आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव भी होते हे । इस टीकाकारकी बातको स्वीकार करते हुए जीतमलजीने “प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध” नामक ग्रन्थमे लिखा हे कि—

“अष्टम शतके भगवती दर्शन उद्देशे इष्ट
जघन्य ज्ञान आराधना सत अठ भव उत्कृष्ट ।
वृत्तिकार कष्ट यह प्रिय चरित सहित जे ज्ञान
तेहनी जघन्य आराधना तसुभव ए पहिचान
बीजा समदृष्टि तणा देशप्रनीना जे ह ।
भव उत्कृष्ट असंख्य छै न्याय वचन छै एह ।

इन दोहोमे टीकाकारकी बातकी प्रमाण मानते हुए जीतमलजीने चारित्र रहित जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशप्रनकी आराधनासे उत्कृष्ट असंख्य भव होना भी स्वीकार किया है । अत इनको क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्चका वैमानिक भवके सिवाय दूसरे भवका ग्रहण करना भी मानना पड़ेगा । क्योंकि जिस जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशप्रनके आराधक पुरुषको असंख्य भवसे मोक्ष जाना हे वह अपनी असंख्य भवोंकी पूर्ति वैमानिक और मनुष्य भवोंमे ही नहीं कर सकता क्योंकि मनुष्य भवसे वैमानिकका और वैमानिकसे मनुष्य भवका लगातार सात आठ चरणमे अधिक होना भगवती शतक २४ मे वर्जित किया हे । इसलिये असंख्य भवोंकी पूर्तिक लिये उसे वैमानिकके सिवाय दूसरा भव करना ही होगा इस प्रकार जब कि असंख्य भवसे मोक्ष जाने वाले जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशप्रनकी पुरुषका वैमानिकके सिवाय दूसरेका आयुव्यव होना भ्रमविध्वसनकारको स्वीकृत हे तत्र फिर क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्चका वैमानिक देवक सिवाय दूसरा भव ग्रहण करना भी अपने आप ही स्वीकार हो जाता हे क्योंकि जघन्य ज्ञान दर्शन तथा देशप्रनका आराधक पुरुष क्रियावादी ही हे अक्रियावादी नहीं । अत भगवती सूत्र शतक ३० उद्देशा एकरा नाम लेकर सभी क्रियावादी मनुष्य और तिर्य्यञ्चको एक वैमानिकका ही आयु वध घनलाना मिथ्या समझना चाहिये ।

[बोल २० वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १३ के ऊपर उत्तमाध्ययनसूत्र अध्यायन ७ गाथा बीसवींको लिख कर उसकी समालोचनामे लिखते हे कि “एतो मिथ्यात्वती अनेक भला गुण सहितने सुप्रती कथो । त भली कर्णी आह्ला मांहि छै । अने क्षमादि गुण आह्लामे नहीं हुवे तो सुप्रती क्यू कथो । त क्षमादिगुणी कर्णी अशुद्ध हुवे तो कुप्रती

कहता एतो साम्प्रत भली करणी आश्रय मिथ्यात्वीने सुव्रती कव्यो है । अने जो मनु गृह्ये हुवे तो मरीने मनुष्य हुये नहीं” इमका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा दीपिकाके साथ लिख कर इसका समाधान लिखा जाता है —

वह गाथा यह है—“वे मायाहिं सिखाहिं जेनरा गिहिसु, व्यया । उवेंति माणुसं जोणिं कम्म सच्चाहु पाणिणो”

(उत्तरा० अ० ७ गाथा २०)

इसकी दीपिका यह है—

“मानुषं योनिं के प्रजन्ति तदाह—ये नरा विमात्राभिर्विविधप्रकाराभि दिशुभि गृहिसुव्रता गृहिणश्चते सुव्रताश्च गृहिसुव्रता गृहीतसम्यक्त्वादिगृहस्थद्वादशशतानि सत्यान्ययनध्यफलानि ज्ञानावरणीयादीनि कर्माणि येषां तेसत्यकर्माणि कर्मसत्या प्राकृतत्वात्कर्म शब्दस्य प्राक्प्रयोग ते जीवा “हु” इति निश्चयेन मानुष योनिमुत्पद्यन्ते”

इसका अर्थ यह है—

मनुष्य योनिमें कौन प्राणी जन्म लेते हैं यह हम गाथामें बतलाया है । जो मनुष्य प्रकारकी शिक्षाभोंसे युक्त और गृहस्थ सम्प्रन्धी सम्यक्त्व आदि बारह व्रतोंके धारक है तथा जिनके ज्ञानावरणीयादि कर्म अवश्य फल देनेवाले हैं वे अवश्य मनुष्य योनिमें जन्म पाते हैं । यह हम गाथाकी दीपिकाका अर्थ है ।

यह सुव्रत शब्दका अर्थ दीपिका फारने बारह व्रतधारी किया है इस लिए इस गाथामें कहा हुआ सुव्रतपुरुष सम्यग्दृष्टि है मिथ्या दृष्टि नहीं । अतः इस गाथामें कह हुए सुव्रत पुरुषको मिथ्या दृष्टि बतलाना दीपिकासे विरुद्ध समझना चाहिए ।

यदि कोई कहे कि इस गाथामें कहा हुआ सुव्रत पुरुष सम्यग्दृष्टि होता तो वह मनुष्यभवमें क्यों जाता क्योंकि सम्यग्दृष्टि मनुष्य एक वैमानिककी ही आयु वाधते हैं तो इसका समाधान इसके पूर्व बोलोमें विस्तारके साथ सप्रमाण दे दिया गया है और यह सिद्ध कर दिया है कि सम्यग्दृष्टि मनुष्य भी वैमानिक देवसे भिन्न भवको प्राप्त करते हैं अतः मनुष्य भयके पानेसे गाथोक्त सुव्रत पुरुषको मिथ्यादृष्टि बतलाना अयुक्त समझना चाहिए ।

(बोल २१ वां समाप्त)

(प्रेरक)

सामान्य व्रनधारी आवकका वैमानिक देवके मित्राय दूसरा भव पाता शास्त्रीय विधि वाइसे तो आपने सिद्ध कर दिया परन्तु कहीं चांगितानुवादमें इमका उदाहरण मिलता हो तो उसे भी बनलाइए ।

(प्ररूपक)

भगवती शतक ७ उद्देशा ९ के मूलपाठमे सामान्य व्रनधारी पुरुषका मनुष्य भव ग्रेड कर फिर मनुष्य भ्रमे जन्म पानेका उदाहरण मिलता है यह बात पाठ लिख कर तलाई जाती है । वह पाठ यह है—

“तण्णं तस्स नागनत्तूपस्स एगे पियवालवयसण रह मुसलं सङ्गामेमाणे एगेणं पुरिसेणं गाढप्पहारीरूपसमाणे अत्थामे जाव अघारणिज्जमोत्ति कट्ठु वरुणं नागनत्तूपं रहमुसलाओ सङ्गामाओ पडिनिक्खममाणं पासड, पासडत्ता तुरगे निगिहण्ह निगिहण्हत्ता जहावरुणे जाव तुरए विसज्जेइ, पडसन्धारगं दुरुहड दुरुहडत्ता पुरत्थाभिमुहे जाव अज्जलिं कट्ठु एवं वयासी—जाडणं मम पियवाल वय सस्स वरुणस्स नागनत्तूपस्स सीलाडं वयाहं गुणाडं वेरमणाडं पच्चक्खाणपोसहोववासाडं ताडणं ममपि भवन्तुत्ति कट्ठु सण्णाह पट्टं परिमुयड मुयडत्ता सल्लद्धरणं करेइ करेडत्ता आणुपुब्बीए काल गए”

(इमके अनन्तर एक ओर पाठ आया है वह यह है—

“तस्सण भन्ते ! नागनत्तूपस्स पियवालवयसण काल मासे कालंकिच्चा कहिं गए कहिं उववन्ने ?

गोयमा ! सुकुले पञ्चाजाण । सेणंभन्ते ! तवा ओहिंतो अणतर उवद्धिता कहिंगच्छिंहिति ? गोयमा ! महाविदेहे वासे सिज्झिंहिति जाव अन्त करेहिति सेव भन्ते भन्तेति ”

(भगवतीशतक ७ उद्देशा ९)

इन पाठोंके अर्थ क्रमशः दिये जात हैं—

उस समय धरमनाग नरूपाका प्रियवाल मित्र, रथ छपल नामक संवामर्ष युद्ध करता हुआ क्रिमांमे गाढ प्रहारको प्राप्त होकर बहुत क्षतिहीन हो गया । उसी समय अपने बाल निष्पु

घरुगको भी घायल होकर संग्राम भूमिसे बाहर जाते देखा । पश्चात् वह युद्ध भूमिसे बाहर आकर घोड़ोको जङ्गलमें छोड़ अपने प्रियवालमित्र घरुगके समान कपडेके सन्धारपर बैठ गया । सपर पर बैठ कर पूर्वामिमुख हो हाथ जोड़ कर कहने लगा कि—“प्रियवाल मित्र घरुगनाग नत्यूयाके समान मेरे भी शील, व्रत, गुण, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषधोपवास आदि सत्कर्म हैं ।” यह कह कर उसने अपने सन्नाहको निकाला । पश्चात् अङ्गमें चुभे हुए बाणको निकालकर मृत्युको प्राप्त हुआ । (यह पहले पाठका अर्थ है ।)

इसमें घरुगनागनत्यूयाके प्रियवाल मित्रका सामान्य रूपसे वारह व्रतधारण करना कहा है । इस पाठमें जो शील, व्रत, गुण और विरमण शब्द आये हैं इनका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है—

“वयाइ” त्ति अहिंसादीनि गुणाइ त्ति गुणव्रतानि “विरमणाइ” त्ति सामान्येन रागादि विरतय । “पचम्प्राण पोसहो वासाइ” त्ति प्रत्याख्यान पौरुष्यादिविषय पौषधोपवास पर्व दिनो पवाम ”

इसका अर्थ यह है—

यहा व्रत, अहिंसा समझनी चाहिए । तथा “गुण” शब्दका अर्थ गुणव्रत और विरमण शब्दका सामान्यन रागादि निवृत्ति अर्थ जानना चाहिए । एव प्रत्याख्यान नाम पौरुषी आदि कालनर त्याग करनेका है और पर्वके दिन उपवास करनेका नाम पौषधोपवास है । यह टीकाका अर्थ है ।

यहा टीकाकारने व्रत आदि शब्दोंका अहिंसादि अर्थ किया है । उन व्रतोंको वरुगनागनत्यूयाके प्रियवाल मित्रसे प्रश्न किया जाना ऊपर लिखे हुए मूलपाठमें लिखा है इस प्रकार घरुगनागनत्यूयाके प्रियवालमित्रने सामान्य रूपमें वारह व्रतधारी होकर मनुष्य योनिमें जन्म लिया था यह ऊपर लिखे हुए दूसरे पाठमें कहा है । उस पाठका अर्थ यह है—

(प्रश्न) हे भगवन् ! वरुगनाग नत्यूयाका प्रियवाल मित्र मृत्युको प्राप्त होकर किस योनिमें उत्पन्न हुआ ?

(उत्तर) हे गौतम ! वह मनुष्य लोकमें उत्तमकुलके अन्दर उत्पन्न हुआ ।

(प्रश्न) अब वह किस योनिमें जन्म लेगा ?

(उत्तर) वह मनुष्य भवसे निकट कर महाविदेह क्षेत्रमें मनुष्य भवको प्राप्त करके सिद्ध होगा यावन यमोंका अन्त करेगा ।

यह दूसरे पाठका अर्थ है ।

इसमें, सामान्य रूपसे वारह व्रतधारी घरुगनागनत्यूयाके प्रियवालमित्रका मनुष्य भव छोड़ कर फिर मनुष्य भवमें ही जन्म लेना कहा है यह सामान्य व्रतधारी

प्रावकका मनुष्य भव जोड कर फिर मनुष्य भवमे आनेका उच्चलन्त उदाहरण है इसलिये उत्तराध्ययन सूत्रके अध्ययन ७ श्री वीमर्षी गाथामे कहे हुए सुव्रत शब्दका सामान्य प्रत-गारी अर्थ है मिथ्यालष्टि नहीं ।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविश्वसनकार भ्रमविश्वसन पृष्ठ १६ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्रक अध्ययन ९ ती चौथालीमर्षी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ इहा तो मिथ्यात्वीनो माम क्षमग तप सम्प्रदष्टिना चारित्र धर्मने सोलर्षी क्ला न आये गह्वू कर्यो । तेचारित्र धर्मतो सवर छै तेहने सोलर्षी कलाइ न आये कर्यो । मोलर्षी कलाइ ज नाम लेइ बनायो पिंग हजागमेइ भाग न आव तेहने सवर धर्म छै डज नहीं । पिंग निर्जरा धर्म आश्रय कर्यो नथी निर्जग धर्म निर्मल छै तेकरणी तपस्या शुद्ध है आज्ञामाहि छै ”

(भ्र० पृ० १६-१७) इसका क्या समाधान—

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह गाथा यह है—

“ मासे मासेउ जोवालो कुसग्गेणं तु भुज्जइ नसो सुक्खाय धम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं ”

(उत्तरा० अ० ९ गाथा २२)

जो पुरन, बाल यानी मिथ्यालष्टि अज्ञानी है वह हर एक मासमें कुत्तक अपभागमें जितना भ्रम डहरता है उतना ही खाका चाहे कुत्तके अपभागको ही ग्यावर रख जाये तो भी वह तिनोफ उमक आचरण करेवाले पुरुषके मोलद्वय अज्ञाने बराबर भी नहीं होता । यह इस गाथाका अर्थ है ।

यहा माम-माम क्षमग रूप घोग तपस्या करने वाले मिथ्यालष्टि अज्ञानीको जितोत्त धर्मका आचरण करने वाले पुरुषके मोलद्वय अज्ञाने बराबर भी न होता कहा है । इसमें स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यालष्टिनी कठिनने कठिन भी तपस्या, धीतरगापी आज्ञामे नहीं है । यदि वह आज्ञामे होती, तो उम तपस्याके आचरण करनेमें गाथोत्त मिथ्यालष्टि पुरुष भी जितोत्त धर्मका ही आचरण करनेवाला होता और जब वह जितोत्त धर्मका आचरण करने वाला होता तो उमके लिये इस गाथामें यह कदापि नहीं कहा जाता

कि "उक्त तपस्या करने वाला मिथ्यादृष्टि जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाले पुण्य सोलहवें अंशमें भी नहीं है ।" क्योंकि जो पुरुष जिनोक्त धर्मका आचरण न करे किन् अन्यके धर्मका आचरण करता है उमीके लिये यह कहा जा सकता है कि "यह धर्मका आचरण करनेवालेके सोलहवें अंशमें भी नहीं है" परन्तु जो जिनोक्त धर्मका ही आचरण करता है उसके लिये ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह तो स्वयमेव जिनोक्त धर्मका ही आचरण करने वाला है । अतः इस गाथामें कही हुई मिथ्यादृष्टीकी तपस्या वीतरागीकी आज्ञामें नहीं है और उसके आज्ञामें न होनेसे उसका आचरण करनेवाले गाथोक्त वाल तपस्वी भी जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाला नहीं है । अतएव जिनोक्त धर्मका आचरण करनेवाले पुरुषके सोलहवें अंशमें भी न होना कहा है । इसलिए इस गाथासे मिथ्यादृष्टीकी तपस्या स्पष्ट रूपसे जिन आज्ञा बाहर सिद्ध होती है । टीकाकारने भी गाथोक्त वाल तपस्वीकी तपस्याको जिन आज्ञासे बाहर बतलाया है वह टीका यह है—

“घोरस्यापि स्वाख्यातधर्मस्यैव
दन्यथात्वात्” अर्थात् जो धर्म जिन भाषित है वह यदि घोर (कठिन) हो तो भी धर्मकामी पुरुषोसे आचरण करने योग्य है परन्तु जो घोर-धर्म जिन भाषित नहीं है वह आत्मघातादिकी तरह आचरण करने योग्य नहीं है । यह इस टीकाका अर्थ है ।

इसका तात्पर्य यह है कि गाथोक्त बालतपस्वीकी मास क्षमण तपस्या यद्यपि घोर है तथापि जिन भाषित न होनेके कारण धर्मार्थी पुण्योंसे आचरण करने योग्य नहीं है । यदि गाथोक्त वाल तपस्वीकी तपस्या जिन भाषित धर्ममें होती तो उसे टीकाकार जिन भाषित न होना क्यों कहते ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गाथोक्त वाल तपस्वीकी मासक्षमण तपस्या जिन आज्ञामें नहीं है इसी लिये उसे टीकाकारने अनाचरणीय कहा है और मूलगाथामें उसे जिनभाषित धर्मके सोलहवें अंशमें भी न होना बतलाया है । तथापि भ्रमविध्वसनकारने गाथोक्तबालतपस्वीकी मिथ्यादृष्ट युक्त तपस्याको वीतरागीकी आज्ञामें होना बतलाया है यह प्रत्यक्ष उक्तगाथा और उसकी टीकासे विरुद्ध है । यद्यपि अपनी बातको सत्य और शास्त्रानुकूल सिद्ध करनेके लिये भ्रमविध्वसनकारने यहाँ यह कल्पना की है कि “ मिथ्यादृष्टिमें सवर नहीं होता इसलिए उसे सब धर्मवाले पुरुषके सोलहवें अंशमें न होना इस गाथामें कहा है” तथापि उनकी यह कल्पना निराधार है इस गाथामें “सर” का नाम भी नहीं आया है यहाँ तो “स्वाख्यात धर्म” कहा गया है । स्वाख्यात धर्म वही है जो जिनवचनसे कहा हुआ है । उस जिनवर भाषित धर्मसे जो अन्य धर्म है, यानी जो जिनोक्त धर्म नहीं है उसे इस गाथामें जिनोक्त धर्मके

रहें अशमे न होना बतलाया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहा जिन भाषित का और जो धर्म जिन भाषित नहीं है उमका भेद बतलाया गया है, मंवर और निर्जरा विचार यहा नहीं किया है। अत इस गाथासे मिथ्यादृष्टिकी तपस्या बीतरागमे नहीं है हुई स्पष्ट सिद्ध होती है तथापि उसे आज्ञामे कायम करके मिथ्यादृष्टि अज्ञानीको समार्गका आराधक बतलाना सूत्रार्थ नहीं समझनेका परिणाम है।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसकार भ्र० पृ० पृष्ठ, १८ के ऊपर सुयगडाग सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी गालोचना करते हुए लिखते हैं कि—“इहा सूत्रमे तो कह्यो जे मासने छाडे भोगवे पिण या करे ते मायाथी अनन्त ससार भमे एनो मायाना फल कखा छै। पिण तपने खीटो प्रो नथी इहा तो तपने अपूटो विशिष्ट कह्यो ”आगे चलकर लिखते हैं कि “तिवारे कोई ई ए आज्ञा माहिंली करणी छै तो मोक्ष क्यू वजा तेहनो उत्तर—एहनो अह्ना ऊधी ते टे मोक्ष नथी पर मोक्षनो मार्ग वज्यौ नथी जे अव्रती सम्यग्दृष्टि दान सहित छै तेहने ग चारित्र विन मोक्ष नथी पर मोक्षनो मार्ग कहिए।” (भ्र० पृष्ठ १८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडाग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है। वह गाथा है—

“जइ विय णिगणे किसे चरे जइविय भुञ्जिय मासमन्तसो जे
ह मायाइमिज्जइ आगन्ता गवभाय णन्तसो ”

(सुयगंगांशु० १ अ० २ उ० १ गाथा ९)

अर्थ—

(जे इह मायाइ मिज्जइ) जो पुरुष माया यानी अनन्तानुबन्धी कथायासे युक्त मिथ्या-
है वह घरघर आदि सब प्रकारके बाह्य परिग्रहोंको छोड कर नङ्गा और छुन होकर चिचरे
मा मास नाम पर्यन्त उपवास करता हुआ उसके अन्तमें पारणा करे तो भी वह धामन्तकाल
क गर्भमें ही जाता है। अर्थात् उमका संसार घटता नहीं।

इस गाथामें कहा है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुष घर वार छोड कर नङ्गा और
होकर चिचरे और मास-मासकी तपस्या करके उमका अन्तमें पारणा करे तो भी वह
अन्त कालतक गर्भमासको ही प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्या-
दृष्टि अज्ञानीकी तपस्या बीतरागकी आज्ञामे नहीं है। यदि वह आज्ञामें होती तो उस

तपस्यासे संसारका अन्त न होकर अनन्त कालतक गर्भवास भोगना क्यों किया वीतरागसे कही हुई है उसका आचरण करनेवाला पुरुष कदापि अनन्त होता । यदि वीतराग भापित क्रियाके आचरण करनेपर भी संसारका अन्त न हो मोक्षार्थियोंके लिए कोई आश्रय ही नहीं रहता । अतः अष्टिके ज्ञानवाली क्रियाका आराधक मानना और उस क्रियाके करनेपर भी अनन्त की प्राप्ति कहना अज्ञानका परिणाम है ।

इस गाथामे मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको गर्भवासका कारण बतला कर उसे आज्ञा बाहर और मोक्षमार्गमे न होना बतलाया है । अतएव इस गाथा की गाथाका इससे सम्बन्ध मिलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि “यतो मिथ्यादिष्ट तपसाऽपि न दुर्गति मार्गं निरोधोऽनो मदुक्त एव मार्गं भाह ” इसका अर्थ यह है कि “मिथ्यादृष्टियोंसे उपदेश की हुई तपस्या दुर्गतिके नहीं रोक सकती इस लिए मेरे बताए हुए मार्ग (वीतराग भापित धर्म) में चाहिए यह उपदेश देनेके लिए अगली गाथा कहीं गई है । यह इस टीकाका इसमें मिथ्यादृष्टि अज्ञानियोंकी तपस्याको स्पष्ट रूपसे मिथ्यादृष्टियोंसे उपदेश बतलाया है वीतरागसे कही हुई नहीं कहा है इसलिए मिथ्यादृष्टिकी क्रिया स्पष्ट बाहर सिद्ध होती है । यदि यह मोक्ष मार्गमे होती तो उससे दुर्गतिका निरोध क्यों होता ? तथा उसे छोड़ कर फिर वीतराग भापित धर्ममे आनेकी भी क्या थी ? जबकि यह भी वीतराग भापित ही होती तो इसे छोड़ कर वीतराग भापित आनेके लिए इसकी आगेकी गाथामे क्यों कहा जाता ? अतः मिथ्यादृष्टिकी जिनोक्त धर्म और मोक्षमार्गमे न होना स्पष्ट सिद्ध होता है । तथापि इस गाथा अन्यथा तात्पर्य बतला कर भ्रमनिवृत्तिसनकारने यह भ्रम फैलाया है कि “तपस्या तो वीतरागकी आज्ञामे ही है पर मिथ्यादृष्टि मायाकरता है इसलिए अनन्त कालतक गर्भवास भोगना यहां कहा है ” यह इनका कथन नितान्त इस विरुद्ध है ।

इस गाथामे मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको मोक्षार्थी पुरुषोंसे सर्वथा त्यागने छानेके लिए उससे दुर्गति मार्गका निरोध न होना कहा है । यदि यह तपस्या मोक्ष में होती तो उसे छोड़नेके लिये आप्रह करनेकी क्या आवश्यकता थी । तथा मायाइ मिञ्जइ ” यह जो इस गाथामे वाक्य आया है उसका भी अर्थ यह नहीं है “जो पुरुष माया करता है ।” इसका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है कि “तीर्थिक मायादिना मीयते उपलक्षणार्थत्वात्कर्मयैर्युक्त इत्येव परिच्छिद्यते ” इसका

‘पुरुष मायां भादि यानी कयायोसे युक्तं कृद् कर वतलाया जाना है।’ यह है। वह मिथ्यादृष्टि है उस मिथ्यादृष्टि का निर्दोष करनेके लिए इस गाथामे “जे इह मायाइ इह” यह वाक्य आया है। अतः इस वाक्यका आश्रय लेकर मायाके कारण ससार-अनन्त न होना बतला कर मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको मोक्षमार्गमे कायम करना अज्ञान क है।

यदि मायाके कारण अनन्त कालक गर्भवास भोगना पड़े तो दशम गुण स्थान के जीवोंका भी अनन्त कालक गर्भवास भोगना मानना चाहिए। क्योंकि शास्त्रमे प्रगुण स्थान पर्यन्त कयायका होना बतलाया है परन्तु यह शास्त्र निरुद्ध है दशम स्थानवाले जीव कदापि अनन्त ससारी नहीं होते। अतः इस गाथाका नाम लेकर मायाके कारण अनन्त कालक गर्भवास भोगनेकी कल्पना करके मिथ्यादृष्टिकी तपस्याको तौक्त मोक्षमार्गमे कायम करना अज्ञानका परिणाम है।

चतुर्थ-गुणस्थानवाले अत्रती सम्यग्दृष्टिकी तरह अक्राम निर्जराकी क्रियां ने वाले पुरुषको मोक्षमार्गका आराधक कहना भी मिथ्या है। अत्रती सम्यग्दृष्टिमे ज्ञान रूप मोक्षका मार्ग है और वह असंख्य भ्रममे मोक्ष भी जाता है पर अक्राम निर्जरा क्रिया करनेवाले पुरुषमे ज्ञानदर्शन तथा चाग्रि रूप मोक्षमार्गका कोई भी अंश नहीं और वह अनन्त कालक ससारमे ही भ्रमण करता है इस लिये अत्रती सम्यग्दृष्टिकी ह अक्राम निर्जराकी क्रिया करने वालेको मोक्षमार्गका आराधक बतलाना एकान्त थ्या है।

बोल २४ वां)

(प्रक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमत्रिखसन पृष्ठ १९ के ऊपर भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“तथा वती मिथ्यात्वी त्रस जागते त्रमहणवारा त्याग कर तेहने सत्र न होवे ते टि दुप्पचस्साण कहीजे। पचक्काग नाम सवेर नो छै। तेहने सत्र नहीं ते भणी हना पचक्काग दुप्पचस्साण छै पिण निर्जग तो शुद्ध छै ते निर्जगरे लेखे निर्मल पच-साण छै”

(भ० पृ० १९) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्रका यह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है यह पाठ नेम्नलिखित है—

सेणूणं भन्ते ! सच्चपाणेहिं सच्चभूएहिं सच्चजीवेहिं
 सत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणस्स सुपच्चक्खाय भवइ दुप्पच्च
 भवति ? गोयमा ! सच्चपाणेहिं जाव सच्च सत्तेहिं पच्चक्खा
 वदमाणस्स सिय सुप्पच्चक्खायं भवति सिय दुप्पच्चक्खायं भ
 सेकेणद्वेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ सच्च पाणेहि जाव सिय दुप्पच्च
 भवति ? गोयमा ! जस्सणं सच्च पाणेहि जाव सच्च सत्तेहिं
 क्खाय मिति वदमाणस्स णो एवं अभिसमण्णागयं भवइ इमे
 इमे अजीवा इमे तसा इमे थावरा तस्सणं सच्च पाणेहिं जाव
 सत्तेहिं पच्चक्खाय मिति वदमाणस्स नो सुपच्चक्खायं भवति
 चक्खायं भवति । एवं खलुसे दुप्पच्चक्खाई सच्चपाणेहिं जाव
 सत्तेहिं पच्चक्खायमिति वदमाणे नो सच्चं भासं भासइ मोह
 भासइ एवं खलुसे सुसावाई सच्च पाणेहिं जाव सच्च सत्तेहिं
 विहं तिविहेणं असंजयविरयपडिहयपच्चक्खायपावकम्मे स
 असंबुडे एगंत दण्डे एगंत घाले घाविभवइ”

(भगवती शतक ७ उ०)

इसका अर्थ यह है—

(प्रश्न) हे भगवन ! जो पुरुष यह कहता है कि मेने सब प्राणियोंसे लेकर य
 सत्त्वोंके हननका त्याग कर दिया है उसका वह प्रत्याख्यान (मारनेका त्याग) सप्र
 होता है या दुष्प्रत्याख्यान होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! किसी किसीका प्रत्याख्यान सप्रत्याख्यान होता है औ
 किसीका दुष्प्रत्याख्यान भी होता है ।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जो यह कहता है कि हमने सब प्राणियोंसे लेकर यावत् सब
 का सारना छोड़ दिया है उसको यदि यह ज्ञान नहीं है कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये
 और ये स्थावर हैं, उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान होता है । इस प्रकार यह दुष्प्रत्य
 पुरुष “मुझे सब जीवोंके हननका त्याग है” यह कहता हुआ सत्य नहीं बोलता यह झूठ
 है यह तीन कारण और तीन योगसे मयमधारी, त्रिरतिपुक्त, पापोंका हनन और प्रत्य
 किया हुआ नहीं है । वह कायिकी आदि क्रियाओंसे युक्त सवर रहित प्राणियोंको पकान
 देनेवाला और पृकान्त बाल है ।

इस पाठमें, जिसको जीव अजीव त्रस और स्थावरका ज्ञान नहीं है उसको का-
 विकी आदि क्रियाओसे युक्त सवर गहित प्राणियोंको एकान्त दण्ड देनेवाला और एकात
 बाल फह कर उसके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान और उसे मिथ्यावादी कहा है।
 इमसे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुषकी प्रत्याखानादि क्रिया वीतगगकी आझास वाह्य और
 मोक्षका अमार्ग सिद्ध होती है। तथापि भ्रमविध्वसनकार भोले जीवोको भ्रममे डोलनेके
 लिये यह कहते हैं कि “मिथ्यादृष्टि भी त्रसको त्रस जानकर उसके हननका त्याग करता
 है परन्तु उसमे संवर नहीं होता इसलिये उमके प्रत्याख्यानको इम पाठमे दुष्प्रत्याख्यान
 कहा है” यह इनका कथन सर्वथा शास्त्रविरुद्ध है। जो पुरुष भ्रम जीवको त्रस जान कर
 उसके हननका त्याग करता है वह एकान्त बाल एकान्त प्राणियोंको दण्ड देनेवाला और
 एकान्त सवर गहित नहीं है किन्तु देशसे (त्रसक विषयमे) प्राणियोंको दण्ड न देनेवाला
 देशसे पण्डित और देशमे सवगधारी है इसलिये वह मिथ्यादृष्टि नहीं किन्तु सम्यग्दृष्टि है
 उसके प्रत्याख्यानको यहा दुष्प्रत्याख्यान नहीं कहा है क्योंकि उमका प्रत्याख्यान, अज्ञान
 पूर्वक नहीं है। जिसका प्रत्याख्यान अज्ञानपूर्वक होता है उमीके प्रत्याख्यानको यहा
 दुष्प्रत्याख्यान कहा है इसलिये जो त्रसको त्रस स्थावरको स्थावर नहीं जानना
 और झूठ ही कहता है कि मैंने जीवोंके हननका त्याग कर दिया है उस मिथ्यादृष्टि अज्ञा-
 नीके प्रत्याख्यानको दुष्प्रत्याख्यान कह कर उसे यहा आजा वाह्य होनेकी सूचना दी है।
 अत त्रसको त्रस जानकर उमके हननका त्याग करनेवाले पुरुषको मिथ्या ही मिथ्यादृष्टि
 कायम करके मिथ्यादृष्टिके प्रत्याख्यानको सुप्रत्याख्यान कहना एकात मिथ्या है।

भ्रमविध्वसनकार यहा यह भी कहते हैं कि “मिथ्यादृष्टिमे जो निर्जरा होनी है
 वह निर्मल है उसके हिसासे मिथ्यादृष्टिका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है” परन्तु यह इन
 की अपनी कल्पना है शास्त्रमे ऐसा कहीं नहीं कहा है कि मिथ्यादृष्टिका प्रत्याख्यान उस
 की निर्जराने हिसासे सुप्रत्याख्यान होता है। इसलिये इम पाठमें मिथ्यादृष्टिके प्रत्या-
 ख्यानको प्रत्यक्ष दुष्प्रत्याख्यान कहे जाने पर भी उसे अपने मतके आप्रहमे आकर सुप्र-
 त्याख्यान कहना प्रत्यक्ष उत्सृज भाषण और अप्रामाणिक है।

(बोल २५ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१ के ऊपर सुवर्गहाग सूत्र श्रुत० १ अ०.८
 गाथा तेइसवींको लिख कर उसकी ममालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ अठेतो इमि कह्यो—जे तत्वना अजाण मिथ्यात्वीनी जेतलो अशुद्ध परा-

क्रम छे ते सर्व ससारनो कारण छै । अशुद्ध करणीरो कथन इहां कइयो अने शुद्ध करणीरो कथनतो इहा चाल्यो न थी”

(भ० प० २१) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयोगडाग सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह गाथा यह है—

“जे याऽबुद्धा महाभाग वीरा असंमत्त दंस्तिणो
असुद्धं तेसिं परकृतं सफलं होइ सब्यसो”

(सुयोगडागसूत्र श्रुत० १ अध्ययन ८ गाथा २३)

इसका अर्थ यह है कि—

जो पुरुष सत्त्वार्थको नहीं जाननेवाले महाभाग (संसारमें पूजनीय) धीर और अत्यन्त दूरदर्शी (सम्यग् ज्ञानादि विकल) हैं उनके किये हुए तप अध्ययन और नियमादिरूप उद्योग सभी अशुद्ध और कर्मबन्धके ही कारण होते हैं ।

इस गाथामे मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुषोसे किये हुए तप अध्ययन आदि सभी पर लोका सम्यन्धी कार्य अशुद्ध और कर्मबन्धके कारण कहे गये हैं । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी क्रिया मोक्षमार्गमें नहीं है और उन क्रियाओका अनुष्ठान करनेसे वह मिथ्यादृष्टि पुरुष भी मोक्ष मार्गका आगधक नहीं है । यही बात दूसरे दूसरे दर्शन भी घतलाते हैं घृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है कि—

“योवा एतदक्षर गार्थविदित्वाऽस्मिल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते वहूनि वर्ष सहस्राण्यन्तवदेवास्यतद्भवति”

हे गार्गि ! जो अविनाशी—आत्माको बिना जाने इस लोकमें होम करता है यह करता है तपस्या करता है वह चाहे हजारों वर्ष तक इन क्रियाओंको करता रहे पर वह ससारके लिए ही हैं (घृहदारण्यक ३-९-३०) इसी तरह कठोपनिषद्में लिखा है कि—
“यस्त्वविद्वानवानभवत्यमनस्क सदाऽशुचि । नमतत्पद्माप्नोति ससारं चाधिगच्छति”
यस्तुविद्वानवान् भवति समनस्क सदा शुचि सतुतत्पद्माप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ।

(कठोपनिषद्)

अर्थात् जो ज्ञानी नहीं है वह ठीक-ठीक विचार नहीं कर सकता और वह मदा अपवित्र है वह मोत्र नहीं पा सकता प्रत्युत ससारमें ही भ्रमण करता रहता है । जो ज्ञानी है वह ठीक-ठीक विचार कर सकता है और वह मदा पवित्र है वह ऐसे पदको पाता है जिससे फिर कभी “मद नह” लौटना पड़ता ।

इस उल्लेखमें अज्ञानीको सदा अपवित्र बताया है। 'सदा' शब्द उनके तात्पर्य यह है कि अज्ञानी चाहे जब जो क्रियाएँ करे पर ज्ञानके अभाव होनेसे उसकी सब क्रियायें पवित्रताका कारण नहीं हो सकतीं वरन् अपवित्रताका ही कारण होती है।

इन उपनिषद्के वाक्योंमें जैसे मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी परलोक सम्बन्धी क्रियाओं की संसारका ही कारण कहा है ठीक उसी तरह सुयगडागसूत्रकी ऊपर लिखी हुई गाथामें भी कहा है अतः उक्त गाथासे मिथ्यादृष्टिकी क्रियाका मोक्ष मार्गमें न होना स्पष्ट प्रमाणित होता है तथापि मूढमतियोंको बहकानेके लिये जीतमलजीने लिखा है कि "मिथ्यात्वीनो जेतलो अशुद्ध पराक्रम छै ते सर्व समागनो कारण छै। अशुद्ध कर्णीरो कथन इहा कहाँ अने शुद्ध कर्णीरो कथन तो इहा चाट्यो न थी" यह गकान्त मिथ्या है। यहा मिथ्यादृष्टि अज्ञानियोंकी परलोक सम्बन्धी तपोदानाध्ययनादिरूप क्रियाओंको अशुद्ध और संसारका कारण कहा है पर उनके कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, सग्राम कुशील-आदि क्रियाओंका कथन नहीं है। ये क्रियाएँ चाहे मिथ्यादृष्टिकी हों या मन्मथदृष्टिकी हों संसारके लिये ही होती हैं इनसे मोक्षमार्गकी अराधना न होना प्रत्यक्ष सिद्ध है—अन इस गाथामें कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य और सग्राम कुशीलादि क्रियाओंका कथन नहीं है अतएव इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि "तपो वालाना यत्किमपि तपोदानाध्ययन नियमादिपुण्यकान्त सुयमरुत तद्विशुद्ध मविशुद्धिकारि" अर्थात् अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंका जो तपस्या, दान, अध्ययन और नियम आदिमें उद्योग होता है वह सभी अशुद्धिका ही कारण होता है यह इस टीकाका अर्थ है।

यहा टीकाकारने अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंका, तपस्या दान अध्ययन आदिमें जो उद्योग है उसको उक्त गाथामें अशुद्ध कहा जाना बतलाया है इसलिये उक्त गाथामें मिथ्यादृष्टियोंकी पारलौकिक क्रियाओंका कथन न मान कर कृषि वाणिज्य मंग्राम कुशलादि अशुद्ध क्रियाओंका कथन बतलाना मिथ्या है। इस गाथासे मिथ्यादृष्टियोंकी पारलौकिक क्रिया स्पष्ट रूपसे जित आज्ञा बाहर और मोक्षमार्गमें प्रयत्न सिद्ध होती है तथापि उसे मोक्षमार्गमें फायदा करना मिथ्यादृष्टियोंका कर्त्य है।

इस गाथामें मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी जित क्रियाओंको अशुद्ध और कर्म बन्धका कारण कहा है मन्मथदृष्टिकी उन्हीं क्रियाओंको इसके आगेकी गाथामें शुद्ध और कर्म-क्षयका हेतु कहा है। वह गाथा यह है—

“जेय बुद्धा महाभागा घोरा सम्मत्त दंसिणो सुद्धं तेसि पर
कान्तं अफल होइ सञ्चसो ”

अर्थात् जो पुरुष तत्त्वको जाननेवाले महा पूज्य कर्मको विचारण करनेमें समर्थ सम्यग्दर्शी है उनके तप, ज्ञान, अध्ययन और नियमादि सभी परलोक सम्बन्धी कार्य्य शुद्ध और कारण है ।

इस गाथामें सम्यग्दर्शी पुरुषके परलोक सम्बन्धी तप दान अध्ययन और नियम-दिरूप कार्य्यको शुद्ध और कर्मक्षयका कारण कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शी पुरुषोका ही परलोक सम्बन्धी कार्य्य मोक्षमार्गमें है मिथ्यादृष्टिका ली क्योंकि इसके पूर्व गाथामें मिथ्यादृष्टिके इन्ही कार्य्योंको अशुद्ध और कर्मबन्धका कारण कहा है परन्तु कईएक मिथ्यादृष्टि यह कहते हैं कि इस “ गाथामें सम्यग्दर्ष्टिकी शुद्ध यानी परलोक सम्बन्धी क्रियाओंका वर्णन है और इसकी पूर्व गाथामें मिथ्यादृष्टिकी अशुद्ध यानी सप्राम कुशीलादिको अशुद्ध कहा है इसलिये मिथ्यादृष्टिकी बालपत्या आदि पारलौकिक क्रियाएँ मोक्षमार्गमें ही हैं ” यह कहने वाले इन गाथाओंका भेद नहीं समझते । यदि इन दोनों गाथाओंका यही तात्पर्य्य हो कि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दर्ष्टि इन दोनों ही की तप अध्ययनादि क्रियाएँ शुद्ध हैं तो फिर यहा दो गाथा लिखने की आवश्यकता ही नहीं है केवल एकही जगह यह कह देते कि सप्राम कुशीलादि क्रियाएँ अशुद्ध और कर्मबन्धके कारण होती हैं । तथापि अलग अलग जो यहा दो गाथाएँ आई हैं उनका तात्पर्य्य सम्यग्दर्ष्टि और मिथ्यादृष्टिकी पारलौकिक क्रियाओंमें भेद दर्शाना है । वह भेद यही है कि मिथ्यादृष्टिकी तपोदानाध्यानादि पारलौकिक क्रियाएँ अशुद्ध और कर्मबन्धके कारण हैं क्योंकि वे अज्ञान तथा मिथ्यात्वपूर्वक की जाती हैं । और सम्यग्दर्ष्टि की ये ही क्रियाएँ शुद्ध और कर्मक्षयके कारण हैं क्योंकि वे सम्यग्ज्ञानके साथ की जाती हैं और यही बात दर्शानान्तर सम्मत भी है । अतः इन दोनों गाथाओंका अन्यथा तात्पर्य्य बनला कर मिथ्यादृष्टि अज्ञानीकी क्रियाको मोक्षमार्गमें ठहराना अज्ञानका परिमाण है ।

बोल २६ वां

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्र० पृष्ठ २७ के ऊपर लिखते हैं “ मिथ्यात्व छै जेहने तिनज मित्यात्वी कस्यो तेहने कतियक अद्वा सउली छै अने केई एक बोल ऊधा छै तिहा जे बोल ऊधा तेतो मिथ्यात्व अने जे केतला एक बोल सूउली अद्वा रूप छै ते प्रथम गुण ठाणो छै । मिथ्यात्वीना जेतला गुणते मिथ्यात्व गुण ठाणो छै ”

इसके आगे लिखते हैं—

“तिवारे कोई कहे प्रथम गुण ठाणे किस्सा बोल सबला छै । तेहनी उरार—जे मिथ्यात्वी गायने-गाय अद्दे मनुष्यने अनुष्य अद्दे दिनने दिन अद्दे सोनोने सोने अद्दे इत्यादि जे सउ ली अथा छै ते क्षयोपगम भाव छै ” (भ्र० पृ० २७-२८)

इसका क्या उत्तर—

(रूपक)

प्रथमगुण स्थानवाले मिथ्यादृष्टियोंमें जीवादि पदार्थोंकी एक भी शुद्ध श्रद्धा नहीं उनके सारे ही श्रद्धान विपरीत होते हैं । इसी लिए पहले गुणस्थानका नाम “मिथ्या गुणस्थान” रक्खा है । जिसमें मिथ्यादृष्टि यानी मिथ्यादर्शनरूपगुणकी स्थिति है प्रथम गुणस्थानका स्वामी है ।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादृष्टियोंमें कई पदार्थोंकी श्रद्धा सम्यक् होती है उस श्रद्धारूप गुणका भाजन होनेसे वे प्रथम गुण स्थानके स्वामी हैं । जैसे कि गायको गाय मनुष्यको मनुष्य, सोनाको सोना श्रद्धते हैं इनकी ये श्रद्धाएँ सम्यक् हैं तो यह मिथ्या है मिथ्यादृष्टियोंके सभी ज्ञानोंमें कारण विपर्यय स्वरूप विपर्यय और सम्बन्ध विपर्यय बने रहते हैं इनके बने रहनेसे उनका समी पदार्थों का ज्ञान विपरीत ही होता है सम्यक् नहीं होता । उक्त तीन विपर्ययोंका स्वरूप यह है—

जिम पदार्थका जो कारण नहीं है उसका वह कारण जानना “कारण विपर्यय” कहलाता है । जैसे घटपटादि रूपी पदार्थ रूपान् पुद्गलोंसे बने हैं तथापि कई एक उन्हें अज्ञानसे बना हुआ बतलाते हैं उनका घटपटादि ज्ञान कारण विपर्यय होनेसे अज्ञान तथापि वे घटपटादि घटपट कह कर ही बतलाते हैं तथापि उनका घटापटादि ज्ञान पूर्वोक्त प्रकारसे अज्ञान है ।

जिस वस्तुका जैसा स्वरूप नहीं है उसका वैसा स्वरूप मानना “स्वरूप विपर्यय” कहलाता है । जैसे घटपटादि पदार्थ कथचिन्नित्य और अनित्य हैं तथापि उन्हें कई एक एकान्त नित्य और कई एकान्त अनित्य बतलाते हैं उनका घटपटादि ज्ञान स्वरूप विपर्ययके कारण अज्ञान है । कारण और कार्यका परस्पर जो सम्बन्ध है उसे न माननेसे विपरीत सम्बन्ध समझना “सम्बन्ध विपर्यय” कहलाता है जैसे घट और पटाके कारणका कथचित् भेदाभेद सम्बन्ध है उसे न मानकर कई इनमें एकान्त भेद और एकान्त अभेद सम्बन्ध मानते हैं इसलिए उनका घटादिज्ञान, सम्बन्ध विपर्ययके कारण अज्ञान है । इस प्रकार मिथ्यादृष्टियोंका ज्ञान, कारण विपर्यय, स्वरूप विपर्यय और सम्बन्ध विपर्यय रूप मिथ्यात्वसे युक्त होनेके कारण अज्ञान है सम्यग्ज्ञान नहीं है । मिथ्यादृष्टिके घटपटादि ज्ञानको सम्यक् श्रद्धारूप बतलाना एकान्त मिथ्या है ।

अब प्रश्न यह होता है कि मिथ्यादृष्टिमें थोड़ी भी सम्यक् श्रद्धा नहीं है तो वह स्थानमें कैसे गिना गया है ? तो इसका उत्तर यह है कि सम्यक् श्रद्धाको लेकर घटपटादि गुणस्थान नहीं कहे हैं किन्तु कर्म विशुद्धिका उत्कर्ष और अपकर्षको लेकर कहे गये

है इसलिए सम्यक् श्रद्धा न होनेपर भी मिथ्यादृष्टि जीव, गुणस्थानमें गिना जाता जिसमें कर्मकी विशुद्धि सबसे निकृष्ट है वह पुरुष प्रथम गुणस्थानका स्वामी है ज्यों ज्यों कर्मोंकी विशुद्धि होती जाती है त्यो त्यों जीव उन्नति करता हुआ स्थानोंका स्वामी होता जाता है। मिथ्यादृष्टि पुरुषमें जो मिथ्यादर्शन और मिथ्या है वह कर्मकी विशुद्धिमें है उसीको लेकर वह प्रथम गुणस्थानमें गिना गया है। सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। अतः मिथ्यादृष्टिमें झूठ ही सम्यक् श्रद्धाका कर उसके सबसेसे उसे प्रथम गुणस्थानमें कायम करना अज्ञान मूलक है।

समवायाग सूत्रके मूल पाठमें कर्म विशुद्धिके उत्कर्ष और अपकर्षका के चौदह गुणस्थान बतलाए हैं सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। वह पाठ यह है—

‘कम्मविसोहिमगणं पडुच्च चउदस जीव ठाणा
तंजहा—मिच्छदिट्ठो, सासायणसम्मदिट्ठो, सम्ममिच्छदिट्ठो
अखिरत सम्मदिट्ठो, विरयाविरए, पमत्तसंजए, अपमत्तसंजए, नि
श्रियायरे, अनियट्ठियायरे, सुहुमसंपराए, (उपसमएवा खबएवा
उवसन्त मोहे, खीण मोहे, सयोगी केवली अयोगी केवली’

(समवायाग सूत्र सू० ४)

अर्थात् कर्मकी विशुद्धिकी गोपणा यानी उत्कर्ष और अपकर्षका विचार करके के जीवोंके स्थान (भेद) कहे हैं।

वे ये हैं—(१) मिथ्यादृष्टि, (२) सात्यादन सम्यग्दृष्टि, (३) सम्यक् मिथ्यादृष्टि, अखिरत सम्यग्दृष्टि, (५) विरताविरत, (६) प्रमत्त संयत, (७) अप्रमत्त संयत, (८) श्रावदर, (९) अनियट्ठियावदर, (१०) सूहम संपराय (यह उपसमक और क्षपक दो है) (११) उपसान्त मोह, (१२) क्षीण मोह (१३) सयोगी केवली (१४) अयोगी केवली।

यहां समवायाग सूत्रके मूलपाठमें कर्म विशुद्धिके उत्कर्षापकर्षके विचारसे गुणस्थानोंका कहा जाना बतलाया है सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं। इसलिए सम्यक् लेकर गुण स्थानोंका कथन बतलाना मिथ्या है। यहां जो कर्मकी विशुद्धि कही गयी वह कर्मों का क्षयोपशम रूप है मिथ्यादृष्टि पुरुषका जो मिथ्यादर्शन और मिथ्या ज्ञान वह क्षयोपशम भावमें है इस लिये मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञानको लेकर मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थानमें कहा गया है। मिथ्यादर्शनका क्षयोपशमभावमें होना अनुयोग सूत्रमें कहा है। यह पाठ यह है—

“खओवसमिआ मइअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ
सुयअण्णाणलद्धी, खओवसमिआ विभंगअण्णाणलद्धी, खओवस

आ चक्षुदंसणलद्धी, खओवसमिआ अचक्षुदंसणलद्धी
 हिदंसणलद्धी, एवं सम्मदंसणलद्धी, मिच्छादसणलद्धी, सम्म-
 च्छादंसणलद्धी, एवं पण्डियवीरियलद्धी, बालपण्डिय वीरियलद्धी
 ओवसमिआ सोइन्दियलद्धी, जाव खओवसमिआ पासेन्दिय
 लद्धी ”

(अनुयोग द्वार सूत्र)

इसका अर्थ यह है—

मति अज्ञानलब्धि, श्रुतअज्ञानलब्धि, विमद्ग अज्ञान लब्धि, चक्षुदंसण लब्धि, अचक्षु
 लब्धि, अवधिदर्शन लब्धि, सम्यग्दर्शन लब्धि, मिथ्यादर्शन लब्धि, सम्यक् मिथ्यादर्शन
 लब्धि, पण्डित धीर्ष्य लब्धि, बालपण्डित धीर्ष्य लब्धि, श्रोत्रेन्द्रिय लब्धि,
 चक्षुस्पर्शेन्द्रिय लब्धि, ये सब अपने अपने आवरण कर्मों के क्षयोपशम होनेसे उत्पन्न होती
 अतः ये क्षयोपशमिक कहलाती हैं।

यह मिथ्यादर्शन लब्धि, और मतिअज्ञानादिकको क्षयोपशमसे उत्पन्न होना कहा
 है। इसलिये मिथ्यादृष्टि पुरुषका मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान क्षयोपशमिक भावसे है उन
 को लेकर वह प्रथम गुण स्थानमें गिना जाता है किसी सम्यक् श्रद्धाको लेकर नहीं।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादर्शन लब्धि क्षयोपशमसे उत्पन्न होती है तो इसे वीतर-
 रागकी आज्ञामे क्यों नहीं मानते ? तो इसका समाधान यह है कि क्षयोपशमसे उत्पन्न
 होने मात्रसे कोई पदार्थ वीतरागकी आज्ञामे नहीं हो जाता। क्योंकि मति आज्ञान लब्धि
 अज्ञान लब्धि, और विमद्ग अज्ञान लब्धि क्षयोपशमसे ही उत्पन्न होती हैं तथापि,
 त्यागने योग्य होनेसे ये वीतरागकी आज्ञामे नहीं हैं उसी तरह मिथ्यादर्शन लब्धि भी
 त्यागने योग्य होनेसे वीतरागकी आज्ञामे नहीं है।

मति अज्ञानादिक और मिथ्यादर्शन त्यागने योग्य है यह आवश्यक सूत्रमें कहा
 है। वह पाठ यह है—

“ मिच्छत्तं परियाणामि सम्भत्तं उवसंप्वज्जामि, अन्नाणं
 परियाणामि नाणं उवसंप्वज्जामि ”

अर्थात् साधु प्रतिज्ञा करता है कि मैं मिथ्यात्व और अज्ञानको छोड़ कर सम्यक्त्व और
 सार ज्ञानका आश्रय लेता हूँ।

इस पाठमें मिथ्यात्व और अज्ञानको त्यागने योग्य कहा है अतः जैसे अज्ञान,
 क्षयोपशमिक भावमें होने पर भी आज्ञामे नहीं है उसी तरह मिथ्यादर्शन भी त्यागने
 योग्य होनेके कारण आज्ञामे नहीं है।

यदि कोई कहे कि मिथ्यादर्शन लब्धि, क्षयोपशमसे उत्पन्न होती है । कर्मबन्ध क्यों होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि क्षयोपशमसे उत्पन्न भी कर्मबन्धके कारण होते हैं । जैसे कि बालवीर्य्य लब्धि क्षयोपशमसे ही उत्पन्न है पर वह सांसारिक आरम्भादि कार्यों में प्रयुक्त होनेसे कर्मबन्धका कारण उसी तरह अज्ञान और मिथ्यादर्शन क्षयोपशमसे उत्पन्न होकर भी विपरीत लगे हुए होनेसे कर्मबन्धके ही कारण होते हैं अतः जो लोग यह कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि, (मिथ्यादर्शन) क्षयोपशमभावमें है और क्षयोपशमभाव कर्मबन्धका नहीं होता इसलिये मिथ्यादृष्टि गुण स्थान वीतरागकी आज्ञामें है वे मिथ्यावादी हैं ।

[बोल २७ वां समाप्त]

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३१ के ऊपर भगवती सूत्र शतक ९ का मूलपाठ लिख कर उमकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—“अथ इहा असोक केवलीने अधिकारे इम क्खू—जे कोई बालतपस्वी साधु श्रावक पासे धर्मसुण्या किं वेले वेले तप करे, सुख्य साहमी आतापना लेने ते प्रकृति भद्रिक विनीत उपजान्त स्वप्न पतला क्रोध, मान, माया, लोभ, मृदुकोमल अहङ्कार रहित एहवा गुण क्ख्वा ए गुणसु छै के अशुद्ध छै, ए गुण निरवद्य छै के सावद्य छै ” (भ्रम० पृ० ३२)

इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि असोका केवलीके अधिकारमें उक्त बाल तपस्वी के प्रकृति भद्रकतादिक गुण और तपस्या वीतरागकी आज्ञामें कही है आज्ञा शहर नहीं । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ९ उद्देशा १ का मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह पाठ यह है—

“ तस्सणं छट्ठं छट्ठेणं अणिकिखरोणं तवोपरुमेणं उड्डहं
वाहाओ पगिज्झय सराभिमुहस्स आयावण भूमिय
आयावेमाणस्स पगहभदयाए पगहउवसन्तयाए पगहपतणुकोह
माण माया लोभयाए मिउमइव सम्पन्नयाए अल्लीणयाए भदयाए
विणोययाए अन्नया कयाइ सुभेणं अज्झवसाएणं सुभेणं परिणामेणं
लेस्साहिं विसुज्जमणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्माणं खओवसमेणं
ईहापोह मग्गणं गवेसणं करेमाणस्स विभंगे नाम अन्नाणे समुपज्जह

नेणंतेणंविभगनाणममुप्पन्नेणंजहन्नेणंअंगुलस्सअसंखोज्जाइ भागं उक्को-
 नेणं असंखोज्जाइ' जोयण सहस्साइ' जाणइ पासइ सेणंतेणं विभंग-
 णेणं समुप्पन्नेणं जीवेविजाणइअजीवेवि जाणइ पासंडट्ये सारंभे
 त्परिग्गहे संकिलिस्समाणेविजाणइ सेणं पुव्वामेव समूमत्तं पडिवज्जइ
 समणघम्मं रोएइ चरित्तं पडिवज्जइ लिंभंपडिवज्जइ”

जो जीव, केवली आदिके वाक्यको सुने निना सम्यक्त्वसे लेकर केवल ज्ञानतक
 गम करता है उसे जिस प्रकार सम्यक्त्वसे लेकर केवल ज्ञानकी प्राप्ति होती है वह इस
 गठमे कहा है। इसका अर्थ यह है—

जो जीव, दो दो दिनकी लगातार तपस्या करता हुआ सूर्यके सम्मुख अपनी भुजाओं को
 उठा कर आतापन भूमिमें आतापना लेता है उसकी स्वाभाविक भद्रता, शान्ति, स्वाभाविक शोध,
 मान, मायात्मिकी अल्पता, मृदुता, विनीतता, इन्द्रियनिग्रह इन गुणोंसे, किसी समय शुभ
 अध्यवसाय, शुभपरिणाम और शुद्ध ऐश्याओं से विभङ्ग ज्ञानावरणीय कर्मका क्षयोपशम होता है।
 और विभग ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशम होनेसे वह जीव घन्तुम्यरूपको जाननेकी चेष्टा करता है
 और उम चेष्टाके विपक्ष बानी घाघक घन्तुको हटा देता है पश्चात् घन्तुओंके सजातीय और
 विजातीय धर्मकी आलोचना करते हुए उस जीवने विभग नामक अज्ञान पैदा होता है उस विभग
 अज्ञानके प्रभावसे वह जीव जघन्य अगुलिके अर्थात् अभागको और उत्कृष्ट अमल्य हजार योजन
 तक पदार्थों को जानता और देखता है। वह जीवाने भी जानता है और अजीवोंको भी जानता
 है प्रवधारियोंको भी जानता है और आरम्भ परिग्रह घालोंको भी जानता है। जो पुण्य आरम्भी
 और परिग्रही है उनको बहुत ज्यादा अशुद्ध और थोडा शुद्ध भी जानता है वह धारित्र प्राप्तिसे
 पहले सम्यक्त्वको प्राप्त करता है तब पीछे धर्मग धमको पसन्द करता है पश्चात् धारित्र प्राप्ति
 करके लिंभको ग्रहण करता है।

इस मूलपाठम, बालतपस्या, प्रकृति—भद्रकता, शान्ति, विनीतता, शुभ अध्य-
 वसाय, शुभ—परिणाम और विशुद्धलेइयासे विभग ज्ञानके आवरणीय कर्मों का क्षय हो
 कर मिथ्यादृष्टिको विभग ज्ञानकी प्राप्ति और विभग ज्ञानसे जीवाजीवादि पदार्थों
 का ज्ञान होकर सम्यक्त्वकी प्राप्ति घटलाई है। इससे सिद्ध होता है कि विभंग ज्ञान
 सम्यक्त्वकी प्राप्तिना साक्षात् कारण है और प्रकृति भद्रकतादि गुण तथा शुभ परिणाम
 और विशुद्ध लेइया परम्परा कारण हैं। एसी दशामें सम्यक्त्वकी प्राप्तिके कारण होनेने
 मिथ्यादृष्टिकी प्रकृति भद्रकता आदि गुण, तथा बाल तपस्याको कोई धीतरागकी आज्ञामें
 घनावे सो सत्रसे पहले उसे विभग ज्ञानको धीतरागकी आज्ञामें मानना होगा। क्योंकि

विभङ्ग ज्ञान सम्यक्त्व प्राप्तिका साक्षात् कारण यहा कहा है । यदि विभङ्ग ज्ञानको वीतरागकी आज्ञामे नहीं मानते तो बाल तपस्या और बाल तपस्वीके पूर्णतः गुणोको भी आज्ञामे नहीं मान सकत क्योकि जत्र सम्यक्त्वकी प्राप्तिका साक्षात् कारण विभङ्ग ज्ञान वीतरागकी आज्ञामे नहीं है तत्र परम्परा कारण प्रकृति भद्रकृतादि गुण क्यों क आज्ञामे हो सकते हैं ? अतः सम्यक्त्व प्राप्तिके परम्पराकारण बाल तपस्या आदिको वीतरागकी आज्ञामे कहना अज्ञानमूलक है ।

यदि कोई विभङ्ग ज्ञानको भी वीतरागकी आज्ञामे बनाये तो उसे कहना चाहिये कि अज्ञान आज्ञामे नहीं होता । विभङ्ग ज्ञान अज्ञान है इसलिये वह आज्ञामे नहीं है । आवश्यक सूत्रमे कहा है कि “अत्राण परियाणामि नाण उजसपवज्जामि” अर्थात् सगु प्रतिज्ञा करता है कि मैं अज्ञानको छोड कर ज्ञानको प्राप्त करता हू । यहा अज्ञानको त्यागने योग्य कहा है इसलिये वह आज्ञामे नहीं है ।

भगवतीके उक्त मूलपाठमे “लेस्साहिं विसुज्जमाणी हिं” यह पाठ आया है । इस मे विशुद्ध लेश्याका कथन हुआ है इसे देख कर कई यह कहते हैं कि “उक्त लेज्या वीतरागकी आज्ञामे है क्योकि वह विशुद्ध कही गई है” उनसे कहना चाहिये विशुद्ध होनेसे लेज्या आज्ञामे नहीं हो जाती । भगवती शतक १३ उद्देशा १ मे नील लेज्या भी विशुद्ध कही है परन्तु वह वीतरागकी आज्ञामे नहीं है उसी तरह भगवतीके उक्त मूलपाठमें कही हुई मिथ्यादृष्टिकी विशुद्ध लेज्या भी आज्ञामे नहीं है । कृष्णलेज्यासे नील लेज्या विशुद्ध कही है वह पाठ यह है—

“सेनूणं भन्ते ! कणहलेसे जाव सुकलेसे भवित्ता कणहलेसेसु
नेरइएसु उववज्जन्ति ? हंता गोयमा ! कणहलेसे जाव उववज्जन्ति ।
सेकेणट्टेणं भन्ते ! एवं चुचइ कणहलेसे जाव उववज्जन्ति ? गोयमा ।
लेस्साठाणेसु संकिलिस्समाणेसु कणहलेस्सं परिणमइ से कणहलेसेसु
नेरइएसु उववज्जन्ति सेतेणट्टेणं जाव उववज्जन्ति । सेनूणं भन्ते ।
कणहलेसे जाव सुकलेसे भवित्ता नीललेसेसु नेरइएसु उववज्जन्ति ?
हता गोयमा ! जाव उववज्जन्ति । सेकेणट्टेण जाव उववज्जन्ति ?
गोयमा ! लेस्सा ठाणेसु संकिलिस्समाणेसु विसुज्जमाणेसु नीललेस्सां
परिणमइ नील लेसेसु नेरइएसु उववज्जन्ति । सेतेणट्टेणं गोयमा ?”

(भगवती शतक १३ उद्देशा १)

इसका अर्थ इस प्रकार है—

(प्रश्न) हे भगवन् ! कृष्णलेश्यामे लेकर यावत् शुक्ललेश्यावाले जीव, कृष्णलेशी नरक योनिमें क्या उत्पन्न होते हैं ?

(उत्तर) हा होते हैं ।

(प्रश्न) ऐसा क्यों होता है ?

(उत्तर) लेश्या स्थानके संविलस्यमान होन पर जीवको कृष्णलेश्याका परिणाम होता है और ये कृष्णलेशी होकर कृष्णलेश्या वाली नरक योनिमें उत्पन्न होते हैं ।

हे भगवन् ! कृष्णलेश्यामे लेकर यावत् शुक्ल लेश्या वाले जीव, नीललेशी होकर नील लेश्यावाली नरक योनिमें क्या उत्पन्न होते हैं ?

(उत्तर) हा गोतम ! होते हैं ।

(प्रश्न) ऐसा क्यों होता है ?

(उत्तर) लेश्या स्थानके संविलस्यमान और विशुद्ध होनेसे जीवोंको नील लेश्याका परिणाम होता है और ये नीललेशी होकर नील लेश्यावाली नरकयोनिमें उत्पन्न होते हैं ।

इस मूलपाठमे कृष्ण लेश्याकी अपेक्षा नील लेश्याको विशुद्ध कहा है तो भी वह वीतरागकी आज्ञामें नहीं है उसी तरह भगवती सूत्र शतक ९ उद्देशा १ के मूलपाठमे कही हुई बाल तपस्वीकी विशुद्ध लेश्या भी वीतरागकी आज्ञामे नहीं है । अतः बाल तपस्वीकी विशुद्ध लेश्या और उसके मिथ्यात्व युक्त प्रकृति भद्रकता आदि गुणोंको वीतरागकी आज्ञामें ठहराना अप्रामाणिक है ।

[बोल २८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार पृष्ठ ३३ के ऊपर लिखते हैं—

“बली ईहापोहमगण गवेसण करे माणस्स” ए पाठ कहा ईहा कहिता भला अर्थ जाणवा सम्मुख थयो अपोह कहिता धर्मध्यान वीजा पक्षपात रहित मगण कहिता समुच्चय धर्मनी आलोचना गवेसण कहिता अधिक धर्मनी आलोचना प्रथम गुण ठायें कही ते धर्मनी आलोचनाने अनेधर्मध्यानने आज्ञा बाहरे किम कहिए एतो प्रत्यक्ष आज्ञामाहि छै” इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ९ उद्देशा १ के मूल पाठमे आये हुए “ईहा” ‘अपोह’ ‘मागण’ और ‘गवेसण’ शब्दना भ्रमविध्वसनकारने अशुद्ध अर्थ किया है । टीकानुसार इन शब्दों का अर्थ यह है “ईहा सदर्याभिमुखा ह्यानचेष्टा, अपोहस्तु विपक्षनिरास, मार्गणत्वान्वय धर्मालोचनम्, गवेसणश्च व्यतिरेक धर्मालोचनम्,”

अर्थात् वस्तुस्वरूपको जाननेकी चेष्टा करनेका नाम “ईहा” है। और उस वाधक कारणको हटा देना ‘अपोह’ है। और अन्वयधर्म (सजातीय धर्म) की आलोचना करनेका नाम ‘मार्गण’ है तथा व्यतिरेक धर्म (विजातीय धर्म) की आलोचना करना, ‘गवेषण कहलाता है। यह उक्त टीकाका अर्थ है।

इस टीकामें ‘मार्गण’ शब्दका सजातीय धर्मकी आलोचना करना, और ‘गवेषण’ शब्दका विजातीय धर्मकी आलोचना करना अर्थ बतलाया है वीतराग भाषित धर्म और चारित्र रूप धर्मकी आलोचना करना अर्थ नहीं कहा है इसलिये मार्गण शब्द वीतराग भाषित धर्मकी आलोचना और गवेषण शब्दका अधिक धर्मकी आलोचना बतलाना एकान्त मिथ्या है। भ्रमविध्वंसनकारने जो भगवती शतक ९ उद्देशा १ में उक्त मूलपाठके नीचे टब्बा अर्थ लिखा है वह भी टीका विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है।

(बोल २९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३४ पर लिखते हैं कि “इहा कस्यो आर्तं ध्यान वर्जे और धर्मशुक्ल ध्यान ध्यावे ए शुक्ल लेश्याना लक्षण षड्हा । ते शुक्ल ध्यान तो ऊपर ले गुण ठाणे पावे छै अने प्रथम गुण ठाणे शुक्ल लेश्यावर्ते ते वेला आर्तं ध्यान तो बज्यो छै अने धर्म ध्यान पावे छै । (भ्रमविध्वसन पृ० ३४) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम गुण स्थानके स्वामी मिथ्यादृष्टि पुरुषोमें शुक्ललेश्या तो पाई जाती है पर वीतराग भाषित धर्म ध्यान नहीं पाया जाता। वीतराग भाषित धर्म ध्यान, श्रुत धर्म और चारित्र धर्मके होने पर ही होता है। मिथ्यादृष्टिमें श्रुत चारित्र धर्म नहीं होता अतः उसमें वीतरागभाषित धर्म ध्यान भी नहीं होता। ठाणाङ्ग सूत्रके मूलपाठमें चार ध्यानों का वर्णन किया है वहा टीकाकारने श्रुत और चारित्र धर्म वालेको ही धर्मध्यान बतलाया है मिथ्यादृष्टिको नहीं वह टीका मूलपाठके साथ लिखी जाती है।

“चत्तारि क्षाणा पण्णत्ता—अट्टे क्षाणे रोहे क्षाणे धम्मे क्षाणे सुक्खे क्षाणे”

इसकी टीका यह है—

(ठाणाङ्ग ठाणा ४)

“तत्र ऋत दुःख तस्य निमित्तं तत्रवा भवम् ऋते पीडिते भव मार्तं ध्यानं इडोऽन्य-
पसाय । हिंसायति क्रौर्च्यानुगत रद्रम् । श्रुतचरणधर्माद्रनपेत धर्म्यम् । शोधयत्यष्ट
प्रकारं कर्ममलं शुचवाक्लमयतीति शुक्लम्”

अर्थात् जो ध्यान, दुःसका कारण अथवा दुःस होने पर होता है वह “आत्त-
न कहलाता है। और जो हिंसा आदि अनिकूरताके साथ होता है उसे “रुद्र ध्यान”
कहते हैं। तथा जो ध्यान श्रुत और चारित्र रूप धर्मके साथ होता है उसे “धम्मध्यान”
कहते हैं। एव जो आठ प्रकारके कममलोंको दूर करता है या शोकको हटाता है उसे
“मुक्लध्यान” कहते हैं।

यहा टीकाकारने स्पष्ट कहा है कि—जो ध्यान श्रुत और चारित्रधर्मके साथ होता
है वही धम्म ध्यान है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टि पुरुषमें धम्म ध्यान
होता क्योंकि उसमें श्रुत और चारित्र धर्मका सबथा अभाव है। अतः प्रथम गुण
ज्ञानमें धम्म ध्यानका सद्भाव बतलाना शास्त्रविरुद्ध है।

इसी जगह धर्मध्यान करने वाले पुरुषका लक्षण बतलानेके लिए आगाङ्ग सूत्रमें यह
कहा आया है—

**धम्मस्सणं आणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता तंजहा—आणा-
रुद्धं गिसग्गरुद्धं सुत्तच्छ ओगाडरुद्धं”**

(आगाङ्ग)

इसकी टीका यह है—

“आणाङ्ग” त्ति आज्ञासूत्रव्यारयान नियुक्त्यादि तत्र तयाया रुचि श्रद्धानम
आज्ञा रुचि एवमन्यत्रापि, नवर निमर्गं स्वभाजोऽनुपदेशं स्तेन, तथा सूत्रम् आगम तत्र
तस्माद्वा तथा अवगाहनं भवगाढं द्वादशाङ्गावगाहो विस्तराधिगम इति सभाव्यते तेन रुचि
अथवा ‘ओगाढ’ त्ति साधु प्रत्यासन्नीभूतस्तस्य साधुपदशा द्रुचि उक्तञ्च—“आगम उर
एसेण निसग्गाओ ज जिगप्पणीयाण भावाण सदहणं धम्मज्जागस्स त लिनी” तत्त्वार्थ
श्रद्धान रूपं धर्मस्य लिङ्गमिति हृदयम्”

इस टीकाका यह अर्थ है—वीतराग भाषित सूत्रोंके व्याख्यानस्वरूप नियुक्ति
आदिको आज्ञा कहते हैं (१) उसमें रुचि रखना, या उसके अध्ययन करनेसे धर्ममें रुचि
उत्पन्न होना, (२) स्वभावसे ही वीतराग भाषित धर्ममें रुचि होना, (३) वीतराग भा-
षित सूत्रोंमें रुचि होना या उनके पढ़नेसे धर्ममें रुचि होना, (४) द्वादशाङ्गमें प्रवेश होने
से रुचि होना, या निरुद्वर्ता साधुके उपदेशसे धर्ममें रुचि होना, ये चार धर्मध्यानके
लक्षण हैं। किन्ती आचार्योंने भी कहा है आगमके उपदेशमें अथवा स्वभावसे जित
भाषित धर्ममें श्रद्धा रखना धर्मध्यानी पुरुषका लक्षण है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वार्थ
श्रद्धान रूप सम्यक्त्व, धर्मध्यानका लक्षण है।

यहा मूलपाठ और उसकी टीकामे तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यक्त्वको धर्मध्यानका लक्षण कहा है वह तत्त्वार्थ श्रद्धान मिथ्यादृष्टि जीवमे नहीं होता इसलिये मिथ्यादृष्टिमें धर्मध्यान बतलाना उक्त मूलपाठ और उसकी टीकासे विरुद्ध है।

यदि कोई कहे कि उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३४ की ३१ वीं गाथामें धर्मध्यान होना शुक्ललेइयाका लक्षण कहा है और शुक्ललेइया मिथ्यादृष्टिमें भी पाई जाती है फिर उसमे धर्मध्यान क्यों नहीं होता ? तो इसका उत्तर यह है कि उत्तराध्ययन सूत्रकी उस गाथामें विशिष्ट शुक्ल लेइयाका लक्षण कहा है जो कि सयमी पुत्रपौमें पाई जाती है सामान्य शुक्ललेइयाका नहीं। यह बात उस गाथा और उसकी टीकासे स्पष्ट ध्यानमें आ जावेगी इसलिए यहा वह लिखी जाती है—

“अद्वरुद्वाणि वल्लित्ता धम्मसुक्काड ध्यायए
पसंत चित्ते दंतप्पा समिए गुत्तेय गुत्तिस्सु”
सरागे वीय रागेवा उवसंतं जिएन्दिए
एय जोग समाउत्तो सुक्कलेस्संतुपरिणमे”

(उत्तराध्ययन अ० ३२ गाथा ३१-३२)

जो पुरप आर्तद ध्यानको त्याग कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है तथा अपन चित्त और इन्द्रियको घसमें रखते हुए समितिते युक्त है। जिसने मनोगुप्ति आदिके द्वारा अपने समस्त व्यापारको रोक लिया है वह चाहे सरागी हो भीतरागी हो या इनसे अन्य उपशान्त और जितेन्द्रिय हो वह शुक्ललेइयाको प्राप्त होता है। यह ऊपर लिखी हुई गाथाओका अर्थ है।

इनमे कहे हुए शुक्ललेइयाके लक्षण विशिष्ट शुक्ल लेइयाके हैं सामान्य शुक्ललेइया के नहीं अतएव इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि “विशिष्ट शुक्ल लेइयापेअ-यैव लक्षणाभिधान मिति न देवादिभिर्व्यभिचार”

अर्थात् इन गाथाओमें विशिष्ट शुक्ललेइयाके लक्षण कहे हैं इसलिये शुक्ललेइया देवताओमें गाथोक्त लक्षणोके न मिलने पर भी कोई दोष (व्यभिचार) नहीं है। यहा टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि गाथोक्त लक्षण विशिष्ट शुक्ललेइयाके हैं सामान्य शुक्ललेइया के नहीं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ये लक्षण सयमधारी विशिष्ट शुक्ललेइया मुनियोंकी शुक्ललेइयाके हैं सामान्य शुक्ललेइयाके नहीं तथापि यदि कोई इस टीकाको प्रमाण न मान कर सभी शुक्ललेइयाओका गाथोक्त लक्षण बनाये तो उससे कहना चाहिये कि इन गाथाओमें शुक्ललेइयाके लक्षण शुद्ध ध्यान, समिति गुप्ति, मयसावद्य योगोका परित्याग भी कहे हैं इन्हे भी प्रथम गुण स्थानमें तुम क्यों नहीं मानते ? यदि कहे कि शुद्ध ध्यान आदि

तो गाधामे शुद्धेश्वाके लक्षण बताये हैं वे सब ऊपरके ही गुणस्थानोमें पाये जाने हैं वरुं गुण स्थानमें नहीं, तो उसी तरह धर्मध्यान भी ऊपरके ही गुणस्थानोंमें पाया जाता है प्रथम गुणस्थानमें नहीं, ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि गाधामे कहे हुए और सब लक्षण तो ऊपरके गुणस्थानोंमें ही पावे मगर एक धर्मध्यान प्रथम गुणस्थानमें भी पावे अत उत्तमध्ययन सूत्रकी उक्त गाथाओका नाम लेकर मिथ्यादृष्टिमें धर्मध्यान जलाना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ३० वां)

(प्रेरक)

भ्रमविचसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३४ के ऊपर लिखते हैं कि “जिम एक तालाव नो पाणी एक घडो ब्राह्मण भर ले गयो अने एक घडो भगी भर ले गयो । भगीरा घडामें भगीरो पाणी वाजे अने ब्राह्मणरा घडामे ब्राह्मणगे पाणी वाजे पिण पाणी तो भीठो शील छै भगीरा घडामें आया प्यारो थयो न थी । तथा शीलता मिटी नहीं पाणी तो तेहिज तालाव नो छै । पिण भाजन लरे नाम बोलया रूप छै । तिम शील, दया, क्षमा तपस्यादिक रूप पाणी ब्राह्मण समान सम्यग्दृष्टि आदरे भगी समान मिथ्यादृष्टि आदरे ते तो तप शील दया नो गुण जाय नहीं । जिमि पानी ब्राह्मण तथा भङ्गी रो वाजे पिण पाणी भीठामें फेर नहीं पाणी भीठो एक सीरो छै । तिमि मिथ्यादृष्टि शीलादिक पाले ते मिथ्यादृष्टि नी करणी वाजे पिण करणी दोनु मोक्षमार्गनी छै ।” [भ्र० पृ० ३४] इस का क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

एक तालावसे जल भरने वाले ब्राह्मण और भङ्गीका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टियोंके गुणको तुल्य नताना मूर्खता है । ब्राह्मण और भङ्गीमें जातिमात्रका भेद है किन्तु उस तालावकी मधुरता और उपादेयताके सम्बन्धमें मतभेद नहीं है । जैसे ब्राह्मण उस तालावको मधुर और जलप्रदण करनेयोग्य समझता है भङ्गी भी उसे उसी तरह समझता है । यदि भङ्गी उस तालावको खारा या जलप्रदण न करनेके योग्य समझता तो वह उससे जल नहीं भरता इसलिये भङ्गी और ब्राह्मणका विचार उस तालावके सम्बन्धमें एक है परन्तु मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिमें यह धान नहीं है । मिथ्यादृष्टि जिम मिथ्यादर्शन रूप तालावको उत्तम समझता है सम्यग्दृष्टि उसे बुरा जानता है । तथा सम्यग्दृष्टि जिस सम्यग्दर्शनरूप तालावको अच्छा समझता है मिथ्यादृष्टि उसे बुरा जानता है इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके विचारमें महान् अन्तर है इस अन्तरके होते हुए

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही एक सम्यग्दर्शन, या एक मिथ्यादर्शन रूप तालाक जल भरे यह कदापि सम्भव नहीं है अतः तालाकके सम्बन्धमें समान विचार रखना भङ्गी और ब्राह्मणका उदाहरण देकर भिन्न भिन्न विचारवाले सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिको एक तालाकसे पानी लेने वाला बताना अज्ञानमूलक है ।

भङ्गी और ब्राह्मणके घडेका उदाहरण देकर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके क्षण दया आदिमें तुल्यता बताना भी अयुक्त है । भङ्गी और ब्राह्मणके घडोंमें मासुर्घ्य गुणों दृष्टिसे कुछ विभेदता नहीं है । ब्राह्मणका घट जैसे मधुर मिट्टीका बना होता है उसी तरह भङ्गीका भी होता है इसीलिये इन दोनों घडोंमें रक्सा हुआ मधुर जल मधुर ही रहता है परन्तु सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टियोंमें यह बात नहीं है इनके गुण परस्पर विपरीत होते हैं । मिथ्यादृष्टिका गुण मिथ्यात्व और सम्यग्दृष्टिका सम्यक्त्व होता है । ये सम्यक्त्व और मिथ्यात्व एक दूसरेसे विपरीत होते हैं अतः सम्यग्दृष्टिको मधुर मिट्टीके घटका दृष्टान्त और मिथ्यादृष्टिको खारे घडेका दृष्टान्त ठीक घटता है ब्राह्मण और भङ्गीके घडेका नहीं । तात्पर्य यह कि जैसे खारे घडेमें रक्सा हुआ जल खारा और मधुर घडेमें रक्सा हुआ मीठा होता है उसी तरह सम्यग्दृष्टिके शील, दया, और तपस्या आदि गुण सम्यग्मूप और और मिथ्यादृष्टिके ये सब असम्यग्मूप हो जाते हैं अतः इन दोनोंको एक समान कह कर मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वयुक्त शील दया और तपस्या आदिको वीतरागकी आज्ञामें बताना शास्त्रविरुद्ध है ।

नदी सूखी टीकामें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके लिये सुगन्ध और दुर्गन्ध की उपमा दी है ब्राह्मण और भङ्गीके घटकी नहीं । वह टीका यह है—

“भाविता द्विविधा प्रशस्तद्रव्यभाविता अप्रशस्तद्रव्यभाविताश्च । तत्र च कर्पूरगगुरुचन्दनादिभिः प्रशस्तैर्द्रव्यैर्भावितास्तेऽप्रशस्तद्रव्यभाविता ये पुनः पालाण्डुल्लुण्ठसुगणतैलादिभिर्भावितास्तेऽप्रशस्तद्रव्यभाविताः”

अर्थात् वासिन घट दो प्रकारके होते हैं एक प्रशस्त द्रव्योंसे वासे हुए और दूसरे अप्रशस्त द्रव्योंसे वासे हुए । जो कर्पूर अगर और चन्दन आदि उत्तम द्रव्योंसे वासे हुए हैं वे “प्रशस्तद्रव्यभाविता” कहलाते हैं और जो प्याज, लुण्ठ, मद्य तथा तेल आदि अप्रशस्त द्रव्योंसे वासे गये हैं वे “अप्रशस्तद्रव्य वासिन” हैं ।

जिस पुरुषका अन्तःकरण जिनाहाराधक सुनियोंके उपदेशसे वैराग्ययुक्त और निर्मल होता है वह पुरुष प्रशस्तद्रव्यवासिन घटके समान है और जिसका अन्तःकरण जिनाहारा विरोधियोंके उपदेशसे कञ्चुपित है वह अप्रशस्तद्रव्यवासिन घटके समान है ।

यहा नन्दी सूत्रकी टीकामें मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टियोंके गुणमे भेद होनेसे उनकी उपमा सुगन्ध और दुर्गन्ध घटकी दीहें प्राज्ञ और भङ्गीके घडेकी नहीं अन जिनके मायुर्ध्व गुणमें कुछ भेद नहीं है ऐसे ब्राह्मण और भङ्गीके घडोंका दृष्टात दकर मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके गुणोंको तुल्य बताना एकान्त मिथ्या है ।

बोल ३१ वां

भ्रमविश्वसनकार भ्रमविश्वसन पृष्ठ ३५ के ऊपर लिखत हैं—

“जे मिथ्यादृष्टि साधुने पूछे ह सुपात्र दान देनु शील पालू बेला तलादि तप करु जय साधु तेहने आज्ञा देवे कि नहीं ? जो आज्ञा देवे तो त करणी आज्ञा माहि थई”
(भ्र० पृ० ३५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

तप, शील, सुपात्र दानको अच्छा जान कर उनका आचरण करनेके लिए साधुने आज्ञा मागने वाला पुण्य मिथ्यादृष्टि कैसे कहा जा सकता है ? साधुके पास श्रद्धाभक्तिक साथ जाकर शील तप, सुपात्र दान आदिकी आज्ञा मागना सम्यग्दृष्टिका लक्षण है यह बात सम्यग्दृष्टियोंमें ही पायी जाती है सम्यग्दृष्टि पुरुष ही साधुके पास भक्ति भावके साथ जाकर शील तप आदि धर्मोंकी आज्ञा मागते हैं मिथ्यादृष्टि नहीं, क्योंकि वे साधुको साधु तथा उनके उपदेश किये हुए धर्मको धर्म नहीं मानते। ऐसी दशामें वे भक्ति भावके साथ साधुके पास जाकर शील तप दया आदि धर्मोंकी आज्ञा माग ही नहीं सकते यह भव्य जीवोंको स्वयं मोच लेना चाहिए ।

जो पुण्य साधुके निकट जाकर शील तप और सुपात्र दानकी आज्ञा मागता है उसे उम समय सम्यग्दृष्टि ही मानना चाहिए, क्योंकि उपभ्रममम्यस्त्वकी जवन्ध स्थिति अन्तर्गुह्वरकी होती है इसलिए उम समय उस पुरुषको भावसम्यक्त्वकी प्राप्ति हुई समझनी चाहिए। अतः साधुके पास जाकर शील तप आदिकी आज्ञा मागने वालेको मिथ्यादृष्टि ठहराकर मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यात्वयुक्त क्रियाको आज्ञामे बताना एकान्त मिथ्या है ।

इसके अतिरिक्त यहा यह प्रश्न होता कि जो मिथ्यादृष्टि शील तप आदिकी आज्ञा माग कर उसका अनुष्ठान करता है उसकी वह क्रिया सम्यग्रूप है या असम्यग्रूप है ? यदि सम्यग्रूप मानो तो सम्यक्क्रियाका अनुष्ठान करनेवाला मिथ्यादृष्टि कैसे ? वह सम्यक्क्रियाका अनुष्ठान करता है इसलिए मिथ्यादृष्टि नहीं है यदि उसकी क्रियाको असम्यग्रूप कहो तो साधुने उसे असम्यक् क्रिया करनेकी आज्ञा नहीं दी है इसलिये उसकी वह

क्रिया साधुकी आज्ञामे नहीं हो सकती । अतः मिथ्यादृष्टिकी असम्यग्रूप क्रियाको साधुकी आज्ञामे बताना अयुक्त है ।

साधु पुरुष हर एक जीवको सम्यक्क्रिया करनेकी आज्ञा देते हैं उनकी आज्ञानुसार जो सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान करता है वह मिथ्यादृष्टि नहीं है सम्यग्दृष्टि है और जो साधुकी आज्ञा लेकर भी सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान नहीं करता मिथ्या क्रियाका अनुष्ठान करता है उसकी वह मिथ्याक्रिया साधुकी आज्ञामे नहीं है उस क्रियाके करनेसे वह आहाराधक नहीं हो सकता किन्तु वह मिथ्यादृष्टि है और उसकी वह क्रिया आज्ञा वादक है । अतः मिथ्यादृष्टिकी साधुकी आज्ञाका आराधक कहना मिथ्या है ।

जैसे साधु मोक्षमार्गका आराधन करनेके लिए दीक्षा देते हैं और दीक्षा देकर सम्यग्ज्ञान पूर्वक क्रिया करनेकी आज्ञा देते हैं परन्तु दीक्षित पुरुष अभव्य हो और मिथ्यात्वी होनेसे अज्ञान पूर्वक द्रव्य क्रिया करने लग जाय तो उसकी वह क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं कही जा सकती क्योंकि साधुने ज्ञानपूर्वक भावक्रिया करनेकी आज्ञा दी थी न कि अज्ञान पूर्वक द्रव्यक्रिया करनेकी, उसी तरह जो पुरुष साधुसे सम्यक्क्रिया करनेकी आज्ञा लेकर अज्ञान पूर्वक द्रव्य क्रिया करता है उसकी वह क्रिया आज्ञामें नहीं है क्योंकि साधुने अज्ञानपूर्वक द्रव्य क्रिया करनेकी आज्ञा नहीं दी है बल्कि ज्ञानपूर्वक भाव क्रिया करनेकी आज्ञा दी है इसलिये उसकी वह अज्ञान क्रिया साधुकी आज्ञामें नहीं हो सकती । अतः मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यात्व युक्त क्रियाको वीतरागकी आज्ञामे ठडगना मिथ्या है ।

(बोल ३२ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविज्वसनकार भ्रमविज्वसन पृष्ठ ३६ पर लिखते हैं कि “ इहा कस्यो सूय्य भना अभियोगिया देवता भगवान्ने वन्दन नमस्कार क्रियो तिवारे भगवान् वोल्या एव-न्दनरूप तुम्हारे पुण्यो आचार छै । ए तुम्हारे जित आचार छै ए वन्दनारी म्हाती आज्ञा छै । तो विमकरणीने आज्ञा बाहिरे किम कहिए ” (भ्र० पृ० ३६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

सूर्याभ देवताके अभियोगिया देवताका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको वीतरागकी आज्ञामे फायम करना अज्ञान है । सूर्याभदेवके अभियोगिया देवताके मिथ्या दृष्टि होनेमें कोई प्रमाण नहीं है । नरकयोनिके जीव भी जब सम्यग्दृष्टि होते हैं तब

सूर्याभके अभियोगिया देवताओंके सम्यग्दृष्टि होनेमे क्या बाधा है। इसके अतिरिक्त यह प्रश्न भी उठते हैं कि आन्तरिक भक्तिशून्य द्रव्यरूप वन्दना भगवान्की आज्ञामें है या भक्तिपूर्वक भावरूप वन्दना ही आज्ञामें है ? यदि भावशून्य द्रव्यवन्दना भी भगवान्की आज्ञामें हो तो ऐसी वन्दना अभव्य जीव भी करते हैं इसलिए वे भी वीतरागकी आज्ञाराधक होकर मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं परन्तु ऐसा कदापि नहीं होता अभव्य जीव मोक्षमार्गका आगधक त्रिकालमें भी नहीं है अतः भक्तिपूर्वक भावरूप वन्दनको ही आज्ञामें मानना चाहिये ऐसा वन्दन नमस्कार मिथ्यादृष्टियोंका नहीं होता क्योंकि मिथ्यादृष्टि मिथ्यात्वक कारण द्रव्यरूप क्रियाही करता है भावरूप नहीं। सूर्याभके अभियोगिया देवताओंका वन्दन नमस्कार सम्यग्ज्ञानपूर्वक भावरूप था अतएव उसे भगवान् ने आज्ञाके अन्दर बतलाया यदि वह द्रव्यरूप होता तो कदापि भगवान् आज्ञामें नहीं करते अतः सम्यक् क्रियाका अनुष्ठान करने वाले सूर्याभके अभियोगिया देवता सम्यग्दृष्टि थे मिथ्यादृष्टि नहीं उनका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिके भावशून्य द्रव्यरूप वन्दन नमस्कारको वीतरागकी आज्ञामें बताना अज्ञान मूलक है।

(बोल ३३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३७ पर भगवती सुत्र शतक २ उद्देश १ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि "अथ अठे स्फुन्दक कह्यो है गौतम । ताहरा धर्माचार्य्य भगवान् महावीर स्वामीने नादा यावन् सेवा करा । निवारं गौतम बोल्या जिम सुख हुवे तिम करे हे देवालु प्रिय, पिणप्रतिबन्ध मत करे । इसी शीघ्र आज्ञा वन्दनानीदीधी ते वन्दना रूप करणी प्रथम गुगठागा रो घगी करे तेहने आज्ञा बाहिरे किम कहिये ।" (भ्र० पृ० ३७) । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वसनकारक मतलुयायियोसे पूटना चाहिये कि गौतम स्वामीने स्फुन्दक जीकी भक्ति भावक साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक तीर्थ करकी वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी या भावरहित द्रव्य वन्दना करनेकी आज्ञा दी थी ? यदि भक्तिभावरूप साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दना करनी आज्ञा दी थी तो मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार उनकी आज्ञामें कैसे हो सकता है ? क्योंकि मिथ्यादृष्टिका वन्दन नमस्कार भक्तिभाव रहित और मिथ्यात्वके साथ होता है भक्तिभावरूपके साथ सम्यग्ज्ञान पूर्वक नहीं । यदि भक्तिभावरहित द्रव्य वन्दनाकी आज्ञा निया जाना कह्यो तो यह अयुक्त है साथ कदापि किसीकी

भक्ति-भावग्रहित द्रव्य वन्दना करनेकी आज्ञा नहीं देते । इसलिये गोतम स्वामीने भक्ति भावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दन नमस्कार करनेकी आज्ञा दी थी । उस आज्ञाके अनुसार यदि स्कन्दकजीने भगवान्को भक्तिभावके साथ सम्यग्ज्ञानपूर्वक वन्दन नमस्कार किया था तो वह उस समय सम्यग्दृष्टि ही थे मिथ्यादृष्टि नहीं ॥

यदि वैसा न करके स्कन्दकजीने मिथ्यात्वके साथ द्रव्य रूप वन्दन नमस्कार किया था तो उनका वह नमस्कार गोतम स्वामीकी आज्ञामे हुआ ही नहीं क्योंकि गोतम स्वामीने भक्तिभावके साथ भाव रूप वन्दन नमस्कार करनेकी आज्ञा दी थी भक्तिग्रहित मिथ्यात्वयुक्त द्रव्य वन्दनकी नहीं । अतः स्कन्दकजीका उदाहरण देकर मिथ्यादृष्टिके मिथ्यात्वयुक्त द्रव्यरूप वन्दन नमस्कार को जिन आज्ञामे कायम करना नितान्त मिथ्या है ।

(बोल ३४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४० पर लिखते हैं कि “अथ इहा तामली बालतपस्वीरी अनित्यचिन्तवना कही छे । ए ससार अनित्य छै एहवीचन्तवना ते तो शुद्ध छै ” इसके बाद पुष्पिकयोपाङ्गका पाठ देखर लिखते हैं—अथ इहा सोमिल ऋषिनी अनित्य चिन्तवना कही । ए अनित्य चिन्तवना शुद्ध करणी छै निवच्य छै तेहने आज्ञा बाहिर किम कहिए ”

इसके आगे और भी लिखते है—“बली अनित्य चिन्तवना धर्मध्यानरो भेद चाल्यो ते ही अनित्य चिन्तवना तामली सोमिल ऋषि प्रथम गुण ठाणे थकी कीधी तहन अघर्म किम कहिए ए धर्मध्यानरो भेद आज्ञा बाहरे किम कहिए ” (भ्र० पृ० ४०-४१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

तामली बाल तपस्वी और सोमिल ऋषिकी अनित्य जागरणको धर्मध्यानकी अनुप्रशामे कायम करके प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिन आज्ञामे कायम करना मिथ्या है । प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंमे धर्मध्यान होता ही नहीं, क्योंकि धर्मध्यान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ ही होता है यह पहले बतलाया जा चुका है । सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन मिथ्यादृष्टियोंमे नहीं होता इसलिये उनमे धर्मध्यान भी नहीं हो सकता । जब कि प्रथम गुण स्थान वाले मिथ्यादृष्टियोंमे धर्मध्यान नहीं होना तब धर्मध्यानका भेद स्वरूप अनित्य जागरणा उनमे कैसे हो सकती

? जन्म वृक्ष ही नहीं है तो शाखा पर कहासे होंगे ? धर्मध्यान सम्यग्ज्ञान और स्वीकृ दर्शनके साथ ही होता है इस विषयमे ठाणाङ्ग सूत्रका मूलपाठ और उसकी टीका ब्रह्मर प्रमाण बतलाया जाता है ।

“चत्तारि ज्ञाणा पणत्ता, तंजहा—अट्टे ज्ञाणे रोहे ज्ञाणे धम्म-
ज्ञाणे सुक्के ज्ञाणे”

“धम्मस्सणं ज्ञाणस्स चत्तारि अणुप्पेहाओ पणत्ताओ एगा-
णुप्पेहा, अणिवाणुप्पेहा, अन्नरणाणुप्पेहा, संसाराणुप्पेहा”

(ठाणाङ्गणा ४ उ० १)

इस पाठकी टीका यह है—

“ध्यातयोध्यानानि अन्तमु हूर्त्तमात्रकालचित्तस्थिरताश्रणानि। उक्तञ्च—“अन्तो-
नुहूत मित्त चित्ताप्रत्याणमेग वत्थुम्मि उउमत्थाण ज्ञाण जोगणिरोहो जिणाणत्तु” तत्र
रुनं दु एत्तं तस्य निमित्तं तत्रभववा ऋते पीडिते भवमार्तं ध्यान उटोऽध्यवसाय । हिंसा-
शक्तिरौर्यानुगत रौद्रम् । श्रुतचरणधर्मादनपेत धर्म्यम् शेषयत्यष्टप्रकार कर्ममलं शुच-
त्वा क्लमयतीति शुक्लम्”

अर्थात् किन्ती एक त्रिपयमें अन्तमु हूर्त्त तक चित्तको स्थिर रखना, ध्यान कहलाता
है। कहा भी है किसी एक वस्तुमे अन्तमु हूर्त्त तक चित्तको स्थिर रखना ध्यान है।
ऐसा ध्यान छद्मस्वोंका होता है। योगनिरोध काल तक सत्र वस्तुओका ध्यान केवलियों
का होता है वह ध्यान चार प्रकारका है आर्ताध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, और शुक्ल-
ध्यान। जो ध्यान दुःखका कारण है अथवा दुःख होने पर होता है उसे आर्ताध्यान
कहते हैं। जो ध्यान हिंसा आदि क्रूरतासे युक्त होता है वह रौद्रध्यान कहलाता है।
जो ध्यान, सम्यग्ज्ञानदर्शन और चारित्रके साथ होता है वह धर्मध्यान है। जो ध्यान
आठ प्रकारके कर्ममलोको दूर करता है या शोक को दूर करता है वह शुक्लध्यान है।

इनमे सम्यग् ज्ञान दर्शन और चारित्रके साथ होने वाले धर्मध्यानकी चार अनु-
प्रेक्षाएँ कहीं हैं। ध्यान होनेक पश्चात् भावना या पथ्यालोचना करनेको ‘अनुप्रेक्षा’ कहते
हैं। पहली अनुप्रेक्षाको ‘एकानुप्रेक्षा’ कहते हैं। म अकेला हू, मेरा कोई नहीं है ऐसी
भावना कग्ना एकानुप्रेक्षा है। दूसरी ‘अनिन्यानुप्रेक्षा’ है। यह शरीर नाशवान है सम्पत्ति
दुःखका स्थान है, संयोग, वियोगका हेतु है उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ नश्वर हैं
इस प्रकार जीवन आदिक त्रिपयमे अज्ञित्यताकी भावना करना ‘अनिन्यानुप्रेक्षा’ है।
तीसरी ‘अन्नरणानुप्रेक्षा’ है। इसका अर्थ जन्म जरा और मरणक भयसे भीत, व्याधि

और वेदनासे प्रसन्न इन प्राणियोंके लिए जिनवरोके वाक्यसे अतिरिक्त कोई दूसरा शब्द नहीं है ऐसी भावना करना है। चौथी 'समस्रणानुप्रेक्षा' है। ससारके प्राणी अपने कर्मानुसार चारों गतियोंमें जाते रहते हैं वही खी वेदी जीव, किसी भवमें भाग्य होकर दूसरे भवमें उसी जीवकी भगिनी हो जाता है और फिर अन्य भवमें भाग्य होकर किसी भवमें पुत्री हो जाता है। इसी तरह कभी पुत्र ही पिता और पिता पुत्र हो जाते हैं इस प्रकार ससारके सभी जीव एक भवको छोड़ कर दूसरे भवमें जाते रहते हैं। भावना करनेको 'सस्रणानुप्रेक्षा' कहते हैं। उक्त चतुर्विध अनुप्रेक्षा धर्मध्यान पश्चात् होती है और धर्मध्यान श्रुत तथा चाग्रिके साथ होता है। चारित्र्य नहीं होता इसलिये धर्मध्यान भी उसमें नहीं होता और धर्मध्यानके न होनेसे मिथ्यादृष्टिमें चतुर्विध अनुप्रेक्षा भी नहीं होती अतः मिथ्यादृष्टिके अन्दर धर्मध्यान पश्चात् होने वाली अनित्य जागरणाका सद्भाव बताना आखिरकृत है।

यदि कोई कहे कि सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीकी अनित्य शास्त्रमें कही है इसलिए मिथ्यादृष्टिमें अनित्य जागरणा होती है। तो इसका उत्तर यह है कि सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीमें जो अनित्य जागरणा शास्त्रमें कही है धर्मध्यानके पश्चात् होने वाली सम्यग्दृष्टियोंकी अनित्य जागरणा नहीं किन्तु मिथ्यादृष्टि के साथ होने वाली दूमरी अनित्य जागरणा है। जैसे शास्त्रमें मिथ्यादृष्टिकी प्रव्रज्या कही है और सम्यग्दृष्टिकी प्रव्रज्या भी कही है परन्तु वे दोनों प्रव्रज्याएँ एक नहीं भिन्न भिन्न हैं। सम्यग्दृष्टिकी प्रव्रज्या, सम्यग्रूप और मिथ्यादृष्टिकी मिथ्यारूप है उसी तरह मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिकी अनित्य जागरणा भी भिन्न भिन्न है एक नहीं हैं। सम्यग्दृष्टिकी अनित्य जागरणा धर्मध्यानके अन्तर्गत होनेसे वीतरागकी आज्ञामें है और मिथ्यादृष्टिकी धर्मध्यानमें बहिर्भूत और अज्ञानपूर्वक होनेसे वीतरागकी आज्ञामें नहीं है। अतः सोमिल ऋषि और तामली बाल तपस्वीकी अनित्य जागरणाको धर्मध्यानमें ठहरा कर वीतरागकी आज्ञामें बताना एतन्त मिथ्या है।

शास्त्रमें मिथ्यादृष्टिकी प्रव्रज्या भी कही है वह पाठ यह है—“एवञ्जाए एव इत्था” यह भगवती शतक ३ उद्देश १ में तामली तपस्वीकी प्रव्रज्याके लिये पाठ आया है। इस पाठमें तामली तपस्वीकी प्रव्रज्या धारण करना कहा है परन्तु यह प्रव्रज्या मिथ्यात्वके साथ होनेसे वीतरागकी आज्ञामें नहीं मानी जाती उसी तरह मिथ्यात्वके साथ होनेसे तामली तपस्वीकी अनित्य जागरणा भी आज्ञामें नहीं मानी जा सकती तथापि तामली तपस्वीकी तुल्यता देख कर यदि कोई ठठी तामली तपस्वीकी अनित्य जागरणाकी जिन आचारोंमें ठहरावे तो उसे तामली तपस्वीकी प्रव्रज्या भी जिन आज्ञामें मान लेनी चाहिये।

मली तापसकी प्रत्रज्याको जिन आज्ञामे नहीं मानन तोऽसकी अनित्य जागरणाको भी आज्ञामे नहीं मानना चाहिये ।

उवाई सूत्रमें वानप्रस्थ तापसोकी प्रत्रज्याके लिये यह पाठ आया है—

“बहुई वासाई परिघाय पाउणंति”

अर्थात् वानप्रस्थ तापस बहुत वर्षों तक अपनी प्रत्रज्याका पालन करते हैं । यहाँ जिस प्रकार वानप्रस्थ तापसोकी प्रत्रज्याका पाठ आया है उन्ही तरह जिनाज्ञाराधक मुनि-
की प्रत्रज्याके लिये भी पाठ आया है ।

“बहुई वासाई केवल परिघाय पाउणंति”

बहुई वासाई छउमत्थं परिघायं पाउणंति”

इन पाठोंमें मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टियोकी प्रत्रज्याके लिये समान पाठ आने पर भी जैसे इनकी प्रत्रज्याए एक नहीं किन्तु भिन्न भिन्न हैं उन्ही तरह सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि की अनित्य जागरणाए भी भिन्न भिन्न हैं एक नहीं । अतः तामली और सोमिलकी अनित्य जागरणाको भगवान् महावीर स्वामीकी अनित्य जागरणाके तुल्य बताना मिथ्या है ।

[बोल ३५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमत्रिचसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४२ के ऊपर भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा ९ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ द्वा चार प्रकार मनुष्यनो आयुषो रंधे कृत्यो । जे प्रवृत्ति भद्रिक, विनीत, दयावान् अमत्सर भाव एचार करणी शुद्ध छे आज्ञा माहि उँ तो दयादिक परिणाम साम्प्रत आज्ञामे छै” इसक आगे लिखते हैं—

“जली सरागसयम सयमासयम ते श्रावक पणो, चाल तप, अकाम निर्जगण ए चार कारणो करी देव आयुषो रंधे इम कृत्यो तो ए चार कारण शुद्ध छे के अशुद्ध छै । साम्प्रत उँ क निरवृत्त छै । आज्ञामे छै न आना वाहिर छै । एनो चार करणी शुद्ध आज्ञा माहि लीसू दव आयुषो रंधे उँ । अन जे जाल तप अकाम निर्जगने आज्ञा वाहिर करे तहने छेपे मगगसयम मयमामयम पिग अद्दा ग्राहिरे कहिणा । अन मगग सयम सयमान्मयमने आज्ञामे धहू तो चाल तप अकाम निर्जगने पिग आज्ञामे कहिणा । ए जाल

तप अकाम निर्जरा शुद्ध आज्ञा माहि छै ते माटे सरागसंयम संयमासंयमरे भेला झा।
बो अशुद्ध हुवे तो भेला नरुहिता”

(ध० पृ० ४२—४३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ८ उद्देश ९ के मूलपाठके आश्रयसे मिथ्यादृष्टिकी आज्ञामे बताना मिथ्या है। भगवतीके उस पाठमे सिर्फ देवभव और मनुष्य भवकी के चार कारण कहे हैं। वे कारण वीतरागकी आज्ञामे हैं या आज्ञाके बाहर है, नहीं बतलाया है इसलिये भगवतीके उस पाठसे अकाम निर्जरा और बाल तपस्याके आज्ञामे ठहराना अप्रामाणिक है। उवाई सूत्रके मूलपाठमे अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञा बाहर कहा है इसलिये अकाम निर्जरा और बाल तपस्याको आज्ञा कहना शास्त्र विरुद्ध है। उवाई सूत्रका वह पाठ निम्नलिखित है—

“जे इमे जीवा गामागर णयर णिगम रायहाणि खेड कव्वड
मडंब दोण मुह पट्टणासम संवाह सन्निवेसेसु अकाम तण्हाए अकाम
छुहाए अकाम वंभचेर वासेणं अकाम अण्हाणक सीयायव दसमसक
सेअजल्लमल्ल पंक परितावेणं अप्पतरोवा भूज्जतरोवा कालं अप्पाण
परिकिलेसांति परिकिलेसित्ता काल मासे कालं किच्चा अण्णभरेसु
घाण मंतरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवति”

(उवाई सूत्र)

इस पाठका अर्थ पृष्ठ (१८) पर दे दिया गया है।

इस पाठमे अकाम निर्जराकी करनी करने वालेको जिन आज्ञाका अनाराधक कहा है। यदि अकाम निर्जरा वीतरागकी आज्ञामे होती तो उसके अनाराधकको परलोका अनाराधक कैसे कहते ? अतः अकाम निर्जराका आज्ञा बाहर होना स्पष्ट सिद्ध होता है।

इसो जगह उवाई सूत्रमे बाल तपस्या करने वालेको मोक्ष मार्गका अनाराधक कहा है वह पाठ अर्थके साथ पृष्ठ (२५—२६) के ऊपर दे दिया गया है। यदि बाल तपस्या जिन आज्ञामे होती तो उक्त पाठमे गगतट निवामी अज्ञानी तापसोंको परलोकका अनाराधक क्यों कहा जाता ? अतः बाल तपस्या जिन आज्ञामे नहीं है यह स्पष्ट सिद्ध होता है।

उवाई सूत्रमे, प्रकृति भद्रक, विनीत, अमत्तमरी पुरुष जो सम्यक्भद्रासे ही हैं उन्हे परलोकका अनाराधक बतलाया है। वह पाठ भी पहले लिखा जा चुका

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि—प्रकृति भद्ररूपा विनीतना और अमात्मव्य आदि गुण यदि मिथ्यात्व और अज्ञानके साथ हो तो वे जिन आज्ञामे नहीं होते। अत अकाम निर्जरा, जालतपस्या, और मिथ्यात्व तथा अज्ञानयुक्त प्रकृतिभद्ररूपा, विनीतता, और अमात्सर्य आदि गुणोंको वीतरागकी आज्ञामे बनाना उपाई सूत्रसे विरुद्ध है।

इसी तरह भ्रमविध्वसनकारने जो यह कुतर्क किया है कि जालतपस्या और अकाम निर्जरा जिन आज्ञामे न होती तो सराग सयम और सयमासयमक साथ क्यों कही जातीं, यह भी अयुक्त है। जो वीतरागकी आज्ञामे नहीं है वह वीतरागकी आज्ञामे होने वाले पदार्थक साथ न कहा जाय ऐसा कोई शास्त्रीय नियम नहीं है। ठाणाङ्ग सूत्रके चौथे ठाणे मे धर्म ध्यान और शुद्ध ध्यानके साथ रौद्र ध्यान भी कहा है। यदि आज्ञामे होनेवाले पदार्थके साथ आज्ञा बाहरके पदार्थ न कहे जात तो धर्मध्यान और शुद्ध ध्यानके साथ रौद्र ध्यान क्यों कहा गया है ? अत आज्ञामे होनेसे ही अकाम निजरा और जालतपस्याका सगग सयम और सयमासयमक साथ भगवतीके पाठमे कथन बनलाना मिथ्या है। भगवतीके मूलपाठमे अकाम निर्जरा और जालतपस्या स्वर्ग, प्राप्तिके कारण होनेमे सगग सयम और सयमा सयमके साथ कही गयी हैं आज्ञामे होनेसे नहीं। अत भगवतीके मूलपाठका नाम लेकर अकाम निर्जरा और जाल तपस्याको आज्ञामे उठराना मिथ्या है।

बोल ३६ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४३ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ उद्देश २ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ गोशालारे स्वविर पद्वा तपना करणहार क्ख्या छै। उम तप, घोर तप, रसनात्याग जिद्धेन्द्रिय वश कीधी। तेहनी खोटी ब्रह्म अशुद्ध छै पिग एतप अशुद्ध नहीं तप तो शुद्ध छै आज्ञा माहि छै। ए जिद्धेन्द्रिय प्रति सलीनता तो भगवन्त बाहरे भेद निर्जराना क्ख्या तेहमें कही छै। उपाईमे प्रतिसलीनतारा चार भेद क्रिया। इन्द्रिय प्रति सलीनता, कषाय प्रतिसलीनता, योग प्रतिसलीनता, विविक्त शयनासनसेप्रणिया। अन इन्द्रिय प्रतिसलीनता ना ५ भेदमे रसइन्द्रिय प्रतिसलीनता निर्जराना बाहरे भेद चाल्या ते मध्ये नही छै। ते निर्जगने आज्ञा बाहिरे किम कहिए”

(भ० पृ० ४४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गोशालक मतानुसारिणी जिब्वहेन्द्रिय प्रतिसलीनता और वीतरागमतमत्व, जिब्वहेन्द्रिय प्रतिसलीनता एक नहीं है भिन्न भिन्न हैं क्योंकि उवाई सूत्रके सत्रहवें श्लोक में गोशालक मतानुसारी तपस्त्रियोको परलोकका अनाराधक कहा है । यदि गोशालक मतानुसारिणी जिब्वहेन्द्रिय प्रतिसलीनता जिनोक्त प्रतिसलीनतासे भिन्न न होती तो गोशालक मतानुसारी तपस्त्रियोंको परलोकका अनाराधक कैसे कहते ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि गोशालक मतानुसारिणी जिब्वहेन्द्रिय प्रतिसलीनता अन्य है और वीतरागमतोक्त जिब्वहेन्द्रिय प्रतिसलीनता अन्य है । अतः पूर्वोक्त दोनों प्रतिसलीनताओंको एक ठहरा कर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिनाज्ञामे बताना मिथ्या है ।

उवाई सूत्रका वह पाठ नीचे लिखा जाता है जिसमें गोशालक मतानुयायी तपस्त्रियोंकी तपस्याका वर्णन करके उन्हें परलोकका अनाराधक कहा है ।

“स्रेजे इमे गामागर जाव सन्निवेसेसु आजोविका भवन्ति तंजहा—डुघरंतरिया, तिघरंतरिया, सत्तघरंतरिया, उप्पलवेटिया, घरसमुदाणिया, विज्जुअन्तरिया, उदियासमणा तेण' एयारूवेण विहारेणं विहरमाणा बहुइ वासाड' परियाय पाउणंति । पाउणिता कालमासे काल'किच्चा उक्कोसेण' अच्चुएकप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवन्तितहिं तेसिंसगती वावीसं सागरोवमाइं ठिती अणाराह्गा सेसं तं चेव ”

(उवाई सूत्र)

अर्थ—

भ्राम, आसुर, यावत् सत्रिंशदोर्म गोशालक मतानुसारी श्रमग होते हैं उनमें कई, जो घर टालकर तीसरे घरमें, कई तीन घरोंकी टालकर चौथे घरमें, कई सात घरोंको टाल कर आठवें घरमें निश्चा लेते हैं । कई, सिर्फ कमलवृत्तको ग्याकर रहते हैं, कई, प्रत्येक घरोंमें निश्चा लेते हैं केवल एक ही घरमें नहा । कई, त्रिजगी चमकनेपर निश्चा नहीं लेते, कई एक ऊटकी तरह बने हुए मिट्टी के पात्रमें रह कर तपस्या करते हैं । ये सभी भ्रमा ब्रतको बहुत धर्पातन पालकर कालने अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकरउत्कृष्ट थारहने दमलोक अच्युत कर्ममें उत्पन्न होते हैं । वहाँ तक उनकी उत्कृष्ट गति है धार्म सागर पर्यन्त उनकी स्थिति है । ये लोग परलोकके अनाराधक नहीं हैं ।

यहां गोशालरु मतानुयायियोंकी कष्ट कर तपस्याका वर्णन करके उन तपस्याओंको जिनाज्ञामें न होनेसे उन्हें जिनाज्ञाका आराधक न होना कहा है। यदि गोशालरु मतानुयायियोंकी तपस्या जिनाज्ञामें होती तो उन्हें इस पाठमें परलोकका अनाराधक न कहते। तथा इनकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीता यदि जिन आज्ञामें होती तो वे जिनाज्ञाके अनाराधक न कहे जाते। अतः गोशालरु मतकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीता का वीतराग मतकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीतासे भिन्न होना स्पष्ट प्रमाणित होता है। तथापि शब्दकी तुल्यता देस कर यदि कोई गोशालरु मतानुयायियोंकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीताको जिन आज्ञामें बताये तो उसे इनकी भिक्षाचरी और प्रप्रज्याको भी जिन आज्ञामें ही मानना चाहिए क्योंकि इनकी भिक्षाचरी और प्रप्रज्या भी जिन भागकी भिक्षाचरी और प्रप्रज्यासे शब्दतः तुल्य हैं। यदि शब्दतः तुल्य होने पर भी गोशालरु मतानुयायियोंकी भिक्षाचरी और प्रप्रज्याको जिन आज्ञामें नहीं मानते तो इनकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीताको भी आज्ञामें नहीं मानना चाहिये अतः गोशालरु मतानुयायियोंकी जिह्वेन्द्रिय प्रतिसलीनीताको वीतरागकी आज्ञामें ठहराकर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाको जिन आज्ञामें बताना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३७ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रम० पृ० ४४ पर प्रभ्रज्याकरण सूत्रके दूसरे स्वरद्वारका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करत हुए लिखते हैं—

“इहा कश्चो सत्यं वचनं साधुने आदग्वा योग्यं छै । ते साथ अनेक पापण्डी अन्य दर्शनी पिण आदरयो कश्चो, ते सत्यं लोकमे साग्भूत कश्चो । सत्यं महाममुद्रथकी पिण गम्भीर कश्चो मेहयकी स्थिर कश्चो ण्हा भगवन्ते सत्यने वखाण्यो ते सत्यने अन्य दर्शनी पिण धारयो तो ते सत्यने खोटो अशुद्ध किम कदिए आज्ञा बाहरे कहे तो ते हनी अद्वा ऊ धी छै, पिण निग्वच सत्यं श्रीवीतरागो सगयो ते आज्ञा बाहरे नहीं ”

(भ्रम० पृ० ४४) ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रभ्रज्याकरण सूत्रका वह मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह पाठ यह है—

“अनेग पासण्ड परिग्गहिय जं तिलोकम्मिसारभूयं गंभीरं
तरं महासमुद्दाओ थिरतरं मेरुपव्व आओ ”

(प्रश्न व्याकरण सम्यग् द्वार २)

इसका अर्थ यह है—

सत्यरूप महाप्रतको विविध व्रत शरिणीं स्वीकार किया है यद् महासमुद्रते भी गर्भी
मेरु पर्वतते भी अधिक स्थिर ओर तीन लोकमें सारभूत है ।

यद्वा मूलपाठमे जो “अनेग पापण्ड परिग्गहिय ” पाठ आया है इसका अर्थ
टीकाकारने इस प्रकार किया है—

“अनेक पापण्डपरिगृहीत नानाविध व्रतभि रत्नी कृतम् ” अर्थात् अनेक प्रकार
के व्रतधारियोंमे स्वीकार किया हुआ व्रतका नाम पापण्ड है और वह व्रत जिसमें हो
उसे “पापण्डी ” कहते हैं । उन पापण्डियोंसे ग्रहण किए हुए होनेसे सत्य व्रत “अनेक
पापण्ड परिगृहीत ” कहा गया है । यद्यपि लोकमें पापण्डी शब्द दाम्भिक अर्थमें भी
आता है तथापि उक्त पाठमे व्रतधारी अर्थमें ही आया है दाम्भिक अर्थमें नहीं । जैन
शास्त्रमे पापण्ड शब्दका व्रतधारी अर्थ भी होता है । दशवैकालिक सूत्र अध्याय २
नियुक्ति १५८ की टीकामे पापण्ड शब्दका अर्थ था किया है —

पापण्ड व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलभुवि । सपापण्डी वदन्त्यन्ये कर्मपाश
विनिर्गत. ”

अर्थात् पापण्ड नाम व्रतका है वह जिसका निर्मल है उस कर्मबन्धनसे विनि-
मुक्त पुरुषको पापण्डी कहते हैं ।

यद्वा टीकाकारने पापण्ड शब्दका व्रत अर्थ बनलाया है और दशवैकालिक सूत्रकी
नियुक्तिमे श्रमण निप्रन्थोका ‘पापण्ड’ नाम कहा है वह नियुक्तिकी गाथा यह है—

“ पव्वइए अणगारे पासण्डे चरग तावसे भिक्खू परिवा-
इए थ समणे निग्गंथे सज्जए मुत्ते ”

अर्थात् प्रजित, अनगार, पापण्ड, चरक, तापस, भिक्षु परित्राजरु, श्रमण,
निप्रन्थ, सयन और मुक्त ये सत्र श्रमण निप्रन्थोके नाम हैं ।

इम नियुक्तिमे श्रमणनिप्रन्थोंका नाम “पापण्ड” कहा है उपासकदशाग सूत्रके
प्रथम अध्यायनमे और आश्वयक सूत्रमे सम्यक्त्वका अतिचार बतलानेके लिये यह पाठ
आया है “पर पासण्डपससा परपासड सत्यव” इसका अर्थ टीकाकारने यह किया है —

“सवद्वा प्रगीत पापण्ड व्यतिरिक्ताना प्रशसा प्रशंसन स्तुतिरित्यर्थ ।

अर्थात् सर्वज्ञसे रचा हुआ जो पापण्ड है उससे भिन्न पापण्डकी प्रशंसा करना शक्य अतिचार है ।

यहां सर्वज्ञसे पापण्डका रचा जाना कहा है जो लोग पापण्डका अर्थ केवल दम्भ समझते हैं उनसे पूजना चाहिये कि सर्वज्ञने कौनसा दम्भ रचा है ? यदि वे सर्वज्ञसे दम्भ रचा जाना न मानें तो उक्त टीकाके पापण्ड शब्दका उन्हे व्रत अर्थ मानना ही पड़ेगा । प्रकृत उक्त टीकाका यही अर्थ है कि जो पापण्ड यानी व्रत सर्वज्ञका कहा हुआ नहीं उसकी प्रशंसा करना सम्यक्त्वका अतिचार है । यदि पापण्ड शब्दका दम्भ ही अर्थ होता है तो मूलपाठमें “पापण्ड” शब्दके पहिले “पर” लगानेकी क्या आवश्यकता थी । तब तो जैसे दूसरेका दम्भ घुरा है वैसे ही अपना दम्भ भी तो घुरा होना चाहिये फिर “पर” शब्द क्यों लगाया ? केवल यही कहा जाता कि “मैंने यदि पापण्डकी प्रशंसा की तो “तस्मिन्मिच्छामिदुष्कृतं” परन्तु ऐसा न कह कर जो मूलपाठमें “परपापण्ड” कहा है उससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि “पापण्ड” नाम व्रतका है उस व्रतके धारण करनेवाले पुरुषों पर सत्यका ग्रहण किया जाना प्रश्न व्याकरण सूत्रके दूसरे संवरद्वारमें कहा है इसलिये प्रश्नकारण सूत्रका नाम लेकर मिथ्यादृष्टि अज्ञानी दाम्भिक पुराणमें सत्यका रथापन करना अत्यन्त मिथ्या है ।

(बोल ३८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४५ पर जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे इमं कथ्यो ते वन खण्डने विषे वाण व्यन्तर देवता देवी वैसे सुपे श्रीडा करे पूर्वभवे भला पराक्रम फोडव्या तेहना फल भोगवे एहवां श्री तीर्थ कर देवे कह्यो । तो जे वाण व्यन्तरमे तो सम्यग्दृष्टि उपजे नहीं । व्यन्तरमे तो मिथ्यात्वीज उपजे छै । एने मिथ्यात्वीरो सर्व पराक्रम अशुद्ध हुवे तो श्रीतीर्थ कर देवे इम क्यू कर्यो जे वाण व्यन्तर पूर्वभवे भला पराक्रम किया तेहना फल भोगवे छै । एतो मिथ्यात्वीरा शील तपा-दिकने विषे भलो पराक्रम कयो छै । जो तिगरो पराक्रम अशुद्ध हुवे तो भगवन्त भलो पराक्रम न कहिना । एनो भली करणी करे ते आत्मा माहि छै” (अ० पृ० ४५) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके मूलपाठमें व्यन्तर सद्गुरु देवताओंके पूर्वभक्त कार्याको भगवान्ने अच्छा कह कर बतलाया है इसने यह नहीं निश्चय हो सकता कि इन देवताओंके

पूर्वभवके कार्य्य वीतरागकी आज्ञामे ये क्योकि व्यन्तर देवोंके पूर्वभवके कार्य्यको भी भगवान्ने अच्छा कहा है उसी तरह पद्मवर वेदिका वनखण्ड और उनमें देवनाओंसे भोगे जाने वाले सुख विशेषको भी अच्छा कहा है । पद्मवर वेदिका और वनखण्डके लिये पाठ आया है—

“पासाइया दसणीया अभिरूवा पडिरूवा”

अर्थात् पद्मवर वेदिका चित्तको प्रसन्न करने वाली है, देखने योग्य है, अमिरूवा है, और प्रतिरूप है । यहा भगवान्ने पद्मवर वेदिका और वनखण्ड को भी अच्छा कहा है ।

इसी तरह व्यन्तर सङ्क देवताओं के सुख विशेष के सम्बन्ध में यह पाठ आया है—

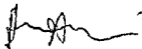
“कल्लाणाणं कडाणं कम्माणं कल्लाणं फलवित्तिवित्सेसे पणु
भवमाणा विहरन्ति”

अर्थात् व्यन्तर सङ्कदेव पूर्वभवमे किये हुए कल्याण रूप कर्मोंका फलस्वरूप कल्याण रूप फल विशेषका अनुभव करते हैं ।

यहा भगवान्ने जैसे व्यन्तर देवोंके पूर्वभवके कार्य्यको कल्याण कह कर बताया है उसी तरह उनसे भोगे जाते हुए सुख विशेषको भी कल्याणरूप कहा है । अतः जो लोग भगवान् द्वारा अच्छा कहे जानेके कारण व्यन्तर देवताओंके पूर्वभवके कार्य्यको आज्ञामे बताते हैं उन्हें व्यन्तरदेवोंके सुखविशेषको भी आज्ञामे ही मान लेना चाहिये तथा पद्मवर वेदिका और वनखण्डको भी उन्हें आज्ञामे ही कहना चाहिये । यदि पद्मवर वेदिका वनखण्ड और वहा देवताओंसे भोगे जाने वाले सुखविशेषको भगवान् द्वारा अच्छा कहे जानेपर भी आज्ञामे नहीं मानते तो व्यन्तर देवताओंके पूर्वभवके कार्य्यको भी आज्ञामे न मानना चाहिये । तथापि इस पाठका उदाहरण देका व्यन्तर देवताओंके सुख विशेष और पद्मवर वेदिकाको आज्ञामे न मानते हुए भी उनके पूर्वभवके कार्य्यको आज्ञामे कहना दुराग्रहका परिणाम है ।

— वास्तवमे आज्ञामे होनेके कारण भगवान्ने व्यन्तर देवताओंके पूर्वभवके कार्य्य उनके सुख विशेष, और पद्मवर वेदिका तथा वनखण्डको अच्छा नहीं कहा है किन्तु कस्तु स्थिति घनलाई है । जैसे रत्नको श्रेष्ठ और कङ्करको निकृष्ट कहा जाता है इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि रत्न भगवान्की आज्ञामे है और कङ्कर आज्ञामे नहीं है उसी तरह जम्बू-द्वीप प्रक्षप्तिके मूलपाठमे वस्तुस्थितिका कथन है वीतरागकी आज्ञामे होनेवाले मोक्षमार्गा-

नरूप काव्योंका कथन नहीं है। अतः जम्बूद्वीप प्रज्ञापिका नाम लेक मिथ्याचिट्टिकी याको आज्ञामें बताना एकान्त मिथ्या है।

(बोल ३९ वां) 

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रम० पृष्ठ ४७ पर उवाह सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसको समाधान करते हुए लिखते हैं —

“अने जो माता पिताग विनीत कए तहिज गुण धायसे तो इहा इमि कह्यो माता पितागो वचन उल्लेखे नहीं तिणर लेखे एपिग गुण कहिणो जो ए गुण छै तो धर्म करन्ता माता पिता वज्रें अने न माने तो एवचन लोप्यो ते माटे तिणरे लेखे अवगुण कहिणो । माधुपणोलेना आवक यणू आदरता सामायक पोया करता माता पिता वज्रें नो तिणर लेखे धर्म करणो नहीं अने सामायकादि कर तो अजिनीत थयो ते अवगुण हुवे तहथीतो धर्म हुव नहीं”

। = (भ्रम० पृ० ४७-४८) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उवाह सूत्रक मूलपाठमें, माता पिताकी सेवा शुभ्रूपा विनय भक्ति आज्ञा पालन करनेसे पुत्रको स्वर्ग प्राप्ति रूपप्र लिखी है परन्तु इम शास्त्रोक्त बातके अङ्गीकार करनेसे भ्रमविध्वसनकारका अपना कपोल कल्पित सिद्धान्त मिथ्या ठहरता है इसलिये उवाह सूत्रके उक्त मूलपाठका इन्होंने विपरीत अभिप्राय बतलाया है। इनका सिद्धान्त है कि “इनक मतके माधुओंके सिवाय सभी कुपात्र हैं” यहा तरु कि माता-पिता ज्येष्ठ-धन्यु आदि गुरुजनोको भी यह कुपात्र कहत हैं उनकी सेवा करनेसे यह एकान्त पाप मानते हैं एमी दशामें उवाह सूत्रके मूलपाठका विपरीत अर्थ न करनेसे इनका मत सडा नहीं रह सकना अतः इन्होंने इस पाठका विपरीत अर्थ किया है। इनका यह कहना कि “माता पिताका विनय करना उनकी आज्ञा पालन करना यदि धर्म है तो मोना पिता चोरी जारी व्यवभिचार और मद्यपान मासभक्षणकी आज्ञा देवे तो वह आज्ञा पालन करना भी पुत्रके लिये धर्म होना चाहिये और उस आज्ञाक न माननेसे पाप होना चाहिये” मिलकुल पुनक है।

इम विषयमें बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये कि — अपने पुत्रको चोरी जारी मद्यपान मासभक्षण वैश्यागमन आदि दुराचर्योकी शिक्षा देने वाले माता पिता अधिक हैं या

इन युक्तियोंसे निवृत्तिकी शिक्षा देनेवाले माता पिता अधिक हैं ? जहां तक जाती है सभी बुद्धिमान् यही कहेंगे कि उक्त युगइयोसे निवृत्तिकी शिक्षा देनेवाले पिता ही अधिक हैं । सम्भव है कोई कोई माता पिता स्वार्थ या मूर्खतावश को उक्त युगइयोंकी शिक्षा भी देंते हों पर ये विरले होते हैं । उन अपवाद स्वरूप पिताकी आशामे यदि पाप होता है तो उनके उदाहरणसे सभी माता पिता पाप ही है यह कौनसा न्याय है ? किसी अपवादका आश्रय लेकर उत्सर्गको युग कहांकी विद्वत्ता है ?

कभी कभी सूर्यग्रहण होने पर दिनमे ही अन्धकार हो जाता है उसे देख यदि कोई सूर्यको अन्धकार फैलानेवाला कहे तो यह मूर्ख है उसी तरह माता पिताके उदाहरणसे जो सभी माता पिताकी आशा माननेमे पाप बनाना मूर्ख है । कोई कोई ऐसी भी दुष्टा माता सुननेमें आई है जिसने अपने पुत्रका कर्म दिया है, क्या उसके उदाहरणसे सभी माताएं पुत्रघातिनी कही जा सकती हैं ? नहीं । जब कि पुत्रघातिनी माताके उदाहरणसे सभी माताएं पुत्रघातिनी नहीं कही जा सकती तब कुकृत्यकी शिक्षा देनेवाले पिताके उदाहरणसे सभी पिता बुरे कैसे कहे जा सकते हैं ? अतः माता पिताका विनय और सेवा शुश्रूषा करनेमें एकान्त पाप कहे शास्त्रविरुद्ध है ।

उवाई सूत्रमे माता पिताकी सेवा भक्ति और उनकी आज्ञा पालन करनेसे स्वर्ग जाना कहा है वह पाठ यह है—

“ सेजे इमे गामागर नगर जाव सन्निवेशेसु मणुआ भवन्ति पगइभइगा पगइउवसन्ता पगइपतणुकोहमानमायालोभा भिउ महव संपन्ना अल्लीणा वीणीया अभ्मापिओउ सुस्सुसगा अम्मा पत्ताणं अणतिक्कमणिज्ज वपणा अप्पिच्छा अप्पारम्भा अप्पपरिगह अप्पेणं आरंभेणं अप्पेणं आरंभसमारंभेणं वित्तिक्पेमाणं महुइं वासाइं आउयं पालयति पालित्ता कालमासे कालं क्रिब अनुत्तरेसुवाणमंतरेसु देवत्ताए उववत्तारो भवन्ति तंचेव सत्त्वं नवर ठिति चौइसवास सहस्साहं ”

(उवाई सूत्र)

अथात ग्राम नगर आदि सन्निवेशमें रहने वाले जो मनुष्य स्वभावसे भद्रक अर्थात् परो करारी हैं । स्वभावसे उपशान्त यानी शीतल हैं, स्वभावसे ही क्रोध मान माया और लोभ

इसके किये हुए हैं। अहङ्कार रहित होकर गुणके आश्रयमें रहते हैं, विनीत हैं, माता पिताके वचन को उल्लङ्घन नहीं करने वाले हैं, माता पिताकी सेवाशुभ्रूपा करते हैं, अल्पारम्भी अल्प-परिग्रही हैं और अल्प आरम्भ समाप्त होने अपनी जीविका चलाते हैं वे बहुत बर्षों तक अपनी आयुको पूर्ण करके बालके अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकर वाण व्यन्तर सञ्च देवलोकमें देवता होते हैं वहाँ वे चौहद हजार वर्ष तक रहते हैं। गैय पूर्व है। यह ऊपर लिखे पाठका अर्थ है।

इसमें कहा है कि परोपकार करनेवाले विनीत और मातापिताकी आज्ञा पालने वाले पुरुष देवलोकमें जाते हैं। यदि मातापिताकी आज्ञा पालन करना उनकी सेवाभक्ति करना एकान्त पापमें होती तो उससे स्वर्ग जाना इस पाठमें क्यों कहा जाना ? स्वर्ग प्राप्ति पुण्यसे होती है पापसे नहीं होती। परन्तु भ्रमविध्यसनकार मूढ़ मतियोंको वहकानेके लिये लिखते हैं—

“अहो महानुभावो ! ए गुण नहीं ए तो प्रतिपक्ष वचन है। जे इहा इम कह्यो सहजे पतला क्रोध मान माया लोभ। क्रोध मान माया लोभ पतला थोडा ते तो अब गुण इज छै थोडा अबगुण छै पिण क्रोधादिक तो गुण नहीं पिण प्रतिपक्ष वचने फरी ओल रायो छै। पनला क्रोधादिक कथा तिवार जाडा क्रोधादिक नहीं ए गुण कहा छे।” यह लिख कर भ्रमविध्यसनकार मूल पाठमें कहे हुए विनयकरण तथा माता पिताके वचन का उल्लङ्घन न करनेको गुण नहीं मानते। अत इनके मतमें विनय करना भी बुरा है और अविनय करना भी बुरा है परन्तु यह बात ग्राह्य और अनुभवसे सर्वथा विरुद्ध है। यदि विनय करना बुरा है तो अविनय करना अच्छा होना चाहिए एव अविनय करना बुरा है हो विनय करना अच्छा होना चाहिए लेकिन विनय और अविनय दोनो ही बुरे हों यह बात नहीं हो सकती है इस पाठमें विनय करना रपष्ट गुण बतलाया है उसे बुरा बनाना शास्त्रसे भी विरुद्ध है।

इसी तरह प्रतिपक्ष वचनका नाम लेकर इस पाठमें कह हुए विनय आदि गुणोंको दोष कहना भी अज्ञान है। जैसे विनयका प्रतिपक्ष वचन अविनय और लज्जामोक्ष मान माया और लोभके प्रतिपक्ष वचन, महान् क्रोध मान माया और लोभ होते हैं उसी तरह माता पिताके वचनको उल्लङ्घन नहीं करनेका प्रतिपक्ष वचन मातापिताके वचनका उल्लङ्घन करना होता है यदि प्रतिपक्ष वचनसे इस पाठमें गुण बतलाये हैं तो भ्रमविध्यसनकारक मतमें माता पिताके वचनको उल्लङ्घन करना गुण कहना चाहिए क्योंकि मातापिता के वचनको उल्लङ्घन न करनेका प्रतिपक्ष वचन उनके वचनको उल्लङ्घन करना होता है। यदि माता पिताके वचनको उल्लङ्घन करना गुण नहीं मानते तो उनके वचनको

नहीं करनेको गुण कहना ही होगा जय कि माता पिताके वचनको उच्छ्वन नहीं करत गुण है तो उसी तरह इस पाठमें विनय आदि करना भी गुण है दोष नहीं है। स प्रतिपन्न वचनका झूठ ही नाम लेकर मातापिताकी सेवाभक्ति धात्रा पालन और किर आदि करनेमे एकान्त पाप कहना शास्त्रमे सर्वथा विरुद्ध है।

(बोल ४० वां)

इति मिथ्यात्वि क्रियाधिका ।



अथ दानाधिकारः ।

कईएक अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप होनेका उपदेश देकर श्रावकोंसे उसका त्याग कराते हैं परन्तु जिस समय कोई दयालु पुरुष, हीन दीन दुःखी अनाथ प्राणीको कुछ देता है और वे दीन दुःखी लेने हैं उस समय एकांत पाप कह कर उसका (अनुकम्पा दानका) निषेध नहीं करते क्योंकि उस समय अनुकम्पा दानके त्याग करानेसे अन्तरायका पाप लगना वे भी मानते हैं। जैसे कि भ्रम० कारने लिखा है—“लेतो देतो इसी वर्तमान देखि पाप न कहे उग वेला पाप कथा जो लेवे छै तेहने अन्तराय पडे त मांटे साधु वर्तमाने मौन राखे” (भ्र० पृ० ५) आगे चल कर भ्र० पृ० ७० पर लिखा है “गजादिक वा अनेरा पुरुष कुआ, तालार, पो, दानशाला विषय उद्यतथयोयको साधु प्रति पुण्य सद्भाव पूछे निवारे साधुने मौन अवलम्बन करनी कही पिण तीन कालने निषेध कस्यो नयी”

वास्तवमें यह प्ररूपणा जैन शास्त्रमें सर्वथा प्रतिकूल है। जैन शास्त्र किसी कालमें भी अनुकम्पा दानका प्रतिषेध नहीं करता। उपदेशमें अथवा भूतकाल और वर्तमान कालमें अनुकम्पा दानको एकान्त पाप कह कर त्याग करानेकी शिक्षा जैन शास्त्र नहीं देता परन्तु इसे पुण्यका भी कारण कहता है इसलिए जो उपदेशमें अनुकम्पा दानको एकान्त पाप कह कर श्रावकोंसे उसका त्याग कराते हैं वे मिथ्यादृष्टि और उत्सूत्रभाषी हैं।

शास्त्रमें अनुकम्पा दानके निषेध करनेसे तीनों ही कालमें अन्तराय होना कहा है परन्तु देनेवाला देता हो और लेनेवाला लेता हो उसी समयमें अन्तराय होना नहीं कहा है। अत उपदेशमें या किसी भी समयमें जो अनुकम्पा दानका निषेध करता है वह अन्तरायका भागी और हीनदीन जीवोंकी जीविकाका अपहरण करनेवाला है। शास्त्र में अर्धम दानको एकान्त पाप कह कर उसका त्याग कराना तीनों ही कालमें धर्म माना है। कोई अर्धम दान दे रहा हो और चोर जा रहिसक प्राणी उसे चोरी जारी हिंसाके लिए ले रहे हो उस समयमें भी साधु समझा बूझा कर उस अर्धम दानका यदि त्याग करावे तो इसमें धर्म ही होता है पर अन्तराय नहीं होता। कोई आभिप्राहिक मिथ्यात्वी न माने तो लाचार होकर साधु यदि मौन रह जाय तो यह बात दूसरी है, परन्तु योग्य पुरुषको किसी भी समयमें समझा कर उससे अर्धम दानका त्याग कराना अन्तराय

देना नहीं किन्तु धर्मका कार्य है। इस प्रकार तीनों ही कालमें अधर्म दानका निषेध करना शारत्र सम्मत है। जो लोग अनुकम्पा दानको अधर्म दानमें गिनते हैं वे वर्तमान कालमें भी अनुकम्पा दानका निषेध क्यों नहीं करते ? क्योंकि अधर्म दानके निषेध करनेमें किसी भी कालमें अन्तराय नहीं कहा है। यदि अधर्म दानके त्याग करानेमें भी अन्तराय लगना कोई माने तो उसके हिसाबसे चोरी जागी हिंसा आदिके लिए दान देने वाले पुण्यसे भी उसके दानका फल एकान्त पाप नहीं कहना चाहिए क्योंकि एकान्त पाप वनलानेमें देनेवाला यदि न देवे तो चोर जाग हिंसक आदिके लाभमें अन्तराय पडता है। यदि चोरी जागी हिंसा आदि महारंभका कार्य करनेके लिये चोर जाग हिंसकको दान देना एकान्त पाप है इसलिए वर्तमानमें भी उसके निषेध करनेसे अन्तराय नहीं होता तो उसी तरह तुम्हारे मतसे अनुकम्पा दान भी एकान्त पाप है इसलिए उसका वर्तमानमें निषेध करनेसे भी अन्तराय न होना चाहिये। यदि कहो कि हम शारत्र विषयोंमें एक समान ही मौन रह जाते हैं अर्थात् 'कोई दयालु किसी दीन दुखीको कुछ दे रहा हो और व्यभिचारार्थ कोई वेश्याको दे रहा हो, तथा चोरी जारी हिंसा लिये कोई चोर जाग और हिंसकको दे रहा हो इन सभी विषयोंमें हम एक समान ही मौन रहते हैं, अन्तरायके भयसे पुण्य पाप कुछ भी नहीं कहते' तो फिर दूसरे अधर्मों में भी आपको ऐसा ही करना चाहिये क्योंकि जैसे अधर्म दान अधर्म है उसी तरह हिंसा करना चोरी करना आदि भी अधर्म है इनका भी वर्तमान कालमें आप लोग निषेध करते हैं ?

कसाईको बकरा मारनेके लिए तैयार देस कर उपदेश द्वाग उसे हिंसा छुड़ानेमें भी आपके सिद्धान्तानुसार अन्तराय लगना चाहिये। यदि हिंसा छुड़ानेमें अन्तराय नहीं लाता तो अनुकम्पा दान छुड़ानेमें भी तुम्हारे मतमें अन्तराय न होना चाहिए क्योंकि जैसे हिंसा करना अधर्म है अधर्म दान देना अधर्म है उसी तरह तुम्हारे मतमें अनुकम्पा दान भी अधर्म है क्योंकि देनेवाला अधर्ममें ही देता है और लेनेवाला अधर्म में लेता है उसका त्याग कर देनेसे दोनोंका अधर्म छूट सकता है अत जिस प्रकार उपदेश द्वाग हिंसा छुड़ानेमें वर्तमानमें भी अन्तराय नहीं होता उसी तरह कोई अनुकम्पा दान दे रहा हो और लेने वाला ले रहा हो उस समय भी अनुकम्पा दानके त्याग करनेमें तुम्हारे हिसाबसे पाप न होना चाहिये। भ० पृ० १५० में लिखा है कि "हिंसक अकार्य करना देखि उपदेश देई ममज्ञावणो" तो किसीको अधर्म दान देते देखकर क्यों नहीं समझाना चाहिये। जैसे हिंसा छुड़ाना धर्म है उसी तरह आपके मतमें अनुकम्पा दान छुड़ाना भी धर्म है अत जैसे वर्तमानमें भी हिंसा छुड़ानेमें आप धर्म मान

सी तरह वर्तमानमे अनुकम्पादान छुड़ानेमे भी धर्म क्यो नहीं मानते ? यदि आप यह कि अनुकम्पा दानके त्याग करानेसे वर्तमान कालमे लेनेके लिए उपस्थित हीन दीनोंकी जीविकामे बाधा पडती है पर कसाईसे हिंसा छुड़ानेमे किसीकी जीविका का नहीं होता इसलिये हम वर्तमान कालमे हिंसाका निषेध करत हे अनुकम्पा दान निषेध नहीं करते तो यह मिथ्या है जिम मामाहारीको मास देनेके लिये कसाई हिंसा ना है उसके लाभका अन्तराय कसाईसे हिंसा छुड़ानेमे भी हो सकता है ऐसी दशामे आपके मतमें उपदेश देकर कसाईसे हिंसा भी नहीं छुड़ानी चाहिए । परन्तु जैसे हिंसा ना अधर्म है उसके छुड़ानेमे कोई अन्तराय नहीं होता उसी तरह अनुकम्पा दान भी आपके मतमे अधर्म है अत वर्तमानमे भी उसका त्याग कराने पर आपको अन्तराय नहीं मानना चाहिए । परन्तु वर्तमानमें अनुकम्पा दानके निषेध करनेमें आप भी अन्तरायका पाप होना मानते हैं इसमे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान, वैश्या पर जार हिंसक प्राणियोको व्यभिचार चोरी आदिके लिये दिया जानेवाला अधर्म दान समान एकान्त पापका कारण नहीं है अतएव अनुकम्पा दानके निषेध करनेसे अन्त-य लगाना कहा है अधर्म दानके निषेध करनेसे नहीं कहा है ।

दशवैकालिक सूत्रमें अनुकम्पा दानके अधिकारियोंको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वारपर डे देख कर उन्हें अन्तराय न देनेके लिए साधुको वहासे हट जाना कहा है परन्तु वैश्या आदिको व्यभिचारार्थ दान लेनेके लिये गृहस्थके द्वारपर सडा देख कर साधुको टल जाना ही कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पुण्य कार्यमे बाधा पहुचानेसे ही अन्तराय होता है एकान्त पापमें बाधा देनेसे अन्तगय नहीं होना वह दशवैकालिक सूत्रकी गाथा यह है—

“समणं माह्णंवापि क्विचिणंवा वणोमगं
उचसंक्रमत्तं भत्तद्वा पाणद्वाएवसंजए
तमइक्कमित्तुनपविसे नविचिट्ठे चप्पखुगोयरे
एगन्तमवक्कमित्ता तत्थचिट्ठिज्जसजाए

(दश वै० अ० ५ उ० २ गाथा १०-११)

अर्थात् भ्रमण माइन करिदि और वनोपकको भिक्षार्थ गृहस्थके द्वार पर गये हुए वा जाते हुए देख कर उनको उलटहन करके साधु भिक्षार्थ गृहस्थके मकानमें प्रवेश न करे और गृहस्थामीने विलोचनमें भी न स्थिर रहे किन्तु जहां गृहस्थकी दृष्टि न पडे वहां एकान्तमें जाकर खड़े ।

यहा दशवैकालिक सूत्रकी गाथाओमे अनुकम्पादान लेनेवाले श्रमण भित्तारी आदिको भिक्षार्थ गृहरथके द्वार पर गये हुए देख कर साधुको उनका अन्तर न देनेके लिये गृहस्थके द्वारसे टल जाना कहा है परन्तु चोर जाह हिंसक वेश्या आदिको चोरी जारी आदि कुकर्मके निमित्त गृहस्थके द्वार पर दान लेनेके लिये देखकर साधुको वहासे टल जाना नहीं कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कार्यमे वाधा देनेसे अन्तरायका पाप नहीं होता पुण्यकार्यमे वाधा पहुचानेसे अन्तराय कर्म बधता है अत अनुकम्पादानका किसी भी समयमे निषेध नहीं करना चाहिये क्योंकि इसमे पुण्यका सद्भाव है अतएव उक्त गाथाओमे अनुकम्पादानमे वाधा पहुचानेसे अन्तराय होना माना है एकान्त पापके कार्य चोरी जारी आदिमे वाधा देनेसे अन्तराय नहीं कहा है इसलिये अनुकम्पादानको एकान्त पापमे बताना मूर्खोंका कार्य है ।

अनुकम्पादान यदि अधर्म दानमें है तो उसके निषेध करनेसे वर्तमानमें भी अन्तराय न होना चाहिये जैसे चोरी जारी हिंसा आदि कुकर्म करनेके लिये उद्यत हुए पुरुषको वर्तमानमे भी निषेध करनेसे अन्तराय नहीं लगता उसी तरह अनुकम्पादानको एकान्त पाप कहनेवालोंके मतमे वर्तमानमे भी उसका (अनुकम्पादानका) निषेध करनेसे अन्तराय न होना चाहिये । यदि कहे कि चोरी जारी हिंसा आदिके निषेध करनेसे किसीके स्वार्थमे वाधा नहीं होती इसलिये वर्तमानमे भी चोरी जारी हिंसा आदिके निषेध करनेसे अन्तराय नहीं होता परन्तु अनुकम्पादानके निषेध करनेसे दान लेनेवालेके स्वार्थमें हानि होती है इसलिये हम वर्तमानमें अनुकम्पादानका निषेध नहीं करते तो यह बात अयुक्त है चोरके चोरी छुडानेसे उसके कुटुम्बके भरण पोषणमे वाधा पहुचती है एवं जाह को जारीका त्याग करानेसे उसकी प्रियाके कामसुखकी हानि होती है एवं हिंसकके हिंसा छुडाने पर मासाहारीके मास भोजनमें क्षति होती है ऐसी दशामे (उक्त जीवोंके स्वार्थमें वाधा पहुचने पर भी) चोरी जारी हिंसा आदिका वर्तमानमे त्याग करा देना यदि अन्तराय रूप पापका कारण नहीं है तो हीन दीन प्राणियोंके स्वार्थमें वाधा पहुचने पर भी वर्तमान कालमे अनुकम्पादानके निषेध करनेसे तुम्हारे मतमें पाप न होना चाहिये ? परंतु तुमने वर्तमानमे अनुकम्पादानका निषेध करना अन्तरायका कारण माना है और शास्त्र में सभी कालमे अनुकम्पादानका निषेध करना पापका हेतु कहा है अत अनुकम्पादानको एकान्त पापमे स्थापन करके उपदेशमे उसके त्यागकी शिक्षा देना अनुकम्पादोद्विषोंका कार्य है ।

अनुकम्पादानको एकान्त पापमें कायम करने वाले मनुष्योंसे यह भी पूछना चाहिये कि एक पुरुष दायमें रोटी लेकर भिक्षुकोको देनेके लिये धर्मशालामे जा रहा है और

ग रुपये लेकर व्यभिचारार्थी वैद्याको देने जा रहा है, तीसरा स्वयं खाने और दूसरा मास खिलानेके लिये छुरी लेकर बकरा मारने जा रहा है चौथा अपने परिवार के खणके लिये चोरी करने जाता है इन सभी पुण्योसे मार्गमें यदि साधु मिलें तो वह उसको एकांत पापकी शिक्षा देकर त्याग कराने और किमके विषयमें मोन रहे ? यदि नहो कि हाथमें रोटी लेकर भिक्षुकोको देनेके लिये धमजालामे जाते हुए पुण्यके विषयमें साधु मोन रहें और शेष सभी लोगोको एकान्त पापका उपदेश देकर उनसे चोरी व्यभिचार और हिंसाका त्याग कराने तो यहा यह प्रश्न होता है कि तुम्हारे मतमें अनुकम्पादान देना भी तो चोरी जारी और हिंसाके समान ही एकान्त पाप है फिर अनुकम्पादान देनेके लिये जाने वालेके विषयमें साधु क्यों मोन रहता है ? तुम्हारे हिंसासे उमको भी त्याग करा देना चाहिये । परन्तु तुम लोग भी अनुकम्पादानके विषयमें वर्तमानमें मोन रह जाते हो उमका त्याग नही कगते इसमें स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पादान चोरी जारी और हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका काय्य नहीं किन्तु पुण्यका भी कारण है ।

कई अनुकम्पादानके विरोधी, ऐमा कुतर्क करते हैं कि “अनुकम्पादानमें यदि पुण्य है तो श्रावकोंको सामायक और पोषा न कराना चाहिये क्योंकि सामायक और पोषामें पैठा हुआ श्रावक अनुकम्पादान नहीं देता इसलिये हीन दीन जीवोकी जीविकामें बाधा पड़ती है” जैसे कि भ्रम० कारणे लिखा है “बली कोईने सामायक पोषो करावगो नहीं सामायक पोषामें कोईने देवे नहीं यदपिण इहा अन्तराय कर्म बंधे छै” (भ्र० पृ० ५१)

इसका उत्तर यह है—श्रावक सामायक और पोषा विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके लिये करते हैं न कि अनुकम्पादानसे अपनेको बचानेके लिये । अनुकम्पादान दना सामान्य गुण है और सामायक पोषा करना विशिष्ट गुण है उम विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके समय सामान्य गुणका त्याग होना स्वाभाविक है । जैसे दिशाकी मर्यादा करने वाला जो श्रावक घरसे बाहर जानेका त्याग किया हुआ है वह मुनिराजक सम्मुख भी उनके स्वागतार्थ नहीं जाता इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि मुनिराजके सम्मुख जाना छोड़नेके लिए इमने दिशाकी मर्यादा की है । तथा मुनिराजक स्वागतार्थ उनके सम्मुख जाना एकान्त पाप भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस श्रावकने विशिष्ट गुणकी प्राप्तिके लिये दिशाकी मर्यादा की है मुनिराजके सम्मुख जानेको एकान्त पाप जान कर उम छोड़नेके आशयसे नहीं उमी तरह सामायक और पोषा करने वाला श्रावक एकांत पाप जान कर अनुकम्पादान दना नहीं छोड़ना है किन्तु विशिष्ट गुणका उपार्जन करत समय सामान्य गुण उसमें छूट जाता है अत अनुकम्पादानको एकान्त पाप जान कर श्रावक सामायक और पोषामें उसका त्याग करते हैं यह कहनेवाले अविचेकी हैं ।

जो श्रावक विशिष्ट निर्जगके निमित्त वैगयभावसे स्वयं उपवास करना है और उपदेश देकर अपने परिवारको भी उपवास कराता है वह उस रोज धर्ममें नसोई न साधुको आहार पानी नहीं देता, तो भी उसको साधुदानका अन्तराय नहीं होता विशिष्ट निर्जगका लाभ होता है क्योंकि उसने साधुदानमें अन्तराय देनेके लिये धर्म नहीं किया है उसी तरह जो श्रावक सामायक और पोषा करते हैं उनको अनुकम्पादानका अन्तराय नहीं होता किन्तु विशिष्ट गुणकी प्राप्ति होती है क्योंकि अनुकम्पादानके त्यागनेके उद्देश्यसे श्रावक सामायक और पोषा नहीं करते। अतः एकान्त पाप जान कर सामायक और पोषामें उसका त्याग बनलाना अज्ञानियोंका कार्य है।

भूत भविष्यत और वर्तमान तीनों ही कालमें अनुकम्पादानका निषेध करना शास्त्र में वर्जित है। जैसे कि सुयगडाग सूत्रमें लिखा है—

“जेयणं पडिसेहंति वित्तिच्छेयं करंतिते”

अर्थात् जो अनुकम्पादानका निषेध करते हैं वे हीन हीन जीवोंकी जीविका का उच्छेद करते हैं।

यहां वर्तमान कालका नाम न लेकर सभी कालमें अनुकम्पादानका निषेध करना मना किया है इसलिये जो किसी भी कालमें अनुकम्पादानका निषेध करते हैं वे हीन हीनजीवोंकी जीविकाका छेदन करनेवाले पापी हैं। भ्रमविध्वसनकारने इस गाथाको लिख कर इसके नीचे टब्बा अर्थ लिखा है वह टब्बा अर्थ यह है “जे गीतार्थ दाननेनिषेधे ते वृत्तिच्छेद वर्तमान काले पामवानो उपाय तेहनो वित्र करे” तथा इस पाठकी समालोचना करते हुए भ० कारने लिखा है “दान लेवे ते देवे छै ते वेला निषेध्या वृत्तिच्छेद हुवे अतः जेलेवे ते देवे न थी तो वृत्तिच्छेद किम हुवे। ते माटे वृत्तिच्छेद वर्तमान काले इज छै। वली सुयगडागनीवृत्ति शीलाकाचार्य्य की धी ते टीकामें पिण वर्तमान कालरो इज अर्थ छै” परन्तु यह विलकुल मिथ्या है सुयगडाग सूत्रकी उक्त गाथामें वर्तमान कालका नाम तक नहीं है और शीलाकाचार्य्यने जो उक्त गाथाकी टीका लिखी है उसमें भी वर्तमान कालका जिक्र नहीं है किन्तु गाथा और उसकी टीकामें सामान्यरूपसे सब कालक लिए अनुकम्पादानका निषेध करना वर्जित किया है। वह गाथा लिखी जा चुकी है उसकी टीका यह है—“येचकिलसूक्ष्मधियोवयमितिमन्यमानाआगमसद्भावानभिज्ञा प्रतिषेधन्ति तेऽप्यगीतार्था प्राणिना वृत्तिच्छेद वर्तनोपाय वित्र कुर्वन्ति” अर्थात् जो अपने को सूक्ष्मदर्शी मानने वाले आगमके तत्त्वको न जाननेके कारण अनुकम्पादानका निषेध करते हैं वे गीतार्थ नहीं हैं क्योंकि वे प्राणियोंकी जीविकामें बाधा देते हैं।

यहा टीकाकारने वर्तमान कालका नाम न लेकर किसी भी कालमे अनुकम्पादान का निषेध करनेवालेको अगीताथे और प्राणियोंकी जीविकाका विनाश करनेवाला कहा है इस लिए इस टीकाका नाम लेकर वर्तमान कालमे ही अनुकम्पादानके निषेध करनेसे पाप कहना मूर्खों का काव्य है । भ्रमविध्वंसनकारने जो सुयगडागकी इस गाथाक नीचे टक्का अर्थ दिया है वह मूल गाथा और उसकी टीकासे विरुद्ध होनेके कारण अप्रामाणिक है उसका आश्रय लेकर जनतामे भ्रम फैलाना साधुओंका काव्य नहीं है । भ्रमविध्वंसनकी पुरानी प्रतिमे तो शीलाकाचाव्य्यकी टीकामे आये हुए “वतन” शब्दका वर्तमान काल अर्थ किया है । वह लेख निम्न लिखित है—

“वृत्तिच्छेद वर्तनोपाय वित्र कुर्वन्ति ”

“वृत्ति० आजीविका तेहने छे० छेद व० वर्तमान काले उ० पामवानों उपाय तेहने वि० वित्र क० करे ते अवित्रेकी ”

यहा जीतमलजीने “वर्तन” शब्दका वर्तमान अर्थ किया है परन्तु यह सर्वथा मिथ्या है । वर्तन शब्दका अर्थ आजीविका है वर्तमान काल नहीं । टीकाकारने मूल गाथामे आये हुए “वृत्ति” शब्दका अर्थ वर्तन लिखा है इसलिए “वृत्ति” शब्दका वर्तन शब्द पर्याय शब्द है यह वर्तमान अर्थका वाचक नहीं हो सकता तथापि मूर्ख जनताको भ्रममे डालनेके लिये अथवा अज्ञतावश जीतमलजीने “वर्तन” शब्दका वर्तमान अर्थ लिखा है ऐसे लोगोंसे न्यायकी आशा करना दुःशा मात्र है ।

भविष्यमे होनेवाले लाभमें वित्र पहुचानेसे “पिहितागामिपथ” नामक अन्तराय लगता है । ठागाङ्क सूत्रमें अन्तरायका भेद बतलानेके लिए यह पाठ आया है—

“अन्तराहए कम्मे कुचिहे पण्णत्ते तज्जहा—

पहुप्पन्नविनासिए पिहितागामिपह ”

अथात् अन्तराय कर्म दो प्रकारके कहे हैं एक प्रत्युत्पन्नविनासी और दूसरा पिहितागामि पथ । वर्तमानमें मिलती हुई वस्तुको न मिलने देना “प्रत्युत्पन्न विनासी” कहलाता है । और भावी लाभके मार्गको रोक देना “पिहितागामिपथ” नामक अन्तराय कहलाता है ।

यहा ठागाङ्कक मूल पाठमे भावी लाभके मार्गको रोक देनेसे अन्तराय लगना कहा है इसलिए भ्रमविध्वंसनकारने जो यह लिखा है कि “अन्तराय तो वर्तमान कालमे इच कड़ी छै विग और वेला अन्तराय कतो नहीं” यह निलसुल शास्त्रविरुद्ध है । ठागाङ्कके उक्त पाठमे भविष्य कालमे भी अन्तराय कडा है इसलिए जो लोग उपदेश में एकान्त पाप कइ कर अनुकम्पा दानका त्याग करते हैं वे ठागाङ्क सूत्रके मूल पाठानुसार “पिहिता गामि पथ” नामक अन्तरायके भागी हैं ।

इस पाठमें आनन्द श्रावकने अन्य यूथिकको गुरु बुद्धिसे दान देनेका त्याग किया है। अतएव इस पाठकी टीकामें टीकाकार लिखा है "अयंच निषेधो धर्म बुद्धेयत्र, करुणयातु दशादपि" अर्थात् यह जो अन्य यूथिकको दान देनेका निषेध है यह धर्म बुद्धि (गुरु बुद्धि) से ही समझना चाहिए अनुकम्पासे नहीं, अनुकम्पा करके अन्य यूथिकको दे भी सकते हैं। यहा टीकाकारने गुरु पाठका आशय बनलात हुए अन्य यूथिकको गुरु बुद्धिमें ही दान देनेका निषेध बनलात है अनुकम्पासे नहीं अतः आनन्दका नाम लेकर अनुकम्पादानका निषेध करना अज्ञानियोंका कार्य है।

कोई अज्ञानी यहा यह कुतर्क करते हैं कि अन्ययूथिकको दान देना यदि पुण्य का कारण है तो अन्य यूथिकको वन्दन नमस्कार करना पुण्यका कारण क्यों नहीं? उन लोगोंसे कहना चाहिये कि अनुकम्पा दान, अनुकम्पा लाकर दिया जाता है इस लिए इसमें पुण्य है क्योंकि अन्य तीर्थीपर अनुकम्पा करना भी पुण्यकाही कारण है परन्तु वन्दन नमस्कार करना नहीं, क्योंकि वन्दन नमस्कार पूज्य बुद्धिसे किया जाता है और अन्य तीर्थीमें पूज्य बुद्धि रखना समकितका अतिचार है इसलिए अन्य यूथिकको वन्दन नमस्कार करना पुण्य नहीं है।

आनन्द श्रावकने अन्य यूथिकको जिस प्रकार पूज्य बुद्धिसे वन्दन नमस्कार करनेका त्याग किया था उसी तरह पूज्य बुद्धिसे उन्हें दान देनेका भी त्याग किया था अनुकम्पा दानका नहीं, अतः आनन्दका नाम लेकर अनुकम्पा दानको उडाना मुखौटा कार्य है।

उपासक दशाङ्गके उक्त मूल पाठमें "दाऊ वा " अणुप्पदाऊ वा" ये दो शब्द आये हैं इनका अर्थ जीवनमलज्जिने देना और दूसरेमें दिलाता लिखा है परन्तु "अणुप्प-दाऊ वा" इस पदका दिलाता अर्थ नहीं होता बार बार देना अर्थ होता है तथा उक्त पाठ में आये हुए "वित्ति कनारेण" इस पदका अर्थ भी इन्होंने अशुद्ध किया है। जैसे कि भ० पृ० ५३ में लिखा है "वि० अटयो कातारने निषे कारणे आगार" यह अर्थ विलकुल अशुद्ध है। टीकाकारने इसका अर्थ इस प्रकार किया है "वृत्ति जीविका तस्या कान्तारम् अगण्य तदिव कान्तार क्षेत्र कालोवा वृत्ति-कान्तारम् निर्वादा भावइत्यर्थ ।

अर्थात् "घोर जङ्गलनी तरह जीविकाके लिये कठिन क्षेत्र या कालका आना" कहलाता है। निर्वाह न होना इसका तात्पर्य है।"

एसे मरल स्वर्थाको जो अशुद्ध टन्वा अर्थका आश्रय लेकर विपरीत बनलाना है एसे शास्त्रके यथार्थ अभिप्रायको समझने और प्रकट करनेकी आज्ञा रचना दुर्गशास्त्राचार्यनी चाहिये ।

(बोल २)

प्रश्न (प्रश्नक)

अन्य तीर्थीको गुरु बुद्धिसे दान देनेका निषेध, शास्त्र कता है अनुकम्पाशक्त न देनेका नहीं इसलिये हीन दीन दुखीको अनुकम्पाशक्त दाना एकान्त पाप नहीं है इ ज्ञात हुआ । अथ शास्त्रके मूलपाठसे यह घतलाइये कि किम अभिप्रहारी चारह धरणी श्रावकने वाग्ध धन धारण करनेके पश्चात् हीन दीन दुखी जीवोंको अनुकम्पा दान दिया है ?

(प्रश्नक)

राजप्रदनीय सूत्रमें आनन्द श्रावकी तरह अभिप्रहारी ममन्ति सहित वाग्ध धरणी राजा प्रदेशीका चारह धरत धारण करनेके पश्चात् हीन दीन दुखी जीवोंको दानाला गोल कर अनुकम्पादान देना लिखा है यह अभिप्रहारी वाग्ध धरणी श्रावक अनुकम्पा दान देनेका पूर्ण उदाहरण है । राजाप्रदेशी आनन्द श्रावकके समान ही वाग्ध धरणी श्रावक होनेके कारण अन्य तीर्थीको दान सम्मान पूजा प्रतिष्ठा आदि देनेकानेका अभिप्रह धारण किया हुआ था तो भी उसने हीन दीन जीवोंको अनुकम्पा दान दिया, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अन्यतीर्थीको अनुकम्पा लाकर दान देनेका श्रावकोंको अभिप्रह नहीं होता पूज्य बुद्धिसे देनेका होता है अतः अन्य तीर्थी पर अनुकम्पा लाकर दान देनेमें एकान्त पाप करने वाले मिथ्यावादी हैं ।

यदि कोई यह पूछे कि राजा प्रदेशी आनन्द श्रावककी तरह अभिप्रह धारी था इसमें क्या प्रमाण है ? तो उसके लिए आश्रयक सूत्रका मूल पाठ प्रमाण दिया जाता है । वह पाठ यह है—

‘तत्थ समणोवासओ पुब्बामेव सिच्छत्ताओ पटिकमह सम्मत’ उवसंपज्जह । नो से कप्पह अज्जप्पभिइ अन्नउत्थिग्वा ’ इत्थादि ।

(आश्रयक सूत्र)

यह पाठ हर एक समकितधारीके लिए कता है इस लिए सभी समकितधारी श्रावक अन्य तीर्थीको दान सम्मान पूजा प्रतिष्ठा न करनेका अभिप्रह धारण करन हैं ।

राजा प्रदेशी भी समकित सहित बागह धनधारी था इसलिए वह भी आनन्द
समान ही अभिप्रहारी था तथापि उसने जो दानशाला खोल कर हीन दीन
अनुकम्पा दान दिया था इससे अन्यतीर्थोंको अनुकम्पा दान देना श्रायको
सिद्ध होता है । राजा प्रदेशीने हीन दीन जीनोंको अनुकम्पा दान दिया था यह मू-
ल्यिक्त कर बताया जाता है ।

“नणं पणसो राया केशीकुमार समणं एवं वयासो नो
भन्ते ! अहं पुब्बिं रमणिज्जे भवित्ता पच्छा अरमणिज्जे
स्सामि । जहासे वनखंडेडवा जाव खलवाडेडवा । अहं ण
वियाप्पमोकखाइं सत्तगगाम सहस्साइं चत्तारिभागे करिस्सामि ।
एगे भागे वल वाहणस्स दलइस्सामि एगे भागे कोट्टागारे दलइस्सामि
एगे भागे अन्तेउरस्स दलइस्सामि एगेणं भागेणं महइमहाण
कूडागारसालं करिस्सामि । तत्थणं बहुहिं पुरिसेहिं दिण्णभति
भत्तवेयणेहिं विउलं असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खंडावेण
बहुणं समणमाहणभिक्षुयाणं पंथियपहियाणय परिभोय माणे
बहुहिं सोल पच्चक्खाण पोसहोववासेहिं जाव विहरिस्सामिति कइ
जामेव दिस पाउभुए तामेव दिसं पडिगए । ततेण पएसी
कल्लं पाओ जाव तेजसा जलन्ते सेयं वियाप्पमोकखाइं सत्तगगाम
सहस्साइं चत्तारि भाए करेति । एगं भागं वलवाहणस्स दलइस्सामि
जाव कूडागार सालं करेति तत्थ बहुहिं पुरुसेहिं जाव उवक्खंडा
वेत्ता बहुणं समण माहणाणं जाव परिभोण्णमाणे विहरति ”

(राजप्रतीय सूत्र)

अथ —

इसके अनन्तर राजा प्रदेशीने केशीकुमार श्रमण मुनिसे कइ कि हे मुने ! पहले मैं
होकर पदवात् वन खण्ड यावन खलिहानकी तराई में अरमणीय न बनूंगा । किन्तु स्वतन्त्र
प्रभृति मान हजार गावोंको चार भागोंमें बाँट कर एक भाग बलवाहनके लिये दूसरा कोक
के लिये और तीसरा अथ पुरके लिये दूंगा । गेप चौथे भागसे अति विनाश दानशाला
कर उसमें बहुतसे भैतन भोगी पुत्रोंको नौकर रख कर उनके द्वारा चतुर्विध आहार तैयार
कर श्रमण माहान भिक्षुक और राहगीरोंको भोजन कराता हुआ और शील प्रत्याप्याय

उत्सव कला हुआ याचन् म विचरुगा यह कह कर राजा प्रदेशी जिधरसे आया था बहा गया । अनन्तर दूसरे दिन तेजसे प्रज्वलित सूर्योदय होनेपर राजा प्रदेशीने श्वत्ताम्बिका के सात हजार गावोंको चार भागोंमें विभक्त करके एक भाग बल याहनको दूसरा कौण्डिन्ये तीसरा भर पुरको प्रिया और चौथे भागसे अतिप्रिया दानशाला बनवा कर उसमें बहुतसे खर कर उनका द्वारा अन्ननादि धनुर्विद्य आहार तय्यार कराकर बहुतसे भ्रमग माहन कर और राहगीरोंको भोजन देता हुआ विचरने लगा ।

यहा राजा प्रदेशीय सूत्रके ऊपर लिखे हुए मूल पाठमें राजा प्रदेशीका दानशाला कर भ्रमग माहन भिक्षुक आदिको अनुकम्पा दान देना स्पष्ट लिखा हुआ है इससे द्र होता है कि समकालिके साथ धारह व्रत धारण करने वाले श्रावकोंका अन्य तीथा गुरु बुद्धिसे दान न देनेका ही अभिप्रह होता है अनुकम्पा दान देनेका नहीं । यथा आनन्द श्रावकके समान ही अभिप्रह धारी वारह व्रतधारी श्रावक होकर राजा की भ्रमग माहन भिक्षुकोको अनुकम्पा दान क्यों देता ? तथा कैशीकुमार भ्रमग नि, अनुकम्पा दान देनेके लिए राजाकी प्रतिज्ञा सुन कर उसे क्यों नहीं इस कार्यसे एक दिया ? जिस समय राजा प्रदेशीने मुनिके समक्ष रमणीय बने रहनेकी प्रतिज्ञा कृता हुआ दानशाला बनानेकी इच्छा प्रकट की थी उस समय कोई याचक वश दान देनेके लिए आया भी न था और राजा उसे कुछ देता भी न रहा था ऐसी दशामे कैशी कुमार मुनि यदि राजाको अनुकम्पादानमें पाप व्रता कर गेक देते तो उनको जीतमल जीके सिद्धान्तानुसार अन्नराय भी न होता, क्योंकि जीतमलजीने भ्र० पृ० ५० पर लिखा है कि —“लेनो देतो इमो वनमान दोरल पाप न कहे उग वेला पाप कथा जे लेने तहो अन्नराय पडे ते माटे साधु वनमाने मौन राखे ” यहा जीतमलजीने वतमानमें ही अनुकम्पा दानके निवेत्रमें अन्नराय माना है दूसरे कालमें नहीं इसलिये राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दानसे यदि मुनि वारण कर देते तो उस समय उनको अन्नराय भी न होता और राजा प्रदेशी एक नवीन पापसे भी बच जाता परन्तु मुनिने राजाको अनुकम्पा दान देनेमें जारग नहीं किया और यह भी नहीं कहा कि “गजन् । तुम यह क्या कह रहे हो । अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप है इस कार्यक आवरण कानसे तुम्हाग अभिप्रह टट जायगा और तुम फिर अगमगीय हो जाओगे ” किन्तु मुनिने अनुकम्पा दान देनेकी प्रतिज्ञा सुन कर मौन धारण किया था इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है तथा अभिप्रह धारी श्रावकोंको अन्यतीर्थीके लिए अनुकम्पा दान देनेका त्याग नहीं होता किन्तु गुरु बुद्धिसे दान देनेका त्याग होता

है इस लिए जो अनुकम्पा दानमें एकान्त पापका उपदेश देकर श्रावकोंसे उम्मा कराते हैं वे हीन दीन जीवोकी जीविकाका उच्छेद करने वाले अज्ञानी हैं ।

(बोल ३)

(प्रेरक)

आपने प्रदेशी राजाका उदाहरण देकर राजप्रवृत्तीय सूत्रके प्रमाणसे हीन जीवोको अनुकम्पा दान देनेमें पुण्यका सद्भाव बतलाया परन्तु भ्र० कार भ्र० पृ० पर लिखने है—“बलीगय प्रसेनीमें प्रदेशी दानशाला मडाई कही छै । राजरा चा करने आप न्यारो होय वम ध्यान करवा लाग्यो । केशी स्वामी वी हुई ठाम साधो छै पिग इम न कश्यो हे प्रदेशी तीन भागमें तो पाप छै पर चौथो भाग दान शाला रो काम तो पुण्यरो हेतु छै । धारो भल्यो मन उठो ओतो मच्छो काम करी विचारयो इम चौथा भागने सरायो नहीं केशी स्वामी तो वो हुई सावद्यजाणीत मैं साधो छै । तेमाटे तीन भागरो फल जिसोई चौथो भागरो फल छै ” (भ्र० पृ० ५५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दानशाला बनया कर हीन दीन दुःखी जीवोंको दान देनेकी प्रतिज्ञा मुन क केशी स्वामीने जो मौन धारण किया इमका तात्पर्य यह नहीं हो सकना कि अनु कम्पा दान एकान्त पापका कार्य्य था । क्योंकि एकान्त पापके कार्य्यकी प्रतिज्ञा मुन कर माधु मौन धारण नहीं करते, उपदेश देकर उसका निषेध करते हैं । साधु ममत्त यदि कोई हिंसादि दुरुम करनेका विचार प्रकट करे तो उस समय साधु मौन धारण न करके उस कार्य्यका प्रतिषेध करते हैं । अनुकम्पा दान दना यदि हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य होता तो उस कार्य्यके लिए प्रदेशीको प्रतिज्ञा करने देर कर मुनि कदापि मौन न होते किन्तु धर्मोपदेश देकर उस कार्य्यसे उन्हे अवगत गेकते । अत मुनिने राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दान देनेकी प्रतिज्ञा करते हुए देर कर निषेध न करके जो मौन धारण किया था इमसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अनुकम्पा दान देना हिंसा आदिकी तरह एकान्त पापका कार्य्य नहीं है किन्तु इमसे पुण्य भी होता है । अतएव केशी स्वामीने राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दान देनेसे नहीं रोका था किन्तु मौन होकर रहे अत केशी स्वामीके मौन होनेका अभिप्राय अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप होनेकी बात बतलाना मूर्खोंका कार्य्य है ।

भीषणजीने अनुकम्पा दानका यहा तक त्रिगेव किया है कि यदि कोई अनुकम्पा दान देनेका त्याग कर दवे तो उसे उन्हेन अतिशय बुद्धिमान कहा है देखिये—भीषणजीने इस अभिप्रायक ये पत्र हैं—

“अत्रनमे दान द, तेहनो टालन मे कर उपायजी ।
जाने कर्म जेधे ठै म्हायं मोने भोगप्रता दु म्हायजी ।
अत्रनमे दान देया तगू कोई त्याग करे मन शुद्धजी ।
निणगे पाप निगन्तर टालियो तीगगी चीर चरणी बुद्धिजी ।”

(पत्र भीषणजीक)

इन पत्रोंमें भीषणजीने अत्रनम दान न देने वाले की बुद्धिकी प्रशंसा चीर प्रमुसे किया जाना कहा है परन्तु कशी स्वामीने राजा प्रदेशीसे अत्रनमे दान देनेका त्याग नहीं कराया । यदि भीषणजीकी उक्ति सत्य होती तो केसी स्वामी राजा प्रदेशीको अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कह कर उनका अवश्य त्याग कराने, मौन होकर न रहत । अन अनुकम्पा दानमे एकान्त पाप धनाने वाले मिथ्यावादी हैं ।

इसी तरह भ्रमत्रिध्वंसनकारने जो यह लिखा है कि “राजरा चार भाग करने आप न्यारे होय धमध्यान करवा लायौ” यह भी मिथ्या है । राजप्रदशीय सूत्रक मूल पाठमे अनुकम्पादान दत्त हुए राजा प्रदशीको धर्मध्यान करना लिखा है दान देनेसे न्यारा होकर धर्मध्यान करना नहीं । देखिये वहाका पाठ यह है—

“तत्थ बृहर्हि पुरिसर्हि जाव उपम्सडावेत्ता
जहुण समण माहणाण परिभोयमाणे विहरति”

अर्थात् राजा प्रदेशी दानशालाम जहुन पुम्पोक द्वाग चतुर्विंश आहार तय्यार करा कर बहूनसे श्रमण माहन और राहगीरोको भोजन कराना हुआ विचरने लगा ।

यहा मूलपाठमे दान देनेसे न्यारा होकर राजा प्रदशीका विचरना नहीं किंतु दान देने हुए विचरना लिखा है । अन राजा प्रदशीका दान देनेसे न्यारा होकर विचरनेकी प्ररूपणा मिथ्या है ।

(बोल चौथा)

(प्रेरक)

असयतिको अनुकम्पा लाकर दान देना यदि एकान्त पाप नहीं है तो भगवती शनक ८ उद्देशा ६ मे असयतिको दान देनेसे एकान्त पाप होना क्यों कहा ? भ्रमविध्वंसनकारने भ्रमत्रिध्वसन पृष्ठ ५५ पर इस त्रिपयमे यह लिखा है “अथ अठे तथारूप अस-

यत्तिने फासु अफासु सूक्ष्मो असूक्ष्मो अशनादिक दधे ते श्रावकने एकान्त पाप कथो हे”
(ध्र० पृ० ५५) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूल पाठमें तथारूप असंयतिको गुरु बुद्धिने दान देनेसे एकान्त पाप होता कडा है अनुकम्पादान देनेसे नहीं । टीकाकारने इस विषय को गोल कर लिया दिया है । वह टीका यह है—

“सुत्र त्रयेणाऽपि चानेन मोक्षार्थं मेव यद्दानं तच्चिन्तितम् यत्पुनरनुकम्पादानं मौचित्य दानं स्यात्तन्न चिन्तितम् । निर्जरायास्तत्रानपेक्षत्वात् अनुकम्पाचित्ययोर्व्यापेक्षणीयत्वात् । उक्तञ्च मोक्षस्यैव ज दाणं त पइ एसो विही समस्यत्वात् अनुकम्पादाणं पुग जिणेहिं न कहिंन्चि पडिसिद्धं ॥”

अर्थात् भगवती शतक आठ उद्देशा ७ के इन तीन सूत्रोंमें मोक्षके लिये जो दान दिया जाता है उसीका विचार किया गया है अनुकम्पादान और औचित्यदानका नहीं । अनुकम्पादान और औचित्य दानमें अनुकम्पा और औचित्य ही अपेक्षित होते हैं निर्जरा अपेक्षित नहीं होती (अतः निर्जराकी अपेक्षासे किये जाने वाले मोक्षार्थ दानका इन सूत्रोंमें फल कथन समझना चाहिये) कडा भी है—जो दान मोक्षके निमित्त दिया जाता है उसीका विधान भगवती शतक आठ उद्देशा ६ के तीनों सूत्रोंमें किया है दूसरे दानका नहीं क्योंकि जिनपराने अनुकम्पादानका कहीं भी निषेध नहीं किया है । यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है ।

इसमें टीकाकारने भगवतीशतक ८ उद्देशा ६ के तीनों मूलपाठोंका तात्पर्य बतलाते हुए मोक्षार्थ दानका ही इन पाठोंमें विचार किया जाना बतलाया है अनुकम्पा तथा औचित्य दानका नहीं । तथा हरिभद्र सुग्निने भी यही बात कही है । उनका पद्य निम्नलिखित है—

“शुद्ध वा यदशुद्धं वाऽस्यताय प्रदीयते ।

गुरत्वशुद्ध्या तत्कर्म बन्धं कृन्वानु कम्पया”

अर्थात् शुद्ध, या अशुद्ध जो गुरु बुद्धिसे असंयतिको दिया जाता है वही कर्म-बन्धका कारण है, जो अनुकम्पासे दिया जाता है वह नहीं । यह उक्त पद्यका अर्थ है । इसमें हरिभद्र सुग्निने भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठका आशय बतलाते हुए अनुकम्पादानका निषेध नहीं किया जाना स्पष्ट लिखा है । तथा आगे चलकर अनुकम्पादानका शुभ फल बतलाते हुए यह लिखा है—

“शुभाशयं करं ह्येतदामहच्छेद कारिच ।

सदभ्युदय सारागं मनुकम्पा प्रसूति च ॥

अर्थात् अनुकम्पा दान देनेसे चित्तकी शुद्धि, और धनके प्रति ममताका नाश तथा ल्याणानुबन्धी कल्याणकी प्राप्ति होती है और अनुकम्पाभावके उदय होनेसे यह दान दिया जाता है ।

इस श्लोकमें हरिभद्र सूत्रिने अनुकम्पादानका फल एकान्त पाप न रह कर डमें ल्याणानुबन्धी कल्याणका कारण कहा है अतः भगवती शतक ८ उद्देशा ६ क मूलपाठ । असयतिको मोक्षार्थं गुरु बुद्धिसे दिया जाने वाला दानका ही फल एकान्त पाप कहा गया है अनुकम्पादानका नहीं इसलिये भगवती शतक ८ उद्देशा ६ का नाम लेकर अनुकम्पादानमें एकान्त पाप कहना सूत्रार्थ न जानने वालोंका कारण है ।

यदि कोई कहे कि “हरिभद्र सूत्रि और भगवती सूत्रका टीकाकार यद्यपि असयतिको अनुकम्पा दान देनेसे एकान्त पाप होना नहीं कहते तथापि यह बात मूलपाठसे नहीं निकलती । मूलपाठमें किसी दान विशेषका नाम न लेकर असयतिको दान देनेमें एकान्त पाप कहा है इसलिये टीकाकार और हरिभद्रसूत्रिके कथनमें कोई प्रमाण नहीं है” तो इसका उत्तर यह है कि टीकाकार और हरिभद्र सूत्रिका पूर्वोक्त कथन निराश्रय नहीं है वह भगवतीके इस मूलपाठसे ही निकलता है । यह बात मूल पाठ लिख कर बताई जाती है । वह मूलपाठ यह है—

“समणोवासएणं भन्ते ! तहारूवं असजय अविरय अपट्टिय पच्चस्त्राय पाव कम्मे फासुण्णवा अफासुण्णवा एसणिज्जेणवा अणे-सणिज्जेणवा असणपाण जाव किं कज्जड ? गोयमा ! एगतसो से पावे कम्मे कज्जड नत्थिसे काइ निज्जरा कज्जइ”

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

इस पाठमें सभी असयतिओंका नाम न लेकर तथा रूपमें असयतिको दान देनेसे आवश्यकको एकान्त पाप होना कहा है । तथारूपका असयति वह है जिसको लोकमें गुरु बुद्धिसे दान दिया जाता है और जो अन्य तीर्थियोंके शास्त्रानुसार लिङ्ग रखना हुआ अन्य तीर्थी धर्मकी स्थापना करता है उसीको दान देनेसे एकान्त पाप होना कहा है इसलिये भगवती सूत्रके इस मूलपाठ से ही यह बात निकलती है कि गुरु बुद्धिसे असयतिको दान देना एकान्त पापका कारण है अतः भगवतीके टीकाकार और हरिभद्र सूत्रिका पूर्वोक्त कथन स्वकपोल कल्पित न होकर मूल पाठमें अनुसार ही है उमें अप्रामाणिक समझना अज्ञान है । टीकाकारोंने “तथा रूप” शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है—

“तथा तत्प्रकार रूप स्वभावो नेपथ्यादिर्वा यस्यस्य तथारूप’ (ठागा ३ उद्देशा १)

“उचित स्वभावे” “भक्ति दानोचित पात्रे” (भगवती शतक ५ उ० ५-)

“दानोचिते” (ठा० ठा० ३ उद्देशा १)

अर्थात् जिसका स्वभाव या वेप भूषा आदि उसी तरहका है वह ‘तथा रूप’ कहलाता है । जो भक्तिपूर्वक दान देनेके योग्य पात्र समझा जाता है वह तथा रूप कहलाता है ।

उस तथा रूपके असयतिको दान देनेसे श्रमणोपासकको एकान्त पाप होता है । भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कहा है इसलिये हरिभद्र सुरि और भगवती टीकाकारका कथन इस मूलपाठके शब्दमें ही निकलता है अतः वह अप्रामाणिक नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि जहां सब असयतियोंको बतलाना होता है वहां ‘तथा रूप’ इस पदसे रहित पाठ आता है जैसे भगवती आदि सूत्रोंमें सब असयतियोंको बतानेके लिये यह पाठ आया है—

“जीवेण भन्ते । असजण अविरण अपडिहय पच्चरत्ताय पावकम्मे” इत्यादि पाठों में “तहारूप” इस पदसे रहित पाठ आया है इसलिये इन पाठोंमें सभी असयतियोंका ग्रहण होता है परन्तु भगवती शतक ८ उद्देशा ६ में “तथा रूप” इस पदके साथ पाठ आया है इसलिये उसमें सभी असयतियोंका ग्रहण न होकर अन्य तीर्थियोंके वेप भूषा धारण करने वाले उनके धर्माचार्य धर्म गुरुओंका ही ग्रहण होता है अतएव भगवती सूत्रके टीकाकार और हरिभद्र सुरिने गुरु बुद्धिसे असयतिको दान देनेसे एकान्त पाप होना बतलाया है अनुकम्पादान देनेसे नहीं ।

इस पाठमें “पडिलभमाणे” इस पदके आनेसे भी यही बात सिद्ध होती है । “पडिलभमाणे” इस पदका प्रयोग, स्वतीर्थी या परतीर्थी साधुको दान देने अर्थमें ही होता है गृहस्थको दान देने अर्थमें नहीं होता क्योंकि कहीं भी मूलपाठमें गृहस्थको दान देने अर्थमें “पडिलभमाणे” इस पदका व्यवहार नहीं देखा जाता इसलिये अन्य तीर्थियोंके मान्य पूज्य असयतियोंको दान देनेका ही फल एकान्त पाप इस पाठमें कहा है सभी असयतियोंको दान देनेका फल नहीं कहा । यदि कोई कहे कि भगवती शतक ८ उद्देशा ६ का मूल पाठ श्रावकके लिये आया है और श्रावक अन्य तीर्थियोंके गुरुको गुरु बुद्धिसे दान नहीं देते फिर उस दानके फल बतानेकी इस पाठमें क्या आवश्यकता है ? तो इसका उत्तर यह है कि जैसे साधु मैथुन सेवन, रात्रिभोजन आदि पापकार्य नहीं करते तथापि शास्त्रमें साधुको रात्रिभोजन और मैथुन सेवन करनेका प्रायश्चित्त कहा

सिगायगाणंतु दुवे सहस्ते जे भोयए णियए कुलालयाणं ।
 से गच्छइ ल्हेलुव संप्पगाढे तीव्वाभिनावी नरगाभिसेवो ।
 दयावरं धम्म दुगुच्छमाणा वहावह धम्म पसंसमाणा ।
 एगंविजेभोयइ असीलं णिवो णिसजाति कुओ सुरेहिं ।”

(स्यगङ्गा सूय ध्रुतः २ अ० ६ गाथा २३ २४-२५)

अथ—

पुण्यपात्रके समर्थक कमकाण्ठी ब्राह्मण आर्द्रकुमार मुनिने पास आकर कइते लग—इ
 मार । तुमन गोसाळक आर बौद्ध मनका स्वीकार नहीं किया यह अच्छा किया है क्योंकि य
 नों ही मत उ घास होनेक कारण अमान्य है और यह बहुत मन भी उ घास होनेने निन्दित
 है अब आप जैसे क्षत्रिय सिामजिक लिए इसका आश्रय लेना भी अयुक्त है । आप सब धर्मों
 थ ए ब्राह्मणोंका सेवा कर शूद्रोंकी नहीं । धर्म कहा है कि यवन, यानन, अज्ययन, अज्या-
 न, दान और प्रणिपद इन छ कर्मों म तत्पर रहन घाटे दों हजार ब्राह्मणोंको जो प्रतिदिन
 भोजन करता है वह पुण्य समूहका उपार्जन करके स्वर्गलोक में देवता होता है । २३

इसका उत्तर देते हुए आर्द्रकुमार मुनिन कहा कि हे ब्राह्मण । जो मानका दृश्यात्म
 शालकी तरह घा घा शिरत है, जो अपनी उदर पूर्तिक लिए क्षत्रिय आदिके घरोंमें भाव वृत्ति
 लेते हैं जमे तो हजार ब्राह्मणोंको नित्य भोजन कराने वाला पुण्य उभ भासाहारी ब्राह्मणोंके साथ
 ल वदना पुन नरकर्म जाता है । २४

जो, तथा प्रधान धर्मका निन्दा करता हुआ हिंसात्मक धर्मका प्रशंसा करता है ऐसे एक
 ब्राह्मणको भोजन करनेसे भा घोर अप्प्रकारमें पुण्य नरकको प्राप्ति होती है कि दो हजार ऐसे
 ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे तो कइना ही क्या है । पूर्वोक्त कुशल ब्राह्मणोंको भोजन करनेसे
 , अथम दधता भा नहीं होता तब उत्तम स्व हानकी तो बात ही क्या है । २

इसी तरह सुयगडाग श्रुत स्कन्ध २ उद्देशा ५ गाथा ३२ को लिख कर कारने जो गृहस्थको दान देने अर्थमें "पडिलभमाणे" उस पदका व्यवहार वह भी मिथ्या है। उस गाथामे स्वनीथीं या परतीथीं साधुको ही देने अर्थमें "माणे" इस पदका व्यवहार हुआ है गृहस्थको दान देने अर्थमें नहीं यह ध्यान आग वतायी जायगी अतः सुय० की गाथाका नाम लेकर गृहस्थको दान देने अर्थमें "माणे" पदका व्यवहार बनाना भी अयुक्त है। भगवती शनक ८ उद्देशा ६ व मूल "पडिलभमाणे" यह पद आया है इसलिए यह पाठ परतीथीं साधु यानी अन्य श्रुतिगुरुको गुरुनुद्धिसे दान देने में ही एकान्त पाप बतलाना है अनुकम्पा दान देने नहीं। अतः भगवतीके उक्त मूल पाठका नाम लेकर अनुकम्पा दानका विचार करना मूर्खोंका कार्य है।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ६६ पर सुय० श्रुत० २ अ० ६ गाथा ४४ और ४५ वीं को लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ अटे आर्द्र मुनिने ब्राह्मणा कश्यो—जे पुरुष वे हजार ब्राह्मण नित्य माडे ते महा पुण्यस्कन्ध उपार्जी देवता हुई एहवो हमारे वेदनो बचन छै तिवार आ मुनि बोलया अहो ब्राह्मणो । जे मासना गृही घर घरने विपे मर्जारनी परे भ्रमण नहार एहवा वेहजार कुपात्र ब्राह्मणाने नित्य जीमाडे ते जीमाडनहार पुरुष त मास महिन बहु वेदना छै जेहने एहवी महाअमल्य वेदना युक्त नरकने विपे जाई” (अ० ६६) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आर्द्र कुमार मुनिने हिंसक, मासाहारी, वैडालप्रतिक ब्राह्मणोंको पूज्य श्रुति भोजन करानेसे नरक जाना कहा था, हीन दीन प्राणियोंपर दया लाकर उनको देनेमें एकान्त पाप या नरक जाना नहीं कहा इसलिए आर्द्र कुमार मुनिका नाम लेकर अनुकम्पा दानका खण्डन करना मूर्खों का कार्य है। अतः वे गाथा ये लिख कर का अर्थ बताया जाता है जिससे पाठकोंको आर्द्र कुमार मुनिके कथनका भाव हो जाय। वे गाथाएँ ये हैं—

“सिणायगाणंतु दुवे सहस्ते जे भोयए णियए माहणाण ।
ते पुण्ण खन्धे सुमहज्जणित्ता भवन्ति देवा इति वेयवाओ ।

सिगायगाणंतु द्वुवे सहस्ते जे भोयए णियए कुलालयाणं ।
 से गच्छइ ल्हेलुव संपपगाढे तोच्चाभितावी नरगाभिमेवो ।
 दयावर धम्म दुगुच्छमाणा वहावहं धम्म पसंसमाणा ।
 एगविजेभोयइ असीलं णिवो णिसंजाति कुओ सुरेहिं ।”

(छयगभाग सूत्र श्रुत० २ अ० ६ गाथा ४३ २४-२५)

अर्थ—

पशुपायक समर्पक कर्मकाण्डा ब्राह्मण आर्द्र कुमार मुनिक पास आकर कहने लग—हे आर्द्र कुमार ! तुमने गोशालक और बौद्ध मतको स्वीकार नहीं किया यह अच्छा किया है क्योंकि ये दोनों ही मत वेद वाद्य होनेके कारण अमान्य हैं और यह बहुत मन भी बंद वाद्य होनेसे निन्दित है अतः आप चने क्षत्रिय शिरमणिक लिए इसका आश्रय लेना भी अयुक्त है । आप सब वर्गों के ब्राह्मणोंको सेवा कर पूराकी नहीं । धर्म कहा है कि यजन, याजन, अध्ययन, अघ्यायन, दान और प्रतियुक्त इन छ कर्मों में तत्परा रहने वाले दो हजार ब्राह्मणोंको जो प्रतिदिन भोजन कराता है वह पुण्य समूहका उपाजन करके स्वर्गलोक में देवता होता है । ४३

इसका उत्तर दते हुए आर्द्र कुमार मुनिन कहा कि हे ब्राह्मण ! जो मायकी शलासे बालकी तरह घर घर फिरत है, जो अपनी उदर पूर्तिके लिए क्षत्रिय आदिके घरोंमें बीच घृत्ति करने में दो हजार ब्राह्मणोंको नित्य भोजन कराने वाला पुरुष उन मासादारी ब्राह्मणोंके साथ यचना युक्त नरकमें जाता है । ४४

जो, दया प्रधान धर्मकी निन्दा करता हुआ हिंसामय धर्मका प्रशंसा करता है उस एक ब्राह्मणको भोजन करानेसे भा घार अन्यकारने पूरा नरककी प्राप्ति होती है फिर दो हजार ऐसे ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे तो कइना ही क्या है । पूर्वाक कुशील ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे भी कि अधम दयता भी नहीं होता तब उत्तम दान देनेकी तो बात ही क्या है । ४५

यह ऊपर लिखा हुई गाथाआका टीकानुसार अर्थ है ।

इन गाथाओंमें दया धर्मको निन्दा और हिंसामय धर्मकी प्रशंसा करने वाले ब्राह्मण प्रतिदिन नीच घृत्ति वाले ब्राह्मणोंको पूज्य बुद्धिसे दान करनेसे नरक जाना कहा जाता है । हीन दीन दुग्गी जीवोंपर दया लाकर अनुकम्पा दान देनेसे नहीं अतः इन गाथाओंमें अनुकम्पा दानका कोई प्रमग नहीं है यहा तो ब्राह्मणोंने जैन धर्मकी निन्दा करके ब्राह्मण भोजन करानेसे स्वर्ग जाना कहा था इसका उत्तर दते हुए आर्द्र कुमार मुनिन बौद्धाचारिक हिंसक नीच घृत्ति वाले ब्राह्मणको भोजन करानेसे नरक जाना कहा इससे न अनुकम्पा दानका गण्डन होता है और न दयावान् अहिंसक ब्राह्मणकारी ब्राह्मणको

भोजन करानेसे ही पाप होना सिद्ध होता है अत आर्द्रकुमार मुनिका नाम लक्ष्मणु
कम्पा दान देने और ब्राह्मण मात्रको भोजन करानेसे नरक प्रतलाना सूत्रार्थ न जाल
वालौका काव्ये है ।

बेहाल व्रतिक हिंसक नीच वृत्ति करने वाले ब्राह्मणको भोजन करानेसे मन्वा
यम शास्त्रोमे भी नरक जना कहा है । इस विषयमे मनुजीके तिम्ललिखित पत्र है—

“धर्म ध्वजो सदा लुब्धः छाद्रिको लोक दम्भकः ।

वैडाल व्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः ॥ ९५

अधो दृष्टि नैष्कृतिकः स्वार्थसाधन तत्परः ।

शठो मिथ्या विनीतश्च वक्रव्रतचरो द्विजः ॥ ९६

ये वक्रव्रतिनो विप्राः येच मार्जार लिङ्गिनः ।

ते पतन्त्यन्धतामिस्त्रो तेन पापेन कर्मणा ॥ ९७

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैडालव्रतिके द्विजे ।

न वक्रव्रतिके विप्रे नावेद विदि धर्मवित् ॥

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जित धनम् ।

दातुर्भवात्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ।

यथा प्लवे नौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ॥

तथा निमज्जतोऽधस्ता दज्ञौ दातृ प्रतीच्छकौ ॥”

(मनुस्मृति अ० ४)

अर्थ—

जो धमात्माआका सिद्ध धारण करके अपनको धार्मिक प्रसिद्ध करना है और छिप कर
पापाचरण करता है वह धमध्वजो कहलाता है । जो ब्राह्मण धर्मध्वजो है जो दूसरके धन हरा
कानेकी ताकत लगा रहता है जो छली करती लोकप्रिय और हिंसक है जो सबकी निंदा
काता है उसको “वैडालव्रतिक ” कहते हैं ।

जो अपना वनापण नरततामे प्रकट कानक लिए दृष्टि, नीच स्वता है और निन्दुरता
माय दूमेका स्वाथ विगाड कर अपने स्वार्थ साधन करता है जो शठ है और कपटयुक्त नरता
धारण करता है वह ब्राह्मण “वक्रव्रतिक” कहलाता है ।

वक्रव्रतिक और वैडाल व्रतिक ब्राह्मण, अपने पाप कर्मका फल भोगनेके लिए अन्धतामिय
मनक नरकमे जाते हैं ।

। धक व्रतिक और घेडालत्रतिक ब्राह्मणको जल दना भी धार्मिक मनुष्योंका कर्तव्य नहीं है ।
 न नर्त्त जनता उसको भा दान दना धार्मिक मनुष्योंके लिये अयोग्य है ।

न्यायवृत्तिमें उपाजर्जन किया हुआ भी धन, वक्रव्रतिक और चडाल व्रतिक ब्राह्मणको निया
 त पण्डोरुमें दाता और धडाता (लेनेवाला) दोनोका अनर्गक लिये होता है ।

जैसे पत्थरकी नाचपर चडा हुआ मनुष्य उम नाचक मात्र ही दूध जाता है उमो तरह दान
 के प्रतिग्रहका विधि न जानने वाले दाता और ग्रहीता (लेनेवाला) शर्तों ही नरकमें जात है ।

यहा मनुजीने भी दयारहित हिंसक वैडालत्रतिक ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे नरक
 जाना कहा है और इन्हां ब्राह्मणोंको भोजन करानेमें मुनि आद्र कुमारने भी नरक प्राप्ति
 लाई है इसलिये आद्र कुमार मुनिका नाम लेकर अनुकम्पादान देने और ब्राह्मणमात्रको
 भोजन करानेमें नरक प्राप्ति बतलाना मिथ्यावादियोंका कार्य है ।

(बोल छटा)

(प्रेरक)

ध्रमविध्वंसकार ध्रमविध्वसन पृष्ठ ६८ पर लिखत हैं “अथ इहा भगुने पुत्रा
 कस्यो उद भणया प्राण न होवे ब्राह्मण जीमाया तमतमा जाय तमतमा त अन्धेग मे
 अधेरा ते एणी नरकमे जाय इम करो जो त्रिप्र जीमाया पुग्य कहे तो नरक क्यू कही”
 (प्र० पृ० ६८) इसका क्या अन्वयान ?

(प्ररूपक)

भृगु पुत्रोहितक पुत्रोका नाम लेकर अनुकम्पादानमें पाप मताता मूर्खा का कार्य
 है । भृगुक पुत्रों अनुकम्पा दान देनेमें पाप होना नहीं कहा था किन्तु यज्ञ यागादि कर
 क पूज्य बुद्धिमें ब्राह्मण भोजन कराने, और पुत्रोत्पादन करनेसे जो लोग दुर्गतिमार्गको
 निरोध होना मानते हैं उनरु मन्तव्यको मिथ्या बतलाया था । यदि कोई कहे कि अनु-
 कम्पा करक अमयनिका दान देनेस पुण्य होता तो भृगुक पुत्रोंने ब्राह्मण भोजन करानेस
 तमतमा जाना क्यों कहा ? तो इसका उत्तर यह है । यहा टीकाकारने लिखा है कि—

तदि भोजिता चुमाग प्ररूपण पशुपधाटावेव कर्मावसयनित्यन्धनज्मद्वयापार
 प्रपन्न इत्यसत्प्रवर्तनतस्तद्भोजनस्य नरक गति हतुत्प्रमत्त”

अर्थात् हिंसामय धर्मकी प्रशम्भा और दयामय धर्मकी निंदा करन वाउ ब्राह्मण,
 भोजन कराये हुए चुमागकी प्ररूपणा और कर्मको उडाने वाले पशुपद आदि अमद्
 व्यापारमें ही प्रवृत्त होत हैं अत अमद् व्यापारमें प्रवृत्त होनर कारण उनको भोजन
 कराना नरक प्राप्तिका हतु होता है ।

यहा टीकाकारन जो प्राणन असद्र व्यापारमे प्रवृत्त होता है उमीक भोजन करन से नरक जाना कहा है परन्तु पशुनय आदि नीच कर्मोंका समर्पन न करनेवाले इण्ण ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे नरक जाता नही कहा है इसलिये मूलगाथामे जो ब्राह्मण भोजन करानसे नमनमा जाना कहा है उसका अभिप्राय मत्र ब्राह्मणोंक भोजन कराने नहीं है किंतु दया रहित हिंसक ब्राह्मणोंको भोजन करानेमे है अतः भृगुके पुत्रोंका नाम लेकर अनुकम्पादानका निरोध करना मिथ्या है । हिंसक छली कपटी वक्र धनिक आदि नीच ब्राह्मणोंको भोजन करानेसे नरक जाना मनुने भी लिया है और वही बात भृगु पुत्रोंने कही है इसलिये अनुकम्पादानका रण्डन करना अयुक्त है ।

(बोल ७ वां)

(प्रेरक)

भ्रमत्रिचमनकार भ्रम० पृ० ७३ पर सुयगडाग सूत्र सु० २ अ० ५ गाथा ३ :
वां को लिख कर उमकी ममालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ ईहा पिण इम ऋहो दान देवे लेये इसो वर्तमान दरि दूषण नहीं करे ।
तो प्रत्यक्ष पाठ कश्यो जे लेये देव ते वला पाप पुण्य नहीं कहिणो । दक्षिणणा कहिके
दाननो पडिलभ कहिता आगलाने दवो ते प्राप्ति एनले दान दवे ते दाननी आगलाने
प्राप्ति हुन ते वला पुण्य पाप कहिणो वज्यो पिण और वला वज्यो नहीं” इत्यादि इनके
रहनेका तात्पर्य यह है कि जिस समय दाता अनुकम्पा लाकर किसी हीन दीनको दान
द रहा है और वह हीन दीन ले रहा है उस समय साधुको उस दानमे एकान्त पाप न
कहना चाहिये परन्तु दूसर समयमे अनुकम्पादानका फल एकान्त पाप कह कर उनका
निषेध कर देना चाहिये । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडाग सूत्रकी वह गाथा, टीकाक साथ लिख कर इसका समाधान किया
जाना है । वह गाथा यह है —

“दक्षिणणाए पडिलंभो अत्थिवा णत्थिवा पुणो
णचियागरेज्ज मेहावी संति मग्गंच बूहए”

(सुय० सु० २ अ० ५ गाथा ३३)

(टीका)

दान दक्षिणा तस्या प्रतिलभ प्राप्ति म दानलाभोऽस्माद् गृहस्थादे मकाशा दति
नास्तिवा इत्येव न व्यागणीयान मेधानी मर्यादाव्यवस्थित यदिवा स्वयुध्यस्य तीर्थ-

त्तरीयम्यत्र दानं प्रहणं प्रति योलाभ म एकान्तेनास्ति सभ्रति नास्तीत्येव न श्रूयात्
 षान्तेन, तदानं प्रहणं निषेधे द्रौपोत्पत्तिः सभ्रता । तथाहि तदानं निषेधेऽन्नगय सभ्र-
 त्तद्वैचिर्यश्च, तदानानुमनाऽप्यधिकरणोद्भव इत्यनोऽस्ति दानं नास्तिवेत्येवमेकान्तेन
 । श्रूयान् कथं श्रूयादिति दर्शयति—शान्तिं मोक्षं तस्य मागं मम्यगज्ञानं दानं चारि-
 यत्सकन्तमुपवृत्तं ह्येदं वर्णयेत् । यथा मोक्षं मार्गाभिवृद्धिर्भवति तथा श्रूयान्तिव्या । एत-
 दुक्तं भावति पृष्ठं केनचिद्देयं प्रति प्राहकं त्रियं निरवयं मेव श्रूयान्तिव्येवमादिकं मन्य-
 श्चि विविधं धर्मदशनावसरे वाच्यम् । तथा चोक्तम् “मावज्जगं चज्जाणं वयणाणं ज्ञोण-
 ज्ञाणं रिसेस”

अर्थ —

साधुकी मर्यादात्मं स्थितं हुणं मुनिको यह न कहना चाहिये कि अमुकं गृहस्थमे दानकी
 प्राप्ति होगी या न होगी । अथवा दानलाभकं विषयमं स्वयधिक या परयधिकं साधुके पृष्ठने पर
 एकान्त रूपसे यह न कहना चाहिये कि आज तुझको भिक्षा मिलेगी या, न मिलेगी । यदि “आज
 तुमको भिक्षा न मिलेगी” ऐसा कहे तो अन्तराय होना सम्भव है और भिक्षार्थीके वित्तमं दुःख
 भी उत्पन्न होगा । तथा “आज तुमको भिक्षा मिलेगी” ऐसा कहने पर पृष्ठने वाले साधुको हृष-
 की उत्पत्ति होनेसे अधिस्तरणादि दोष उत्पन्न होगा इसलिये स्वयधिक या परयधिकने पृष्ठने पर
 भिक्षा लाभके सम्बन्धमं साधुको एकान्तरूपसे कुछ भी न कहना चाहिये । निम्न प्रकार पान-
 शान और चारित्र्य रूप मोक्षमार्गकी उन्नति हो घटी बात भाषा समतिक द्वारा कहनी चाहिये ।
 तात्पर्य यह है कि स्वयधिक या परयधिक साधु मुनिमे आकर पूछे कि “आज तुमको भिक्षाका
 लाभ होगा या नहीं ?” तो साधुकी मर्यादात्मं स्थित मुनि एकान्त रूपसे यह न कहे कि आज
 तुमको भिक्षा न मिलेगी, और यह भी न कहे कि आज तुमको भिक्षा मिलेगी किन्तु विधि निषेध
 न करके भाषा समतिक द्वारा उत्तर देना चाहिये । इसी प्रकार धर्मापदेश करत समय भी साधुकी
 निरवय भाषा बोलनी चाहिये । कहा है कि निम्न साधुको सावय और निरवय भाषाका ज्ञान नहीं
 है वह धर्मोपदेश क्या दे सक्ता है ? यह ऊपर लिखी हुई गाथाका एकान्तुवार अर्थ है ।

यहां तो अनुकम्पादानका कोई प्रसङ्ग नहीं है । भाषासुमनिका यह प्रकरण है इस
 लिये उक्त गाथामें यह उपदेश किया है कि स्वयधिक या परयधिक साधु मुनिसे यदि यह
 पूछे कि आज तुमको भिक्षाका लाभ होगा या नहीं ? तो मर्यादात्मं कायम रहनेवाला
 मुनि एकान्त रूपसे भिक्षाका लाभ और अलाभ कुछ भी न कह किन्तु भाषा समतिक
 द्वारा उसके प्रश्नका उत्तर देवे अतः इस गाथाका नाम लेकर यह कहना कि “जिस समय
 दाना हीन दीनको दे रहा हो और लेनेवाला ले रहा हो उसी समयमें साधुको अनुकम्पा-
 दानमे एकान्त पाप न कहना चाहिये परन्तु उपदेश करत समय एकान्त पाप कह कर
 अनुकम्पादानका निषेध करना चाहिये” एकांत मिथ्या है ।

इस गाथा में जो “पंडिलम्” पद आया है वह स्वयूथिक या पर्यूथिक मातृके दान लाभ अर्थों में ही आया है गृहस्थके दान लाभ अर्थों में नहीं। अतएव टीकाकार लिखा है कि — ‘यदि वा स्वयूथस्य तीर्थान्तरीयस्य वा दानं प्रहणं प्रति यो अर्थान् स्वयूथिकं यानी अपने यूथके माधुको और तीर्थान्तरीयं यानी अन्य दूधनेय साधुको दानकी प्राप्ति होना प्रतिबलम् है।’

अतः इस गाथाकी साक्षी टेंकर जो जीतमलजीने गृहस्थके दान लाभ अर्थों में “प्रतिलम्भ” पदका व्यवहार बतलाया है वह मिथ्या है तथा इस गाथाको लिखकर इन्होंने नीचे जो जीतमलजीने टक्वा अर्थ दिया है वह भी मूर्खपाठ और टीकासे असम्मत है। के कारण एकान्त अशुद्ध और अप्रामाणिक है उमका आश्रय लेकर अनुकम्पादान का गण्डन करना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य है।

(बोल ८ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० ७४ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन १३ का मूलपाठ लिख कर उमकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ दृष्टा कृद्यो जे नन्दन मणिहारो दानं शालादिकृतो घगो आरभ करी मरीन डेडको थयो। जो मावय दान श्री पुण्य हुवे तो दानशालादिकधी घगा असयति जीम रे साता उपजाई ते साताग फल किहा गयो” इनके कहनेका भाव यह है कि नन्दन मणिहारने अनुकम्पा दान देकर अनेक हीन दीन दुःखी जीवोंको मुक्त किया था परन्तु वह मर कर मेढक योनिमें उत्पन्न हुआ यदि अनुकम्पादान देना पुण्य होता तो नन्दन मणिहार मर कर मेढक क्यों होता ? अतः अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप है। इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

नन्दन मणिहारका नाम लेकर अनुकम्पादानमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम है। ज्ञाता सूत्रके मूलपाठमें स्पष्ट लिखा है कि नन्दन मणिहार नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होनेसे मेढक योनिमें उत्पन्न हुआ था, हीन दीन जीवोंको अनुकम्पादान दत्त नहीं। इस ता सूत्रका यह पाठ यह है —


“तत्तेणं णंदे तेहि सोलसेहिं रोगायकेहिं अभिभूएसमाणे
णंदाए पोखरिणीये मुच्छित्ते तिरिक्ख जोणिएहि वद्धाण वद्धए
सिए अट्ट दुहट्ट वसट्टे कालमासे काल किच्चा णदाए पोखरिणीये
दददुरिये कुत्थिं सि दददुरत्ताए उववण्णे”

इसके अनन्तर वह नन्दन मनिहार सोलह रोगोंसे पीड़ित होकर नन्दा नामक पुष्क-
रिणीमें आसक्त होनेके कारण तिष्यत्र योनिको आयु बाध कर भतिरद्ग ध्याव ध्याता टुगा काल
अवसरमें मृत्युको प्राप्त होकर नन्दा नामक पुष्करिणीके अन्तर मेढक योनिमें उत्पन्न हुआ ।

यहां नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त (गृह्य) होनेके कारण नन्दन मनिहारको
इस योनिमें जन्म लेना लिखा है हीन दीन जीवों पर दया लाकर दान देनेके कारण
ही । अतः नन्दन मनिहारका नाम लेकर अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कहना मिथ्या-
द्वियोंका काम है । कई ऐसा प्रश्न करते हैं कि अनुकम्पा दान देनेमें यदि पुण्य था तो
नन्दन मनिहार अनुकम्पा दान देकर मेढक क्यों हुआ ? अनुकम्पा दानका फल उसको
क्या मिला था ? उनसे कहना चाहिये कि नन्दन मनिहारने श्रवणके वारह व्रत भी
धारण किये थे उसका फल उसको क्या मिला था यह आप बतलाइये ? यदि वह कहे
श्रवण वारह व्रत धारण करनेका फल नन्दन मनिहारको अच्छा ही मिला होगा परन्तु मूल-
पाठमें उसका कुछ कथन नहीं है, तो यही उनके प्रश्नका भी उत्तर है अर्थात् अनुकम्पा
दान देनेका फल नन्दन मनिहारको अच्छा ही मिला होगा परन्तु मूलपाठमें उसका कुछ
कथन नहीं है यहा तो नन्दन मनिहार का चरित्र बना कर यह उपदेश किया है कि भव्य
श्रवणोंको साप्ताहिक पदार्थों में आसक्त न होना चाहिये और भूल कर भी कुसङ्गतिमें न
जानना चाहिये क्योंकि नन्दन मनिहार कुसङ्गतिमें पड़ कर वारह व्रतधारी श्रावणसे फिर
मिथ्यादृष्टि हो गया था और नन्दा नामक पुष्करिणीमें आसक्त होकर मेढक योनिमें जन्म
लेना था । यही नन्दन मनिहारके उपाख्यानका सार है अतः नन्दन मनिहारके उदाहरण
अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप कहना अज्ञान है ।

कोई कोई कहते हैं कि "नन्दन मनिहार जब तक सम्यग्दृष्टि था तब तक उसने
दानशाला आदि परोपकारका कार्य नहीं किया था किन्तु मिथ्यादृष्टि होने पर उसने
दानशाला आदि परोपकारके कार्य किये थे इसलिये अनुकम्पादान आदि परोपकार के
कार्य मिथ्यादृष्टि करते हैं सम्यग्दृष्टि नहीं" वे भोले जीव हैं । राजा प्रदेशी जब तक
'यान्त्री' था तब तक दानशाला आदि परोपकारका कार्य नहीं करता था बल्कि हीन
जीवोंकी जोविज्ञाका उच्छेद करता था परन्तु केशीकुमार मुनिने उपदेशमें जन वह
व्रतधारी श्रावण हुआ तब वह दानशाला बना का हीन दीन जीवोंको दान देने लगा
था था अतः अनुकम्पा दान देना मिथ्यादृष्टियोंका ही कार्य नहीं है सम्यग्दृष्टि भी यह
कार्य करते हैं इसलिये अनुकम्पादान आदि परोपकारके कार्यसे जनता को विमुक्त
करना मिथ्यादृष्टियोंका कार्य समझना चाहिये ।

(बोल ९)

(प्रेरक) 

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमवि-प्रमन पृष्ठ ७६ पर ठागाङ्ग मूत्र ठागा नक्षत्र
लिख कर एक धर्मदानको छोड़ शेष नौ दानोंको अधर्म दानमें कायम करनेके
लिखते हैं —

“असयतिने सृजता अमृक्षता अजनादिक ४ दीपा एकान्त पाप भगवती
आठ उद्देशा ६ फलों ते माटे १ नौ नानामे धर्मपुण्य मिश्र नहीं है कोई कहे एक
दान एक अर्धदान भी ना आठामे मिश्र है । तेई एकतो पुण्य है श्रम कहे तेहने
जो वेद्यादिकनो दान अधर्ममें थापे विपयरो दोष बनाने तो बीजा आठ पाप नि
इज छे” (भ्र० पृ० ७६)

इसका समाधान ?

(प्ररूपक)

धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको अधर्मदानमें गिनना शास्त्रविरुद्ध है ।
कारने दश ही दानोंको पररपर विल-यग और एकमे दूसरेका समावेश न होना
है । यदि धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ ही दान अधर्मदानमें भेद होते तो शास्त्रकार
लिखने कि “दुविष्टे दाणे पण्णत्ते राजहा—धम्म दाणे चैव अधम्मदाणे चैव” यह
कर पश्चात् अनुकम्पा आदि दानोंको अर्धदानमें समावेश कर देते परन्तु ऐसा न
कर जो दानके दश भेद शास्त्रकारने बनलाये हैं इससे अनुकम्पा आदि दानोंका अ
दानसे भेद होना स्पष्ट सिद्ध होता है । दूसरी बात यह है कि इन दश दानोंके गु
सार नाम रखे गये हैं जिन दानका फल अनुकम्पा है उसका ‘अनुकम्पा’ नाम र
है और जिसका फल सम्रह (दीन दु खीको सहायता दना) है उसका सम्रह नाम र
है इसी तरह शेष आठ दानोंके भी गुणानुसार ही नाम रखे गये हैं और भीषण
भी यह बात मानी है जैसे कि उन्होंने लिखा है “दश दान भगवन्त भाषिया, सूत्र
माय । गुण निष्पन्न नाम छै तेहने, भोलाने खरग न काय” (पद्य भीषणजी छत्र)

इस पद्यमें दश दानोंका गुणानुसार नाम होना स्वयं भीषणजीने स्वीकार
है ऐसी दशामे धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ ही दानोंको अधर्मदानमें बताना जीतम
का अपने गुरुकी उक्तिसे ही विरुद्ध होता है । जन कि इन दानोंके नाम इनने गुणानु
रखे गये हैं तत्र अनुकम्पादानका गुण अनुकम्पा कहना होगा अनुकम्पा अधर्ममें
है, इसलिये अनुकम्पादान अधर्मदानमें नहीं हो सकता । इसी तरह सम्रह दानका
सम्रह (दीन दु खीको सहायता दना) करुणादानका फल करुणा और लज्जा आदि
के फल लज्जा आदि हैं । दीन दु खीको सहायता दना आदि अधर्ममें नहीं है अतः स

दान अधर्मदानमें नहीं हो सकते ऐसी दृशमें एक धमदानके मित्राय वाकीके नौ ही जो अधर्मदानमें स्थापन करना अज्ञानका परिणाम है ।

जो लोग एक धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानाको अधर्ममें गिनते हैं उनसे । चाहिये कि जो दान, भक्ति भावसे प्रत्युपकारकी आशाक त्रिणा पथ महात्रतधाी को दिया जाता है वही मुख्य रूपसे एकान्त धर्मदान है । परन्तु जो लज्जादान या कम्पा करके साधुको दिया जाता है वह दान, दानाके परिणामानुसार मुख्यरूपसे दान और अनुकम्पादान है । यह दान, धमदानसे काचित् भिन्न है क्योंकि इसमें का परिणाम लज्जा और अनुकम्पाका भी है अत तुम्हारे हिसारसे इस दानका फल म ही होना चाहिये यदि कहो कि “किमी भी परिणाममें साधुको दान देना एकान्त दान है इसलिये उक्त दानोका फल अधर्म नहीं है” तो नामश्री ब्राह्मणीने मुनि को नेके परिणामसे कटुवा तुम्हा का शाक त्रिणा था और साहूकारकी स्त्रीने विषय भोग नेकी लालसासे अर्थात् मुनिको मोदक दिये थे फिर इत दानोका फल भी अधर्म न चाहिये यदि कहो कि नामश्रीने मुनिको मारनेके परिणामसे, और साहूकार की ने मुनिको भ्रष्ट करनेके भावसे दान दिये थे इसलिये उनका दान उनके परिणामानु- अधर्मदान ये धर्मदान नहीं, तो उसी तरह यह भी समझो कि जो दान, लज्जादान अनुकम्पा करके मुनिको दिया जाता है वह भी दानाके परिणामानुसार लज्जादान और अनुकम्पादान ही है । तुम्हारे सिद्धांतानुसार इन दानोमें भी अधर्म ही होना चाहिये परन्तु शास्त्र समत नहीं है उन दानोमें भी दानाके परिणामानुसार धर्म ही होना है । अत दानको छोड़ कर शेष नौ दानोको अधर्ममें कायम करना अज्ञान है । अनुकम्पा दान भी देते हैं इसका प्रमाण नीचे दिया जाता है ।

“अणुकम्पं पटुञ्च तज्जो पडिणीया पण्णात्ता तज्जहा—तवस्सि डिणीए, गिलाण पडिणीए, सेहपडिणीए”

(टाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देश ५)

अथवा तीन अनुकम्पा करने योग्य होते हैं । तपस्वी क्षपक, रोग आदिसे ग्लान, मज्जित शिष्य, इनकी अनुकम्पा न करे और न करान ता पटु वेरी समझा जाता है ।

इस पाठके अनुसार यदि कोई, रोग आदिमें ग्लान और तपस्वी क्षपक, तप मज्जित शिष्य पर अनुकम्पा करके दान द्य तो वह दान दानाका परिणामक अनु मुख्य रूपसे अनुकम्पादान है । हममें भी जो लोग धर्मदानके मित्राय नौ दानोको अधर्ममें मानते हैं उनके हिसारसे अधर्म होना चाहिये । उपाई सूत्रमें लोकोपचार विनय “कल्याहेतु” और “कृतप्रतिक्रिया” नामक दो श्रेष्ठ कह गये हैं । “यदि गुरुकीको भात

पानी आदि देकर मैं प्रसन्न रहूँगा तो वह मुझको शास्त्र देनेकी कृपा करेंगे” से गुरुकी सेवा भक्ति दान सम्मान आदि करना “काय्यहेतु विनय” कहलाता है। विनय “करिष्यतीति दान” के अन्तर्गत है क्योंकि जो दान प्रत्युपकारकी आशासे दिया जाता है उसीको “करिष्यतीति” दान कहते हैं। साधु भी अपने गुरुको यह दान लोकोपचार विनय करता है। यह दान प्रत्युपकारकी आशासे किये जानेसे “कीर्ति दान” है। जीतमलजीके हिसाबसे यह दान भी अधर्ममें ही ठहरता है क्योंकि प्रत्युपकार की आशासे किये जानेके कारण यह दान कथञ्चित् धर्मदानसे भिन्न है।

जो दान उपकारी पुरुषको उपकारके बदलेमें दिया जाता है वह “कृत दान” कहलाता है। साधु भी उपकारके बदलेमें अपने गुरुको यह दान देकर “कृत प्रति क्रिया” नामक विनय करता है। यह दान उपकारके बदलेमें दिया जाता है इसलिये कथञ्चित् धर्मदानसे भिन्न है अतः जीतमलजीके हिसाबसे इसमें भी पाप ही होना चाहिये। अतः मनुष्य मुनिको गर्वसे भी दान देते हैं वह दान दाताका परिणामके अनुसार गवदन्त है उस में भी जीतमलजीकी प्ररूपणाके अनुसार पाप ही ठहरता है परन्तु शास्त्र प्रमाणोंसे यह प्ररूपणा मिथ्या सिद्ध होती है क्योंकि लोकोपचार विनय करनेके लिये अपने गुरुको “कृत दान” और “करिष्यतीति दान” करने वाले मुनिको और गर्वसे मुनिको दान देने वाले गृहस्थको धर्म होता है पाप नहीं होता। अतः एक धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दानोंको एकान्त अधर्ममें कायम करना अज्ञान है।

वास्तवमें ये दशविध दान, परस्पर एक दूसरेसे भिन्न और नामानुसार गुणवान् हैं अतएव ये अलग अलग रहे गये हैं यदि धर्मदानको छोड़ कर शेष नौ दान एकान्त रूपसे अधर्म में ही होने तो इन्हे अधर्म दानसे अलग लिखनेकी कुछ भी आवश्यकता नहीं थी। भीषणजीने अपने पद्यमें स्पष्ट स्वीकार किया है कि इन दानोंके नाम गुणानुसार रक्खे गये हैं इसलिये जोसा इनका नाम है वैसा ही इनका गुण भी है अतः कर्मणा आदि नौ दानोंको एकान्त अधर्ममें स्थापन करना अज्ञान है।

ठाणाङ्ग सूत्रकी मूलगाथा टीकाके साथ लिख कर इन दश दानोंकी व्याख्या आती है। वह गाथा यह है—

“दशविहे दाणे पणत्ते तजहा—

“अनुकम्पा संग्रहे चैव भए कालुणि एति च

लज्जाए गारवेणं च अघम्मे पुण सत्तमें

धम्मेत अट्टमे बुत्ते काही तीत कर्तंसि त”

का —

‘दशैत्यादि’ अनुकम्पेत्यादि श्लोक सार्ध ‘अनुकम्प’ स्ति दानशब्दमन्यन्धाद-
 स्यात् कृपया दान दीनानाथ विषय मनुकम्पादान म्थवा अनुकम्पातो यद्दान तदनु
 नैवोपचारात् उक्तञ्च वाचञ्च—सुर्यो [रुमास्वातिपूज्यपादे ‘कृपणेऽनाथदृष्टि-
 त्तनापत्तेव रोगशोकहृते यद्दीयते कृपार्थादनुकम्पा तद्भवेदानम्’ सप्रहण सप्रह
 सनादौ सहाय करणं तदर्थं दान स-प्रहदानम् अथवा अभेदादानमपि सप्रह उच्यते
 इच ‘अभ्युदये व्यसनेऽपि यत्किञ्चिद्दीयते महायार्थं तत्सप्रहतोऽभिमत मुनिभिर्दानं
 मोक्षाय” तथा भयादान भयदान भयनिमित्तत्वादानमपि भय उपचारात् । उक्तञ्च
 राजारक्षपुरोहित मधुसुरमावञ्च दण्डपाशिशुच । यद्दीयते भयार्थात्तद्भयदानं कुर्वे-
 त्तियम्’ काञ्चुणित्ति कारण्य शोकस्तेन पुत्रादिवियोगनिमित्तेन तदीयस्यैव तत्पादे स
 जन्मान्तरे सुरित्तो भवत्विति वासनातोऽन्यथ वा यद्दान तत्कारण्य दानम् । कारण्य-
 जन्यत्वा दान मपि कारण्य मुक्त उपचारात् । तथा लज्जया हिया दानयद् तद्भयदान
 मुच्यते उक्तञ्च ‘अभ्यर्थित पणेणतु यद्दान जनसमूहमध्ये गत पत्रचित्त रक्षणार्थं लज्जाया-
 स्तद्भवेदानम्’ गार्वेणत्ति गौरवेण गणेण यद्दीयते तद्गौरवदानम् उक्तञ्च “नट नर्तक मुष्टि-
 केभ्यो दानं सम्पन्धि वन्धु मित्रेभ्य यद्दीयते यदोऽर्णं गणेणतु तद्भयदानम्” अधर्मपौषक
 दानधर्मदानम् अधर्मकारणाद्वा अधर्म एवेति उक्तञ्च । ‘हिसानृत चौर्यौघत परदार परि-
 प्रह प्रसक्तेभ्य यद्दीयतेहि तथा तज्जानीयादधर्माय’ धर्मकारणम् यत्तद्धर्मदानं धर्मएववा
 उक्तञ्च—‘समगृण मणि मुक्तभ्यो यद्दान दीयते सुपात्रेभ्य अक्षयमतुलं मर्तत तद्दानं
 भवति धर्माय’ कल्पितेति चञ्चनोपकार ममायमिति घुलया यद्दानं तत्करिष्यतानि दान
 मुच्यते तथा कृत ममानेन तत्प्रयोजन मिति प्रत्युपकारार्थं यद्दानं तत्कृत मिति । उक्तञ्च
 ‘शतश कृतोपकारो दत्तञ्च सहस्रशो ममानेन अहमपि ददामि किञ्चित्प्रत्युपकाराय
 तद्दानम् ।

अथ —

दान दश प्रकारके हैं (१) अनुकम्पा दान (२) सप्रह दान (३) भय दान (४)
 कारण्य दान (५) लज्जादान (६) गौरव दान (७) अधर्म दान (८) धर्म दान (९) कर्-
 म्यति दान (१०) कृत दान । यह मूलार्ण है । टीकाका अर्थ निम्नलिखित है—

मूलगाथामें यद्यपि अनुकम्पा और संप्रह आदि शब्दों का दान शब्द नहीं
 आया है तथापि गाथाके पूर्वमें पठित वाक्यमें दान शब्दका समन्वय चञ्च अनुकम्पादा
 संप्रह दान इत्यादि इन बातोंका नाम जानना चाहिये । अथवा अनुकम्पा में जो दान
 किया जाता है उपचारार्थे चद अनुकम्पा ही कहा जाता है । वाचक सुगम उमा लक्ष्मि

कहा है कि कृपण, अनाथ, दगिद्र, दुखी और रोग शोकसे पीड़ित जीव को अनुग्रह करके जो दान दिया जाता है उसे 'अनुकम्पा' या 'अनुकम्पादान' कहते हैं। दुःखी को सहायता देनेका नाम 'संप्रह' है उसके निमित्त जो दान दिया जाता है उसे संप्रहदान कहते हैं। पूज्यपाद उमा स्वातिने कहा है कि अभ्युदय (दुःखी) या रुद्ध होने पर सहायताके लिये जो दान दिया जाता है उसे मुनि लोग संप्रहदान कहते हैं जो दान मोक्षके लिये नहीं होता। जो दान भयसे दिया जाता है वह 'भय' या भयदान कहलाता है। राजा महाराजा कोटवाल आदिको भयके कारण दान देना 'भयदान' है। जो दान करुणा (शोक) से दिया जाता है वह कारुण्य या कारुण्यदान कहलाता है। जो आदिके मरने पर उस पुत्रको परलोकमें सुखी होनेके भावसे उसके खाट आदिको दान देना 'कारुण्य-दान' समझना चाहिये। जो दान लज्जाके कारण दिया जाता है वह लज्जादान कहलाता है। सभा आदिमें बैठे हुए पुरुषसे कोई वस्तु मागने पर वह पुरुष लज्जासे परायेका चित्त भङ्ग न होनेके लिये जो दान देता है वह लज्जादान कहलाता है। नाचने गाने वाले मल्लयुद्ध करनेवाले और अपने सम्यन्धी बन्धु वान्धव, और मित्र आदिको कर्त्तिके लिये जो दान दिया जाता है उसे गौरवदान कहते हैं यह दान गर्वसे दिया जाता है इसके लिये इसका गौरवदान नाम रक्पा है। जो दान अघर्मके लिये दिया जाता है वह अघर्मदान कहलाता है। हिंसा झूठ चोरी और परस्त्री सेवन करनेवालोंको हिंसा झूठ चोरी और जारीकी सहायता देनेके लिये जो दान दिया जाता है वह 'अघर्मदान' है। धर्मके लिये दान देना धर्मदान है। नृण मणि और मुक्ताको समान समझने वाले सुपात्रको जो दान दिया जाता है वह धर्मदान है यह दान अक्षय अतुल्य और अनन्त होता है। जो दान प्रत्युपकारकी आशासे दिया जाता है उसे 'करिष्यति इति दान' कहते हैं। जो उपकारक वदला चुकानेके लिये उपकारीको दान दिया जाता है वह कृत दान कहलाता है। इससे कड़ो मेरे उपकार किये हैं और हजारों बार मुझको दान दिये हैं अतः इसे मे भी दान कहते हैं। यह समझ कर जो दान दिया जाता है वह कृतदान समझना चाहिये। यह ऊपर लिखे हुई टीकाका भावार्थ है।

यहा मूलपाठ और टीकामें हिंसा झूठ चोरी और जारीके लिये जो हिंसक चोरी जार आदिको दान दिया जाता है उसीको अघर्मदान कहा है इससे भिन्न दानोंको नहीं इस लिये धर्मदानको ओड कर जोय दानोको अघर्मदानमें बनाना मूलपाठ और टीकामें पिरद्ध समझना चाहिये। जो लोग धर्मदानके सिवाय दूसरे दानोको अघर्म तथा अज्ञान पापमें मतलाते हैं उनके हिंसावसे उपकारीको उपकारके बदलेमें कृतदान करना अघर्म और अज्ञान पाप टहरता है और उपकारका वदला चुकानेवाला कृतज्ञ पुण्य एतन्त पापी

म होता है इसके विपरीत उपकारीको उपकारका बदला न चुकाना धर्म और उपकार
 न चुकानेवाला कृतघ्न पुरुष धार्मिक सिद्ध होता है परन्तु यह बात लोक और
 स्व दोनों ही से विरुद्ध है शास्त्र और शिष्ट पुरुष कृतघ्नको पापी और कृतघ्नको धार्मिक
 गपि नहीं कह सकते यह तो जीतमलनीकी ही अलौकिक प्रतिभा है जो कृतघ्नको
 पी और कृतघ्नको धार्मिक कायम करती है । वास्तवमे इन दश दानोंके गुणानुसार नाम
 गये हैं इसलिये एक अर्धदान ही अर्धम है उससे भिन्न गान अर्धादान नहीं हैं
 नामानुसार उनके गुण हैं भोपगजीने भी इन दानाक नाम गुण निष्पन्न कह हैं अत
 दानको छोड कर शेष नौही दानोंको अर्धदानमे कायम करना अर्धदानका परिणाम है ।

(बोल दसवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं—

‘एनउ दान चार विसामा बाहिरें हैं । धर्मदान विसामा माहि छै । एन्याय तो
 बतुर हुवे सो ओ लखे इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि गृहस्थ जीवोंको सावध कर्मों
 का भार उतार कर विश्राम करनेके लिये चार स्थान बहे ह । व ये हैं—चारह व्रत ग्रहण,
 सामायक दशावकाशिक व्रत, पीपगोपवास और सधारा सल्लेखना द्वारा पण्डित मरण
 प्राप्त करना, इन विश्राम स्थानोंमें एक धर्मदान ही शामिल होता है शेष नौ दान नहीं
 होत अत वे अर्धदान हैं । इसका समाधान क्या है ?

(प्ररूपक)

जो क्रिया विश्राम स्थानसे बाहर है उसे एकान्त पापमे बनाना भूर्गता है क्योंकि
 मिथ्यादृष्टियोंकी सभी क्रियाए विश्राम स्थानसे बाहर ही होती हैं तो भी व अपनी
 क्रियाओंसे पुण्य सचय करके स्वर्गगामी होत हैं यदि विश्राम स्थानसे बाहर की सभी
 क्रियाए एकान्त पापमें होतीं तो मिथ्यादृष्टि विश्राम स्थानसे बाहरकी क्रिया करके उसके
 द्वारा स्वर्गगामी क्यों होता ? क्योंकि ऊपर कहे हुए चार विश्राम स्थान सम्यक्दृष्टियोंके
 हैं मिथ्यादृष्टियोंके नहीं यह बात निर्विवाद है ऐसी दशामे विश्राम स्थानसे बाहर की
 क्रियाओंको एकान्त पापमे कायम करना भूर्गताके सित्राय और कुष्ठ नहीं है ।

(बोल ग्यारहवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७८ पर लिखते हैं—‘अठ दश धर्म दश
 रथविर क्या विण सावध निरवय ओल्लखणा, अन दश दान क्ख्या ते विण साउय निग्घय
 पिटाणणा । धर्म अने रथविर क्ख्या छै विण लौकिक लोकोत्तर दोनू छै जिम जम्बद्वीप

पन्नत्तिमें तीन तीर्थ कहा मागध वरदास प्रभाम पिण आदरवा योग्य नहीं तिम सावय स्थविग्, द न पिण आदरवा योग्य नहीं सावय छाडवा योग्य छै” इसका क्या (प्ररूपक)

उ णाङ्ग सूत्र ठाणा दशका मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है।
ठाणाङ्ग सूत्रका मूलपाठ यह है—

“दसविहे धम्मो पन्नत्ते तंजहा—गामधम्मो, नगरधम्मो, छ
धम्मो, पासंडधम्मो, कुलधम्मो, गणधम्मो, संघधम्मो, सुपधम्मो, चारि
धम्मो अत्थिकायधम्मो”

(ठाणाङ्गठाणा १०)

टीका —

ग्रामा जनपदाश्रया स्तेषा तेषुवा धर्मो सदाचारो व्यवस्थेति ग्राम धर्मो । सर्वार्थ-
ग्राम भिन्न इति । अथवा ग्राम इन्द्रियग्रामो रूढे स्तद्धर्मो विषयाभिलाष । नगरधम्मो
नगराचार मोऽपि प्रतिनगरं भिन्न एव । राष्ट्रधर्मो देशाचार पापण्डधर्मो पाखण्डना
चार कुत्रधर्म उपादि कुलाचार । अथवा कुलं चान्द्रादिक माहृताना गच्छ समूहान्तं
तस्यधर्म समाचारो । गणधर्मो महादिगण व्यवस्था जनानावा कुरसमुदायो गण कर्त्त
कादि तद्धर्मस्तत्समाचार । श्रुतमेव आचारादिकं दुर्गतं प्रपतज्जीव धारणाद्धर्मा श्रुत
चयरिक्तकरणे चाग्नि तदेव धर्मश्चारिज्जधर्म । अस्तय प्रदेशा स्तेषा कायोरारि रस्ति
काय स एव धर्मो गतिपर्याये जीवपुद्गलयोर्धारणादस्तिकायधर्म ” ।

अर्थ —

ग्रामस्थ जनताके आचार व्यवहार आदिकी व्यवस्थाका नाम ग्रामधर्म है
भिन्न भिन्न ग्रामों का भिन्न भिन्न होता है धर्म यानी विषयाभिलाष को ग्रामधर्म
कहते हैं ।

नगरमें रहने वाली जनताके आचार व्यवहारका नाम नगरधर्म है और देश
विदेश के आचार व्यवहारकी व्यवस्था को राष्ट्रधर्म कहते हैं । पाखण्डो यानी धर्म-
धारियों के आचार व्यवहार की व्यवस्था का नाम पाखण्ड धर्म है । उम आदि ०

विषयाभिलाष इन्द्रियोंके स्वभावका भी नाम है उसमें रागद्वेष करना कर्मवन्धक
कारण है अन्यथा नहीं इसलिये इसे एकान्त पापमें नहीं कह सकते । भीषणनीने भी
लिखा है । ‘कामने भोग शब्दादिक तेहथी रे समता नहीं पावे जीव लिगाए रे । अस्व
मत्ता पिण नहीं पावेछे एहथीरे यहा सु मूल नहीं पावे जीव विकार रे । जो रागद्वेष आने
त्या ऊपर रे ते ही विकार विषय कपाय रे ।’ (इन्द्रियादिसी ढाल)

व्यवहारकी व्यवस्थाको कुल धर्म कहते हैं, अथवा कुल नाम जैनोंके चान्द्रादिक है उसही समाचारीको कुल धर्म कहते हैं। मल्लयुद्ध आदिसे अपनी जीविका वाजे मनुष्योंके आचार व्यवहारकी व्यवस्थाका नाम गण धर्म है। अथवा कुल समुदाय कोटिकादिका नाम गण है उसके समाचारको गणधर्म कहते हैं। प्रादिके नियम और उपनियमोंको सङ्घर्ष कहते हैं अथवा जैनोंके साधु साध्वी और आश्रितियोंके समूहका नाम सङ्घ है उसके धर्मको सङ्घधर्म कहते हैं। मैं पढ़ते हुए जीवोंको बचाने वाले आचाराङ्गादि वागह अङ्गोका नाम श्रुत धर्म है। समूहको विनाश करनेवाले धर्मको चारित्र धर्म कहते हैं। अस्ति नाम प्रदेशोका है। गणिको अस्तिकाय धर्म कहते हैं यह जीवोंको गति और पर्यायमे धारण करता है। इसलिये इसे धर्म कहते हैं इसी तरह पश्चास्ति कायका धर्म समझना चाहिये। यह ऊपर हुई टीकाका अर्थ है।) A

यहां मूलपाठ और टीकामे पढ़ले पहले ग्राम धर्म कहा गया है यह ग्राम धर्म, प्रा-जनताको चोरी जारी हिंसा झूठ आदि बुराइयोंसे हटा कर सत्पथमे प्रवृत्त करता समासियोंकी स्थिति रक्षा और उन्नति इसी ग्राम धर्म पर अवलम्बित है। जिसमें ग्रामधर्मका पालन नहीं होता उसका शीघ्र ही अन्त हो जाता है इसलिये ग्रामधर्म जो एकान्त पाप कहता है उसे प्रथम श्रेणिका मूर्ख समझना चाहिये। जिससे चोरी झूठ हिंसा आदि पाप कर्म ऋकें और जनता सदाचारिणी बने वह एकान्त कैसे हो सकता है ? इसी तरह नगरधर्म और राष्ट्रधर्म भी नगर तथा राष्ट्रमे रहने जनताको चोरी जारी हिंसा आदि पाप कर्मोंसे रोक कर सुमार्गमे प्रवृत्त करते हैं। बिना नगर और राष्ट्र सुव्यवस्थित नहीं रह सकते अतः इन धर्मोंको एकत्र पापमे अज्ञानका परिणाम है। जिससे चोरी जारी और हिंसा आदि एकान्त पापके रोक दिये जाते हैं वह एकान्त पाप कैसे हो सकता है यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच चाहिये।

यदि कोई कहे कि "ये ग्रामधर्म आदि जनताके हितसाधक अवश्य हैं परन्तु मोक्ष सहायक नहीं हैं इसलिये ये लौकिक धर्म हैं लोकोत्तरधर्म नहीं हैं और लोकोत्तरधर्मसमेत सभी धर्म एकान्त पाप हैं तो यह मिथ्या है। ये ग्रामधर्मोंके मोक्षक भी सहायक हैं कि श्रुत और चारित्रधर्मके पालनसे मोक्ष होता है और उनका पालन करनेवाले पुण्य नगर तथा राष्ट्रमे ही रहते हैं वे अपने श्रुत और चारित्र धर्मका पालन सभी कर लेते हैं जब ग्राम नगर और राष्ट्रोंमें ग्रामधर्म नगरधर्म और राष्ट्रधर्मका पालन होता

हो । जहा उम्त धर्मों का पालन न होकर चोरी जारी हिंसा आदिका मात्रा स्थान पर चारित्र्यी पुरुषका चारित्र नहीं पल सकता । अतएव श्रुत तथा के पालन करने वाले पुरुषोंके ठाणाङ्ग सूत्रमें पाच सहायक बनाए हैं वह पाठ—

“धम्मं चरमाणस्स पंचणिस्सा ठाणा पण्णत्ता तंजहा गणे, राया, गिहपती, सरीरं”

(ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थात् श्रुत और चारित्र धर्मका पालन करने वाले पुरोंके पाच सहायक होते हैं—छ काया, गण, राजा, गृहपति और शरीर ।

यहा छ काय आदिके ममान ही राजा भी श्रुत और चारि माना गया है । यदि राजा न हो तो राष्ट्रमे शांति और सुव्यवस्था नहीं रह शांति तथा सुव्यवस्थाके विना श्रुत और चारित्रधर्मका पालन नहीं हो मन्त्रा ठाणाङ्गसूत्रमे श्रुत और चारित्रधर्मके पालनमे राजा भी सहायक माना गया है । जिस कार राज्यमे शांति और सुव्यवस्थाके विधान करनेसे राजा, श्रुत और चारित्रधर्मके मे सहायक होता है उसी तरह ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म भी ग्राम वस्था कके श्रुत और चारित्र धर्मके पालनमे सहायक होते हैं अत ये लौकिकधर्म पर भी परम्परासे मोक्षके साधक हैं इसलिये इन्हे एकान्त पापमें कहना अज्ञानियों का कार्य है ।

पापण्ड धर्म भी एकान्त पापमे नहीं है क्योंकि पापण्ड नाम धर्मका है और धारियोंके धर्मका नाम पापण्ड धर्म है-इसलिए यह भी एकान्त पापमे नहीं हो सकता पर पापण्डियोंके धर्ममें भी कई उत्तम गुण होते हैं और उन उत्तम गुणोंके प्रभावसे पापण्ड भी स्वर्गगामी होते हैं इसलिए पर पापण्डियोंके धर्मको भी एकान्त पाप न कह सकते इसी प्रकार कुल, गण और सङ्घधर्म भी एकान्त पापमे नहीं हैं । उन दश धर्म अपने अपने कार्यक्षेत्रमे अच्छे हैं कोई भी धुरा नहीं है इसलिये इन दशधर्मों में से कई धर्मोंको एकान्त पापमे कायम करना अज्ञानका कार्य समझना चाहिये ।

इन दश विध धर्मों की व्यवस्था करनेवाले स्थविर भी दशप्रकारके कहे गये हैं वे सभी अपने अपने कार्यक्षेत्रमे अच्छे हैं कोई भी एकान्त पापी नहीं है अत कई स्थविरोंको एकान्त पापी कहना भी अज्ञान है । इन स्थविरोंका स्वरूप ठाणाङ्ग सूत्रका सूत्राख्य लिख कर बताया जाता है । वह पाठ—

“दशधेरा पन्नत्ता तंजहा—ग्रामधेरा, नगरधेरा, रदधेरा,
नगरधेरा, कुलधेरा, गणधेरा, संघधेरा, जाडधेरा, सुयधेरा,
पियधेरा ।

(ठागाङ्ग ठाणा १०)

“रथायपन्नि दुर्लभस्थित जन सन्मार्गं स्थायपन्तीति स्थविरा तत्र ये ग्रामनगर
व्यवस्थाकरणो बुद्धिमन्न आदेया प्रभविगमस्ते तत्स्थविरा । प्रगामति शिक्ष-
येते प्रगाल्ता धर्मोपदेशकाम्नेच ते स्थिरी कणात्स्थविराश्च प्रगाल्स्तुस्थविग ।
म्य, गगस्य, मद्दस्यच लौकिकस्य लोकोत्तरस्यच व्यवस्थाकारिण स्तद्भक्तुश्च निप्रा-
मन्नयोच्यन्ते । जानिस्थविरा पन्निवप जन्म पर्याया । श्रुतस्थविरा समवायाद्यङ्ग-
पन्त्यास्थविरा विंशति वर्षे प्रग्रज्या वन्नइति”

(कुमागम जाने वाले जनको जो सुमार्गम स्थापन करते हैं वे स्थविर कहलाते हैं ।
ग्राम, नगर और राष्ट्रकी व्यवस्था करने वाले बुद्धिमान भाववचन और प्रभानशाली
क्रमशः ग्रामस्थविर, नगरस्थविर और राष्ट्रस्थविर कहलाते हैं । जो धर्मका उपदेश
जनताको धर्ममें स्थिर करते हैं वे ‘प्रगाल्स्तु स्थविर’ कहलाते हैं । जो लौकिक और
लोकोत्तर दोनों प्रकारके कुल, गग और सद्गकी व्यवस्था करते हैं और उस व्यवस्थाके
करने वाले मनुष्यको युक्त उपयोगमें रोकते हैं वे क्रमशः कुलस्थविर, गगस्थविर और
राष्ट्रस्थविर कह जाते हैं वे लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकारके होते हैं । जिसकी अवस्था
ठ वषकी हो गई है वे जानिस्थविर कहलाते हैं, जो समवायादि अङ्गोको धारण करते
हैं श्रुतस्थविर हैं जिनका प्रग्रज्या काल बीस वर्षका हो गया है वे पर्याय स्थविर कहे
जाते हैं ।)

यदि मूलपाठ और टीकामें ग्राम धर्म आदि दश प्रकारके धर्मों की व्यवस्था करने
के दश स्थविर कहे गये हैं वे दश ही स्थविर जनताको दुर कर्मसे हटा कर सन्मार्गमें
रुत करते हैं इसलिए अपने अपने कार्यक्षेत्रमें वे सभी अच्छे हैं कोई भी एकातपापी
ही है । जिस ग्राम, नगर या राष्ट्रमें इनका स्थावर नहीं होत उनकी सुव्यवस्था नहीं हो
सकी और ग्राम नगर तथा राष्ट्रकी सुव्यवस्था हुए बिना वहाकी जनता सन्मार्गसे नहीं
ल सक्ती परन्तु ये ग्रामस्थविर आदि ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म आदिका नि-
ग करके वहा ही जनताको कुमार्गमें रोक कर सन्मार्गसे चलते हैं और ग्राम नगर तथा
राष्ट्रमें चोरी जागी झूठ हिंसा आदि पापोंका प्रचार रन्त करते हैं अतः इन स्थविरोंको

जो एकान्त पापका कार्य करने वाला कहता है वह अज्ञानी है जिनसे चोरी जारा की हिंसा आदि साव्य कर्मों का प्रचार बन्द होता है वे कदापि एकान्तपापी नहीं हो सकते। यदि कोई कहे कि ये स्थविर मोक्षमार्गिके मद्दायक नहीं हैं किन्तु लोकोत्तर स्थविरों को छोड़ कर बाकीके सब स्थविर सासारिक कार्योंकी व्यवस्था करते हैं और सासारिक सभी कार्य बुरे हैं इसलिए उनके स्थविर भी एकान्त पाप करने वाले हैं तो वह भिन्न वादी है लौकिक स्थविर, जनताकी बुरी प्रवृत्तिको रोक कर उन्हें सन्मार्गमें स्थापन करे हे तथा ग्राम नगर आदिमें चोरी जारी हिंसा आदि एकान्त पापोंके प्रचारको बन्द करे हे तथा ग्राम नगर और गण्डूमे ज्ञान्ति स्थापित करके श्रुत और चाग्रि धर्मके पालन भी महायत्ना देते हैं । जिस ग्राम नगर या गण्डूमें जाति तथा सुव्यवस्था न हो वह श्रुत और चाग्रि धर्मका पालन नहीं हो सकना इसलिए ये स्थविर मोक्षधर्मिके भी उपकारक हैं अतः लौकिक होनेसे इन्हे एकान्त पापमें कहना शास्त्र नहीं जाननेवालोंका कार्य है पूर्वोक्त दश स्थविर और दश धर्म सभी अपने अपने काव्यक्षेत्रमें अच्छे हैं कोई धर्म युग नहीं है इसी तरह दशविध दानोंमें भी अधर्म दानको छोड़ कर शेष अनुकम्पा दान भी एकान्त पापमें नहीं हैं किन्तु अनुकम्पा दानका फल अनुकम्पा और संभार का फल दीन दुःखी आदिको सहायता देना एवं भय दान आदिका उनके नामानुसार है इसलिए धर्मदानको छोड़ कर बाकीके दान एकान्त पापमें नहीं हैं । अतः जो ग्राम आदि धर्म तथा ग्राम स्थविर आदि स्थविरों को अपने मनसे एकान्त पापमें ठहरा उनका दृष्टान्तमें अनुकम्पादान आदिको एकान्त पापमें कायम करता है उसे अज्ञानि जिगेमणि समझना चाहिये ।

(बोल १२ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ७८ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा नौ का मूल लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अनेगने दीधा अनेगी प्रकृतिनो वन्ध कळो छै ते साधुथी अनेगो तो हुण तेहने “दीया अनेगी प्रकृतिनो वन्ध ते अनेगी प्रकृति पापनी छै” इनके कहनेका अर्थ यह है कि ठाणाङ्ग सूत्रमें कहे हुए नौ प्रकारके पुण्य साधुको देनेमें ही होत हैं दान देनेमें नहीं दानके दान देनेमें एकान्त पाप होता है क्योंकि साधुमें इतना सभी हैं । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रका मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह यह है —

“नवविहे पुण्णे पणत्ते तजहा—

अन्न पुण्णे, पाण पुण्णे, लेण पुण्णे, सयण पुण्णे, वत्थपुण्णे,
अन पुण्णे, वय पुण्णे, काय पुण्णे, नमोक्कार पुण्णे”

(ठाणाङ्ग ठाणा ९)

अर्थ —

पुण्य नौ प्रकारके होते हैं अन्न दान देना, जल दान देना, घर मरदान देना, शय्या सधारा ना, वस्त्र दान देना, गुणवान् पुत्र पर हर्षित रहना, वचनसे गुणवान्की प्रशंसा करना और गुणवान्को नमस्कार करना ।

यहा मूल पाठमे किसीका नाम निर्देश न करके साधारण रूपसे अन्न जल आदि दान देनेसे पुण्य उत्पन्न होना कहा गया है इसलिए हीन दीन जीवोको दया लाकर दान देनेसे अकान्त पाप कहना मूर्खोंका काव्य है । कोई कहते हैं कि “साधुसे भिन्नको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो साधुसे भिन्नको नमस्कार करने और उनकी प्रशंसा करनेसे भी पुण्य होना चाहिए परन्तु साधुसे भिन्नको नमस्कार और प्रशंसा करनेसे पुण्य नहीं होता अतः साधुसे इतरको दान देनेसे भी पुण्य नहीं होता है” उनसे कहना चाहिए कि तुम्हारी यह कल्पना मिथ्या है साधुसे इतरको वन्दन नमस्कार करने और प्रशंसा करनेसे भी पुण्य होता है परन्तु जिसको वन्दन नमस्कार तथा प्रशंसा की जाय वह पुरुष गुणवान् होना चाहिए जैसे कि टीकाकारने लिखा है —“मनसा गुणेषु तोषाद्वाचा प्रशमनात्कायेन पुण्युपासनात्तन्मस्कारात् यत्पुण्यन्तन्मन पुण्यादीनि” अर्थात् गुणवान् पुरुषोपर मनमे प्रमत्तता लाने और वचनसे उनकी प्रशंसा करने और शरीरसे उनकी सेवाशुभ्रूपा करने तथा उनको नमस्कार करनेसे जो पुण्य होता है उस प्रमत्त मन पुण्य वचन पुण्य कायपुण्य और नमस्कार पुण्य कहते हैं ।

यहा टीकाकारने गुणवान् पुरुषमे प्रसन्नता लाने उनकी प्रशंसा आदि करनेसे पुण्य उत्पन्न होता कहा है केवल साधुको ही नमस्कार आदि करनेसे पुण्य उत्पन्न होना नहीं कहा इसलिए साधुसे इतर सभीको वन्दन नमस्कार आदि करनेसे पाप बनलाना मिथ्या है । जिस प्रकार साधुसे इतर गुणवान् पुरुषको वन्दन नमस्कार और सेवा शुभ्रूपा आदि करनेसे पुण्य होता है उसी तरह साधुसे इतर हीन दीन जीवोपर अनुकम्पा करके दान देनेसे भी पुण्य होता है अतः हीन दीन जीवोपर दया लाकर दान देनेसे जो अकान्त पाप बनलात है वे मिथ्यावादी हैं ।

यदि कोई कहे कि “ऊर्ध्व लिप्ती हुई टीकाके जो “गुणेषु” यह पद आया है उसका साधु अर्थ है क्योंकि गुणवान् साधु ही होते हैं इसलिए उक्त टीकामें साधुको ही

वन्दन नमस्कार और सेवा शुश्रूषा करनेमें पुण्यबन्ध होना कश है अन्यको वन्दन नमस्कार आदि करनेसे नहीं" तो उससे कइना चाहिये कि टीकाकारको यदि यही इष्ट होगा तो "गुणिषु" के स्थानमें "साधुषु" ऐसा लिखने परन्तु यह नहीं लिख कर जो "गुणिषु" यह पद दिया है इससे मभी गुणियोंके प्रहंग करनेका आशय है केवल साधुको ही नहीं तथा साधु ही गुणवान् होते हैं यह भी मिथ्या है साधुसे इतर भी गुणवान् कहे गए हैं ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें सद्द शब्दका अर्थ करते हुए टीकाकारने लिखा है कि "सद्द गुण रत्न पात्र भूत सत्त्व समूह अर्थात् गुणरूपी ज्ञानोंके पात्र भूत जीवोंके समूहका नाम सद्द है उस मद्दमें केवल साधु ही नहीं किन्तु श्रावक श्राविका भी मौजूद रहते हैं इस लिए साधुसे इतर भी गुणवान् होत हैं उन सभी गुणवान् पुरुषोंका प्रहंग करनेके लिए ऊपर लिखी हुई टीकामें 'गुणिषु' यह पद आया है अत उक्त टीकामें "गुणिषु" इस पदका अर्थ केवल साधु बनलाना मिथ्या है ।

साधुसे इतरकी प्रशंसा करनेसे भी ठाणाङ्ग सूत्रमें पुण्य बन्ध होता कहा है वह पाठ यह है —

“ पंचहिं ठाणेहिं जीवा सुलभ बोधियत्ताए कम्मं पकरं नि तंजहा—अरिहंताणं वन्नं वदमाणे जाव विचक्क तव वंभवेराण देवाणं वन्नं वदमाणे ”

(ठाणाङ्ग ठाणा ९)

अर्थात् पांच कारणोंसे जीव सुलभ बोधों कर्म बाधते हैं अरिहन्तोंकी प्रशंसा करनेसे, अरिहन्त भाषित धर्मकी प्रशंसा करनेसे आचार्य्य और उपाध्यायकी प्रशंसा करनेसे, साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओंके समूह की प्रशंसा करनेसे, तथा उत्तम श्रेणिका ब्रह्मचर्य्य धारण करने वाले देवताओंकी प्रशंसा करनेसे ।

यहां मूल पाठमें उत्तम श्रेणिका ब्रह्मचर्य्य धारण करने वाले देवताकी प्रशंसा करने से सुलभ बोधी कर्मका बन्ध होना कहा है अत साधुसे इतरकी प्रशंसा करनेमें एकान्त पाप कहना मिथ्या है । जिस प्रकार साधुसे इतर परिषद ब्रह्मचर्य्य वाले देवताकी प्रशंसा करनेसे पुण्यबन्ध होता है उसी तरह साधुसे इतर गुणी पुरुषकी वन्दना नमस्कार सेवा शुश्रूषा करनेसे और हीन दीन दुखीको अनुकम्पा दान देनेसे पुण्य बन्ध होता है यदि साधुसे इतरको दान देनेसे पुण्यबन्ध न हो तो फिर साधुसे इतर परिषद ब्रह्मचर्य्य वाले देवताकी प्रशंसा करनेसे भी पुण्य बन्ध न होना चाहिये इसलिए साधुसे इतरको दान वन्दन नमस्कार करनेमें एकान्त पाप कहना मिथ्या है ।

छोटे साधु बड़े साधुको छोटे श्रावक बड़े श्रावकको छोटा भाई बड़े भाईको पुत्र अपने ता पिता आदि गुरु जनांको जो वन्दन नमस्कार करते हैं उन सभीसे पुण्य ही होता एकान्त पाप नहीं होना कोई कोई कहते हैं कि हीन दीन दु ग्रीको अनुकम्पा दान नैम यदि पुण्य होता है तो उसको नमस्कार करनेमें भी पुण्य होना चाहिए, उनसे इतना चाहिए कि अनुकम्पा, ठोठ रडे मय पर की जानी है पर वन्दन नमस्कार अपने श्रेष्ठको ही किया जाना है। सपको नहीं। हीन दीन दु री अनुकम्पा करनेके पात्र पर श्रेष्ठ न होनेके कारण नमस्कार करनेके पात्र नहीं हैं इसलिए उनको अनुकम्पा दान देनेसे पुण्य होता है पर नमस्कार करनेमें नहीं इस प्रकार जातके स्पष्ट होनेपर भी बड़े शुकको सहायतासे अनुकम्पा दान देने और साधुमें इतर माना पिता श्रेष्ठ श्रावक आदिको नमस्कार करनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य है।

कोई कोई कहते हैं कि "साधुमें इतरको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो कमाई से यकग मारनेके लिये, चोर को चोरी कानेके लिए, वेश्याको व्यभिचार सत्रन काने के लिए दान देनेसे भी पुण्य होना चाहिये" उनमें कहना चाहिए कि चोरी हिंसा और व्यभिचार सत्रनार्थ चोर, हिंसक और वेश्या आदिको दान देना अथर्व दान है और दाना भी यह दान एकान्त पापके भावमें देना है अत इसमें एकान्त पाप ही होता है पुण्य नहीं होता जो दान पुण्याथ दिया जाता है उसीसे पुण्य ग्रन्थ होता है और उसी दानका ठाणाङ्ग सूत्रके नवमें ठाणमें कथन हुआ है अत जो दान पुण्यके अर्थ हीन दीन दु री जीर्णों पर दया लाकर दिया जाता है उसीसे पुण्य होता है चोर, हिंसक, वेश्या आदिको चोरी हिंसा और व्यभिचारार्थ दिया जानेवाला दानसे नहीं अत चोरी हिंसा और व्यभिचारार्थ चोर हिंसक और वेश्याको दिये जानेवाले दानके समान ही अनुकम्पा दानको भी एकान्त पापमें ठहराना अज्ञानियोंका कार्य है।

[बोल १३ वां समाप्त]

(प्रेरक)

आपके कथनसे ज्ञात हुआ कि ठाणाङ्ग सूत्रोक्त नवविध पुण्य करल साधुको ही दान देनेसे नहीं साधुमें इतरको देनेसे भी होत है परन्तु ठाणाङ्ग सूत्रके उक्त पाठके नीचे जीवमलज्जिने उक्त्वा अर्थ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखा है कि "अने जे टन्नामें क्यो पात्रने विपे जे अन्नादिकनो देवो ते ह्यकी तीर्थ करदिक पुण्य प्रकृति नो वन्त तो आदि शब्दमें नो बेयाली सुई पुण्य प्रकृति आई" फिर आगे चल कर लिखा है "बलीकाई पुण्य ती प्रकृति बाकी रही नहीं अनेराने दीया अनेगी प्रकृतिनो वन्त त अनेरी प्रकृति पाप नीउं" (भ० पृ० ७९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वसन करने जो टब्बा अर्थ लिया है वह अपूर्ण है भीषणजीके जन्म पहलेके बने हुए टब्बा अर्थमें उक्त मूल पाठका अर्थ इस प्रकार किया है “पात्रं किं अन्नादिक दीजे तेथकी तीर्थ कर नामादिक पुण्य प्रकृतियो वन्त्र तेहथकी अनगत देव ते अनेगी पुण्य प्रकृतियो वध ” इस टब्बा अर्थमें साधुसे इतर जीवको दान देनेसे पुण्य प्रकृतिका बध होना स्पष्ट लिया है इसलिए भ्रमविध्वसनकारने इस टब्बा अर्थको छोड़ कर दूसरा अपूर्ण टब्बा अर्थ दिया है । वह टब्बा अर्थ भी साधुसे भिन्न हो नान दान से पाप होना नहीं बतलाता तथापि खींचातानी करके जीतमलजीने साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप सिद्ध करनेकी चेष्टा की है इनके लिये हुए टब्बा अर्थमें लिया है “अनेग ते देवु ते अनेगी प्रकृतियो वध ” इसमें “अनेगी प्रकृतियो वध ” यह लिया है “पाप प्रकृतियो वन्ध ” यह नहीं लिया है और अनेगी प्रकृति, तीर्थ कर नामादिक पुण्य प्रकृतिमें भिन्न पुण्य भी हो सकता है इसलिए अनेगी प्रकृतिका तात्पर्य पापकी प्रकृति बतलाना दुराग्रहका परिणाम है । अनेगी प्रकृतिको पापकी प्रकृति सिद्ध करनेके लिये भ्रमविध्वसनकार जो यह लिखने हे कि “जिम ऋषभादिक कहिये चौबीसुई तीर्थ का आया, प्राणातिपातादिक कहिये अठारह पाप आया, मिथ्यात्वादिक आस्र कहिये पाच आस्र आया तिम तीर्थ करदिक पुण्य प्रकृति कहिये सर्व पुण्यनी प्रकृति आइ बली काइ पुण्यनी प्रकृति बाकी रही नही ” यह इनका कथन भी व्युक्त है । ऋषभ-देवजी सत्र तीर्थ करोसे प्रथम हैं, गौतम स्वामी महावीर स्वामीके सभी साधुओंमें आदि हैं, अठारह पापोंमें सत्रसे प्रथम प्राणातिपात है, आस्रोंमें मिथ्यात्व ही पहला आस्र है इसलिए ऋषभादि तीर्थ कर करनेसे चौबीस ही तीर्थ करका, गौतमादि साधु करनेसे सभी साधुओंका, प्राणाति पातादि पाप करनेसे सभी पापोंका और मिथ्यात्वानि आस्र करनेसे सभी आस्रोंका प्रदग् होता होता है परन्तु तीर्थ करदिक पुण्य प्रकृति करनेसे सभी पुण्य प्रकृतियोंका प्रदग् नहीं हो सकता क्योंकि तीर्थ कर नामकी पुण्य प्रकृति वेयालीस पुण्य प्रकृतियोंके अन्तमें है आदिमें नहीं है इसलिये जैसे सत्र तीर्थ-करोंके अन्तमें होनेके कारण महावीरादि तीर्थ कर करनेसे सभी तीर्थकरोंका प्रदग् नहीं हो सकता उसी तरह सभी पुण्य प्रकृतियोंके अन्तमें होनेके कारण तीर्थ करदिक पुण्य प्रकृति करनेसे वेयालीस ही पुण्य प्रकृतियोंका प्रदग् नहीं हो सकता । शास्त्री टीकानुसार तीर्थ कर नामकी पुण्य प्रकृति सबसे अन्तमें है आदिमें नहीं है यह टीका

“सायं १ उच्चागोयं २ नर ३ तिरि ४ देवाड ५ नाम एयाड
 मनुयदुगं ७ देव दुगं ९ पञ्चेन्दिय जाइ १० तणुपणगं १५ जङ्गो-
 ग तिथपिय १८ संघयणं वज्जरिसहनाराय १० पढम चिय संठाणं
 न्नाह चउक्क सुपसत्थं । अणुक्कल्लु २५ पराघायं २६ उस्सासं
 ७ आयबं २८ उज्जोयं २९ सुपसत्था विहयगइ ३० तसाह सद-
 ष ४० णिम्माणं तिथयरेणं सहिया बयाला पुण्ण पगइओ ”

(ठाणाङ्ग वीणा)

इस गाथामे वेयालीस पुण्य प्रकृतियोंका क्रमशः वर्णन करते हुए सबसे पहले
 सातावेदनीय पुण्य प्रकृतिका नाम आया है और सभीके अन्तमें तीर्थ कर नाम पुण्य प्रकृति
 कही गई है अतः सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृति कहनेसे वेयालीस ही पुण्य प्रकृतिका ग्रहण
 ही सक्रता है किन्तु तीर्थ करदि पुण्य प्रकृति कहनेसे नहीं । ऊपर लिखी हुई गाथामे पुण्य
 प्रकृतियोंका जो क्रम बतलाया है वही क्रम भीषणजीने भी स्वीकार किया है “नव सज्जाव
 पदार्थ निर्णय” नामक पुस्तकमें पुण्यकी डालमें भीषणजीने वेयालीस पुण्य प्रकृतियोंका
 वही क्रमसे वर्णन किया है । सर्वप्रथम सातावेदनीयको, और मन्से अन्तमें तीर्थ कर नाम
 की पुण्य प्रकृतिको भीषणजीने माना है अतः उपरोक्त टीकामे जो वेयालीस पुण्य प्रकृ-
 तियोंका क्रम बतलाया है वह जीतमलजीको भी मान्य है । जब कि तीर्थ कर नामकी
 पुण्य प्रकृति सबसे अन्तमें मानी जाती है तब तीर्थ करदि पुण्य प्रकृति कहनेसे सभी
 पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण कैसे हो सक्रता है ? अतः तीर्थ करदि पुण्य प्रकृतिसे सभी पुण्य
 प्रकृतियोंका ग्रहण बतलाना मिथ्या है । यदि कोई पूछे कि तीर्थ कर नामकी पुण्य
 प्रकृति जत्र कि वेयालीसही पुण्य प्रकृतिके अन्तमें है तब फिर तीर्थ करदि पुण्य प्रकृति
 कहनेका यहा क्या तात्पर्य है ? तो उससे कहना चाहिये कि तीर्थ करदि शब्दके आदि
 शब्दका यहा सादृश्य अर्थ है प्राथम्य अर्थ नहीं इसलिये तीर्थ कर नामकी पुण्य प्रकृतिके
 अन्तमें विशिष्ट पुण्य प्रकृतियोंका ग्रहण करनेके लिये यहा आदि शब्द टीका और उच्चारणमें
 आया है । आदि शब्दका सादृश्य अर्थ भी पूर्वाचार्यों ने कहा है जैसे कि —

“सामीप्येच व्यवस्थाया प्रकारेऽव्यये तथा

चतुर्ष्वर्थेषु मेधानी ह्यादि शब्देषु लभ्येत् ।

अर्थात् आदि शब्दके चार अर्थ पण्डितोंको जानने चाहिये, [१] सामीप्य [२]
 व्यवस्था [३] प्रकार (सादृश्य) [४] और अवयव ।

- इस पद्यके अनुसार भ्रमविध्वंसनकारके लिये हुए टब्बा अथवा तात्पर्य कि पात्रको दान देनेसे तीर्थंकर नामके सदृश उच्च पुण्य प्रकृतिका वध होता है और दान देनेसे दूसरी पुण्य प्रकृति वधती है, यह नहीं कि सभी पुण्य प्रकृति पात्रको ही दान देनेसे वधे और दूसरेको दान देनेसे एकान्त पाप हो अतः उक्त टब्बा अर्थके साधुसे भिन्नको दान देनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञानका परिणाम है ।

ऊपर लिखा हुआ ठाणाङ्ग सूत्रका 'नवविधे पुण्ये पण्यन्ते' इत्यादि पाठ, पुण्य वर्णन करनेके लिये आया है पापका वर्णनके लिये नहीं इसलिये इस पाठमें पापका वर्णन चताना - मिथ्या है । जब कि इस पाठमें पापका वर्णन नहीं है पुण्यका ही वर्णन है फिर इसका अर्थ करते हुए टब्बाकार साधुसे इतरको दान देनेसे पाप होना कैसे बतल सकते हैं ? यह बुद्धिमानोंको स्वयं सोच लेना चाहिये ।

(बोल चौदहवां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ७९ पर लिखते हैं कि "अने भगवन्तों साधुने कल्पे तेहिज द्रव्य कहा छै अनेराने दिया पुण्य हुवे तो गाय पुण्य भैंस पुण्य रूण्यो पुण्ये खेती पुण्ये इत्यादिक बोल आणतां ते तो आणया नहीं" इनके कहने का तात्पर्य यह है कि ठाणाङ्गके उक्त पाठमें साधुके लेने योग्य वस्तुका ही नाम लेकर पुण्य होना कहा है जो साधुके लेने योग्य चीज नहीं है उसके दान करनेसे पुण्य होना नहीं कहा है इसलिये इस पाठमें साधुको दान देनेसे ही पुण्यबन्ध चताया है साधुसे इतरको दान देनेसे नहीं इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारकी यह कल्पना अयुक्त है । यदि साधुके कल्पनेयोग्य वस्तुओंका ही कथन ठाणाङ्गके इस पाठमें है तो फिर 'सुई पुण्ये कतरनी पुण्ये भस्म पुण्ये' इत्यादि पाठ भी यहा होना चाहिये, क्योंकि साधुको सुई कतरनी अर्थात् मिट्टीके डेले और भस्म भी कल्पनीय होते हैं अतः इनके दान करनेसे भी पुण्य ही होता है पाप नहीं होता फिर ये सब इस पाठमें क्यों नहीं कहे गये ? इससे ज्ञात होता है कि यह पाठ केवल साधुके लिए ही नहीं किन्तु सभी प्राणियोंके लिये आया है और पुण्यके निमित्त दूसरे प्राणीको दान देनेसे भी पुण्य ही होता है एकान्तपाप नहीं होता अतः केवल साधुको ही देनेसे पुण्य बन्ध मान कर साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप कहना अज्ञान है । इस पाठमें जो नव बातोंसे पुण्य होना कहा है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन नव

ने भिन्न वस्तु यदि पुण्य र्थ दी जाय तो उग्रम पुण्य नहीं होता क्योंकि पड़ोशरी
तरनी आदि देनेसे पुण्य होना इस पाठम नहीं कहा है पर उनके दानसे भी पुण्य ही
है तथापि इस पाठमें पुण्यरु मुख्य २ कारण कहे गए हैं । गौग रूप पुण्यका कथन यह
है इमलिये अन्न दानादिसे भिन्न वस्तु मोका दान भा यदि धर्मानुकूल हो तो वह
पापमे नहीं है । जैसे इस पाठमें नहीं लिखी हुई सुइ कतरनी अचित्त मिट्टीक डेले
आदि चीजोके दानसे पाप नहीं होता उसी तरह माधुस इतरको पुण्यार्थ यदि धर्मा-
वस्तु दी जाय तो उससे भी एकान्त पाप नहीं होता । अत 'अनेराने दिया पुण्य
तो गाय पुण्ये' इत्यादि भ्रमविध्वसनकारका तर्क अयुक्त समझना चाहिये ।

(बोल १५)

(पंरक)

भ्रमविध्वसनकार साधुसे इतर सभीको कुपात्र मानते हैं । माता पिता ज्येष्ठ वधु
गुरुजन भी इनके मनमे कुपात्र हैं उनको यदि धर्मानुकूल कोई वस्तु दी जाय तो
वेध्वसनकार कुपात्र दान ठहरा कर उसे एकान्त पाप कहते हैं । इनका सिद्धान्त है
वेदया हिंसक चोर आदिको व्यभिचार, हिंसा और चोरीके लिये दान देना जैसे
एकान्त पाप है उसी तरह साधुसे इतरको दान देना एकान्त पाप है । भ्रमविध्वसन पृष्ठ
पर जीतमलजीने लिखा है कि "साधुथी अनेरो तो कुपात्र छै तेहने दीधा अनेरी
तेनो नव ते अनेरी प्रकृति पापनी छै" अर्थात् साधुमे इतर सभी कुपात्र हैं उनको
दान कुपात्र दान है । कुपात्र दानका कठ जीतमलजीके सिद्धान्तानुसार बतलात हुए
अधिक महाशयने भ्र० पृ० ८० पर यह लिखा है —

"कुपात्रदान, मासादिसेग्रन व्यसन कुशीलादिके ये तीनों एक ही मार्गके पथिक
जैसे चोर, जार, ठग ये समान व्यस्रायी हैं उसी तरह जयाचार्य्य सिद्धान्तानुसार
एक दान भी मासादि सेग्रन व्यसन कुशीलादिकी श्रेणीमे ही गिनने योग्य हैं ।"

इसका क्या समाधान ?

(पंरक)

साधुमे इतर सभीको कुपात्र कहना शास्त्र विरुद्ध है । कहीं भी साधुसे इतरको
कुपात्र नहीं कहा है । आत्रक साधुसे शर होता हुआ भी गुणरत्नका पात्र और तीथमे
गया है । भगवती सूत्र शतक ०० उद्देशा ८ मे यह पाठ आया है —

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८० के ऊपर लिखते हैं कि "अथ ब्रह्मेण गोशालाने पीठ फलरु शय्या संधारा शकडाल पुत्र दिया विहा धर्म तप नहीं इति अतो गोशाला तो तीर्थङ्कर वाजतयो निणने दिया ही धर्म तप नहीं तो असंयतिने वि धर्म तप किम कहिए पुण्य पिण न श्रद्धबो पुण्य तो धर्म लारे वैधे छै शुभ योग छै निर्जरा बिना पुण्य निपजे नहीं ते माटे असंयतिने दिया धर्म पुण्य नहीं" (अ० पृ० ८१)

इकका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारके मतसे पश्व महाप्रवधारी साधुके सिवाय संसारके सभी जीव कुपात्र हैं, उनको दान देना या किसी प्रकारसे उनकी सहायता करना इनके अन्न मास भोजन व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य है। भ्रमविध्वंसन मूल लेख और उसकी टीप्पणी लिए कर यह कहा जा चुका है। इनका यह सिद्धन यदि शास्त्रानुकूल होता और शकडाल पुत्र श्रावक भी इसे मानता तो वह गोशाला जैसे असंयति और अन्य तीर्थियोंके शिरोमणिको शय्या संधारा देकर मास भोजन और व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य क्यों करता ? क्योंकि इसके लिए शकडाल पुत्रका कोई आवश्यक कार्य नहीं रूका था। शकडाल पुत्र भी आनन्द श्रावक की तरह अभिप्रहधारी बारह व्रतधारी श्रावक था यदि अन्य तीर्थीको दान देने श्रावकका अभिप्रह नष्ट हो जाता है और उसको मास भोजनादिकी तथा एकान्त पाप होता है तो फिर शकडाल पुत्रका अभिप्रह गोशालाको दान देने अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिये था और उसे एकान्तपाप होना चाहिये था परन्तु शास्त्र में, गोशालाको दान देनेसे शकडाल पुत्रको एकान्त पाप होना या उसका अभिप्रह नष्ट जाना नहीं लिखा है अतः अन्य तीर्थीको दान देनेसे एकान्त पाप और अभिप्रह नष्ट स्थापना करना मिथ्या है। अन्य तीर्थीको गुरुबुद्धिसे मोक्षार्थ दान न देनेका ही श्रावकको अभिप्रह होता है अनुकम्पा लाकर हीन दीन दुःखीको दान देनेका नहीं होता तब प्रत्यक्ष प्रभावनाके अर्थ भी दान न देनेका अभिप्रह नहीं होता है। अतएव शकडाल पुत्रने गोशालाको शय्या संधारा दिया था और इस कार्यसे उसको एकान्त पाप होने शास्त्रकारने भी नहीं कहा है किन्तु इस दानसे धर्म और तप न होनेका मूलपाठमें वर्णन है एकान्त पाप होनेका या, पुण्य न होनेका कथन नहीं है। वह मूलपाठ यह है—

तएणं से सहाळ पुत्ते समणो वासए गोसालं मंखलि पुत्तं
एवं वयासी जम्हाणं देवणुप्पिया ? तुम्हेसम धम्मा धरियस्स जा

व महावीरस्य सन्तेहि तच्चेहि तहिएहि सच्चेहि सब्बभूएहि
वेहि गुण कीत्तणं करेहि तम्हाणं अहं तुम्हे पडिहारिएणं पीढ
व संधारएणं उवनिमंत्तेमि णो चेवणं धम्मोत्तिवा तचोतिवा ”

(उपासक दशाग अध्ययन ७)

अर्थ—

शकडाल पुत्र श्रावकने गोशालक मज्जलि पुत्रसे यह कहा कि हे देवानुप्रिय । तुम्हने हमारे
साधुस्य यावत् महावीर स्वामीके विद्यमान और मत्स्यगुणाका कीर्तन किया है इमन्दि मे
सधो पीड कल्क शय्या सधारा आदि देनेके लिये निमन्त्रित करहता हूं परन्तु इसे धर्म या तप
मत्त कर नहीं ।

इस पाठमें शकडाल पुत्र श्रावक गोशालक मज्जलिपुत्रको शय्या सधारा देनेसे
धर्म और तप होनेका ही निषेध करता है पुण्य होनेका निषेध नहीं करता अथवा इस
पाठसे एकान्त पाप होना नहीं बतलाता इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पश्चमहा-
त धारी साधुसे इतरको दान देना एकान्त पाप नहीं है किन्तु उससे पुण्य भी होता है ।
यदि साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप होता तो इक्त मूल पाठमें गोशालकको दान
देनेसे शकडाल पुत्र एकान्त पाप बतलाता सिर्फ धर्म और तपका निषेध ही नहीं करता
अतः शकडाल पुत्र श्रावकका नाम लेकर साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप बताना
मिथ्या समझना चाहिये ।

इस शकडाल पुत्रके उदाहरणसे प्रवचन प्रभावनाके लिए साधुसे इतरको दान
देना भी श्रावकोंका कर्तव्य सिद्ध होता है । शकडाल पुत्रने भगवान् महावीर स्वामीके
आनुवाद करनेसे गोशालकको शय्या संधारा देकर प्रवचनकी प्रभावना की थी । यह
प्रवचनकी प्रभावना, तीर्थङ्कर गोत्रबन्धका कारण कही गयी है इसीलिये शकडाल पुत्रने
गोशालकको दान देनेसे पुण्यका निषेध नहीं किया है । जो लोग कहते हैं कि “पुण्य-
बन्ध निर्जराके साथ ही होता है इसलिए गोशालकको दान देनेसे शकडाल पुत्रको पुण्य
न हुआ ” वे मिथ्यावादी हैं शास्त्रमें निर्जराके साथ ही पुण्यबन्ध होनेका कहीं भी
उल्लेख नहीं है इसलिए प्रवचनकी प्रभावनाके लिये दान देनेसे पुण्यकी उत्पत्ति न मानना
ज्ञानका परिणाम है । उक्त शकडाल पुत्रके उदाहरणसे साधुसे इतरको दान देनेसे मास
पानादिकी तरह एकान्त पाप होनेका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या कायम होता है क्योंकि
साधुसे इतरको दान देना यदि मासाहारादिके समान एकान्त पापका कार्य्य होता तो
शकडाल पुत्र कदापि गोशालकको शय्या संधारा नहीं देता अतः शकडाल पुत्रका नाम

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८० के ऊपर लिखते हैं कि "अथ अङ्गि गोशालाने पीठ फलक शय्या संधारा शकडाल पुत्र दिया तिहा धर्म तप नहीं इति किं तो गोशाला तो तीर्थंकर वाजतोयो निणने दिया ही धर्म तप नहीं तो अर्मयतिन नि धर्म तप किम कहिए पुण्य पिण न श्रद्धवो पुण्य तो धर्म लारे वैधे छै शुभ योग है निर्जरा विना पुण्य निपजे नहीं ते माटे असंयतिने दिया धर्म पुण्य नहीं" (भ्र० पृ० ८१)

इकका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वंसनकारके मतमे पञ्च महाप्रतधारी साधुके सिवाय संसारके सभी अने कुपात्र हैं, उनको दान देना या किसी प्रकारसे उनकी सहायता करना इनके प्राप्ति मास भोजन व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य है। भ्रमविध्वंसनक मूल लेख और उसकी टीप्पणी लिख कर यह कडा जा चुका है। इनका यह सिद्धन्त यदि शास्त्रानुकूल होता और शकडाल पुत्र श्रावक भी इसे मानता तो वह गोशाला जैसे अक्षयति और अन्य तीर्थियोंके शिरोमणिको शय्या संधारा दकर मान भोजन और व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पापका कार्य क्यों करता ? क्योंकि इसक शकडाल पुत्रका कोई आवश्यक कार्य नहीं रुका था। शकडाल पुत्र भी आनन्द श्रावकी तरह अभिप्रहधारी वारह व्रतधारी श्रावक था यदि अन्य तीर्थीको दान देने श्रावकका अभिप्रह नष्ट हो जाता है और उसको मास भोजनादिको एकान्त पाप होता है तो फिर शकडाल पुत्रका अभिप्रह गोशालाको दान देने अवश्य ही नष्ट हो जाना चाहिये था और उसे एकान्तपाप होना चाहिये था परन्तु अने में, गोशालाको दान देनेसे शकडाल पुत्रको एकान्त पाप होना या उसका अभिप्रह जाना नहीं लिखा है अतः अन्य तीर्थीको दान देनेसे एकान्त पाप और अभिप्रह नष्ट स्थापना करना मिथ्या है। अन्य तीर्थीको गुरुद्विसे मोक्षार्थ दान न देनेका ही अर्थको अभिप्रह होता है अनुकम्पा लाकर हीन दीन दुखीको दान देनेका नहीं होता त प्रवचन प्रभावनाके अर्थ भी दान न देनेका अभिप्रह नहीं होता है। अतएव शकडाल पुत्रने गोशालाको शय्या संधारा दिया था और इस कार्यसे उसको एकान्त पाप होने शास्त्रकारने भी नहीं कडा है किन्तु इस दानसे धर्म और तप न होनेका मूलपाठमें कथन है एकान्त पाप होनेका या, पुण्य न होनेका कथन नहीं है। वह मूलपाठ यह है—

तएवं से सहाल पुत्ते समणो वासए गोशालं मंखलि पुत्तं एवं वषासी जम्हाणं देवणुप्पिया ? तुम्हेमम धम्मा यरियस्स जाव

व महावीरसस सन्तेहिं तच्चेहिं तहिएहिं सन्वेहिं सव्वभूएहिं
वेहिं गुण कीत्तणं करेहिं तम्हाणं अहं तुम्हे पडिहारिणं पीढ
व संधारणं उवनिमंत्तेमि णो चेवणं धम्मोत्तिवा तवोत्तिवा ”

(उपासक दशाग अध्ययन ७)

अर्थ—

शकडाल पुत्र धावकने गोशालक महल्लि पुत्रसे यह कडा कि हे देवानुप्रिय । तुमने हमारे
गंधार्थ्यं वावल् महावीर स्वामीके विद्यमान और सत्यगुणोंका कीर्तन किया है इसलिए मे
को पीठ कलक दाव्या सधारा आदि देनेके लिये निमन्त्रित करहता हू परन्तु इसे धर्म या तप
सह कर नहीं ।

इस पाठमें शकडाल पुत्र श्रावक गोशालक मखलिपुत्रको शय्या सधारा देनेसे
और तप होनेका ही निषेध करता है पुण्य होनेका निषेध नहीं करता अथवा इस
एकान्त पाप होना नहीं बतलाता इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि पञ्चमहा-
घारी साधुसे इतरको दान देना एकान्त पाप नहीं है किन्तु उससे पुण्य भी होना है ।
यदि साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप होता तो इत् मूल पाठमें गोशालकको दान
द देनेसे शकडाल पुत्र एकान्त पाप बतलाता सिर्फ धर्म और तपका निषेध ही नहीं करता
अतः शकडाल पुत्र श्रावकका नाम लेकर साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप बताना
मिथ्या समझना चाहिये ।

इस शकडाल पुत्रके उदाहरणसे प्रवचन प्रभावनाके लिए साधुसे इतरको दान
देना भी श्रावकोंका कर्तव्य सिद्ध होता है । शकडाल पुत्रने भगवान् महावीर स्वामीके
गुणानुवाद करनेसे गोशालकको शय्या सधारा देकर प्रवचनकी प्रभावना की थी । यह
प्रवचनकी प्रभावना, तीर्थङ्कर गोत्रग्रन्थका कारण कही गयी है इसीलिये शकडाल पुत्रने
गोशालकको दान देनेसे पुण्यका निषेध नहीं किया है । जो लोग कहते हैं कि “पुण्य-
ग्रन्थ निर्जराक साथ ही होता है इसलिए गोशालकको दान देनेमें शकडाल पुत्रको पुण्य
भी न हुआ ” वे मिथ्यावादी हैं शास्त्रमें निर्जराके साथ ही पुण्यग्रन्थ होनेका कहीं भी
नियम नहीं है इसलिए प्रवचनकी प्रभावनाके लिये दान देनेसे पुण्यकी उत्पत्ति न मानना
सकडाका परिणाम है । उक्त शकडाल पुत्रके उदाहरणसे साधुसे इतरको दान देनेसे मास
भोजनादिकी तरह एकान्त पाप होनेका सिद्धान्त सर्वथा मिथ्या कायम होता है क्योंकि
साधुसे इतरको दान देना यदि मासाहारादिके समान एकान्त पापका कार्य होता तो
शकडाल पुत्र कदापि गोशालकको शय्या सधारा नहीं देना अतः शकडाल पुत्रका नाम

लेकर साधुसे इतरके दानमे मासाहार व्यसन कुशीलादिकी तरह एकान्त पाप, अज्ञानका परिणाम है ।

[बोल १८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८२ के ऊपर विपाक सूत्रका मूल कर उसकी साक्षीसे साधुसे इतरको दान देनेमें एकान्त पाप बतलाते हुए हैं कि “ अथ श्वा गोतम भगवन्तने पूढ्यो इण मृगा लोढे पूर्वे फाई कुकर्म दान दीघा तेहना फल ए नरक समान दु ख भोगवे छै । तो जो बोनी कुपात्र चौढे भारी कुकर्म कछो छ कायारा शस्त्रते कुपात्र तेहने पोप्या धर्म पुण्य किम विप्रे (भ्र० वि० ८२-८३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

विपाक सूत्रके मूल पाठकी साक्षीसे हीन दीन दु खी जीवपर दया देनेमे एकान्त पाप बताना मिथ्या है । वहा गोतम स्वामीने महावीर स्वामीसे कि “ हे भगवन् यह “ मृगालोढ ” (किंवा दद्या) क्या देकर ऐसा नरकक दु ख भोगता है ” इसका तात्पर्य यह है कि यह मृगा लोढ, किस चोर जाट आदि महारम्भी प्राणीको चोरी जारी हिंसा आदिके लिए दान देकर ऐसा दु ख कर रहा है हीन दीन जीवोपर दया लाकर दान देनेसे दु ख भोग पूछनेका यहा नहीं है क्योंकि जो दान मोक्षार्थ सयति पुरुषको दिया जाता है और जो अनुराग लाकर हीन दीन जीवोको दिया जाता है उनसे दु ख भोग नहीं होता क्योंकि ये दान पापके कारण नहीं हैं अत विपाक सूत्रकी साक्षीसे हीन दीन दु खी जीवोपर लाकर दान देनेसे एकान्त पाप बताना मिथ्या है । विपाक सूत्रका पूरा पाठ देकर इसका खुलासा किया जाता है वहपाठ यह है—

“ स्वेणं भन्ते ! पुरिसे पुढ्यभवे के आसि किं णाम एव किं गोएवा कायरंसि गामंसिवा नयरंसिवाकिंवादद्या किंवा भोषा किंवा समायरित्ता केसिंवा पुरा पोरणाणं दुद्धिण्णाणं दुप्पडिक्काणं असुभाणं पावाणं कम्माणं पावगं फलवित्ति वित्तेसं पच्चणुभव भाणे जाव वित्तरइ ”

(विपाक सूत्र ३० ?)

अथवा दे भगवत् । यह पुरुष, पूर्व जन्ममें कौन या इमका क्या नाम था और गोत्र क्या स ग्राम या नगरमें यह रहता था । क्या देकर, क्या खाकर, क्या आचरण करके और कितने नहीं हाटाए हुए निम्न निन्दित पुराने अशुभ कर्मके पाप स्वरूप फल विरोधको यह क्या है ?

इस पाठमें जैसे “ किंवा भोद्या ” और “ किंवा समायरित्ता ” ये दो पाठ अन्तर्मादि भक्षण और हिंसादि आचरण अर्थमें आये हैं, दाल रोटी आदिका भोजन अन्याय वृत्तिमें कुटुम्ब पालनादिके अर्थमें नहीं उसी तरह “ किंवा दद्या ” यह पाठ चोर जाग हिंसक आदिको चोरी जारी हिंसा आदिक लिए दान देने अर्थमें ही आया अनुकम्पा लाकर हीन दीन जीवोको दान देने अर्थमें नहीं इसलिए इस पाठके आश्रय अनुकम्पा दानका रण्डन करना अज्ञान है । यदि कोई “ किंवा दद्या ” इस पाठसे अनुकम्पा दानका ग्रहण करके अनुकम्पा दानमें भी पाप बनाये तो फिर वह “ किंवा दद्या ” इस पदसे साधु दानका ग्रहण करके उमे भी पाप क्यों नहीं बनछाना ?

यदि कहो कि पथ्य महाप्रतधारी साधुको दान देनेसे एकान्त पाप नहीं होता इसलिए उसका इस पाठमें ग्रहण नहीं है तो हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देने से भी एकान्त पाप नहीं होता इसलिए उसका भी इस पाठमें ग्रहण नहीं है किन्तु जैसे महाप्रतधारीको मोक्षार्थ दान देना प्रशस्त है उसी तरह हीन दीन जीवोंपर दया लाकर दान देना भी अनुकम्पा रूप गुणका हेतु है अतः अनुकम्पा दानमें एकान्त पाप नहीं मूर्खता है ।

द्वयाकारने “ किंवा दद्या ” इस पाठका कुपात्र दान अर्थ किया है कुपात्र दानका अर्थ, चोर जाग हिंसक आदिको चोरी जारी हिंसा आदिके लिये दान देना है अनुकम्पा लाकर हीन दीनको दान देना नहीं क्योंकि चोर जाग हिंसक आदि जीव ही कुपात्र हैं परिश्वसनकारकी कपोल कटिपत्र परिभाषानुसार साधुमें इतर सभी कुपात्र नहीं हैं इसलिए उक्त द्वयाकारके अर्थानुसार भी हीनदीन जीवोको अनुकम्पा दान देनेसे एकान्त पाप नहीं सिद्ध होता अतः उक्त द्वया अर्थका आश्रय लेकर भी अनुकम्पा दानमें पाप नहीं माना मिथ्या है ।

विपाक सूत्रका यह पाठ जो अभी लिखा गया है भ्रमविश्वसनकी पुरानी प्रतिमें पूर्ण छपा हुआ है उसमें “ किंवा भोद्या किंवा समायरित्ता ” यह पाठ ही नहीं है और अन्तर्मादि चोपडाकी छपाई हुई नयी प्रतिमें भी यह पाठ व्युत्क्रासे लिखा है । विपाक सूत्रकी शुद्ध प्रतियोगे सर्वत्र “ किंवा दद्या किंवा भोद्या किंवा समायरित्ता ” ये पाठ साथ

ही मिलते हैं और होना भी ऐसा ही चाहिए परन्तु भ्रमविध्वंसनकी नई प्रतिमें 'किंवा भोच्चा किंवा समायरित्ता' यह पाठ "किंवा इच्चा" के अनन्तर न होकर माने " इम शब्दके अनन्तर आया है इम प्रकार क्रम विरुद्ध पाठ देनेका तात्पर्य है यह भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायी साधु जानें परन्तु प्रत्युत्तर दीपिकामें जो गुण भ्रमविध्वंसनमें लिखे हुए पाठके सम्बन्धमें बात कही हुई है वह अक्षरग सत्य है। तब प्रतीत होता है कि प्रत्युत्तर दीपिकाकी सच्ची बातको मिथ्या सिद्ध करनेके लिए नए भ्र० वि० में " किंवा भोच्चा किंवा समायरित्ता " यह पाठ यथास्थान नए व्युत्क्रममें दिया गया है। पुगने भ्रमविध्वंसनमें छपे हुए पाठके देखनेसे पाठकों अपने आप ज्ञात हो सकता है कि प्रत्युत्तर दीपिकाकी बात सत्य है या भ्र० वि० संशोधक महाशय की।

(बोल १९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८३ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र अव्ययन की चौथीसर्गों गाथाको लिख कर बतलाते हैं कि " इस गाथामें ब्राह्मणोंको पापकारी क्षेत्र कहा है। जब ब्राह्मण भी पापकारी क्षेत्र हैं तो दूसरे लोगोंकी तो बात ही क्या है। साधुमें इतर सभी जीव कुपात्र हैं उनको दान देनेसे धर्म पुण्य कैसे हो सकता है। जैसे कि उन्होंने लिखा है—

" अथ अठें ब्राह्मणाने पापकारी क्षेत्र कहा तो बीजानो स्यू कहियो " (भ्र० पृ० ८३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है कि गाथा यह है —

" कोहो य माणोय वहो य जेसिं मोसं अदत्तं च परिगहं च ।
ते माहणा जाइ विज्जा विहोणा ताहं तु खेत्ताइं सुपावगाइं "

(उत्तराध्ययन भा० १२ गाथा १४)

टीकानुसार इस गाथाका अर्थ किया जाता है।

जो ब्राह्मण, क्रोधी, मानो, मयावी ओर लोभी है, जो हिंसा झूठ चोरी और परिग्रह सेवा हैं वे जाति और विषामें विद्वान् पापकारी क्षेत्र हैं। गुण और कर्मके अनुसार चारों क्षेत्र हैं। कला भी है —

“ एक वर्ण मिट सर्वं पूर्वमासोऽयुधिष्ठिर । क्रिया कर्म विभागान् चातुर्वर्ण्यं व्यव-
हम् ”

“ब्राह्मणो ब्रह्मचर्येण यथाशिल्पन शिल्पिक ।

अन्यथा नाम मात्र स्यादिन्द्र गोपकं क्रीडन् ॥” ✓

अर्थात् “ हे युधिष्ठिर ! पहले सभी लोग एक वर्णके थे पीछेमे क्रमानुसार चार
वर्णोंकी सृष्टि हुई ।

जैसे शिल्प कर्म करनेवाला शिल्पी हुआ उसी तरह ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला
व्यक्ति ब्राह्मण हुआ । जो ब्रह्मचर्य धारण नहीं करता वह “ इन्द्र गोप ” क्रीडक्री तरह
नाम मात्रका ब्राह्मण है ” ऐसे नामधारी ब्राह्मणोंमे सन् शास्त्ररूपी विद्या नहीं होती ।
सभी शास्त्रोंमें अहिंसा और सत्य आदिका ही विधान पाया जाना है । कहा भी है —

“ अहिंसा सत्य मन्तेय त्यागो मैथुन वर्जनम्

पञ्चैतानि पवित्राणि सर्वेषां ब्रह्मचारिणाम् ” ✓

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, और मैथुन वर्जन, ये पांच सभी ब्रह्मचारि-
योंके लिए पवित्र हैं । इनका सेवन करना ही त्रिशा पढ़नेका फल है जो शास्त्र पढ़ कर
भी इनका सेवन नहीं करके क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, जठ, चोरी, परिग्रह, और
मैथुनादि कार्योंमें रत है वह वास्तवमें विद्या विहीन है । कहा भी है—

“ तद् ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति राग गण ।

तमस कुनोऽस्ति शक्तिर्दिनकर किरणापत म्यातुम् ॥ ” ✓

अर्थात् जिस ज्ञानके उदय होनेपर भी राग गण प्रकाश करते हैं वह ज्ञान ही नहीं
है क्योंकि सूर्यकी किरणोंके सामने ठहरनेके लिये अन्यकारकी शक्ति क्या है ? जिस
वस्तुमें प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती निश्चय नयके अनुसार वह कोई वस्तु ही नहीं है
अतः जो ब्राह्मण विद्या पढ़ कर भी चोगी जारी हिंसा आदि कुकर्म करते हैं वे न तो
वास्तविक ब्राह्मण हैं और न उनकी विद्या ही वास्तविक विद्या है किन्तु जाति और
विद्या दोनोंसे वे हीन हैं उन ब्राह्मणोंको पापकारी क्षेत्र समझना चाहिये । यह उक्त गाथा
का टीकानुसार भावार्थ है ।

इस गाथामें क्रोध, मान, माया, लोभ, व्यभिचारी, हिंसक, और चोर ब्राह्मणों
को पापकारी क्षेत्र कहा है जो उक्त दोष वर्जित ब्राह्मण हैं उनको नहीं अतः इस गाथा
का नाम लेकर ब्राह्मण मात्रको पापकारी क्षेत्र बनलाना मूर्खों का कार्य है । यदि ब्राह्मण
मात्रको पापकारी क्षेत्र बनलाना शास्त्रकारको इष्ट होता तो इस गाथामें शास्त्रकार ब्राह्मण

के विशेषण क्रोध मान आदि क्यों देते ? किन्तु उक्त विशेषण न लगा कर सीधा ही ब्राह्मण मात्रको पापकारी क्षेत्र कह देते परन्तु शास्त्रकारने क्रोधी मानी हिंसक आदि ब्राह्मणोंको ही पापकारी क्षेत्र कहा है और मनुजीने भी क्रोधी मानी हिंसक ब्राह्मणोंको पापी नरक गामी और कुपात्र कहा है अत ब्राह्मण मात्रको कुपात्र कहना उत्सूत्र भाष्य समझना चाहिये ।

वास्तवमें चाहे ब्राह्मण हो या और कोई हो जो चोरी जागी हिंसा आदि दुष्ट कर्म करता है वह कुपात्र तथा पापकारी क्षेत्र है उसको चोरी जागी आदि असत्कर्म करनेके लिये दान देना कुपात्र दान और एकान्त पाप है परन्तु जो उक्त दोषोंसे रहित है उसको सत्कर्म करनेके लिये दान देना और हीन दीन दुखी जीवको अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं है अत उक्त गाथाका नाम लेकर अनुकम्पा दानका रक्षण करना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिए ।

(बोल २० वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ८४ पर उपासक दशाङ्ग सूत्रका मूल पाठ लिख कर साधुसे इतरको दान देने वाले श्रावकको पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन रूप पाप होना बतलाते हैं जैसे कि उन्होंने लिखा है “ तिवारे कोई कहे इहा अस यति पोष व्यापार क्यो छै तो तुमे अनुकम्पारे अर्थे असयतिने पोग्या पाप किम कहे छो तेहन उत्तर—ते असयतिने पोषी पोषीने आशीविका करे ते असयति पोष व्यापार छै अने दाम लिया विना असयतिने पोषे ते व्यापार नथी कहिए पर पाप किम न कहिए जिम कोयला करी बेंचे तो अङ्गाल कर्म व्यापार अने दाम लिया विना आगलाने कोयला करी आपे ते व्यापार नथी पर पाप किम न कहिए (भ्र० पृ० ८५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

पन्द्रहवें कर्मादानका नाम मूल पाठमें “असई जग पोषगया ” यह लिखा है इस नामके अनुसार अमती य.नी व्यभिचारिणी स्त्रियोंको पोष कर उनमें भाडेपर व्यभिचार कराने रूप व्यापार करना पन्द्रहवें कर्मादानका अर्थ है साधुसे भिन्न जीवोंको पोषण करना अर्थ नहीं है अत भ्रमविध्वसनकारने जो पन्द्रहवें कर्मादानका “असयति पोषणता ” यह नाम रच कर साधुमें भिन्न जीवोंके पोषण करनेसे कर्मादानका पाप होना बतलाया है वह एकान्त मिथ्या है ।

भ्रमविश्वसनकारने उपासक दशाग सूत्रका जो मूल पाठ, भ्र० वि० मे उद्धृत
 है उसमें भी पन्द्रहवें कर्मादानका नाम “अमई जग पोपगया” यही लिखा है
 उस पाठके टब्बा अर्थमें भी साधुसे भिन्नको दान देनेमें उक्त कर्मादानका सेवन
 कर के वेद्या आदिके पोपण करने रूप व्यापारको ही कर्मादानका सेवन कहा है ।
 तब इस पाठका टब्बा अर्थ भ्रमविश्वसनकारका दिया हुआ यह है —

“वेद्या आदिकने पोपण आदिक व्यापार कर्म” इसमें साधुसे भिन्नको पोपण
 रूप व्यापार न कर के वेद्या आदिके पोपण रूप व्यापारको कर्मादानका सेवन बनलाया
 तथापि जगत्में भ्रम फैलानेके लिए जीतमलजीने अपने मनसे १५ वें कर्मादानका
 “असयति पोपगता” यह नाम रक्खा है । उसपर भी पहले प्रश्न रूपमें दूसरेसे स्वीकार
 कराकर तब पीछे खुदने स्वीकार किया है । उन्होंने लिखा है कि —

“नियारे कोई डम कहे इहा असयति पोप व्यापार क्यो ठै तो तुम्हे अनुकूपारे
 अर्थ असयतिने पोप्या पाप किम क्यो छो” इत्यादि । बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये
 कि पन्द्रहवें कर्मादानका जगत्कि असयति पोपगता” यह नाम ही नहीं है तो इसके
 सम्यग्धमे भ्रमविश्वसनकारसे कोई प्रश्न ही कैसे कर सकना है ? परन्तु अपने मनसे
 ऐसा प्रश्न बना कर जीतमलजीने जगत्में यह भ्रम फैलानेकी चेष्टा की है कि अनु-
 कूपका समर्थन करनेवाले भी १५ वें कर्मादानका नाम “असयति पोपगता” मानते
 हैं । परन्तु जो लोग मूल पाठ न देख कर केवल ढालोंके आधारपर शास्त्रकी बात
 जानना चाहते हैं उन्हींपर यह कष्ट चल सकना है जो मूल पाठ देख कर पदार्थका
 निर्णय करना चाहते हैं वे इस धोखेमें नहीं आ सकने । पन्द्रहवें कर्मादानका असयति
 पोपगता यह नाम ही नहीं है इस लिए हीन दीन दु खी जीवोंपर दया लाकर दान देने
 वाले श्रावकोप १५ वें कर्मादानका आरोप करना एकान्त मिथ्या है ।

आगे चल कर जीतमलजी लिखते हैं कि “आदिक शब्दमें तो सर्व असयतिने
 गेजगारारे अर्थ राते ते असयति व्यापार कहिए” यहा बुद्धिमानोंको विचारना चाहिए
 कि जगत् पन्द्रहवें कर्मादानका नाम ही “असयति पोपगता” है तब आदि शब्दसे
 असयतियोंके ग्रहणकी क्या आवश्यकता है क्योंकि “असयति पोपगता” इस नामसे
 ही सभी असयतियोंका ग्रहण हो सकता है अत निश्चय होता है कि जीतमलजीको भी
 पन्द्रहवें कर्मादानका नाम “असयति पोपगता” यह स्वीकृत नहीं है इसीलिए वह
 आदि शब्दमें सभी असयतियोंका ग्रहण होना बतलाते हैं । वह आदि शब्द भी न तो

मूल पाठमे ह और न उनकी टीकामे ही है इसलिए आदि शब्दमे सभी असयतिवाक्य प्रहग वनलाना भी इनका मूर्त्त जनताको धोखा देना है ।

साधुके मित्राय दूसरेको पोषण करनेमे यदि पन्द्रहवें कर्मादानका पाप लेने को कोई भी व्यापारी श्रावक, निरतिचार अपने वारह व्रतका पालन नहीं कर सकत क्योंकि व्यापारी श्रावकको अपने व्यापारकी सिद्धिके लिए गाय, भैंस, ऊट घोड़े नौकर आदि असयति प्राणियोंको पोषणकी आवश्यकता होती है इनका पालन किये कि व्यापार सम्बन्धी कार्य नहीं चल सकत। कदाचित् कोई इनके पिता भी अपना धर्म चला लेये तो भी उसे अपने माना पिता पुत्र पौत्र आदि परिवार वर्गका पालन करना ही पडता है और इनके पालन करनेसे भी तेरह पन्थियोंके मतमे अतिचार लग सकत है क्योंकि ये लोग भी असयति हैं और व्यापारमें सहायता देते हैं इनका पोषण भी व्यापारार्थ कहा जा सकत है इसलिए अपने माता पिता पुत्र पौत्र आदिका पालन करने वाला श्रावक भी तेरह पन्थियोंके हिमावसे कर्मादानके पापसे नहीं बच सकत है किन्तु व्यापारी श्रावक मात्र ही कर्मादानके पापसे युक्त हो जाते हैं परन्तु यह बिलकुल मिथ्या है व्यापारी श्रावक अपने वारह व्रतका निरतिचार भी पालन कर सकत है वह जो गाय भैंस घोड़े ऊट नौकर चारु आदिका व्यापारार्थ पालन करता है इससे उसके वारह व्रतमे कोई अतिचार नहीं आता है क्योंकि पन्द्रहवें कर्मादानका नाम "असयति पोषणता" है ही नहीं । जो वेड्या आदिका पोषण करके उनसे भाडेपर व्यवसाय कराने रूप व्यापार करता है वह पुरुष पन्द्रहवें कर्मादानका सेवन करता है क्योंकि १५ वें कर्मादानका नाम "असतीजन पोषणता" है । अतः साधुसे भिन्न प्राणीके पोषण करनेसे कर्मादानका सेवन वनलाना मिथ्या है ।

अपने आश्रित प्राणीको आहार न देनेसे श्रावकके प्रथम व्रतमें अतिचार आता है इसलिए अपने पहले व्रतको निरतिचार पालनार्थ श्रावकको अपने आश्रित प्राणीके लिए अवश्य आहार देना पडता है परन्तु जीतमलजीके हिसानसे इस कार्यसे श्रावकके ७ वें व्रतमें अतिचार आता है क्योंकि साधुके सिवाय दूसरेको आहार देना वे कर्मादानका सेवन करना वतलाते हैं ऐसी दशमें वारह व्रतधारी श्रावक अपने आश्रित प्राणीके भात पानी ढेकर अपने व्रतका अतिचार टाले या न देकर सातवें व्रतका अतिचार टाले ? यदि वह देवे तो कर्मादानका सेवन ही जाय और न देवे तो उसके पहले व्रतमें अतिचार आवे इसलिए वह देकर और न देकर किसी भी हालतमें अपने व्रतका निरतिचार पालन नहीं कर सकत । अतः साधुके सिवाय दूसरेके पालन करनेसे १५ वें कर्मादानका पाप वनलाना जीतमलजीका अज्ञान है ।

इसी तरह भीषणजीने माधुसे इतर प्राणीको पोषण करनेमें पन्द्रहवें कर्मादानका लगाना बता कर मर्यादा कायम करके परिहार करनेका उपदेश दिया है जैसे कि गजीने लिखा है —

“साधु विना सधला पोषीजे पन्नरमू असयतिपोष कही जै । रोजगार ले त्या रहवै खाणू पीणू असयतिने देवे । ए पन्द्रह कर्मादान विन्तार मर्यादा बाधि करे हार” परन्तु यह भीषणजीकी प्ररूपणा सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है । भगवती शतक ५ कर्मादानको सर्वथा छोडने योग्य कहा है आगार रख कर परिहार करना नहीं लिखा रह पाठ यह है —

“जे हमे समणोवासगा भवन्ति तेसिं नो कप्पंति इमाहं पणरस कम्मा दाणाहं सयं करेत्तएवा कारएत्तवा करंतं वा अपणं मणुजाणेत्तएवा ”

अर्थात् श्रमणोपासकोंको इन कर्मादानोंका स्वयं सेवन करना या दूसरेसे कराना त्या करने हुएको अच्छा जानना नहीं कल्पता । इसी तरह उपासक दशांग सूत्रके पाठमें भी कर्मादानोंको सर्वथा त्यागने योग्य ही बनलाया है । वह पाठ —

“समणोवासएणं पणरस कम्मादाणाहं जाणियव्वाहं न माचरियव्वाह ”

अर्थात् श्रमणोपासकोंको पन्द्रह कर्मादान जानने चाहिये और उनका आचरण करना चाहिए ।

यहा भगवती सूत्र और उपासक दशाङ्ग सूत्र दोनोंमें १५ कर्मादानोंको सर्वथा छोडने योग्य ही कहा है परन्तु आगार रख कर त्यागने योग्य नहीं कहा है । अत आगार रख कर कर्मादानोंको त्यागका उपदेश देना शास्त्र विरुद्ध है । आगार रख कर कर्मादानोंको छोडनेकी आज्ञा देना एक प्रकारसे कर्मादानोंको सेवन करनेकी अनुमति देना है न प्रकार यदि आगार रख कर अतिचारोंका सेवन करना शास्त्र सम्मन माना जाय तो फिर मर्यादा बाधि कर पर स्त्री, बूढ आदिका सेवन भी शास्त्र सम्मन मानना होगा अत शास्त्रमें अतिचारोंके सम्बन्धमें कहीं भी आगार रखनेकी आज्ञा नहीं है केन्तु सर्वथा इनका त्याग करना ही शास्त्र सम्मत है परन्तु भीषणजीने आगार रखनेकी काम चला नहीं देख कर अतिचारोंमें आगारकी सृष्टि की है । यदि भीषण मताप्रायी, शास्त्रानुसार पन्द्रहवें कर्मादानका नाम असयति पोषणता न मान कर असती

पोषणता मानें तो उन्हें कर्मादानोंमें आगार रखनेकी आवश्यकता ही न
 पन्द्रहवें कर्मादानका अर्थ व्यभिचारिणी स्त्रियोंको रख कर भांडपर उभार
 कराने रूप व्यापार करनेका है । श्रावक लोग सर्वथा इस कार्यको छोड़ कर भा
 गन्तरसे अपना कार्य चला सकते हैं फिर आगार रख कर ऐसे निन्दित कामोंके
 की क्या आवश्यकता है ? अतः पन्द्रहवें कर्मादानका नाम “अभयति पोषणता”
 कर साधुसे भिन्न जीवोंको पोषण करनेसे कर्मादानका पाप बताना शास्त्र
 ज्ञाना चाहिये ।

(बोल २१)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ८६ पर उपासकदशाङ्ग सूत्रका मूल पर
 लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखने है कि “ ईहा मरवाने अर्थ गाढ़े कर
 बांधे तो अतिचार कष्टो अने थोड़े धन्यत बाधे तो अतिचार नहीं पिण धर्म किम कष्टो
 इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं कि “ तिम मारवाने अर्थ भात पानीरो विच्छेद पाठ
 तो अतिचार अने त्रस जीवने भात पाणी थी पोषे ते अतिचार नहीं पिण धर्म कि
 कहिए ”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

त्रस प्राणीका वध करनेके अभिप्रायसे वध, वन्धन करना या छविच्छेद अतिभ
 तथा भात पानी का विच्छेद करना भावसे अपने व्रतका त्याग करना है इसे शास्त्रका
 ने अनाचार कहा है अतिचार नहीं । अतिचार वहीलक होता है जब तक, त्रस
 अपेक्षा रख कर कार्य किया जाय, परन्तु व्रतकी अपेक्षा छोड़ कर अनुचित का
 करनेसे समूल व्रत ही नष्ट होकर अनाचार हो जाता है । अतः जो पुरुष किसी प्राणी
 प्राण वियोग करनेके लिए उसे मारता पीटता है या भात पानी बन्द करता है वह अना
 व्रतको समूल नष्ट कर रहा है वह अतिचारी नहीं किन्तु अनाचारी है और उसका यह
 कार्य अनाचारमें शामिल है अतिचारमें नहीं इसलिये उपासक दशाङ्ग सूत्रके मूल पाठ
 में इस कार्यका कथन न होकर जो वध वन्धनादि क्रोध आदिके वश किये जाते हैं
 उन्हींका कथन है प्राण वियोगके आशयसे किये जानेवाले वध वन्धनादिका नहीं अतः
 भ्रमविध्वंसनकार जो प्राण वियोग करनेकी भावनासे त्रस जीवके वध वन्धन छवि

॥ अतिभार और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना कहते हैं वह एकान्त-
व्या है ।

॥ उपासक दशाङ्ग सूत्रके मूल पाठमें किसी भी कारणसे वध वन्धन छविच्छेद
अतिभार और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना बतलाया है मारनेकी इच्छा
उक्त काव्योंके करनेसे नहीं क्योंकि वह अनाचार है । उस पाठका टब्बा अर्थ जो
म विध्वसनकारके भ्रमविध्वसनमें दिया है उसमें यद्यपि मारनेकी इच्छासे उक्त काव्यों
करनेसे अतिचार होना कहा है तथापि वह टब्बा अर्थ मूल पाठसे विपरीत अर्थ धर-
नेके कारण अप्रमाण है । देखिए वह मूल पाठ यह है —

“ तदाणं तरं चणं धूलग पाणातिपात वेरमणस्स समणो

सएणं पञ्च अहपारा पेयाला जाणियथा न समापरिधत्वा तंजहा—

थि, बहे, छविच्छेदे अतिभारे भत्तपाण घोच्छेत्ते ”

(उपासक दशाङ्ग अ० १)

इस पाठमें किसी कारण विशेषका नाम न लेकर सामान्य रूपसे वध, वन्धन,
छविच्छेद अतिभार और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना बतलाया है इस
लिये मारनेकी इच्छासे उक्त काव्योंके आचरणको अतिचारमें गिनना और क्रोधादि वश
उक्त काव्योंके आचरणमें अतिचार न मानना प्रत्यक्ष मूल पाठसे विरुद्ध है ।

जो लोग मारनेके अभिप्रायसे नहीं किन्तु अपने गोदाममें क्षीन्न माल पहुचानेके
लिये अपने ऊट घोड़े और बैल आदिपर अतिभार डालने हैं ये भी शास्त्रानुसार अति-
चारका सेवन करते हैं परन्तु भ्रमविध्वसनकारके मतमें ये पुत्र्य अतिचारके सेवन करने
वाले नहीं हो सकते क्योंकि ये अपने पशुपर मारनेकी भावनासे अतिभार नहीं डालते ।
जैसी तरह कोई अपने पशुका वध वन्धन और छविच्छेद किसी अन्य कारणसे करता है
तो वह भ्रमविध्वसनकारके हिमायतसे अतिचारका सेवन करने वाला नहीं हो सकता
क्योंकि वह मारनेके भावसे उक्त कार्य नहीं करता परन्तु शास्त्र उसे अनिचार लगाना
लगताना है अतः किसी भी कारणसे अपने पशुका वध, वन्धन, छविच्छेद अतिभार
और भात पानीके विच्छेद करनेसे अतिचार होना समझना चाहिये मारनेके भावसे
उक्त काव्यों करनेसे नहीं क्योंकि वह अनाचार है ।

जो मनुष्य मारनेके अभिप्रायसे नहीं किन्तु असवतिकी भात पानी देनेसे पाप
नाश कर अपने पशुकी भात पानी नहीं देता है उसे भी शास्त्रानुसार अतिचार

लगाता है परन्तु जीतमलजीके हिंसासे उसे अतिचार न होना चाहिए ।
 माननेके अभिप्रायसे भात पानी नहीं चन्द करता है असंयतिको भात पानी
 होना जान कर चन्द करता है अतः उस मनुष्यका व्रत इस कार्यासे और अधिक
 होना चाहिए परन्तु शास्त्र इसे अतिचार होना बतलाता है इससे स्पष्ट सिद्ध है
 कि अपने आश्रित प्राणीपर भात पानी आदिके द्वारा अनुकम्पा करना
 है एकान्त पापका नहीं ।

भ्रमविध्वसनकार मूले जनताको भ्रममे डालनेके लिए जो यह कहते हैं
 “ अपने आश्रित प्राणीको थोड़ा बन्धनसे बांधे या लकड़ी आदिमे हल्का “
 उसे अतिचार नहीं आता परन्तु पाप होता है उसी तरह अपने आश्रित
 भात पानीसे पोषण करना अतिचार नहीं है परन्तु पाप तो होता ही है ” यह एक
 कथन भी असंगत है अपने आश्रित प्राणीको थोड़ा भी न मारना और थोड़ा भी
 भार नहीं डालना जैसे पाप नहीं है उसी तरह उसका थोड़ाभी भातपानी नहीं चन्द कर
 पाप नहीं है इस प्रकार वातके स्पष्ट होनेपर भी साधारण जनताको चक्करमें डालने
 लिए जो भ्रमविध्वसन करने पूर्वोक्त वात कही है वह एकान्त अयुक्त समझनी चाहिए ।

यदि कोई कहे कि अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे जो जीवोंकी कि-
 धना होती है उससे पुण्य कैसे हो सकता है ? क्योंकि हिंसासे पुण्य नहीं होता पुण्य
 तो अहिंसासे होता है तो इसका उत्तर यह है कि जैसे श्रावक लोग नाना प्रकार
 चाहनेमें बैठ कर साधु दर्शनार्थ दूर दूरके स्थानोंमें जाते हैं और उनसे अनेक जीवोंकी
 विगधाना भी होती है तथापि उन्हें जो साधुके दर्शनका लाभ होता है वह बहुत ही उत्तम
 और पुण्यका कार्क्य है उन्नी तरह अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे जो उन
 प्राणीकी अनुकम्पा (रक्षा) होती है वह बहुत ही प्रशस्त है यदि भात पानी न दवे तो
 उस स्थूल प्राणीकी प्राण हिंसा होनेसे श्रावकका स्थूल प्राणातिपात नामक व्रत ही काय
 न रहे । भात पानी देते समय जो आरम्भजा हिंसा होती है उसका तो श्रावकको स्वप्न
 नहीं है अतएव अपने आश्रित प्राणीको भात पानी न देनेसे अतिचार होना कही है ।
 अतः अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देनेसे एकान्त पाप कहना मिथ्या समझना
 चाहिये ।

(बोल २२ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्यसतकार भ्रमविध्यमन पृष्ठ ८७ पर लिखते हैं " वलो कोई इम फहे
 नगरीना श्रावकारा उचारा वारणा कहा छै ते भीरार्याने डेराने अर्थ उचारा
 वारणा छै इम फहे तेहनो उत्तर—

उचारा वारणा कहा छै ते तो मायुरी भावनार अर्ग कहा छै । ते क्रिमजे और
 तीक्षारी तो किमाड खोलने पिण माहे आवे छै अने मायु किमाड खोलने आहार लेया
 आवे त माटे श्रावकारा उचारा वारणा कहा छै " इत्यादि ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रहृषक)

भगवनी सूत्र शतक ० उद्देशा ५ मे तुङ्गिया नगरीके श्रावकोका वृत्तान्त वर्णन
 करनेके लिए " उस्सिह फलिहा, अर्बगुय दुवारा " यह पाठ आया है इसका अर्थ टीका
 कारने भिक्षुकोके प्रवेशार्थ द्वारका खुला रहना बतलाया है वह टीका यह है—

" उच्छिन्नोर्गला स्थाना दपनी योद्धर्मी कृतो न निग्श्चीन कपाट पश्चाद्गगा दप-
 नीत इत्यर्थे परिघोर्गला येपाते उच्छिन्न परिघा । अथवा उच्छिन्न गृहद्वारादपगत
 परिघो येपाते उच्छिन्न परिघा औदाय्या तिशरत्वेन भिक्षुकाणा प्रवेशार्थ मनर्गलिन गृह
 द्वारा इत्यर्थे । " अर्बगुय दुवारे " त्ति भिक्षुकाणा प्रवेशार्थ मोदाय्या दम्भगित गृह द्वारा
 इत्यर्थे "

अर्थात् तुङ्गिया नगरीके श्रावकोके दरवाजेकी अर्गलाएँ कपाटोमे नहीं लगाई
 जाकर बगलमे खड़ी रखी रहती थीं । अथवा तुङ्गिया नगरीके श्रावकोके मकानका
 द्वार बन्द करनेके लिये अर्गलाएँ होती ही नहीं थी और उनके घरके कपाट बन्द नहीं किए
 जाते थे कारण यह कि वे श्रावक बडे उदार और दानशील थे व भिक्षुकोका निर्वाह
 प्रयत्न होनेके लिए अपने घरोंका द्वार खुला रखते थे ।

यहा टीकाकारने मूल पाठका अभिप्राय बतलाते हुए भिक्षुकोके प्रवेशार्थ तुङ्गिया
 नगरीके श्रावकोका द्वार खुला रहना बतलाया है अतः भिक्षुकोके प्रवेशार्थ तुङ्गिया नगरी
 के श्रावकोके द्वार खुले रहनेकी बात न मानना उक्त टीकासे विरुद्ध और निर्मूल सम-
 क्षणा चाहिए ।

यद्यपि टीकाकारने तुङ्गिया नगरीके श्रावकोके द्वार खुला रहनेका कारण वृद्ध
 व्याख्याननुसार मम्यक्त्वमे दृढता और निर्भीकता भी बतलायी है तथापि उस वृद्ध
 व्याख्यानसे भिक्षुकोके प्रवेशार्थ द्वार खुला रहनेका खण्डन नहीं होता क्योंकि वृद्ध

व्याख्या भिक्षुकोके प्रवेशार्थं द्वार खुला रहनेका विरोध नहीं करती किन्तु द्वार खुला होने का कारण भिक्षुकोंका प्रवेशके सिवाय दूसरा भी मतलाती है इसी तरह सुयोग्यक कौ श्रु० २ अध्यायन २ की दीपिकामें कपाट खुला रहनेका कारण सम्यक्त्वमें दृष्टा को पर पापण्डियोंसे न डरना फड़े गये हैं उनसे भी भगवतीकी टीकामें कही हुई भिक्षुकों प्रवेशार्थं द्वार खुले रहनेकी बात स्पष्टित नहीं होती किन्तु भिक्षुकों प्रवृत्तके लिए और कारण भी मतलाए जाते हैं । इस प्रकार बुद्धिया नगरीके श्रावकोंके द्वार खुले होने के तीन कारण टीकाकारोंने मतलाये हैं भिक्षुकोंका प्रवेश, सम्यक्त्वमें दृष्टा, और पापण्डियोंसे न डरना, वास्तवमें ये तीन ही कारण यथार्थ हैं । जो मनुष्य कृष्ण हो हैं वे भिक्षुकोंका प्रवेश न होने देनेके लिये अपने घरका द्वार बन्द रखते हैं और जो डरते हैं वे भी भयके कारण अपने घरका द्वार नहीं खुला रखते परन्तु जो उदारोंके कारण अपने घरमें भिक्षुकोंका प्रवेश होना चाहते हैं और जो किसीसे भय नहीं करते वे अपने घरके द्वारको नहीं बन्द करते किन्तु खुला रखते हैं । बुद्धिया नगरीके श्रावक सम्यक्त्वमें दृष्ट निर्माक और षडे उदार दानशील थे इसलिये वे अपने घरके द्वारको खुला रखते थे इस प्रकार बुद्धिया नगरीके श्रावकोंके वृत्तान्तसे अनुकम्पादानका पूर्ण रूप समर्थन होनेपर भी उसे नहीं मानना आभिनियेशिक मिथ्यात्वका परिणाम समझना चाहिये । किसी भी टीकामें साधुओंकी भवनासे द्वार खुला रखना नहीं कहा है तथापि अनुकम्पा दानको उठा देनेके लिये जो जीतमलजीने साधुओंकी भावनासे ही द्वार खुला रहना कहा है वह एकान्त मिथ्या और सभी टीकाओंसे विरुद्ध समझना चाहिये ।

वास्तवमें भिक्षुकोका प्रवेश होनेके लिए गृह द्वारके खुले रहनेकी बात जो भगवती सूत्रकी टीकामें लिखी है वह मूल पाठसे भी मिलती है इसलिए उसको न मानना मूल पाठको तिरस्कार करना है । जैसा पाठ बुद्धिया नगरीके श्रावकोंके सम्बन्धमें भगवती सूत्रमें आया है उसी तरहका अम्बड सन्यासीके विषयमें उवाई सूत्रमें भी है उवाई सूत्रमें लिखा है कि—“नवरं जस्सिह फलिहे अवगुय दुवारे चियत्त अन्तेउर पवेसी न उवाइ” अर्थात् बुद्धिया नगरीके श्रावकोंके सम्बन्धमें जो पाठ आया है वह अम्बड सन्यासीके विषयमें भी कहना चाहिये परन्तु “जस्सिह फलिहे अवगुय दारए चियत्त अन्ते उ पवेसी” ये तीन पाठ न कहने चाहिये । यह उक्त पाठका अर्थ है ।

इसमें जो अम्बड सन्यासीके विषयमें तीन पाठ वर्जित किये गये हैं इसके कारण बनलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि “औदाय्यातिशया दतिशय दान वायित्वेन भिक्षु प्रवेशार्थं मन्गलिन गृह द्वारा इत्यथ । इदञ्च क्लाम्बडस्य न सम्भवति”

मेव तस्य भिक्षुक्रान् । अतएव लिखित पुस्तके यथा उस्सिह फलिहे त्यादि
 ळेणप्रय नोच्यते ” अर्थात् तुङ्गिया नगरीके श्रावक अतिशय उदार होनेके कारण
 ने मकानके द्वार खुला रखने थे परन्तु यह बात अम्बड सन्यासीमें सम्मत नहीं है
 कि अम्बड सन्यासी स्वयमेव भिक्षुके ये । अतएव अम्बड सन्यासीके विषयमें
 उस्सिह फलिहा ” इत्यादि तीन विशेषणोंको न छगाना मूल पाठमें कहा है यह उक्त
 का अर्थ है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भिक्षुकोके प्रवेशार्थ द्वारका खुला रहना
 ही “उस्सिह फलिहा अवंगुय दुपारा ” इस पाठका मूल सम्मत है अन्यथा अम्बड
 न्यासीके विषयमें इन पाठोंके निषेध करनेकी क्या आवश्यकता थी क्योंकि अम्बड
 न्यासी भी सम्यक्त्वमें दृढ और निर्भीक थे अतः भिक्षुकोके प्रवेशार्थ ही तुङ्गिया
 रीके श्रावकोंका द्वार खुला रहना उक्त पाठोंका मूल सम्मत अर्थ प्रतीत होता
 अतः भिक्षुकोके प्रवेशार्थ द्वारके खुले रहनेका निषेध करना जीतमलगीका अज्ञान
 मझना चाहिए ।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविघ्नसनकार भ्रमविघ्नसन पृष्ठ ९३ पर लिखते हैं —

“जे श्रावक तपस्या करे ते तो व्रत छै अने पारणो करे ते अन्न माहि छै ।
 अगर सेवे छै ते सेवन वालाने धर्म नहीं तो सेना वन वालाने धर्म किम कहिए ए अन्न
 कान्त खोटी छै । अन्न रेणा देवी सगीरी छै । (ध० पृ० ९२)

इनके कहनेका आशय यह है कि श्रावकका खाना पीना वस्त्र मकान आदि सत्र
 त्रतमें है इसलिए श्रावकको अन्न पानी आदिकी सहायता देना उससे अन्नका सेवन
 जाना है अन्नका सेवन कराना एकान्त पाप है इसलिए श्रावकको अन्न पानी आदि
 की सहायता देना एकान्त पाप है जब कि श्रावकको भी अन्न पानी देना एकान्त पाप
 तय फिर दूसरे हीन दीन दुःखीको दान देनेसे तो कहना ही क्या है वह तो अवश्य
 तो एकान्त पाप है । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

श्रावकका खाना पीना वस्त्र मकान आदिको अन्नतमें फायम करके उसको अन्न
 रानी आदिकी सहायता देनेसे एकान्त पाप और अन्नका सेवन बताना अज्ञान है ।
 जिसमें स्वल्प भी व्रत नहीं होता उसीको अन्नकी क्रिया छगाना शास्त्रमें कहा है श्रावक

तो देशमे व्रतधारी है फिर उसको अत्रतकी क्रिया कैसे लग सकती है ? जब कि श्रावकको अत्रतकी क्रिया नहीं लगती तब श्रावकको अन्न पानी आदिकी महारता को से अत्रतका सेवन कराना कैसे हो सकता है ? अतः श्रावकको अत्रतकी क्रिया लगेको यात मिथ्या है । पन्नावणा सूत्रके २२ वें पदमे श्रावकको अत्रतकी क्रिया नहीं लगेको स्पष्ट उल्लेख है वह पाठ नीचे दिया जाता है —

“ कतिपं भन्ते ! किरिआओ पण्णत्ताओ ? गोयमा । पव्व
किरिआओ पण्णत्ताओ तञ्जहा—आरंभिया परिग्गहिया मायावत्ति-
आ अपच्चक्खाणकिरिया मिच्छादंसणवत्तिया । आरम्भियाणं
भन्ते ! किरिया कस्स कज्जइ ? गोयमा ! अण्णयरस्सवि पमत्तसंज-
यस्स, परिग्गहियाणं भन्ते ! किरिया कस्स कज्जइ ? गोयमा ! अण्ण-
यरस्सवि संजयासंजयस्स, मायावत्तियाणं किरिया कस्स कज्जइ ?
अण्णयरस्सवि पमत्त संजयस्स अपच्चक्खाण किरियाणं भन्ते ! कस्स
कज्जइ ? गोयमा ! अण्णयरस्सवि अपच्चक्खाणिस्स, मिच्छादंसण-
वत्तियाणं भन्ते ! किरिया कस्स कज्जइ ? गोयमा ! अण्णयरस्सवि
मिच्छादंसणिस्स ”

(पन्नावणा पद २२)

इस पाठकी टीका निम्न रित है —

“ कहण भन्ते ! इत्यादि आरम्भ पृथिव्याद्युपमर्द् उक्तञ्च “स रम्भो सङ्कप्पो परितावकरो भवे समारम्भो आरम्भो उद्भवतो सुद्धनयाणंतु सन्वेत्ति ”

आरम्भ प्रयोजनकारण यस्या सा आरम्भिकी । परिग्रहो धर्मोपकरणवर्जितं वस्तुस्वीकार धर्मोपकरणमूर्च्छांच परिग्रह एव पारिग्रहिकी परिग्रहेण निर्गृह्यतावा पारिग्रहिकी ।

“माया वत्तिया” इति माया, अनाजं च सुपलक्षणत्वात् क्रोधादेरपि परिग्रह माया प्रत्यय कारण यस्या सा माया प्रत्यया “ अपच्चक्खाण किरिया ” इति अप्रत्याख्यानं मनागपि विरति परिणामाभाव तदेव क्रिया अप्रत्याख्यान क्रिया । “मिच्छादंसण वत्तिया” इति मिथ्यादर्शनं प्रत्ययो हेतुर्यस्या सा मिथ्यादर्शनं प्रत्यया । एतासा क्रियाणां मध्ये यस्य या सम्भवति तस्य ता निरूपयति “ आरम्भियाण भन्ते ! इत्यादि ।

गयस्सवि पमत्त सज्जयन्स ” इति अत्रापि शब्दो भिन्न क्रम प्रमत्त सयतस्याप्यस्य एक तरस्य कस्यचित् प्रमादे सति काय दुष्प्रयोग भावत वृथि व्यादेरुपमर्द्दत्तम् । अपि शब्दोऽन्येषा मधस्तन गुण स्थान वर्तिना नियम प्रदर्शनार्थम् । प्रमत्त स्या प्याग भिकी क्रिया भवति किं पुन शेषाणा देश विगति प्रभृतीनामिति एव यथा मपि शब्द भावना कर्तव्या । पारिग्रहिकी सयतामयतरयापि देश विरतस्यापि तस्यापि परिग्रह धारणात् माया प्रत्यया अप्रमत्त सयतस्यापि कथमितिचे दुच्य-चनोद्भाह प्रच्छादनार्थं बहीकरणसमुद्देशा द्विषु । अप्रत्याग्यान क्रिया अन्यतर-य प्रत्याग्याननि अन्यतरदपि न किञ्चिदित्यथ योन प्रत्याग्याति तन्मेत्यर्थं यादर्शनक्रिया, अन्यतरस्यापि सूत्रोक्तमेकमक्षरमप्यरोचयमानस्येत्यर्थं मिथ्या-र्भवति ”

अर्थ —

पृथ्वी आदि कायके प्राणियोको सन्ताप देनेका नाम “आरम्भ” है । कहा भी णियोको सन्ताप देनेके लिए सङ्कल्प करनेका नाम ‘सरम्भ’ है और उनको परिताप “समारम्भ” कहलना है और प्राणियोको उपद्रव पहुचाना ‘आग्म्भ’ है उम आरभ ग्ये जो क्रिया की जाती है उसे आरम्भिकी क्रिया कहते हैं ।

(पारिग्रहिकी)

धर्मोपकरणसे भिन्न वस्तुको अङ्गीकार करना, और धमके उपकरणाम मूर्च्छा परिग्रह कहलना है । उसीको पारिग्रहिकी क्रिया कहते हैं अथवा परिग्रहसे उत्पन्न क्रियाको “पारिग्रहिकी क्रिया ” कहते हैं ।

(माया प्रत्याया)

माया नाम कुटिलताका है यहा माया शब्दको उपलक्षण ज्ञान का उससे त्रोवादि श्रु जाते हैं इसलिये जो क्रिया माया आदिसे की जाती है उसे माया प्रत्यया क्रिया हैं ।

(अप्रत्याग्यान क्रिया)

विरतिका परिणाम थोडा भी ज्ञान होना “अप्रत्याग्यान” कहलाना है उन्कीको प्राग्यान क्रिया’ कहते हैं ।

(मिथ्यादर्शन प्रत्यया)

मिथ्यादर्शनके कारण जो क्रिया की जाती है उसे “मि-यादर्शन प्रत्यया” कहत हैं । शतमेसे कौनसी क्रिया किसको लगती है यह जतलया जाता है —

(प्र.न) हे भगवन् ! आरम्भिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! किसी किसी प्रमत्त सयत पुरुषको भी आरम्भिकी क्रिया लगती है प्रमत्त सयत पुरुष जब कभी प्रमाद्वश अपने शरीर आदिका दुष्ययोग करे है तब उससे पृथिवी आदि कार्योंके जीवकी विराधना होनेसे उसको आरम्भिकी क्रिया लगती है यहा जो अपि शब्द आया है उससे यह बतलाय गया है कि आरम्भिकी क्रिया जब किमी किसी प्रमत्त सयतको भी लगती है तब उससे नीचेके गुण स्थानोंमें भी कहना ही क्या है ? उनमें तो अवश्य ही आरम्भिकी क्रिया लगती है । इसी तरह पाठमे दूसरे अपि शब्दोंका भी यथा योग्य समन्वय करना चाहिये ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! पारिमहिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! देश विरत श्रावकको भी पारिमहिकी क्रिया लगती है । भी पूर्वमे अपि शब्दमे यह बतलाया गया है कि पारिमहिकी क्रिया जबकि श्रावकको भी लगती है तब उससे नीचेके गुण स्थानवालोंको कहना ही क्या है ? तो अवश्य ही पारिमहिकी क्रिया लगती है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! माया प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! माया प्रत्यया क्रिया किसी किसी अप्रमत्त संयतको भी लगती है क्योंकि वे भी अपने प्रवचनकी बदनामीको मिटानेके लिए बड़ी करण और सस आदिमे मायाकी क्रिया करत हैं । यहा भी अपि शब्दसे यह बतलाया गया है कि जब गुण स्थानवाले अप्रमत्त संयतको भी माया प्रत्यया क्रिया लगती है तब फिर उससे के गुण स्थानवालोंको कहना ही क्या है उन्हे तो अवश्य ही माया प्रत्यया लगती है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! अप्रत्याख्यानिकी क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जो जरा भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया किसको लगती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जो पुरुष सूत्रमें कही हुई बातोंमेसे एक भी अक्षरपर बोलता है उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया लगती है । यह उक्त मूल पाठ और टीकाका अर्थ है ।

यहा मूल पाठ और उसकी टीकामे कहा है कि "जो पुरुष किञ्चित् भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसीको अप्रत्याख्यान क्रिया लगती है" श्रावक प्रत्याख्यान ही अतः उस अव्रतकी क्रिया नहीं लग सकती इसलिए श्रावकके खाने पीने वस्त्र

दिको अग्रतमे ठहरा कर उसको दान देनेसे एकान्त पाप रहना शास्त्र मिथ्य है । यदि ई कहे कि “श्रावकके अन्न, जल, वस्त्र मकान आदि अग्रतमे नहीं तो क्या अग्रतमे है ? उससे कहना चाहिये कि श्रावकके अन्न वस्त्रादि न तो अग्रतमें है और न अग्रतमे ही, अन्तु परिग्रहमे है । भगवान्ने अन्न और अग्रतको आत्माका परिणाम बतलाया है और यह पन्थके प्रवर्तक भीषणजीने भी अन्न और अग्रतको जीव तथा अरूपी कहा है अतः श्रावकके अन्न वस्त्रादि जो कि रूपी और प्रत्यक्ष अजीव पदार्थ हैं वे अन्न और अग्रतमें ही हो सकते भीषणजीने तेरह द्वारमे छद्मा रूपी और अरूपी द्वारके अन्दर यह लिखा “अन्न आत्मने अरूपी किं न्याय कही जै अत्याग भाव परिणाम जीवरा अरूपी ह्या छै ” अतः श्रावकके अन्न वस्त्र आदिको अग्रतमे कायम करके श्रावकको अग्रत की क्रिया लगानेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या है ।

श्रावकको अग्रतकी क्रिया नहीं लगाना पन्नावणा सूत्रके मूल पाठमे भी सिद्ध होता होता है वह पाठ नीचे लिखा जाता है —

“जस्सणं भन्ते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जह तस्स परिग्गहिया किं कज्जह ? जस्स परिग्गहिया किरिया कज्जह तस्स आरंभिया किरिया कज्जह ! गोयमा ? जस्सणं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जह तस्स परिग्गहिया सिध कज्जह सिध नो कज्जह जस्स पुण परिग्गहिया किरिया कज्जह तस्स आरंभिया किरिया नियमा कज्जह । जस्सणं भन्ते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जह तस्स माया वत्तिया किरिया कज्जह ? पुच्छा गोयमा ! जस्सण जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जह तस्स माया वत्तिया किरिया नियमा कज्जह जस्स पुण माया वत्तिया किरिया कज्जह तस्स आरंभिया सिध कज्जह सिध नो कज्जह । जस्सणं भन्ते ! जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जह तस्स अपच्चक्खाण किरिया पुच्छा ? गोयमा ! जस्सणं जीवस्स आरंभिया किरिया कज्जह तस्स अपच्चक्खाण किरिया सिध कज्जह सिधनो कज्जह जस्स पुण अपच्चक्खाण किरिया कज्जह तस्स आरंभिया किरिया नियमा । एवं मिच्छादंसणवत्तिया एवि समं एव परिग्गहियावि तीहि उवरिद्धाहिं समं सचारं-

त्तच्चा । जस्स माया वत्तिया किरिया कज्जइ तस्स उवरिह्हाओ ।
 दोवि सिय कज्जन्ति सिय नो कज्जन्ति जस्स उवरिह्हाओ दो कज्जन्ति
 तस्स माया वत्तिया नियमा कज्जति । जस्स अपच्चक्खाण किरिया
 कज्जइ तस्स मिच्छद'सणवत्तिया किरिया सिय कज्जइ सिय नो
 कज्जइ जस्स पुण मिच्छद'सण वत्तिया किरिया कज्जइ तस्स अपच्च
 क्खाण किरिया नियमा कज्जइ ॥”

(पन्नावगा सूत्र)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको पारिग्रहिकी क्रिया भी होती है ? और जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है क्या उसको आरम्भिकी क्रिया भी होती है ?

(उत्तर) हे गतम ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है उसको पारिग्रहिकी क्रिया भी होती है और नहीं भी होती, परन्तु जिसको पारिग्रहिकी क्रिया होती है उसको आरम्भिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(जैसे कि प्रमत्त सयत पुरुषको काय आदिके दुष्प्रयोगसे आरम्भिकी क्रिया होती है पारिग्रहिकी नहीं होती क्योंकि वे परिग्रह रहित होते हैं इसलिये आरम्भिकी क्रियाके साथ पारिग्रहिकी क्रियाकी भजना कही गयी है । छठे गुण स्थानसे नीचेके गुण स्थानवाला परिग्रह भी होता है और आरम्भ भी होता है इसलिए पारिग्रहिकी क्रियाके साथ आरम्भिकी क्रियाका नियम कहा गया है)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको माया प्रत्यया क्रिया भी होती है ?

(उत्तर) हे गतम ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है परन्तु जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है उसको आरम्भिकी क्रिया भी होती है और नहीं भी होती ।

(इसका तात्पर्य यह है कि आरम्भिकी क्रिया छठे गुण स्थानतकके जीवोंकी होती है और उनमें माया प्रत्यया क्रिया भी होती है इस लिए आरम्भिकी क्रियाके साथ माया प्रत्यया क्रियाका नियम कहा गया है परन्तु मायाप्रत्यया क्रिया सप्तमादि गुण स्थानवालोंमें भी होती है वहा आरम्भिकी क्रिया नहीं होती इसलिए माया प्रत्यया क्रियाके साथ आरम्भिकी क्रियाकी भजना कही है ।)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको अप्रत्याख्यायनिकी क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है उसको अप्रत्याख्यायनिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है परन्तु जिसको अप्रत्याख्यायनिकी क्रिया होती है उसको आरम्भिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका भाव यह है कि आरम्भिकी क्रिया पृष्ठ गुण स्थान पर्यन्त होती है परन्तु पञ्चम और पष्ठ गुण स्थानमें प्रत्याख्यान होनेसे अप्रत्यायनिकी क्रिया नहीं होती इसलिये यहा आरम्भिकीके साथ अप्रत्याख्यायनिकी क्रियाकी भजना कही गई है । चतुर्थ गुण स्थान तकके जीवोंको अप्रत्याख्यायनिकी क्रिया होती है और उनमें आरम्भिकी क्रियाका भी सन्नाह होता है इस लिये अप्रत्याख्यानिकी क्रियाके साथ आरम्भिकी क्रियाका नियम कहा गया है)

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है क्या उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको आरम्भिकी क्रिया होती है उसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है परन्तु जिसको मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है उसको आरम्भिकी क्रिया अवश्य होती है ।

(इसका अभिप्राय यह है कि आरम्भिकी क्रिया चौथे पाचवें और छठे गुण स्थानमें भी होती है परन्तु वहा मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं होती क्योंकि इन गुण स्थानोंके जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं अत आरम्भिकी क्रियाके साथ मिथ्यादर्शनप्रत्यया क्रियाकी भजना कही है । मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया मिथ्यादृष्टिको होती है और उसमें आरम्भिकी क्रिया भी मौजूद है इस लिये मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रियाके साथ आरम्भिकी क्रियाका नियम कहा गया है) ।

आरम्भिकी क्रियाके साथ ज्ञेय चार क्रियाओंकी भजना और नियमाका विचार कर दिया गया अत्र पारिमहिकी क्रियाके साथ उसके आगेकी क्रियाओंकी भजना और नियमका विचार किया जाता है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! जिसको पारिमहिकी क्रिया होती है क्या उसको माया प्रत्यया क्रिया होती है ?

(उत्तर) हे गोतम ! जिसको पारिमहिकी क्रिया होती है उसको माया प्रत्यया क्रिया अवश्य होती है परन्तु जिसको माया प्रत्यया क्रिया होती है उसको पारिमहिकी क्रिया होती भी है और नहीं भी होती है ।

(उत्तर)

हे गौतम ! जिसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है उसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया होती भी है और नहीं भी होती परन्तु जिसको मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया होती है उसको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया अग्र्य होती है । (इसका भाव यह है कि चतुर्थ गुण स्थान वाले जीवोमे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया होती है परन्तु मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया नहीं होती क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि हैं इस लिये अप्रत्याख्यानिकी क्रियाके साथ मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रियाकी भजना कही है । मिथ्या दृष्टि जीवोंमें मिथ्या दर्शन प्रत्यया क्रिया होती है और उनमे अप्रत्याख्यानिकी क्रिया भी मौजूद है इस लिये मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया के साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाका नियम कहा गया है) यह उक्त मूल पाठका टीकानुसार भावार्थ है ।

यहा पारिग्रहिकी क्रियाके साथ अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भजना कही गई है यह बात उसी हालतमे घट सकती है जत्र कि किसी जगह परिग्रह तो हो परन्तु अप्रत्याख्यान न हो, ऐसा स्थान, पश्चम गुण स्थानको छोड कर दूसरा नहीं हो सकता क्योंकि षष्ठ आदि गुण स्थानोमे परिग्रह नहीं होता और पश्चमसे पूर्वके गुण स्थानोंमें परिग्रहके साथ अप्रत्याख्यान भी मौजूद है अत एव पश्चम गुण स्थान ही ऐसा है जहा परिग्रह तो होता है परन्तु अप्रत्याख्यान नहीं होता इसलिये उक्त मूल पाठमे परिग्रहके साथ अप्रत्याख्यानकी जो भजना कही है उसका पश्चम गुण स्थान ही उदाहरण समझना चाहिये । यदि भ्रमविध्वसनकारके सिद्धान्तानुसार श्रावकको भी अग्रनकी क्रिया लगना माना जाय तो फिर उक्त मूलपाठमे पारिग्रहकी क्रियाके साथ जो अप्रत्याख्यानिकी क्रियाकी भजना कही गई है उसका उदाहरण कौन हो सकता है ? तेरह पथो इसका कोई भी उदाहरण नहीं दे सकते । जो पुरुष किञ्चित् भी प्रत्याख्यान नहीं करता है उसीको अग्रतकी क्रिया लगना टीकाकारने भी कहा है । वह टीका यह है—

“अप्रत्याख्यान क्रिया अन्यतरस्याप्यप्रत्याख्यानिन ।

अन्यतरदपि न किञ्चिदपीत्यर्थ यो न प्रत्याख्याति तस्येत्यर्थ ।”

अर्थात् “जो किञ्चित् भी प्रत्याख्यान नहीं करता उसीको अप्रत्याख्यानिकी क्रिया लगती है” श्रावक तो देशसे प्रत्याख्यान करता है इस लिये उसको अग्रतकी क्रिया नहीं लग सकती तथापि श्रावकके खाने पीने वस्त्र मकान आदिको अग्रनमे ठहराकर उसको दान देनेसे जो जीतमलजोने एकान्त पाप और अग्रतका सेवन कराना बतलाया है वह शास्त्र निरुद्ध समझना चाहिये ।

[बोल २४ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमनिश्चयसंनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ९० के ऊपर सुयगडाग और उपाई सूत्रका मूल पाठ लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे श्रावकग व्रत अत्रत जूड़ा जूड़ा कइया मोटा जीव हणत्रारा मोटा झूठा मोटो चोरो मिथुन परिग्रहरी उपरान्त मर्यादा कीधी ते तो व्रत कही अने पाव स्वावर हणत्रारो आगार छोटो झूठ छोटो चोरो मिथुन परिग्रहरी मर्यादा कीधी ते माहिला सेवन सेवा वन रो आगार ते अत्रत कही” इत्यादि इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

-सुय गडाग सूत्र और उपाई सूत्रका नाम लेकर श्रावकको अत्रतकी क्रिया बताना मिय्या है। उक्त सूत्रमे कइ है कि—“श्रावक अठारह पापोसे अशन हटा है और अशन नहीं हटा है।” जिस अशसे नहीं हटा है वह उसका अत्रत है ऐसा नहीं लिखा है अत उक्त सूत्रोंकी सहायतामे श्रावकको अत्रतकी क्रिया बताना अज्ञान है।

यदि कोई कहे कि श्रावक जिस अशसे हटा है वह जब कि उसके व्रतमे है तब जिससे वह नहीं हटा है वह अत्रतमे क्यों नहीं है ? तो उससे कइना चाहिये कि सुय गडाग सूत्र और उपाई सूत्रके मूल पाठमें श्रावकको अठारह पापोंमे अशन हटना और अशन नहीं हटना कइ है इस लिये श्रावक मिथ्यादर्शन शक्यसे भी अशन हटा है और अशन नहीं हटा है। जिस अशमे श्रावक नहीं हटा है उसके हिसाबसे श्रावकको मिय्या दर्शनकी क्रिया क्यों नहीं लगती है ? यदि कइो कि श्रावक मिथ्यादर्शन शक्य रूप पाप से यद्यपि सर्वथा नहीं हटा है तथापि सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेसे उसे मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती तो उसी तरह समझो कि १७ पापाक जिम जिस अशसे श्रावक नहीं हटा है उसके सेवन करने पर भी प्रत्याख्यान होनेसे श्रावकको अप्रत्याख्यानकी क्रिया नहीं लगती। भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ में स्पष्ट लिखा है कि श्रावकको आरम्भिकी पारिपदिकी और माया प्रत्यया ये तीन ही क्रियायें लगती हैं अप्रत्याख्यानकी और मिथ्यादर्शनी क्रिया नहीं लगती। वह पाठ यह है —

“तत्पणं जेते संजया संजया तेसिणं आदि आजो तीणि किरि आजो कज्जंति”

(म० श० १ उ० २)

अर्थात् मयता सयत (श्रावक) को आदिकी तीन क्रियाएँ लगती हैं नेव अप्रत्याख्यानकी और मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं लगती। अत श्रावकको अत्रतकी क्रिया

लगानेकी प्ररूपणा इस पाठसे विरुद्ध समझनी चाहिये । फिर भी कोई कहे कि १७ पापों का जो अंग श्रावकको बाकी है उसके हिसाबसे श्रावकको अत्रतकी क्रिया भी होनी चाहिये" तो श्रावकमे मिथ्यात्वका जो अंश बाकी है उसके हिसाबसे मिथ्यात्वकी क्रिया भी उसे होनी चाहिये । यदि कहे कि मिथ्यात्वकी क्रिया श्रावकको वर्जित की गई है तो भगवतीके उक्त पाठमे अत्रतकी क्रिया भी श्रावकको स्पष्ट रूपसे वर्जित की गई है अतः श्रावकको अत्रतकी क्रिया मानना एकरान्त मिथ्या है । श्रावकको अत्रतकी क्रिया सिद्ध करनेके लिये उवाह सूत्र और सुय गडाग सूत्रका जो मूलपाठ जीतमलजीने लिखा है वह निम्न लिखित है —

“एगच्चाओ पाणाइत्ताओ पडिविरया जाव जीवाए एगच्चाओ अपडि विरया एवं जाव परिग्गहाओ पडिविरया एगच्चाओ अपडि विरया । एगच्चाओ कोहाओ माणाओ मायाओ लोहाओ पेज्जाओ दोसाओ कलहाओ अब्भक्खाणाओ पेसुणाओ परपरिवाधाओ अरतिरतिओ मायामोमाओ मिच्छादंसणमल्लोओ पडिविरया जाव जीवाए एगच्चाओ अपडिविरया जाव जीवाए ।”

(उवाह प्रश्न १२)

अर्थ—

श्रावक यावज्जीवन, प्राणातिपातसे लेकर परिग्रह पर्यन्त एक एकसे निवृत्त और एक एकसे निवृत्त नहीं है इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, आलस्य, पैशुन्य, परपरीवाद, अरति रति, माया मृपा, और मिथ्यादर्शन शब्दके एक एक अंशसे हटे हुए और एक एक अंशसे नहीं हटे हैं ।

इस पाठमे जैसे १७ पापोंसे श्रावकका अंश नहीं निवृत्त होना कहा है उसी तरह अठारहवा पाप मिथ्यादर्शन शब्दसे भी अंश नहीं हटना कहा है इस लिये जैसे मिथ्यादर्शन शब्दसे अंश नहीं हटने पर भी श्रावकको मिथ्यादर्शनकी क्रिया नहीं छगती उसी तरह १७ पापोंसे अंश नहीं हटने पर भी श्रावकको अत्रतकी क्रिया नहीं छगती अतः उक्त मूलपाठकी साक्षी देकर श्रावकको अत्रतकी क्रिया लगाना ठहरा कर उसको अन्न पानादिके द्वारा सहायता करनेस एकरान्त पाप कहना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिये ।

(बोल २५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

श्रावकको अत्रलकी क्रिया नहीं लगनी यह सुझको ज्ञान हुआ परन्तु श्रावकको उत्पन्न करनेसे धर्म या पुण्य होना है इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

श्रावकको साता उत्पन्न करनेसे धर्म और पुण्य की उत्पत्ति होना भगवती सूत्रक ३ उद्देशा १ के मूल पाठसे सिद्ध होता है वह पाठ अथके साथ लिखा जाता

“सणं कुमारे देविन्दे देवराया चहुणं समणाणं चहुण समणीण
हुणं सावयाणं चहुणं सावियाणं हिय कामए सुह कामए पत्यकामए
अनुकम्पिए निस्सेयसिए हिय सुह निस्सेयस कामए सेते ण द्वेणं
पियमा सणं कुमारे भवसिद्धिए णो अचरिमे”

(भगवती शतक ३ उ० १)

अर्थ —

हे गौतम ! सनत्कुमार देवेन्द्र बहुतसे साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा और मोक्षकी कामना करते हैं इस लिये यह भवसिद्धिसे लेकर आवण्यता प्राप्त हैं।

इस पाठमें साधु साध्वीकी तरह श्रावक और श्राविकाओंका भी हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा और मोक्षकी कामना करनेमें सनत्कुमार देवेन्द्रको भवसिद्धिसे लेकर उत्पन्न चरम होना कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक और श्राविकाओंको उत्पन्न करनेसे धर्म और पुण्य की प्राप्ति होती है। श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख और पथ्यकी कामना मात्र करनेसे जन कि सनत्कुमार देवेन्द्रको इतना बड़ा उत्तम फल प्राप्त हुआ है तब फिर साक्षात् हित सुख और पथ्य करनेसे तो कइना ही क्या है। अब जो लोग श्रावको सुख साधक वस्तुका प्रदान करके धर्ममें सहायता देते हैं वे धर्मका कार्य करते हैं एकान्त पापका नहीं इस लिये श्रावकको सुखसाधक वस्तुका प्रदान करके उनको साता उत्पन्न करनेसे जो एकान्त पाप और अत्रनका सेवन कराना अवलगत हैं वे मिथ्यावादी हैं।

उक्त मूल पाठमें आप्ते हुए हित, सुख और पथ्य शब्दोंका अर्थ, टीकाकारने इस प्रकार किया है —

“हित सुख निबन्धन वस्तु” “सुह कामए” ति सुख शर्म”।

“पत्य कामए” ति पथ्य दु ल प्राण” कस्मादेव मित्यत आह “अनुकम्पिए” तिहृपावान्।

“अर्धान् सुप्त साधक वस्तुका नाम “हित” है। सुप्त पहुचाना “सुप्त” है और दु ससे ज्ञान (रक्षा) करना पथ्य कहलाता है। सनत्कुमार देवेन्द्र साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओ पर अनुकम्पा रखते हैं इस लिये वह उनके हित, सुप्त, और पथकी कामना करते हैं। यह उक्त टीकाका अर्थ है।

यदि कोई कहे कि उक्त मूल पाठमें श्रावक और श्राविकाओके शारीरिक हित सुप्त और पथकी कामना नहीं कही गई है किन्तु मोक्ष सम्बन्धी हित, सुख और पथ की कामना कही गई है इस लिये श्रावकको शारीरिक सुख देना कोई धर्म नहीं है तो उससे कहना चाहिये कि श्रावक और श्राविकाओके समान ही यह पाठ साधु और साध्वियोंके लिये भी आया है इस लिये यदि श्रावक और श्राविकाओंके शारीरिक हित सुप्त और पथ्य करनेसे धर्म पुण्य नहीं है तो साधु और साध्वियोंके भी शारीरिक हित सुख और पथ्यसे धर्म पुण्य नहीं होना चाहिये। यदि साधु और साध्वीके शारीरिक हित सुप्त और पथ्यसे धर्म होना मानते हो तो फिर श्रावक और श्राविकाओंके शारीरिक हित सुप्त और पथ्यसे भी धर्म मानना ही होगा।

उवाह सूत्रके मूल पाठमें श्रावकको धार्मिक, सुशील, सुव्रत, धर्मानुग और धर्म पूर्वक जीविका करने वाला कहा है। वह पाठ यह है —

“अपिच्छा अप्पारंभा अप्प परिग्गहा धम्मिया धम्माणुया धम्मिद्धा धम्मक्खाह धम्मप्पलोइया धम्मप्पलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मणंचेव चित्ति कप्पेमाणा विहरंति सुसोला सुव्वया सुप्पडियाणंद साह”

(उवाह सूत्र)

इस पाठमें कहा है कि—श्रावक अप्पारभी, अल्पपरिमही, धार्मिक, धर्मानुग धर्मिष्ठ, धर्मानुयायी, धर्म प्रलौकी, धर्म प्रजनन, धर्मसमुदाचार, सुशील, सुव्रत, सुप्रत्यान साधु तुल्य और धर्म पूर्वक जीविका करने वाले होते हैं। शास्त्र ऐसे ऐसे विशेषण लगा कर जिसकी प्रशंसा करता है उसी श्रावकको कुपात्र बताना और उसको दान देकर धर्म की सहायता पहुचानेसे एकान्त पाप कहना कितना तीव्रतर मिथ्यात्वका काय्य है यह हर एक बुद्धिमान मनुष्य समझ सकत है।

सुप्त गदांग सूत्रके मूल पाठमें श्रावकको धर्मपक्षमें माना है वह पाठ अर्थके सा दिया जाता है—

“तत्थणं जासा सव्वओ विरया विरह एस ठाणे आरंभ णे आरंभ ठाणे । एस ठाणे आरिए केवले पडिपुन्ने णेयाउए संसुद्धे

मलगत्तणे सिद्धिमगो मुक्तिमगो निव्वाणमगो निज्जाणमगो सच्च
दुःखप्पहीणमगो एगंत सामे साहू”

अथ —

पढ़ते वनापे हुए स्थानमें जो विरता विरत नामक स्थान है वह आरम्भ जो आरभ कहलाता है । यह स्थान, आर्ष्य, केवल, प्रतिपूर्ग, नेपाधिक, सपुद्ग, इन्द्रियमंथम, सिद्धि-
मार्ग, मुक्तिमार्ग, निष्पागमार्ग सर्षविष हु छोका विनाशरुमार्ग, एकान्त सम्यग्भूत, और
साधुभूत समझना चाहिये ।

यहा विरता-विरत नामक स्थानको साधुभूत सम्यग्भूत इत्यादि कइकर धमपक्षमें
स्थापन किया है फिर भी श्रावकको सुपात्र कायम काना और उसको अन्नादि दानसे
एकान्त पाप कइना अहानी और सुपात्रोंका काय समझना चाहिये यद्यपि कृपि, गो-
रमा, वाणिज्य आदिक व्यापार करते समय श्रावकोंसे आरम्भजा हिंसा भी होती है
तथापि श्रावकोंमें धर्मके बाहुल्य होनेसे वे धमपक्षमें ही गिने गये हैं टीकाकारने भी
यही कइा है । वह टीका यह है —

“एतच्च यद्यपि मिश्रत्वाद् धर्मा धर्मा भ्या मुपंत तथापि धर्म भूयिष्ठत्वाद् धार्मिक-
पक्ष ण्वापतरति तद्यथा बहुषु गुणेषु मध्यपतितौ टीपोनात्मानं लभते कलरु इव
चन्द्रिकाया तथा बहुदकमध्यपतितो मृच्छकलावयत्रोनोदकं फलुपरियतुमलम् । एवम
धर्मोऽपि धर्म मिति स्थित धार्मिक पक्ष एवायम्” ।

अर्थात् यह विरता-विरत नामक स्थान, मिश्र होनेसे यद्यपि धर्म और अधर्म
दोनों हीसे युक्त है तथापि धर्मके बाहुल्य होनेसे यह धर्म पक्षमें ही टइरता है । क्योंकि
बहुत गुणोंके मध्यमें पडा हुआ स्वल्प टीप अपना प्रभाव नहीं दीखलाना । किन्तु
चन्द्रमाकी किरणोंमें फलककी तरह टिप जाता है । जैसे बहुत जलमें पडा हुआ
मिट्टीका कण मिट्टीको गन्डा करनेके लिये समर्थ नहीं होता, उसी तरह बहुत धर्मक
मध्यमें पडा हुआ थोडासा अधर्म, धर्मकी कुठ भी हानि नहीं पहुंचा सकता ।

यहा टीकाकारने मूलपाठका आशय दर्शाते हुए श्रावकोंको धमपक्षमें ही मान
कर उसका स्वल्प पापको अकिंचितकर और अगगनीय बनलाया है अत उक्त मूलपाठ
और उसकी टीकासे श्रावक सुपात्र और धार्मिक सिद्ध होता है इसलिये श्रावकोंको
सेवा शुश्रूषा करने, और दान सम्मानादिके द्वारा धर्ममें सहायता देनेसे एकान्त पाप
कइना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल २६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ९३ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशक्री गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे दश शस्त्र कख्या तिणमे अव्रतने भाव शस्त्र कखो तो जो श्रावक अव्रत सेवाया रूडा फल किम लागे । एतो अव्रत शस्त्र छे ते माटे जेतला जेतला श्रावकरे त्याग छे ते तो व्रत छे अने जेतलो आगार छे ते सर्व अव्रत छे । आगार अव्रतसेव्या सेवाया शस्त्र तीखो कियो कहिए पिणधर्म किम कहिये ” ।

(भ्र० पृ० ९३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गणाङ्ग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

“दस विहे सत्ये पन्नत्ते तं जहा—सत्थ मग्गी विसं लोणं सिण हो खार मंचिलं । दुप्पउत्तो मनोवाया काओ भावो य अविरई ।”

अर्थ —

दश प्रकारके शस्त्र होते हैं ये ये हैं—अग्नि, विष, नमक, तैल घृतादि चिकने पदार्थ, पारी चीज, भरम आदि, खटाई, अथवा पूर्वक प्रयोग किये हुए मन, वचन, काया, और अपत्याप्यान, ये दश शस्त्र होते हैं । यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इसमें पहले कहे हुए छ द्रव्य शस्त्र और पीछले ४ भाग शस्त्र हैं । ये भाग शस्त्र जिसमें मौजूद हैं वह यदि कुपात्र माना जाय और उसको दान देना यदि शस्त्रको तीखा करना तथा एकान्त पाप समझा जाय तो छठे गुण स्थानवाले प्रमादी साधुको भी कुपात्र मानना पडेगा और उसे दान देना प्रमाद रूप शस्त्रको तीखा करना और एकान्त पाप कहना होगा क्योंकि प्रमादी साधुमें प्रमादवश मन, वचन और कायका दुष्प्रयोग रूप भाव शस्त्र विद्यमान है । यदि कहे कि प्रमादी साधुको प्रमादवृद्धि के लिये दान नहीं दिया जाता किन्तु उसके ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उन्नतिके लिये दिया जाता है इसलिये प्रमादी साधुको दान देनेसे एकान्त पाप नहीं होता तो उसी तरह सरल बुद्धिसे यह भी समझो कि श्रावकको दोष वृद्धिके लिए दान नहीं दिया जाता उसके गुणका पोषण करनेके लिये दिया जाता है अतः श्रावकको धर्मवृद्ध्यर्थ दान देना एकान्त पाप अथवा शस्त्रको तीखा करना नहीं है । श्रावकको अव्रतकी क्रिया भी नहीं लगती है इसलिये उसको दान देना अव्रतका सेवन कराना भी नहीं है यह बात विस्तारके साथ पहले कही जा चुकी है । वास्तवमें जैसे प्रमादी साधुको उसके मन वचन कायाके

प्रयोगको न्यून करनेके लिये दान दिया जाता है उसकी वृद्धिके लिये नहीं उसी तरह श्रावकको भी उसके दोषोंकी निवृत्तिके लिये दान दिया जाता है उनकी वृद्धिके लिये नहीं अतः श्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप कहनेवाले मिथ्यावादी हैं ।

भ्रमविध्वसाकार साधुके भोजनको धममे और श्रावकके भोजनको पापमें कायम करके श्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप होना बतलाते हैं परन्तु शास्त्रविरुद्ध होनेसे यह अप्रामाणिक है । राज प्रश्नीय सूत्रमें भोजन विशेषसे पुण्य होना भी कहा है वह पाठ यह है —

“सुरियाभेणं भन्ते ! देवेणं सादिच्चा देविड्ढी सा दिच्चा देव-
जुई से दिच्चे देवाणुभागे किण्णा लद्धे किण्णापत्ते किण्णा अभि-
समण्णागए पुव्व भवे के आसी किं नाम एवा को वा गुत्तेणं कयरं सिवा
गामंसिवा जाव सनिवेसंसिवा किंचा भोचा किंचा किंचा किंचा
समापरित्ता कस्सवा त्हाख्वस्स समणस्स वा माहणस्सवा अन्ति ए
एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोचा णिसम्म जण्ण सुरियाभेणं
देवेणं सादिच्चा देव इड्ढी जावदेवाणुभागे लद्धेपत्ते अभिसमण्णा
गए” ।
(राज प्रश्नीय सूत्र)

अर्थ —

हे भगवन् ! इस सूत्र्याम देवों ऐसी उत्तम दिव्य ऋद्धि, ऐसी उत्तम धृति और इस प्रकारका दिव्य प्रभाव कैसे प्राप्त किया है ? यह सूत्र्याम देव पूर्वजन्ममें कौन था इत्यने नाम और गोत्र क्या थे यह किस ग्राममें या नगरमें निवास करता था इसी पूर्वजन्ममें कौनसा दान दिया था किन् नीरस पदार्थका भोजन किया था तथा कौनसा उद्योग और कौनसी तपस्या की थी किस भ्रमण या माहनसे इसने एक भी आर्य्य धर्म सम्बन्धी छ्वाभ्य रत्ना था जिससे इसको दिव्य ऋद्धिसे लेकर यावत् इस प्रकारका प्रभाव प्राप्त हुआ है ।

इस पाठमें जैसे तथा रूपके भ्रमण माहनसे आर्य्य धम सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे तथा दान देने तपस्या करने आदिसे दिव्य ऋद्धिकी प्राप्ति कही गयी है उसी तरह भोजन करनेसे भी कही गयी है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुके सिवाय दूसरेका खाना पीना एकान्त पापमे नहीं है । यदि शुभ आशयसे नीरस पदार्थका भोजन किया जाय तो उससे पुण्य भी उत्पन्न होता है अतः श्रावकके खानेपीने आदि कार्योंको एकान्त पापमे स्थापन करना इस पाठसे विरुद्ध और अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल २७)

(प्रेरक)

भ्रमविव्यसनकार भ्रमविधासन पृष्ठ ९३ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे दश शस्त्र कथा तिगमे अन्नने भान शस्त्र कर्यो तो जो आवकने अन्न सेवाया रूडा फल किम लागे । एतो अन्न शस्त्र ठे ते माटे जेतला जेतला आवकरे त्याग छे ते तो व्रत छे अने जेतलो आगार छे ते सर्पे अन्नत छे । आगार अन्नसेव्या सेवाया शस्त्र तीसो क्रियो कहिए पिणधर्म किम कहिये ” ।

(भ्र० पृ० ९३) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गणाङ्ग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

“दस विहे सत्ये पन्नत्ते तं जहा—सत्य भग्गी विसं लोणं सिण हो खार मंवलं । दुप्पउत्तो मनोवाया काओ भावो य अविरई ।”

व्यर्थ —

दश प्रकारके शस्त्र होते हैं वे ये हैं—अग्नि, विष, नमक, तैल घृतादि चिकने पदार्थ, खारी चीज, भस्म आदि, खटाई, अथल पूर्वक प्रयोग किये हुए मन, वचन, काया, और अपत्या ख्यान, ये दश शस्त्र होते हैं । यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इसमें पहले कहे हुए छ द्रव्य शस्त्र और पीछे छ भाव शस्त्र हैं । ये भाव शस्त्र जिसमें मौजूद हैं वह यदि कुपात्र माना जाय और उसको दान देना यदि शस्त्रको तीखा करना तथा एकान्त पाप समझा जाय तो छट्टे गुण स्थानत्राले प्रमादी साधुको भी कुपात्र मानना पड़ेगा और उसे दान देना प्रमाद रूप शस्त्रको तीखा करना और एकान्त पाप रूहना होगा क्योंकि प्रमादी साधुमें प्रमादप्रश मन, वचन और कायका दुष्प्रयोग रूप भाव शस्त्र विद्यमान है । यदि कहो कि प्रमादी साधुको प्रमादवृद्धिके लिये दान नहीं दिया जाता किन्तु उसके ज्ञान दर्शन और चारित्रिकी उत्तिके लिये दिया जाता है इसलिये प्रमादी साधुको दान देनेसे एकान्त पाप नहीं होता तो उसी तरह मरछ बुद्धिसं यह भी समझो कि आवरुको दोष वृद्धिके लिए दान नहीं दिया जाता उसके गुणका पोषण करनेके लिये दिया जाता है अत आवरुको वर्मवृद्ध्यर्थ दान देना एकान्त पाप अथवा शस्त्रको तीखा करना नहीं है । आवरुको अन्नतकी क्रिया भी नहीं लगती है इसलिये उसको दान देना अन्नतका सेवन कराना भी नहीं है यह बात विस्तारके साथ पहले कही जा चुकी है । वास्तवमें जैसे प्रमादी साधुको उसके मन वचन कायाके

प्रयोगको न्यून करनेके लिये दान दिया जाता है उसकी वृद्धिके लिये नहीं उसी तरह श्रावकको भी उसके दोषोंकी निवृत्तिके लिये दान दिया जाता है उनकी वृद्धिके लिये नहीं अतः श्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप कहनेवाले मिथ्यावादी हैं ।

भ्रमविध्वसनकार साधुके भोजनको वर्मम और श्रावकके भोजनको पापमें कायम करके श्रावकको दान देनेसे एकान्त पाप होना बतलाते हैं परन्तु शास्त्रविरुद्ध होनेसे यह अप्रामाणिक है । राज प्रश्नीय सूत्रमें भोजन विशेषसे पुण्य होना भी कहा है वह पाठ यह है —

“सुरियाभेणं भन्ते ! देवेणं सादिच्वा देविड्ढी सा दिच्वा देव-
जुई से दिच्वे देवाणुभागे किण्णा लद्धे किण्णापत्ते किण्णा अभि-
समण्णागए पुञ्च भवे के आसी किं नाम एवा को वा गुत्तेणं कयरं सिवा
गामंसिवा जाव सनिवेसंसिवा किंवा भोच्चा किवा किच्चा किंवा
समायरित्ता कस्सवा तहाख्वस्स समणस्स वा माहणस्सवा अन्तिए
एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म जण्ण सुरियाभेणं
देवेणं सादिच्वा देव इड्ढी जावदेवाणुभागे लद्धेपत्ते अभिसमण्णा
गए” ।

(राज प्रश्नीय सूत्र)

अर्थ —

हे भगवन् ! इस सूर्याम देवने ऐसी उत्तम दिव्य ऋद्धि, ऐसी उत्तम श्रुति और इम प्रकारका दिव्य प्रभाव कैसे प्राप्त किया है ? यह सूर्याम देव पूर्वजन्ममें कौन था इसके नाम और गोत्र क्या थे यह किस ग्राममें या नगरमें निवास करता था इतने पूर्वजन्ममें कौनसा दान दिया था किस नीरस पदार्थका भोजन किया था तथा कौनसा उद्योग और कौनसी तपस्या की थी किस श्रमण या माहणसे इतने एक भी आर्य्य धर्म सम्बन्धी उपास्य उपा या निमसे इतको दिव्य ऋद्धिसे लेकर यावत् इम प्रकारका प्रभाव प्राप्त हुआ है ।

इस पाठमें जैसे तथा रूपके श्रमण माहणसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवास्य सुननेसे तथा दान देने तपस्या करने आदिसे दिव्य ऋद्धिची प्राप्ति कही गयी है उसी तरह भोजन करनेसे भी कही गयी है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुके सिवाय दूसरेका खाना पीना एकान्त पापमें नहीं है । यदि शुभ आशयसे नीरस पदार्थका भोजन किया जाय तो उससे पुण्य भी उत्पन्न होता है अतः श्रावकके खानेपीने आदि कार्योंको एकान्त पापमें स्थापन करना इस पाठमें विरुद्ध और अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल २७)

(प्ररक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ९४ पर भगवतीसूत्र शतक १ उद्देशा ८ का मूल पाठ लिखकर कहते हैं कि उक्त पाठमें श्रावकको देश प्रत्याख्यान करनेसे दत्ता होना कहा है आगारके सेवनसे देवता होना नहीं कहा इसलिये श्रावकका आगार एकात पापमे है । जैसे कि उन्होंने लिखा है —

‘अथ अठे कश्चो जे श्रावक देश थकी निवृत्यो देश थकी न थी निवृत्यो दश पच क्खाण कीधो देश पचक्खाण की धो न थी । जे देशे करि निवृत्यो अने देश पचक्खाण कीधो तेगे कमी देवता हुवे इहा पचक्खाणे करी देतवा थाय कश्चो ते किम जे पचक्खाण पालना कष्ट थो पुण्य वधे तणे करो देवायुप वधे कश्चो पिण अन्रन सेव्या सेवाया देव गतिनो ग्रथ न कश्चो’ ।

(भ्र० पृ० ९४) इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ८ का मूल पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ यह है —

‘वाल पण्डिणं मणुसे किं नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ । सेकेणट्ठेणं जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ ? गोयमा ! वाल पण्डिणं मणुसे तहा ख्वस्स समणस्स माहणस्स वा अन्तिए एगमपि आरियं घम्मिय सोच्चा णिसम्म देसं उवरमइ देसं नो उवरमइ देस पचक्खाणइ देसं नो पचक्खाणइ सेतेण ट्ठेणं देसो वरइ देस पचक्खाणेणं नो नेरइयाउयं पकरेइ जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ सेतेणट्ठेणं जाव देवेसु उववज्जइ ।’

(भगवती शतक १ उ० ८)

(प्रश्न) हे भगवन् ! बालपण्डित मनुष्य नरक तिर्प्राञ्च तथा मनुष्यकी आयु बाधकर नरक आदि योनियोंमें जाता है या देवताकी आयु बाधकर देवता होता है ।

(उत्तर) हे गोतम ! बाल पण्डित मनुष्य नरकादिकी आयु बाधकर नरक आदि गतिमें नहीं जाना किन्तु देवताकी आयु बाधकर देव योनिमें जाता है ।

(प्रश्न) ऐसा क्यों होता है ?

(उत्तर) हे गोतम । - बाल पण्डित मनुष्य तथा लोके अमण और माह्नसे आव्य मे सम्बन्धी एक भी सुवाक्यको सुन कर देशमे निवृत्त होता है और देशसे निवृत्त नहीं वा देशसे प्रत्याख्यान करता है और देशसे प्रत्याख्यान नहीं करता अन् दश विगति और दश प्रत्याख्यानसे उसको नरकका आयु बन्ना नहीं होता किन्तु देवताका आयु-पथ कर वह देवता होता है । यह उक्त मूल पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें देश विरति और देश प्रत्याख्यानमे नरकादि गतिपेक्षा रक्षना बतलाया गया है न कि उनसे देवताका आयुपथ होना भी । यदि विरति और प्रत्याख्यानसे आयु न्य होने लगे तो फिर मोक्ष कैसे हो सकता है ? अतएव पन्नायगा सूत्रके २२ वें पद के टीकामे विरतिसे बन्ध होनेका स्पष्ट निषेध क्रिया है वह टीका यह है —

“ ननु विरतस्य कथं बन्धो नहि विरतिबन्ध हेतुमपति यदि विगतिरपि बन्ध हेतु यात्तदा निमोक्षप्रसंग उपायाभावात् । अन्यते—नहि विरतिबन्धहेतु किन्तु विर-स्य चे कथायास्ते बन्ध कारणम् । तथाहि सामायक छेदोपस्थापन चारित्र मिश्रद्विकेवपि विषयेषु कथाया मञ्ज्वलन रूपा उदय प्राप्ता सन्ति योगाश्च ततो विगतस्यापि देवायु-सादीना शुभ प्रकृतीना तत्प्रत्ययो बन्ध ”

अर्थ —

(प्रश्न) विरत पुरुषको बन्ध क्यों होता है ? विगति, बन्धका कारण नहीं है यदि वैरतिमे भी बन्ध हो तो मोक्ष कैसे हो सकता है ? क्योंकि विरतिके सिवाय दूसरा कोई मोक्षका कारण नहीं है ।

(उत्तर) इसका समाधान यह है कि विरतिसे बन्ध नहीं होता किन्तु विरत पुरुषों का जो कथाय है वह बन्धका कारण है । सामायक, छेदोपस्थापन, और परिहारविशुद्धि आदि समयमें भी सञ्ज्वलनात्मक कथाय और योग, उदयको प्राप्त रहते हैं इसलिये इन्हीं से विरत पुरुषोंका भी आयु आदिका बन्ध होता है ।

यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है ।

इस टीकामे विरतिसे बन्ध होनेका स्पष्ट निषेध क्रिया है इमल्लिग भगवती शनक १ नरेशा ८ के मूल पाठमें विगति और प्रत्याख्यानसे देवताका आयु बन्ध होना नहीं कहा है । विगति और प्रत्याख्यानसे नरक आदिका आयु बन्ध रह जाता है और विरत पुरुषोंमें जो कथाय और योग होता है उससे देव आयुका बन्ध होता है । अन् विगति और प्रत्याख्यानसे देवताका आयु बन्ध बनलाना मिथ्या है ।

देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे जो कथाय कष्ट होता है उससे पुण्य बन्ध मान कर देवता होनेकी कल्पना करना भी मिथ्या है फर्से भी मूल पाठ और टीकामें यह नहीं

कहा है कि "विरति और प्रत्याख्यानसे जो काय कष्ट होता है उससे देवता होता है" वहलिक पन्तावगा सूत्र की टीकामें विरत पुरुषके सञ्जलनात्मक कपाय और योगसे देवता होना बतलाया है अतः विरति और प्रत्याख्यानसे जो काय कष्ट होता है उससे कर्मोंकी निजरा होती है पुण्य बन्ध नहीं होता ।

यदि विरति और प्रत्याख्यानसे होनेवाले काय कष्टसे पुण्य बन्ध होने लगे तो फिर कर्मोंकी निजरा किससे होगी ? अतः विरति और प्रत्याख्यानसे होनेवाले काय कष्टके द्वारा पुण्य उन्नत मानकर उनसे देवता होनेकी कल्पना करना मिथ्या है ।

अब अत्र यह होता है कि देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे देवता यदि नहीं होता तो श्रावक किस कर्मके प्रभावसे देवता होता है ? तो इसका उत्तर यह है —

श्रावकोंमें जो अल्पपरिग्रह, अल्प परिग्रह, और अल्प क्रोध, मान, माया, आदि आसन्न होते हैं उन्हींसे वे देवता होते हैं देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे नहीं क्योंकि बन्ध, आसन्नमे, होता है सत्त्व और निर्मागसे नहीं । देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे सत्त्व हैं आसन्न नहीं हैं अतः उनसे बन्ध नहीं हो सकता इस लिये देश विरति और देश प्रत्याख्यानसे देवता होनेकी बात मिथ्या है ।

व्रत प्रत्याख्यानसे और उनमें होनेवाले काय कष्टसे देवता नहीं होता इस विषय भगवतीसूत्र शतक २ उद्देश ५ का मूल पाठ भी प्रमाण है । वह पाठ यह है —

“संजमेणं भन्ते ! किंफलइ ? तवेणं भन्ते ! किं फलइ
संजमेणं अज्जो ! अणण्हय फले तवेणं बोदारण फले ”

(भगवती धारक २ उ० ५)

अर्थ —

सुक्रिया नगरीय श्रावकोंने भगवान् पार्श्वनाथकी स्थविरोसे पूजा कि हे भगवन् ! संज और नमस्कारका क्या फल है ? इन प्रश्नका उत्तर देते हुए पार्श्वनाथ भगवान्के स्थविरोसे कि संयमका फल, नवीन कर्मों का आगमन करना है और तपस्याका फल, पूर्वकृत कर्मों का नाश है ।

इस पाठमें श्रीपार्श्वनाथ भगवान्के स्थविरोसे व्रत और प्रत्याख्यानसे संवर के निर्जाराकी उत्पत्ति बतलाई है पुण्य बन्ध होना नहीं कहा है अतः व्रत प्रत्याख्यान पुण्य बन्ध मानना शास्त्र विरुद्ध है । इसका अनन्तर उक्त श्रावकोंने पार्श्वनाथ भगवान्के स्थविरोसे पूजा कि हे भगवन् ! संयम और तपस्यासे जनक संवर और निजरा होती तो संयमी और तपस्वी पुरुष देवता कैसे होते हैं ? इस प्रश्नके चार उत्तर स्थविरोसे प्रत्येक पृथक दिये थे । एकने कहा कि सराग अवस्थाकी तपस्यासे व्रत

और तपस्वी पुन्य स्वर्ग जाते हैं । दूसरने कहा कि सराग अरुणके समयसे जीव स्वर्ग जाते हैं । तीसरेने कहा कि क्षय होनेसे वचे हुए कर्माके द्वारा स्वर्ग जाने हैं । चौथेने कहा के मासारिक पदार्थों में आसक्त होनेसे देवना होते हैं । इन उत्तरामेने पहिलेके दो उत्तरों का अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने यह लिखा है —

“ततश्च सराग श्रुतेन समयेन तपसाच देवत्वाप्राप्ति रागाशस्य कर्म बन्ध हेतु-
त्वात्” अर्थात् सराग समय और सराग तपस्यामें जो रागाश विद्यमान है वही कर्म बन्धका हेतु है उसीमें सराग समयी और सराग तपस्वी देवता होते हैं (समय और तपस्यासे नहीं) तीसरे उत्तरमें क्षय होनेसे वचे हुए कर्माके कारण बन्ध होना कहा है तपस्या और समयसे नहीं । चौथेमें, तपस्वी और समयी पुरुषोका अपने भाण्डोप-
करणोंमें जो ममत्व भाव है उससे देव भवपाना गतलाया है तपस्या और समयसे नहीं ।
स प्रकार इन चारो उत्तरोंमेंसे किसीमें भी व्रत प्रत्याख्यानमें तथा व्रत प्रत्याख्यान पालने
समय जो काय कष्ट होता है उससे देवता होना नहीं कहा है अतः व्रत प्रत्याख्यानसे
तथा उनका पालन करनेमें होने वाले काय कष्टसे देवता होनेकी प्रकृषणा एकान्त
मेध्या है । ज्ञातकि अल्पारम्भ और अपपरिमहादितसे श्रावण, देवता होत हैं तत्र उनका
सुम आशयसे भोजन करना एकान्त पापमें कैसे हो सकता है ? यद् बुद्धिमानोंको स्वयं
शेच लेना चाहिये ।

(बोल २८ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १-२ पर लिखते हैं “अथ ईश पिण कर्मो
ते गृहस्थादिक नो देवो सत्तार भ्रमण हतु जागोने साधु त्याग्यो इमि कर्मो तो गृहस्थ
में तो श्रावक पिण आयो तो ते श्रावकने दानरी साधु अनुमोदता किम करे तिगमे धर्म
पुण्य किम कहिए ”

(भ्र० पृ० १०२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगहाग सूत्रकी गाथा लिख कर इसका समाधान दिया जाता है । वर
गाथा यह है —

“जेणेह णिव्वहे भिव्वत् भत्तपाणं तथा वित्तं
अणुप्पयाण मन्नेसिं तव्विज्ज परिजाणिया ”

(टीका)

“ येन अन्नेन पानेनवा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षयात्त्वशुद्धेन
इदं अस्मिन् लोके इदं सयम यात्रादिकं दुर्भिक्ष रोगातङ्कादिकं वा साधु निवर्हेन्ति
येद्वा तदन्नपानवा तथाविधं द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया शुद्धं कल्पं गृहणीयात्
तथैतेषामन्नादीनामनुप्रदानं मन्यस्मै साधवे सयमयात्रानिर्वाहसमर्थमनुनिष्ठे
यदि वायेत केन चिदनुष्ठितेन इदं संयमं निर्वहेद्दसारवामापादयेत् तथावियमकं
पानं मन्यद्वा तथाविधं मनुष्ठानं न कुर्व्याद् तथैतेषामन्नादीनामनुप्रदानं गृहस्थान्
परतीर्थीकानां स्वययूथ्यानां वा सयमोपघातकं ननुशीलयेदिति तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञानं
ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेत् ” ।

अर्थ —

संयति पुरुष, उत्सर्ग मार्गमें शुद्ध और कारणकी अपेक्षासे अशुद्ध जिस अन्न
पानसे संयम और दुर्भिक्ष रोगातङ्कादिका निर्वाह करता हो वह अन्न पान द्रव्य एवं
काल और भावकी अपेक्षासे शुद्ध तथा कल्पानुसार ही ग्रहण करे और उसी तरह
अन्न पान वह दूसरे साधुको भी सयम निर्वाहार्थ प्रदान करे । अथवा जिसके अनुष्ठ
से साधुका सयम नष्ट हो जाय उस तरहका अन्न पान या और भी कोई अन्य का
साधु न करे । जिस अन्न पानसे साधुका सयम भ्रष्ट हो जाय ऐसा अन्न पान, गृह
स्वययूथिक, या परतीर्थीको साधु न देवे किन्तु ज्ञपरिज्ञानसे इसे जानकर प्रत्यापान
परिज्ञानसे त्याग कर देवे । यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

इस गाथामें जिस अन्न पानके द्वारा साधुका सयम भ्रष्ट हो जाता है उसे स्वयं
लेना और दूसरेको देना वर्जित क्रिया है परन्तु “गृहस्थको दान देना ससार भ्रमणका
हेतु जान कर साधु छोड़ देवे ” यह नहीं कहा है इसलिए इस गाथाकी साक्षी देकर
गृहस्थके दानको ससार भ्रमणका हेतु बनाना मूर्खताका परिणाम है । इस गाथाको लिख
कर इसके नीचे भ्रमनिवृत्तिसन कराने जो उक्त अर्थ लिखा है वह भी न तो मूल पाठ
शब्दोंसे निकलता है और न टीकासे ही मिलता है इसलिये वह महा अशुद्ध और मिथ्य
अर्थका चोचक है उसका आश्रय लेकर गृहस्थके दानको ससार भ्रमणका हेतु बनाना
मिथ्या है । इस गाथाके चतुर्थ चरणमें “तत्रिज्जा परिजाणिया ” यह वाक्य आया है
सौंवातानीसे यदि कोई इस वाक्यका अर्थ करे कि पूर्वोक्त कार्यको ससार भ्रमणका
हेतु जान कर साधु छोड़ देवे तो इस गाथाके पूर्व गाथामें भी यही वाक्य आया है
इसलिये उसे ब्रह्म भी यही अर्थ करना होगा । वह गाथा यह है —

“ जस्तं किरिं सलोर्यं च जाय चदण पूघणा
सव्व लोमंसि जे कामा त विज्ज परिजाणिया ”

अर्थात् यज्ञ, कीर्ति, श्लाघा, चदन, पूजन और सासारिक सरुल कामनायें साधु को छोड़ देनी चाहिये ।

इस गायामे भी “त विज्ज परिजाणिया” यह पाठ आया है इस लिये साधुके वंदन पूजन और सत्कार सम्मानको भी सत्कार भ्रमणका हेतु ही मानना पड़ेगा । यदि कोई कहे कि यह बात साधुको अपने लिये कड़ी गई है इस लिये साधु यदि अपनी वदना आदिकी इच्छा करे तो यह उसके समार भ्रमणका हेतु है परन्तु यदि गृहस्थ साधु का वदन पूजन करे तो यह काय्य बुरा नहीं है तो उसे कड़ना चाहिये कि इस गायामे अनुमार ही २३ वीं गायामे भी साधुके लिये ही कही गई है इस लिये साधु यदि गृहस्थको अनुचित दान देवे तो उसको २३ वीं गायामे बुरा कहा है परन्तु यदि गृहस्थ गृहस्थको अनुकम्पा दान देवे तो यह बुरा नहीं है । अतः सुय गडाग सूत्रकी २३ वीं गायामे नाम लेकर गृहस्थको दिये जाने वाले गृहस्थोके द्वारा अनुकम्पा दानको एकान्त पाप बताना भ्रष्टानियोंका काय्य है ।

[बोल २९ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविश्वमनकार भ्रमविश्वसत पृष्ठ १०३ के उपर निर्गीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८-७९ के मूल पाठोको लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ ईहा गृहस्थने अशनादिक दिया अने देताने अनुमोद्या चौमासी प्रायश्चित्त क्यो अने श्रावक पिण गृहस्थ इज छै ते माटे गृहस्थने दान साधुने अनुमोदनों नहीं धम हुव तो अनुमोद्या प्रायश्चित्त क्यु कसो धर्मरी सदा ही साधु अनुमोदना करे ।”

इसका क्या समाधान ?

(भ्र० पृ० १०३)

(प्ररूपक)

निर्गीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८-७९ के मूल पाठका आशय यह है कि साधु यदि किमी गृहस्थको उत्सव मार्गम अन्नादि देवे तो उसका अनुमोदन करने वाले साधु को प्रायश्चित्त आना है । यदि गृहस्थ किमी गृहस्थको अनुकम्पा दान देवे तो उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त बताना इस पाठका आशय नहीं है क्योंकि इस पाठके निकट वर्ती पाठका इसी प्रकारका अर्थ है तदनुसार इस पाठका भी यही अर्थ होना उचित है । यह निकट वर्ती पाठ यह है —

“जेभिव्वू अन्नउत्थियंवा गारत्थियंवा पज्जोसवेह पज्जोसवं
तंवा साहज्जइ”

अथात् जो साधु अन्य यूथिको या, गृहस्थको पर्युपग कराता है या कराते हुए का
अच्छा समझता है उसको प्रायश्चित्त आता है । यह इस पाठका अर्थ है ।

इसमें कहा है कि “गृहस्थ और अन्य तीर्थीको पर्युपग कराने वाले की अनुमोदना
करनेसे साधुको प्रायश्चित्त आता है” इसका आशय यही है कि साधु किसी गृहस्थको या
अन्य तीर्थीको पर्युपग करावे तो उसकी अनुमोदना करने वाले साधुको प्रायश्चित्त
होता है परन्तु यदि गृहस्थ किसी गृहस्थको पर्युपग करे तो उसका अनुमोदन कर
वाले साधुको प्रायश्चित्त बतलानेका आशय नहीं है उसी तरह बोल ७८ और ७९ के पाठ
का भी यही अभिप्राय है कि गृहस्थको उत्सर्ग मार्गमें दान देने वाले साधुको अनुमोदन
करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होता है परन्तु गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थकी अनुमोदना
करनेसे नहीं । यदि कोई यह बात न मान कर गृहस्थको अनुकम्पा दान देने वाले
गृहस्थके अनुमोदन करनेसे भी साधुको प्रायश्चित्त बतावे तो फिर उसके हिसाबसे
गृहस्थको या अन्य यूथिकको प्रतिप्रमग (पर्युपग) कराने वाले गृहस्थके अनुमोदन
करनेसे भी साधुको प्रायश्चित्त होना चाहिये तथा जिस कार्यका साधु अनुमोदन नहीं
करते ऐसे पर्युपग रूप कार्य करने और कराने वाले गृहस्थको एकान्त पाप होता
चाडिये परन्तु यह बात शास्त्र सम्मन नहीं है पर्युपग करने वाले या कराने वाले गृहस्थ
को तथा उसका अनुमोदन करने वाले साधुको एकान्त पाप नहीं होता उसी तरह गृहस्थ
को अनुकम्पादान देने वाले गृहस्थको और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्राय-
श्चित्त नहीं होता । अतः गृहस्थको अनुकम्पा दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे
साधुको पाप उताना मिथ्या है । भगवत्प्रसन्नकरने निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८
और ७९ के मूल पाठका अर्थ पूर्वा पर सोचे जिना ही गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थके
अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना बताया है अतः उनके अविवेक पूर्ण और
प्रकरण विरुद्ध अर्थके फदेमें पड़कर अनुकम्पा दानको एकान्त पाप नहीं समझना चाहिये ।
निशीथ सूत्रमें इस प्रकारके अनेकों पाठ मिलने हैं जिनका भूमविध्वसनकारकी
रीतिने अनेकान्त महान अत्रय का भाग हो सकता है । जने कि निशीथ सूत्रमें यह
भी पाठ आया है —

“जेभिव्वू वासावास पज्जोसवो ंसि गामाणु गामं वुइज्जइ
वुइज्जंतं वा साइज्जइ”

(निशीथ सूत्र)

अर्थात् जो साधु, पय्युपगके पूजा वना ऋतुमें प्रामानुषाम विहार करता है या विहार करने वालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त आता है । जो साधु पय्युपगक अनन्तर वषा ऋतुमें प्रामानुषाम विहार करता है या विहार करने वालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त आता है ।

इस पाठमें वर्षा ऋतुमें प्रामानुषाम विहार करने वाले और विहार करने वालेका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त आना कहा है इस लिये जो साधु अपने गुरुका दर्शन करनेके लिये भी पावस ऋतुमें प्रामानुषाम विहार करता है उसको, और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको दोनों ही को प्रायश्चित्त आता है । भ्रमविध्वसनकारके मतमें जो श्रावक वर्षा ऋतुमें साधुदर्शनार्थ विहार करते हैं और जो साधु उन श्रावकको अच्छा जानते हैं उन दोनोंको उक्त पाठके अनुसार प्रायश्चित्त आना चाहिये । क्योंकि जैसे गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थके अनुमोदन करनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना भ्रमविध्वसनकार मानते हैं वही तरह वर्षा ऋतुमें साधु दर्शनार्थ प्रामानुषाम विहार करने वाले श्रावकको अच्छा जाननेसे भी साधुको प्रायश्चित्त मानना पड़गा । क्याकि दान और विहारक सम्यन्धमें आये हुए पाठोंमें कोई विशेषता नहीं है जिससे इनके अर्थों में विशेषता हो, अतः जैसे गृहस्थको दान देने वाले गृहस्थ को अच्छा जाननेसे भ्रमविध्वसनकार साधुको प्रायश्चित्त होना बतलाते हैं उसी तरह पावस ऋतुमें साधुदर्शनार्थ प्रामानुषाम विहार करनेवाले श्रावकको अच्छा जाननेसे भी भ्रमविध्वसनकारके मतानुगामी साधुको प्रायश्चित्त होना चाहिये यदि ऊहो कि पावस ऋतुमें विहार करनेवाले साधुको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त प्रत्याना उक्त पाठका आशय है । साधु दर्शनार्थ प्रामानुषाम विहार करनेवाले श्रावकको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त कहनेका अभिप्राय नहीं है तो उसी तरह सरल बुद्धिसम सगहो कि गृहस्थको दान देनेवाले साधुको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त बतलाना निशीथके उस पाठका आशय है गृहस्थको दान देनेवाले गृहस्थको अच्छा जाननेसे प्रायश्चित्त बतलाना नहीं अतः निशीथ सूत्रका नाम लेकर श्रावकको धर्मपालनार्थ दान देनेसे एकान्त पाप कहना निनान्त मिथ्या है ।

भ्रमविध्वसनकारने श्रावकको दिये जाने वाले दानमें एकान्त पाप सिद्ध करनेके लिये जो निशीथ सूत्रका मूल पाठ लिया है उस पाठकी चूर्णोंमें कारण पाकर साक्षात् साधुको भी गृहस्थ दानका विधान किया है वह चूर्णों मूल पाठके साथ लिखी जाती है —

“जेभिकखू अण्णउत्थिण्णवा गरत्थिण्णवा असणं वा ४ देय्ह देपत्तं वा साहज्जह जेभिकखू अण्ण उत्थिण्ण वा गरत्थिण्ण वा

वत्थंवा परिग्गहंवा कम्बलंवा पायपुच्छणं वा देयह देयंतं वा साइज्जह”

(निशीथ सूत्र)

(चूर्णी)

“दुल्लहे भत्त पाण डंडिय माहिणा साहारणदिन्नं तत्थ ते गिही अन्नतीत्थिया विभज्जाएयवा अहते अनिच्छा साधु भणेज्जं अहंतेपन्ना ताते साह्व विभज्जति साधुणा विभयंतेणं सव्वेसिं व् समग्गमेव विभईव्वं एसुवदेसो”

(निशीथ चूर्णी)

अर्थ —

किमी अकाल और दुष्कालके समय दाता पुरुष अन्य तीर्थी, गृहस्थ और साधुको शामिल में ही निष्ठा लाकर देने तो साधु उस आहारका विभाग अन्य तीर्थी और गृहस्थोंसे ही करावे । यदि वे स्वयंविभाग न करके साधुसे ही विभाग करानेकी इच्छा प्रकट करे तो साधु बराबर बराबर बाट कर सबको दे देवे यही शास्त्रका उपदेश है ।

इस चूर्णीमें स्पष्ट लिखा है कि “कारण पडने पर साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ को शामिलमें मिली हुई भिक्षा बाट कर दे देते हैं” अतः साक्षात् साधु भी जब कारण पडने पर अन्य तीर्थी और गृहस्थको देता है तब यदि हीन दीन दुखी जीव पर दया करके कोई गृहस्थ दान देवे तो उसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है ?

कारण पडने पर साधु भी गृहस्थको देते हैं यह केवल निशीथ सूत्रकी इस चूर्णी में ही नहीं आचाराग सूत्रके मूलपाठमें भी कहा है वह पाठ यह है —

“सेभिकखूवा २ सेजं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गोमपिण्ढोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपचिट्ठं पेहाए नो तेसिं संलोए सपडि द्वारे चिट्ठिज्जा से तमायाए एगंतं भवक्कमेज्जा अवक्कमित्ता अणावायमसलोण चिट्ठिज्जा ससेपरो अणावाय मसंलोए चिट्ठमाणस्स असण वा ४ आरहुदलइज्जा सेएएवं वएज्जा आउसंतो समणा ! इमेभेअसणे सव्वजणाए निसिट्ठे तं भुंजह वाणं परिभाएहतचे गइओ पडिग्गाहित्ता तुसीणिओ उवेहिज्जा । अवि आइं एयं मम मेव सिंया माइट्ठाणं सेफासे नो एवं फारिज्जा से तमायाए तत्थगच्छिज्जा से पुव्वामेय आलोइज्जा आउसन्तो ! समणा ! इमे भे असणे वा ४

वज्रणां निसिद्धे तं भुज्जह वाणं जाव परिभाएहवाणं सेणं मेयं
 त्तं परो वएज्जा आउसन्तो समणा ! तुमं चैवंणं परिभाएहि
 तत्थ परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्धं खद्धं डायं डायं ऊसढ ऊसढं
 सणं रसियं मणुन्नं मणुन्नं निद्धं निद्धं लुक्खं लुक्खं से तत्थ
 मुच्छिए अगिद्धे अगिद्धिए अणज्जोववन्ने बहु सममेव परिभा-
 ज्जा । सेणं परिभाएमाणं परोवएज्जा आउसन्तो समणा ! माणं
 मं परिभाएहि सव्वे वेगइया ठिआउ भुक्खामो से तत्थ भुज्जमाणे
 अप्पगा खद्धं खद्धं जाव लुक्खं से तत्थ अमुच्छिए ४ बहु सम-
 व भुज्जिज्जा पाइज्जा वा”

(आचाराग सूत्र)

अथ —

किसी धर्म या नगरमें शिक्षाके लिये गये हुए साधु को यह मालूम हो जाय कि “इस
 धर्मके लिये दूसरा शिक्षक शिक्षाके निमित्त गया हुआ है” तो साधु दाता और याचके असन्तोष
 तथा अकारणक भयसे उनके सम्मुख न खडा रहे, तथा उम गृहके द्वार पर भी न ठहरे वहासे हट
 कर किसी एकान्त स्थानमें चला जाय और जहा मनुष्योंका गमनागमन न होता हो तथा दाता
 और याचकेकी दृष्टि न पत्तो हो वहा जाकर ठहरे । ऐसे स्थानमें ठहरे हुए साधुके पास आकर
 यह गृहस्थ यदि चतुर्विध आहार देकर कहे कि “हे आयुष्मन् श्रमण ! आज आप बहुतसे भिक्षुक
 भिक्षुके मरे घर पर आ गये हैं परन्तु मैं किसी कार्य विशेषमें फसा हुआ हूँ अतः अलग अलग
 भिक्षुका आप लोगोंको शिक्षा देनेमें असमर्थ हूँ यह चतुर्विध आहार आप सबको इकट्ठा ही देता
 हूँ आप लोग अपनी इच्छानुसार इमे एक साथ ही ग्रा लेंवें या बाट बाट कर खायें” तो साधु
 उक्त मार्गमें उस आहारको न लेय परन्तु दुर्भिक्ष आदिके समय या मागकी वक्रावटकी हालतमें
 साधु उस भिक्षुको ले सकना है उसे ऐकर साधु यदि यह सोचे कि “यह शिक्षा गृहस्थो मुझको
 देना है और यह है भी थोडी इस लिये इसे मैं जपेला ही खा जाऊँ” तो वह कपटी है ऐसा
 साधुको कदापि न करना चाहिये अतः उम भिक्षुको ऐकर साधु दूसरे भिक्षुके पास जाये
 और उन्हे शिष्टा कर कहे कि हे श्रमणो ! यह आहार आप सभी लोगोंके लिये गृहस्थने इकट्ठा
 दिया है इस लिये आप इसे इकट्ठा ही खा लें या बाट बाट कर खायें । यह सब कर यदि कोई
 साधु कहे कि हे आयुष्मन् श्रमण ! आप ही इसे बाटकर हम सबको दे देंवें तो उत्सर्ग मार्गमें
 साधु इस बातको स्वीकार न करे । यदि अथवा मार्गमें साधुको शान्ति पडे तो वह लोभमें आकर
 उत्सर्ग, छान्दस, चिकने रूप और मनोऽ आहार अपने हितमें अधिक न लेने किन्तु सभी चीजोंका

समान विभाग करें। विभाग करते समय यह ध्यान रखने कि सभी हिस्से प्रायः समान हों। उन समय यदि कोई यह कहे कि हे आयुष्मन् भ्रमग ! आप इमे न घाट हम सब इसे खाएंगे तो साधु परतीर्थियोंके साथ भोजन न करें, अपने यूपके पार्श्वस्थ और संभोगिक साथी साथ आलोचना लेकर खाए। खाते समय उन आहारोंमें साधु मूर्च्छित न हों और अच्छा अन्न चीजें साथ खाते घालोसे उपादा न खा जाय, समान ही खाए। यह इस पाठका टीका अर्थ है।

यहां अपवाद मार्गमें दूसरे भिक्षुकोके शामिलमें मिली हुई भिक्षाको बाद देना साधुके लिये कहा है इस लिये अपवाद मार्गमें साधु भी गृहस्थ और अन्य को देते हैं। जन कि साधु भी अपवाद मार्गमें अन्य तीर्थी और गृहस्थको देते हैं। यदि कोई गृहस्थ किसी गृहस्थको दान देकर उसके धर्मकी रक्षा करे तो इसमें एकान्त पाप कैसे हो सकता है? अतः निशीथ सूत्र उद्देशा १५ बोल ७८-७९ के मूले पाठका नाम लेकर गृहस्थको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप घताना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

(प्रेरक)

भ्रमनिध्वसन कार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १०३ के ऊपर लिखते हैं “इण निशीथ पनरमे उद्देशे एहवा पाठ कथा छै— “जेभिखू सचित्तं अस्वं मुंजइ मुंजंत वा सत्तं जजइ” इहा कथो सचित्तं आवो भोगवे भोगवताने अनुमोदो तो प्रायश्चित्त आवे। साधु भोगवतो हुवे तेहने अनुमोदनो नहीं तो गृहस्थ आवो भोगवे तेहने साधु किम अनुमोदे जो गृहस्थरा दानने साधु अनुमोदे तो तिण्णे लेखे आवो गृहस्थभोगवे तेहने अनुमोदणो”

(भू० पृ० १०३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आम्र फल वाले पाठके दृष्टान्तसे गृहस्थके दानको एकान्त पापमें स्थापन करने मिथ्या है। सचित्त आम्रके खानेमें प्रत्यक्ष जीव हिंसा होती है इस लिये साधु उन अनुमोदन नहीं कर सकते चाहे गृहस्थ सचित्त आम्र खावे या साधु खावे साधु दोनों ही को नुरा जानते हैं परन्तु यह बात गृहस्थके दानमें नहीं घटती। गृहस्थ यदि किसी गृहस्थ पर अनुकम्पा करके अचित्त अन्न और अचित्त दधि आदि पदार्थ देवे तो उममें कौनसे जीवहिंसा होती है जिससे साधु उस अनुकम्पाका अनुमोदन न करे। साधु हिंसाका अनुमोदन नहीं करते अनुकम्पाका अनुमोदन करते हैं अतः सचित्त आम्र फल वाले पाठका

अन्त देकर हीन हीन दुःखी जीवको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप बतलाना
 ज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल २९ वां समाप्त)

प्रश्नक)

गृहस्थको दान देनेसे यदि पुण्य होता है तो साधु भी उत्सर्ग मार्गमें गृहस्थको
 क्यों नहीं देता तथा निशोथ सूत्रमें गृहस्थको दान देने वाले साधुको प्रायश्चित्त आना
 ही कहा गया है ?

इसका उत्तर दीजिये ?

प्रश्नक)

गृहस्थ तथा अन्य तीर्थी के ऊपर अनुकम्पा लाकर दान देनेमें एकान्त पाप होता
 जान कर निशोथ सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध नहीं किया है, किन्तु, ज्ञान, दर्शन
 और चारित्र्य रूप विशाल धर्मको छोड़ कर अनुकम्पा दान रूप एक साधारण पुण्यका
 नाम करना साधुके लिये वर्जित किया गया है । अनुकम्पा दानका पुण्य लाभ तो गृह-
 स्थावस्थामें भी किया जा सकता है परन्तु ज्ञान दर्शन और चारित्र्य रूप धर्मका लाभ
 गृहस्थावस्थामें पूर्णतया नहीं हो सकता इसीलिये गृहस्थावस्थाको छोड़कर दीक्षा ग्रहण को
 जाननी है । दीक्षा लेनेका उद्देश्य ज्ञान दर्शन और चारित्र्यकी उत्पत्ति करना है उस मुख्य
 उद्देश्यको छोड़ कर अनुकम्पा दान आदि साधारण पुण्यके फाय्दामें प्रवृत्त होना साधुके
 लिये अनुचित और उसकी अवतिका कारण है । जैसे कोई रत्नका व्यापारी रत्नके
 व्यापारको छोड़ कर पैसेके व्यापारमें प्रवृत्त हो जाय तो उसके लिये यह उचित नहीं कहा
 जा सकता यद्यपि उसको पैसेके व्यापारमें केवल घाटा ही नहीं लाभ भी होता है तथापि
 रत्नक व्यापारमें होने वाले लाभकी अपेक्षासे वह लाभ बहुत ही निकृष्ट है उसी तरह जो
 साधु ज्ञान दर्शन और चारित्र्यका व्यापार छोड़ कर अनुकम्पा दान जैसा एक साधारण
 पुण्यके व्यापारमें प्रवृत्त होता है वह महान लाभको छोड़ कर एक साधारण लाभका
 काय्य करता है इसी लिये शास्त्रमें यह फाय्दय साधुको अनुचित कहा गया है, यह नहीं
 कि अनुकम्पा दानसे एकान्त पाप होना जान कर गृहस्थ दानका निषेध किया गया हो ।

यदि कोई कहे कि—गृहस्थको दान देनेसे साधुके ज्ञान दर्शन और चारित्र्यकी
 उत्पत्तिमें क्या बाधा होती है ? तो उसे कश्ता चाहिये कि साधुको अपने शरीरके
 निकाइसे अधिक भोजन लेना कठपटा नहीं है ऐसी दगामें यदि साधु अन्य तीर्थी और

गृहस्थको अनुकम्पा दान देवे तो उसे अपने आहारमें अधिक भोजन देनेकी आवश्यकता होगी और अपने आहारसे अधिक भोजन लेने पर साधुकी निम्नवृत्ति भिन्ना वृत्ति न कायम रह सकती, तथा उसके चारित्र्यमें बाधा और गृहस्थाके साथ परिचय भी बढ़े है इसी कारणसे निशीथ सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध किया है एकान्त पाप जान कर नहीं। निशीथ सूत्रमें शिथिलाचारी साधुके अन्न, घम्र, कम्बल आदि लेनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है वह पाठ यह है —

“जे भिक्षू पास्त्यस्स असणं पाणं खाइमं साइमं पकि
 च्छइ पडिच्छ तं वा साइज्जइ । जे भिक्षू पास्त्यस्स वत्थंवा पकि
 गहं वा कम्बलं वा पाय पुच्छणं वा पडिच्छइ पडिच्छं तं वा सा
 ज्जइ”
 (निशीथ सूत्र)

अर्थात् जो साधु शिथिलाचारी साधुके अन्न, पान, चाय, न्याय, घम्र परिध, कम्बल और पाद प्रोच्छन लेता है वा लेने वालेको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त होता है।

इस पाठमें शिथिलाचारी साधुके अन्न, चाय, स्वाद्य, वस्त्र, परिग्रह, कम्बल और पाद प्रोच्छन लेनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि साधु तो गृहस्थसे भी इन चीजोंको लेता है और गृहस्थ शिथिलाचारी साधुकी अपेक्षा बहुत ही न्यून है अतः जब गृहस्थसे इन चीजोंको लेना साधुके लिये युग नहीं है तो फिर शिथिलाचारी साधुमें लेना क्यों दोषका कारण होता है ? इसका उत्तर यही है कि शिथिलाचारी साधुसे लेने देनेका व्यवहार रखने पर साधुको ससर्ग दोषसे स्वयं भी शिथिलाचारी हो जानेकी आशंका है इस आशंकाके कारण ही निशीथके उक्त पाठमें शिथिलाचारी साधुसे अन्न वस्त्रादि लेने देनेका निषेध किया गया है शिथिलाचारी साधुसे लेनेमें एकान्त पाप जान कर नहीं उसी तरह ज्ञान दर्शन और चारित्र्यकी उन्नतिमें बाधा पडती देख कर निशीथ सूत्रमें साधुको गृहस्थ दानका निषेध किया है एकान्त पाप जान कर नहीं उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १ गाय ३५ में श्रावण औरसे धिरे हुए स्थानमें साधुको भोजन करनेका विधान किया गया है इसका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने यह लिखा है “तत्रापि प्रतिच्छन्ने उपरि प्रावृणान्विते अन्यथा सपातिम सत्व संपात नभवात् । सकृदे पार्श्वत कट कुड्या दिन संकट द्वारे अटव्या कुड्यादिपुत्रा अन्यथा दीनादियाचने दानादानयो पुण्यप्रद प्रद्वेषादि दर्शनात्” अर्थात् ऊपरसे धिरे हुए मकानमें साधुको भोजन करना चाहिये नहीं

उठने वाले जीव वहा आ सकते हैं । तथा दीवाल या चटाईके द्वारा चागे तफ से घिरे मकानमे साधुका आहार करना चाहिये अन्यथा दीन दु खीके मागने पर देनेसे अन्य ग्रन्थ और नहीं देनेसे विद्वेष होता है ।

यहा टीकाकारने हीन दीन दुःखी जीवको दान देनेसे पुण्य होना बतलाया है काल्त पाप होना नहीं परन्तु ऐसे सामान्य पुण्यक कार्यामे साधुको प्रवृत्त होना उचित हीं है इसलिये उत्तराण्ययन सूत्रमें साधुको खुली जगहपर भोजन करना निषेध किया । साधु हीन दीन दुःखी जीवोंको अनुकम्पा दान स्वयं नहीं देता इसलिये यदि कोई अनुकम्पा दानमे पाप ठहरावे तो भगवतोका निम्न लिखित पाठ दिखला कर उमका भ्रम दूर करना चाहिये । वह पाठ यह है—

“ निग्गंधं चणं गाहावह कुलं पिण्डवायपडियाए अणुप्य विह्वे केई दोहिं पिण्डेहि उव निमन्तेज्जा । एगं आयुस्ते अप्पणा भुंजाहि एगं थेराणं दलपाहि सेय त पिण्डं पडिग्गाहेज्जा थेरायसे अणुगवेसियन्वासिया जत्येव अणुगवेसमाणे थेरे पासिज्जा तत्ये- वाणुपदायन्वे सिया नो चेचणं अणुवेसमाणे थेरे पासिज्जा त नो अप्पणा भु जेज्जा नो अन्नेसिं दावए एगंते अणावाए अचित्ते बहु तासाण धण्डिले पडिले हित्ता पमज्जित्ता परिट्ठावे सिया ”

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

अथ —

गृहस्थके घर पर मिश्राय गण हुए साधुको कोई गृहस्थ दो पिण्ड (लड्डू) लाकर देने और कहे कि “ हे आयु मन्त्र अमग ! इनमेंसे एक पिण्ड तो आप स्वयं खा लेना और दूसरा स्थविरको देना ” तो साधु उन दोनों पिण्डोंको लेकर स्वविरकी गयेपणा करे जहा स्थविरको दान वहा लाकर वह पिण्ड उमे दे देने । यदि दू दनेपर भी स्थविर न मिले तो वह पिण्ड साधु स्वयं न खाव और दूसरे किमी साधुको भी न देवे किन्तु एकान्त घट्ट प्राउक स्थानपर पूझ और पडि- लेहन करके परठ देव । यह हम पाठका अर्थ है ।

इसमे कहा है कि “ स्थविरको दानार्थ गृहस्थसे मिला हुआ पिण्ड, स्थविरके न मिलनेपर साधु किसी दूसरे साधुको न देवे ” तुम्हारे हिसानसे साधुको देनेमें भी पाप कदना चाहिये क्योंकि स्थविरको देनेके लिए मिला हुआ पिण्ड, किसी साधुको भी साधु नहीं देता । यदि कहे कि वह पिण्ड, साधुने स्थविरको देनेकी प्रवृत्तासे लिया है इसलिये उसे वह दूसरे साधुको नहीं देता लेकिन साधुको देनेमें पाप नहीं है तो इसी

तरह साधुने अपना और अपने सामोगिक साधुको खानेके लिये भिक्षा गृहस्थसे लेनी
दूमेरे क्रिमीको देनेके लिये नहीं इसलिये वह अपना भिक्षान्न किसी गृहस्थ या अन्य
तीर्थीको नहीं देता परन्तु गृहस्थ या अन्य तीर्थीको अनुकम्पा दान देना एकान्त पाप नहीं
है अतः गृहस्थ या अन्य तीर्थीको अनुकम्पा दान देनेमें एकान्त पाप कहना शास्त्र विद्वान्
समझना चाहिए ।

(बोल ३० वां समाप्त)

(प्रेरक)

साधुसे इतरको दान देनेसे पुण्यबन्धन होना यदि कहीं मूल पाठमें लिखा हो तो
उसे बतलाइए ?

(प्ररूपक)

साधुसे इतरको अनुकम्पा दान देना पुण्यका कार्य है यह, दश वैकालिक सूत्र
लिखा है वह गाथा यह है —

“ असणं पाणगंवापि खाइमं साइमं तथा
जं जाणिज्ज सुणिज्जावा पुणट्ठा पगडं इमं
तं भवे भत्तपाणं तु संजयाणं अकल्पियं
दित्थि पडियाइअखे नमे कप्पड तारिसं ”

(दशवैकालिक सूत्र अ० ५ उ० १ गाथा ४९-५०)

अथ —

भिक्षाचरीके निमत गया हुआ साधु, यदि यह जाने या छुने कि यह अन्न पान खाए
और स्वाद्य पुण्याथ बनाया गया है तो उसे अपने लिये अकल्पनीय समझे । वह अन्न यदि कोई
दने लगे तो साधु न लेने और पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न सुप्तको नहीं कल्पता यह कह देवे ।

इन गाथाओंमें साधुसे इतरको देनेके लिये बनाये हुए अन्नको “ पुण्याथ ” कहा
गया है । यदि साधुमें इतरको दान देनेसे एकान्त पाप होता तो इस पाठमें वह अन्न
“ पापार्थ प्रकृत ” कहा जाता अतः साधुसे इतरको दान देनेसे एकान्त पाप कहना
अज्ञानका परिणाम है । जिसके घरमें साधुसे इतरको देनेके लिये अन्न बनाया जाता है
टीकाकारने उसे शिष्ट कहा है । वह टीका यह है “ पुण्यार्थ प्रकृत परित्यागे शिष्ट कुलेषु
वस्तु तो भिक्षाया अप्रहणमेव शिष्टाना पुण्यार्थमेव पाक प्रवरो ”

टीकाकारने मूलके गूढ आशयको प्रकट करनेके लिये शक्य करते हुए यह लिखा
है कि “ पुण्यार्थ बनाया हुआ अन्न यदि साधु नहीं लेना तो फिर वह शिष्ट लोगोंके

प्रतिमि भिन्ना ले ही नहीं सकता क्योंकि शिष्ट लोगोकी पुण्यार्था ही पाठमें प्रवृत्ति होती है। इसका समाधान आगे दिया गया है लेकिन प्रकृतानुपयोगी होनेसे वह नहीं लिखा गया है। यहा टीकाकारने साधुसे इतरको दान देनेके लिये जिसके घरमें अन्न बनाया जाता है उसे शिष्ट कहा है एकान्त पापी नहीं कहा इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु इतरको दान दना एकान्त पाप नहीं है उसमें पुण्य भी होता है। अतः साधुसे इतर को दान हीन दुःखी जीवपर दया लाकर दान देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञानियोंका अर्थ समझना चाहिये ।

(बोल ३१)

(प्रेरक)

श्रावकोकी सेवा भक्ति और दान सम्मान करनेका विधान यदि कहीं मूल पाठमें किया हो तो उसे बतलाइये ।

(प्ररूपक)

भगवनी सूत्र श्लोक २ उद्देशा ५ के मूल पाठमें श्रावकोकी सेवा भक्ति करनेका स्पष्ट विधान किया है। वह पाठ अर्थके साथ लिखा जाता है ।

“ तत्कारुवेणं भन्ते ! समणं वा माहन वा पञ्जुवासमाणस्स किं फला पञ्जुवासणा ? णाण फले सेणं भन्ते ! णाणे किं फले विण्णाण फले सेणं भन्ते ! विण्णाणे किं फले पच्चक्खाणफले सेणं भन्ते ! पच्चक्खाणे किं फले सज्जम फले सेणं भन्ते ! सज्जमे किं फले अणहूणय फले एवं अणहूणए तवफले, तवेवोदारण फले, घोदाणो अकिरिया फले सेणं भन्ते ! अकिरिया किं फला सिद्धि पञ्जवसाण फला पणत्ता गोयमा ! ”

(भाग० श० २ उ० ५)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! तथा रूपके श्रमण (साधु) और माहन (श्रावक) की सेवा करनेका क्या फल है ?

(उत्तर) हे गोतम ! तथारूपके श्रमण और माहनकी सेवा करनेका शास्त्र श्रवण फल है। और शास्त्रके श्रवण करनेका पदार्थ ज्ञान फल है इसी तरह पदार्थ ज्ञानका

और दशविंशति धमका अनुष्ठान करना आदि भगवान्की आज्ञामें है परन्तु साधुके समान वेप बनाना निर्दाप आहार लेना भाण्डोपकरण रखना इत्यादि काय्य वीतरागका आज्ञामें नहीं है इन काय्यों को ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावक अपनी इच्छासे करता है अतः ११ वीं प्रतिमाधारीका साधुके समान वेप बनाना, भाण्डोपकरण रखना, और पाण्डोपकरण रखना आहार लेना यह सब एकान्त पापमें है धम या पुण्य नहीं है । इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

एग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकके लिये दशाश्रुत स्मृत्युक्त सूत्रमें साधुके समान वेप बनाना, धार्मिक भाण्डोपकरण रखना और पाण्डोपकरण रखनेके दिन सूझना आहार लेना, ये सब विधान किये गये हैं उस विधानके अनुसार ही एग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक साधुके समान वेप बनाता है, भाण्डोपकरण रखता है और पाण्डोपकरण रखनेके दिन सूझता आहार लेता है अतः ११ वीं प्रतिमाधारीके ये सब काय्य वीतरागकी आज्ञामें है अपनी इच्छासे नहीं है इसलिये इन काय्योंमें एकान्त पाप कहना मिथ्यावादियोंका कार्य्य है । सातवीं प्रतिमामें जो आरम्भका त्याग नहीं होता उसका दृष्टान्त देकर ११ वीं प्रतिमामें भाण्डोपकरण रखने आदिको आज्ञा बाहर कहना भी अज्ञान है क्योंकि सातवीं प्रतिमामें आरम्भ करनेका विधान शास्त्रमें नहीं किया गया है इसलिये सातवीं प्रतिमाधारीका आरम्भ करना अपनी इच्छासे है शास्त्रकी आज्ञासे नहीं परन्तु ११ वीं प्रतिमामें भाण्डोपकरण रखना, साधुके सदृश वेप बनाना और पाण्डोपकरण रखनेके दिन सूझना आहार लेना शास्त्रकी आज्ञानुसार है अपनी इच्छासे नहीं अतः यह सब आरम्भके समान एकान्त पापमें नहीं हैं । सातवीं प्रतिमामें “आरम्भे अपरिण्णाते भवति” यह पाठ आया है इसका अर्थ यह है कि “सातवीं प्रतिमाधारी आरम्भ नहीं छोड़ता कि तु आरम्भ करता है”, यह पाठ सातवीं प्रतिमाधारीको आरम्भ करनेका विधान नहीं करता किन्तु अनुवाद करता है । यदि विधान करता तो यहा यह कहा जाता कि “सातवीं प्रतिमामें श्रावकको आरम्भ करना चाहिये” अतः सातवीं प्रतिमाधारीका आरम्भ अपनी इच्छासे है शास्त्रकी आज्ञासे नहीं और वह आरम्भ पहले हो से उस श्रावकमें मौजूद है परन्तु ११ वीं प्रतिमामें साधुके समान वेप बनाना धार्मिक भाण्डोपकरण लेना पाण्डोपकरण रखनेके दिन सूझना आहार लेना यह सब शास्त्रमें विधान किये गये हैं और उस विधानके अनुसार ही ११ वीं प्रतिमाधारी इन सब काय्यों को करता है और ये सब वाते श्रावकमें पहलेसे मौजूद भी नहीं हैं किन्तु ११ वीं प्रतिमामें ही शास्त्रकी आज्ञा होनेसे नवीन स्वीकार की जाती हैं अतः आरम्भका दृष्टान्त देकर ११ वीं प्रतिमाधारी श्रावकके साधु तुल्य वेप बनाने, भाण्डोपकरण

करने, पारणके दिन सुझना आहार लेने आदिको पापमे बताना मिथ्यावादियों का कार्य है ।

(बोल ३६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १०९ के ऊपर लिखते हैं "तियारे कोई एक कह जो पहिमाधारीने दिया धर्म न हुवे तो दशाश्रुतस्कन्ध सूत्रमें इम क्यू नहो जे पहिमाधारी न्याती लारे घरे भिक्षाने अर्थ जाय तिहा पहिला वतरी दाळ अने पठे वतरया चावळ तो कल्पे पहिमाधारीने दाळ लेगी न कल्पे चावळ लेवा" इत्यादि लिख कर आगे लिखत हैं— "इम कहे तेहनो उत्तर ए कल्पनाम आज्ञानो नहीं छै ए कल्पनाम तो आचानो छै पहिमाधारीने जेहवो आचार कल्पतो हुन्तो ते वनायो पिण आज्ञा नहीं दी वी इम जो आज्ञा हुये तो अम्बडने अधिकारे पिण एहवो क्यो" इत्यादि लिख कर अम्बड सन्यासीके विषयमें आया हुआ पाठ लिख कर उसके दृष्टान्तसे ११ वीं प्रतिमाधारीक आचारको आज्ञा बाहर सिद्ध करनेकी चेष्टा की है । इमहा क्या समाधान ? (प्ररूपक)

अम्बड सन्यासी तथा दूसरे परिभ्राजकके अधिकारमे जो "कल्प" शब्द आया है वह परिभ्राजकोंके शास्त्रका कल्प है वीतरागकी आज्ञाका रूप नहीं है तथा वरग वाग न चूयाके अधिकारमें जो यह कहा है कि "जो मुझे पहिले वाग मारेगा उमीको मैं भी वाग मारूंगा" यह कल्प भी तीर्थकर की आज्ञाका नहीं किन्तु वरुग नागनचूया की इच्छाका रूप है परन्तु प्रतिमाधारीके अधिकारमे जो कल्प शब्द आया है वह तीर्थकरका विधान किया हुआ कल्प है प्रतिमाधारियोंकी इच्छाका कल्प नहीं है क्योंकि दशाश्रुत स्कन्ध सूत्रमें प्रतिमाधारीके कल्पका तीर्थकर और गणरोंमे विधान किया जना लिया है । वह पाठ यह है —

"सुधमे जाउसं ! तेणं भगववा एव मङ्गलाढं इह खलु धेरेहिं भगवन्तेहिं एगारस्स उवासग पडिमाओ पन्नत्ताओ"

अर्थात् हे आयुष्मन् ! स्थविर भगवन्तोंने तिम प्रकार धावकोंकी ११ प्रतिमाओंको हैं उपाय ताह तीर्थकरने भी कही है यह मने छना है ।

इस पाठमे ११ प्रकारकी प्रतिमाओंका आचार तीर्थकर और गणरोंसे कहा हुआ कहा है इमलिखे ११ वीं प्रतिमाधारीका कल्प तीर्थकर बोधित है अपनी इच्छाका कल्प

नहीं है अतः प्रतिमाधारीके रूपको ऐच्छिक कायम करके वीतरागकी आज्ञासे उसे वाह्यताना अज्ञानियोंका कार्य है ।

(बोल ३७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ११५ के ऊपर भगवती शतक ७ उद्देश १ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं “अथ इहा पिण सामा यकमें श्रावकरी आत्मा अधिकरण कही है । अधिकरण ते छ कायरो शस्त्र जाणवो ते माटे सामायक पोषामें तेहनी काया शस्त्र छै । ते शस्त्र तीग्या क्रिया धर्म नहीं । वली ठाणाङ्ग ठाणे दश अत्रतने भाज शस्त्र कखो छै ते सामायकमे पिण वस्त्र गोहणा पूजनी आदिक उपकरण अने काया ए सर्व अग्रत छै तेहना यत्र क्रिया धर्म नहीं” इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देश १ में जैसे श्रावककी आत्मा अधिकरण कही है उमी तरह भगवती सूत्र शतक १६ उद्देश १ में साधुकी आत्मा भी अधिकरणी कही गई है वह पाठ यह है —

“जीवेणं भन्ते ! आहारग सरीरं निवृत्तिण्माणे किं अधिकरणी अधिकरणं वा पुच्छा ? गोयमा ! अधिकरणीवि अधिकरणं वि । सेकेणद्वेणं जाव अधिकरणंवि । गोयमा ! पमादं पडुच्च सेतेणद्वेणं जाव अधिकरणंवि”

अर्थ —

(भगवती शतक १६ उ० १)

(प्रश्न) हे भगवन् ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव, क्या अधिकरणी होता है या अधिकरण होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी होता है ।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गोतम ! आहारक शरीरको उत्पन्न करता हुआ जीव, प्रमादकी अपेक्षा से अधिकरणी भी होता है और अधिकरण भी होता है ।

इस मूलपाठमें प्रमादी साधुकी आत्माको प्रमादकी अपेक्षासे अधिकरण, और अधिकरणी कहा है और इस पाठकी दोकामें भी यही बात कही है वह टीका यह है —

“इहाहारकशरीर सयमवनामेव भवति तत्र चाविस्तेरभात्रेऽपि प्रमादादधिकरणत्व मवसेयम्”

अर्थात् आहारक शरीर संयमधारीका ही होता है उस संयमधारीमे यद्यपि अविस्ति नहीं है तथापि प्रमादके कारण उसे अधिकरग समझना चाहिये । तथा ठाणाङ्ग सूत्रके दशमं ठाणोमे अकुशल मन वचन और कायको भाव शस्त्र कहा है और प्रमादकी हालतमें प्रमादी साधुके भी मन वचन और काय अकुशल होते हैं । तथा भगवती शतक १ उद्देशा १ में प्रमादी साधुको आत्मारम्भी परारम्भी और तदुभयारम्भी कहा है वह पाठ यह है —

“तत्त्यगं जेतो पमत्त संजया ते सुहृजोगं पडुच्च णो आयारंभा णो परारंभा णो तदुभयारंभा अणारंभा चे व अस्तुभजोगं पडुच्च आया-
रंभावि परारंभावि तदुभयारंभावि णो अणारंभा”

(भगवती शतक १ उद्देशा १)

अर्थ —

प्रमादी साधु, शुभयोगकी अपेक्षासे आत्मारभी परारभी और तदुभयारभी नहीं है किन्तु परारभी है परन्तु अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारभी परारभी और तदुभयारभी है अन्तर्मा नहीं है ।

इस पाठमें प्रमादी साधुको अशुभ योगकी अपेक्षासे आत्मारभी परारभी और तदुभयारभी कहा है और पूर्वलिखित भगवतीके पाठमें प्रमादी साधुकी आत्माको अधिकरग कहा है एवं ठाणाङ्ग सूत्रके दशमं ठाणोमे दुष्प्रयुक्त मन वचन और कायको भाव शस्त्र कहा है अतः प्रमादी साधुको अन्नादि दान देना भी भ्रमत्रिध्वसनकारके हिसाबसे शस्त्रको ही तीरसा करना चाहिये धर्म या पुण्य नहीं । यदि कहो कि “प्रमादी साधुको उसके प्रमादकी चृद्धिके लिये दान नहीं दिया जाता किन्तु उसके ज्ञान दर्शन और चारित्रकी उत्कर्षके लिये दिया जाता है इसलिये प्रमादी साधुको दान देना शस्त्रको तीरसा करना नहीं है” तो उसी तरह यह भी समझो कि श्रावकको उसका दोषोंकी चृद्धिके लिये आहारादि नहीं दिया जाता उसके प्रतकी पुष्टिके लिये दिया जाता है अतः श्रावकको प्रव्र पुण्यार्थ दान देना भी एकान्त पाप या शस्त्रको तीरसा करना नहीं है । इसे एकान्त पाप या शस्त्रको तीरसा करना घतलाने वाले मिथ्यावादी हैं ।

सामायक और पोषाके समय श्रावक, अपन धर्मका पालन करनेके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरण रखने हैं उन उपकरणोंको एकान्त पापमें जनाना पापियोका कर्षण है । बिना पूजे पोषोपवाम करनेसे श्रावकको अतिचार होना उपामक दशाग सूत्रके

मूलश्लोके कहा है अतः अपने अतिचारकी निवृत्ति और जीव रक्षाके लिये श्रावण पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं किसी दूसरे आरम्भादिक कार्योंके लिये नहीं।

उपामक दशाग सूत्रका वह मूलपाठ यह है —

“तयाणं तरं चणं पोसहोववासस्त समणोवासणं पत्र अह्याता जाणिपच्चा न समायरियच्चा तंजहा—अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय सिज्जा संत्थारे, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय सिज्जा संत्थारे, अप्पडिलेहिय दुप्पडिलेहिय उच्चार पासवण भूमि, अप्पमज्जिय दुप्पमज्जिय उच्चारपासवण भूमि पोसहोववासस्त सम अणणुपालना”

(उपामक दशाग सूत्र)

अर्थ —

श्रमणोपासकको पौषवोपवास व्रतके पाच अतिचार जानने चाहिये और उनका आचरण न करना चाहिये ये अतिचार ये हैं —(१) श्रावण संथाराका प्रतिलेखन न करना, या ठीक ठीक प्रति लेखन न करना (२) श्रावण संथाराको पूजनी आदिते न पूजना, अथवा अच्छी तरहसे न पूजना। (३) उचार पासवण भूमिका प्रतिलेखन नहीं करना, अथवा अच्छी तरहसे प्रतिलेखन नहीं करना। (४) उचार पासवण भूमिको पूजनी आदिते न पूजना, अथवा अच्छी तरहसे न पूजना। (५) पौषवोपवास व्रतका विधिवत् पालन नहीं करना।

ये पाच पौषवोपवास व्रतके अतिचार हैं इन अतिचारोंको वर्जित करना आवश्यक है अतः श्रावण, पौषवोपवासके समय पूजनेके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं। यदि पौषवोपवासमें श्रावण पूजनी न रखे तो श्रावण संथारा और उचार पासवण भूमिका पूजन नहीं हो सकता और उनका पूजन हुए बिना श्रावणके व्रतमें अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये श्रावण पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं अतः श्रावणके पूजनी आदि धर्मोपकरणको एकान्त पापमें स्थापन करना अज्ञानियोंका कार्य है। ११ वीं प्रतिमासगी श्रावण, जो मुत्त वस्त्रिका, ओवा पत्रादि धर्मोपकरण रखते हैं वह भी अपने व्रतका पालन करनेके लिये रखते हैं किसी दूसरे स्वार्थसे नहीं अतः उनका ओवा पत्रादि धर्मोपकरण रखना धर्मका उपकारक और उनके व्रतका अङ्गभूत है उसे एकान्त पापमें कायम करना अज्ञानका परिणाम है।

दशाश्रुत रत्न सूत्रके मूलश्लोके एग्याह्वीं पडिमासारी श्रावणको सभी धर्मोपकरणोंके रखनेका विधान किया है वह पाठ यह है —

“लु चसिरण गहित्तायाग भडगनेवत्था जारिसे समणाण निग्गथाण धम्मं तं धम्मं कादग फासे माणे पाळे माणे” अर्थात् एग्याह्वीं प्रतिमासारी श्रावणको शिरका लोच

करके सुख वस्त्रिका आदि सभी धर्मोपकरण साधुके आचार पालनार्थ रखने चाहिये और साधुके तुल्य वेप घना कर भ्रमण निग्रन्थोंके धमका शरीरमे स्पर्श और पालन करते हुए विचरना चाहिये ।

इस पाठमें ११ वीं प्रतिमाधारीको साधुके तुल्य आचार पालनार्थ धर्मोपकरण रखनेका विधान किया है और पौषधोपवासमे अतिचारको हटानेके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरणोंकी आवश्यकता होती है अतः श्रावकके धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमे स्थापन करना किन्तनी विशाल मूर्त्ति है यह बुद्धिमान जीव स्वयं समझ सकते हैं ।

(बोल ३८ वां)

(प्रेरक)

धर्मविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ११५ के ऊपर लिखत है "ए पूजणी आदिक सामायकमें राखे त अत्रतमें छै एतो सामायकमे शरीरनी रक्षा निमित्तो पूजणी आदिक उपधि राखे छै ते पिण आपरी कचाई छै परधर्म नहीं ते किम जे पूजनी आदिक न राखे तो काया स्थिर राखणी पडे अने कायास्थिर राखनेरी शक्ति नहीं मच्छरादिक ना फस समणी आवे नहीं ते माटे पूजनी आदिक राखे मच्छरादिक पूजी खाज करे ए तो शरीरनी रक्षा निमित्तो पूजे धर्म हेतु नहीं जो पूजणी बिना दया न पले तो अढाई द्वीप वार असत्याता तिर्य्यञ्च श्रावक छै सामायक व्रत पाळे छै त्यारे पूजणी दीसे नहीं जे दयार अर्थ पूजणी राखणी फहे त्यारे लेखे अढाई द्वीप वारे श्रावकार दया किम पले"

इसका क्या समाधान ?

(अ० पृ० ११५-११६)

(प्ररूपक)

पौष व्रत करता हुआ श्रावक, अपने शरीरकी रक्षाके लिये नहीं किन्तु उपासक श्रावक सूत्रक पूर्वाक्त मूल पाठानुसार पूजन किये बिना होने वाले अतिचारको दूर करने के लिये पूजनी आदि धर्मोपकरण रखता है । अतः पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको शरीर रक्षाका साधन कायम करके उन्हें अग्रनमे या एकान्त पापमे स्थापन करना मिथ्या है ।

पूजनी अपनी शरीर रक्षाका कोई प्रधान साधन नहीं है इसके बिना भी शरीर रक्षा हो सकती है परन्तु इसके बिना पूजन नहीं किया जा सकता और पूजन किये बिना श्रावकके व्रतमे अतिचार होता है उसकी निवृत्तिकलिये पूजन रखना श्रावकके लिये आवश्यक होता है । जो लोग पूजनीको शरीर रक्षाका साधन मान कर पौष व्रत करते नभय शरीर श्रावक उसका ग्रहण किया जाना घतलाते हैं उनको मतमें पागल बुद्धि आदि ने शरीर रक्षा करनेके लिये श्रावकको एक ढंढा भी रखना चाहिये तथा दूसर दूसर

साधन भी रखने चाहिये अतः पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको अपनी शरीर रक्षाका साधन बनाना मिथ्या है पूजनी आदि धर्मोपकरणोंके बिना जीवोंकी दया नहीं पायी सकती है इस लिये जीव रक्षार्थ श्रावक पूजनी रखते हैं । इस विषयमें जीतमल्लकी अट्टई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च श्रावकोंका दृष्टान्त देकर पूजनी रखनेकी भी जीव दयाका पालन हो सकता कहा है, वह मिथ्या है । अट्टई द्वीपसे बाहर रहनेवाले तिर्य्यञ्च श्रावक, मनुष्य श्रावककी तरह श्रावकोंके वारह व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हैं यह बात असम्भव है क्योंकि मनुष्य श्रावकोंकी तरह शरीरसे बाह्य व्रतोंका स्पर्श और पालन करनेकी उनमें योग्यता नहीं है और शास्त्रमें भी कहीं यह नहीं कहा है कि “तिर्य्यञ्च श्रावक मनुष्य श्रावककी तरह श्रावकोंके वारह व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हैं” अतः अट्टई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च श्रावक, कई व्रतोंमें श्रद्धा मात्र रखनेसे वारह व्रतधारी माने जाते हैं शरीरसे स्पर्श और पालन करनेसे नहीं अतएव ज्ञाता सूत्रमें नन्दन मनिहारका जीव, मेढक भवमें वारह व्रत धारी कहा गया है । यदि मनुष्य श्रावकोंकी तरह वारह व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करनेसे तिर्य्यञ्च श्रावक वारह व्रत धारी होते तो नन्दन मनिहार का जीव मेढक भवमें कदापि वारह व्रतधारी नहीं कहा जाता क्योंकि मेढक योनिके जीवमें मुनिको ज्ञान देने रूप वारहवें व्रतका शरीरसे स्पर्श करनेकी योग्यता नहीं है तथा मेढक योनिके जीवमें, आहारको सचित्त पदार्थ पर रखने और सचित्तसे ढकने पर जो अतिचार आता है उसका हटानेकी योग्यता भी नहीं है अतः तिर्य्यञ्च श्रावक कई व्रतोंमें श्रद्धा मात्र रखनेसे वारह व्रत धारी माने जाते हैं मनुष्य श्रावककी तरह सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श करनेसे नहीं । अट्टई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च श्रावक, मनुष्य श्रावककी तरह पौष्य व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन करते हैं इसमें कोई प्रमाण नहीं है तथा कहीं मूल पाठमें भी यह नहीं कहा है कि “अमुक तिर्य्यञ्च श्रावकने पौष्य व्रतका शरीरसे स्पर्श और पालन किया था” अतः तिर्य्यञ्च श्रावकोंके पास पूजनी आदि धर्मोपकरण नहीं होने पर भी कोई क्षति नहीं है लेकिन मनुष्य श्रावक तो सभी व्रतोंका शरीरसे स्पर्श और पालन करता है इस लिये उसके पास पौष्य व्रतमें होने वाले अतिचारकी निवृत्तिके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरणोंकी अत्यन्त आवश्यकता है । उनके निता पौष्य व्रतका अतिचार जो कि पूजे निता होता है नहीं टल सकता अतः मनुष्य श्रावकोंके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंकी अपने शरीर रक्षाका साधन मान कर उन्हें अन्नमें फायस करना अज्ञानियोंका कार्य है । पूजनी आदि धर्मोपकरण व्रतके उपकारक और धर्मके अङ्ग हैं अतः उन्हें पापका साधन मानना मिथ्या है ।

जो लोग श्रावकोंके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको शरीर रक्षाका साधन मानते उनसे कहना चाहिये कि प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि धर्मोपकरणोंको भी तुम उनके शरीर रक्षाका साधन क्यों नहीं मानते ? यदि वे प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि धर्मोपकरणोंको भी उनके शरीर रक्षाका साधन मानें तो फिर उनके मतमें प्रमादी साधुके ओघा पात्रादि उपकरण भी एकान्त पाप तथा अत्रतमें ही ठहरते हैं क्योंकि भगवतीजीके मूल पाठमें प्रमादी साधुको आत्मार्थभी परारभी और तदुभयारभी कहा है तथा प्रमादी साधुको आत्मा अधिकारग कही गई है इस लिये प्रमादी साधुके ओघा पात्रादिक भी तुम्हारे मतमें एकान्त पापमें ही ठहरते हैं । यदि कडो कि प्रमादी साधु, ओघा पात्रादि उपकरण प्रमाद सेवन और अपने शरीर रक्षाके लिये नहीं किन्तु जीव रक्षा आदि धर्मकी पालन करनेके लिये रखते हैं अतः उनके धर्मोपकरण एकान्त पाप में नहीं हैं तो उसी तरह यह भा समझो कि श्रावक, पौपत्र व्रतमें होने वाले अतिचारकी निवृत्ति और जीव रक्षाके लिये पूजनी आदि धर्मोपकरण रखते हैं अपने दोषोंकी वृद्धि तथा और किसी स्वार्थमें नहीं रखते अतः श्रावकके पूजनी आदि धर्मोपकरणोंको एकान्त पाप और अत्रतमें कायम करना अज्ञान है ।

यह बात दूसरी है कि साधु यदि धर्मोपकरणों पर मूर्च्छा ममता रखे और अल्पन पूर्वक उनका व्यवहार करे तो उसको परिग्रह तथा आरम्भ दोष लगता है तथा श्रावक धर्मोपकरणोंपर मूर्च्छा ममता रखे और अयत्न पूर्वक उनका व्यवहार करे तो उसको भी परिग्रह और आरम्भ होता है परन्तु यत्र पूर्वक उपकरणोंका व्यवहार करने और उनमें ममता मूर्च्छा नहीं रखने पर, वे उपकरण धर्मके सहायक हैं आरम्भ तथा परिग्रहके हेतु नहीं हैं अतः उन्हें पापमें बताना मिथ्या है ।

(बोल ३९)

(प्रेरक)

धमविश्रंसनकार धमविश्रंसन पृष्ठ ११७ के ऊपर टाणाङ्ग सूत्र टाणा ४ उद्देश्य १ के मूल पाठका उद्धरण देकर लिखते हैं "अथ इहा चार व्यापार कथा मन, वचन, काया, उपकरण, ये चारु व्यापार सन्निपन्नेन्द्रिय रे कथा ये चारु भुडा व्यापार पिण १६ दण्डक मन्नीपन्नेन्द्रिय रे कथा अने ए चारु भला व्यापार तो एक सयति मनुष्यने इज कथा पिग और ने न कथा तो जीवोनी साधुरा उपकरण तो भला व्यापार में धाल्या अने श्रावकरा पूजनी आदि उपकरण भला व्यापारमें न धाल्या ते माटे पूजनी आदिक श्रावक रखे ते सावय योग छै (अ० पृ० ११७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है। वह पा
यह है —

“चउच्चिह्ये पणिहाणे मन पणिहाणे वय पणिहाणे कोय पणि
हाणे उचगरण पणिहाणे । एव नेरह्याणं जाव वेमाणियाणं । चउच्चिह्ये
सुप्पणिहाणे पणत्ते तंजहा मन सुप्पडिहाणे जाव उपकरण सुपणि
हाणे एवं संजय मणुस्साणवि । चउच्चिह्ये दुप्पणिहाणे पं० तं० मन
दुप्पडिहाणे जाव उचगरण । एवं पञ्चेन्द्रियाणं जाव वेमाणियाणं”

(ठाणाङ्ग ठाणा ४ उद्देश १)

(टीका)

“प्रणिधान प्रयोग तत्र मनस प्रणिधानम् आतरोद्ग धर्मादि रूपतया प्रयोगो मन
प्रणिधानम् । एव वाक्यायोरपि उपकरणस्य लौकिक लोकोत्तररूपस्य वस्त्र पात्रादे
सयमा सयमो पकाराय प्रणिधान प्रयोग उपकरण प्रणिधानम् । एवमिति तथा सामान्य
स्तथा नैरधिक्राणामिति । तथा चतुर्विंशति दण्डक पठिताना मध्ये ये पञ्चेन्द्रियास्तेषा
मपि वैमानिकान्ताना मेवेति । एकेन्द्रियादीना मन प्रभृतीनाम सभवेन प्रणिधाना संभ-
वात् । प्रणिधान विशेष सुप्रणिधान दुष्प्रणिधानञ्चेति तत्सूत्राणि । शोभन सयमार्थत्वा
त्प्रणिधान मन प्रभृतीना प्रयोजन सुप्रणिधानमिति । इदञ्च सुप्रणिधान चतुर्विंशति
दण्डक निरूपणाया मनुष्याणा तत्रापि सयतानामेव भवति चारित्रपरिणतिरूपत्वात्सु
प्रणिधानस्येत्याह “एवं सज्जण” इत्यादि, दुष्प्रणिधान सूत्र सामान्य सूत्रवन् नवर दुष्प्र
णिधानम् असयमार्थं मन प्रभृतीना प्रयोग इति”

अथ —

प्रयोग कलेका नाम “प्रणिधान” है । आर्त रौद्र और धर्म आदि ध्यान करना “मन
प्रणिधान” कहलाता है । इसी तरह घबन और शरीरके प्रयोगको क्रमश घबन प्रणिधान और
काय प्रणिधान कहते हैं । उपकरण नाम वस्त्र पात्र आदिका है वह दो तरहका होता है लौकिक
और लोकोत्तर, उनका सयम और असयमके लिये प्रयोग करना उपकरण प्रणिधान कहलाता है ।
ये चारों प्रणिधान नारकि पञ्चेन्द्रियसे लेकर यावत् वैमानिक देव तकके प्राणियोंमें होते हैं ।
पञ्चेन्द्रिय आदि जो जो मनोविकृत हैं उनमें उक्त चतुर्विंश व्यापार नहीं होते । प्रणिधान विशेष
को सुप्रणिधान और दुष्प्रणिधान कहते हैं । मन, घबन काय और उपकरणका प्रयोग जो सयम
पात्रार्थ किया जाता है वह सुप्रणिधान है । यह सुप्रणिधान, चतुर्विंशति दण्डकके जीवोंमें केवल

व्यपारो जीवना हो होता है क्योंकि सुप्रणिधान चारित्र्य परिणाम स्वरूप है। हमी तरह समयके त्रिभुज मन ध्यान काय और उपकरणका प्रयोग किया जाता है यह दुष्प्रणिधान कहा जाता है यह एचेन्द्रियसे लेकर पमानिक देव पद्यन्तरे जीवोंको होता है। यह ऊपर लिखे मूल सूत्रका टीकानुसार जय है।

यहां मन, वचन, काय और उपकरणका सुप्रणिधान समयधारी जीवोंका होना कहा है इस लिये वेगसे समय पालन करने वाले श्रावकोंका देश समय पालनके लिये मन, वचन, काय और उपकरणोंका जो प्रयोग होता है वह भी सुप्रणिधान ही है दुष्प्रणिधान नहीं अतः इस पाठका नाम लेकर श्रावकोंके मन, वचन, काय और उपकरणोंके सभी व्यापारोंको दुष्प्रणिधान जानलाना मिथ्या है। उक्त मूल पाठ और उसकी टीकामें जो समय पुण्योंका सुप्रणिधान होना कहा है वहां समय पदसे देश समय (श्रावक) और सर्वमयन (साधु) दोनोंका ही ग्रहण है केवल सर्व समय का ही ग्रहण नहीं अतः श्रावक, अपने देश समयका पालन करनेके लिये जो मनसे धर्मध्यान, वचनमें अरिहन्त मित्र और साधुमाका गुणानुवाद, शरीरसे साधुओंका मान सन्मान, सेवा सुश्रूपा और उपकरणोंसे जीव रक्षा आदि शुभ व्यापार करता है यह सब व्यापार सुप्रणिधान ही है दुष्प्रणिधान नहीं।

जो लोग उक्त चारों ही सुप्रणिधान एक मात्र साधुओंका ही होता मान कर श्रावकके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान मानते हैं उनसे कहना चाहिये कि श्रावक जो मनसे धर्म ध्यान और वचनसे अरिहन्त सिद्ध और साधुओंका गुणानुवाद और कायसे साधुको दान मन्मान सेवा सुश्रूपा आदि व्यापार करता है उसे भी आप दुष्प्रणिधान ही क्यों नहीं मानते ? यदि कहो कि ये सब व्यापार समय पालनके लिये किये जाते हैं इस लिये ये दुष्प्रणिधान नहीं हैं तो उसी तरह समय पालनके लिये जो श्रावक उपकरणका व्यापार करते हैं वह भी दुष्प्रणिधान नहीं किन्तु सुप्रणिधान ही है यदि उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान कहे तो उसके पूर्वोक्त मन, वचन और कायके व्यापारोंको भी दुष्प्रणिधान ही कहना होगा परन्तु जैसे श्रावकका मन वचन और कायके पूर्वोक्त व्यापार सुप्रणिधान नहीं हैं उसी तरह समय पालनार्थ उपकरणका व्यापार भी दुष्प्रणिधान नहीं है अतः ठाण्णाद् सूत्रके इस पाठका नाम लेकर श्रावकके पूजनों आदि धर्मापकरणोंके व्यापारको एकान्त पापमें स्थापन करना सूत्रार्थ न जाननेका फल समझना चाहिये।

यदि कोई कहे कि 'श्रावकोंके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार यदि सुप्रणिधान हैं तो इस पाठमें मनुष्य सयत्तियोंके ही एक चतुर्विध सुप्रणिधान क्यों कहे

गये हैं तिर्य्यञ्च श्रावकोंके भी कहने चाहिये ?” तो इसका उत्तर यह है कि तिर्य्यञ्च श्रावकोंके पास धार्मिक उपकरण नहीं होते और धार्मिक उपकरणके न होनेके कारण सुप्रणिधान उनमें असम्भव है इस लिये तिर्य्यञ्च श्रावकोंके चतुर्विध सुप्रणिधान नहीं कहे गये हैं । यद्यपि तिर्य्यञ्च श्रावकोंके भी मन वचन और कायके व्यापार होते हैं तथापि उपकरणके व्यापार न होनेसे तिर्य्यञ्च श्रावकोंका यहा कथन नहीं है । यह ठाणाङ्ग सूत्रका चौथा ठाणा है इस लिये जिसके चारों व्यापार यानी मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार सुप्रणिधान होते हैं उन्हींका यहा कथन है ।

उक्त चारों सुप्रणिधान मनुष्य श्रावक और साधुओंके ही होते हैं श्रावकोंके नहीं होते अतः इस पाठमें मनुष्य संयतियोंके ही चतुर्विध सुप्रणिधान कहे गये हैं तिर्य्यञ्च श्रावकोंके नहीं । अतः इस पाठका नाम लेकर श्रावकके पूजनीय धर्मोपकरणोंको एकान्त पापमें स्थापन करना अज्ञानका परिणाम है ।

यदि कोई कहे कि “श्रावक असंयम पालनके लिये भी मन, वचन, काय और उपकरणोंका प्रयोग करते हैं फिर उनके ये व्यापार भी सुप्रणिधान क्यों नहीं मानते ?” तो इसका उत्तर यह है कि श्रावक संयम पालनके लिये जो मन वचन काय और उपकरणका व्यापार करते हैं उन्हीं व्यापारोंकी अपेक्षासे वे देश संयति माने जाते हैं असंयम सेवनके लिये जो उक्त चतुर्विध व्यापार करते हैं उनकी अपेक्षा से नहीं इस लिये उक्त चतुर्विध व्यापार जो संयम पालनार्थ होते हैं वे ही सुप्रणिधान हैं दूसरे व्यापार नहीं । असंयमके उपकारार्थ जो श्रावकके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार होते हैं उनकी अपेक्षामें श्रावक असंयत माना जाता है और संयम पालनार्थ जो उक्त चतुर्विध व्यापार होते हैं उनकी अपेक्षासे वह संयत समझा जाता है अतएव शास्त्रमें श्रावकको “संयता संयत” कहा है । “संयता संयत” वही है जो देशसे संयम धारी है और जिसके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार देशसे संयमोपकारी हैं । अतः संयमका उपकरणके लिये जो श्रावकोंके मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार होते हैं वे सुप्रणिधान हैं और असंयम पालनार्थ जो उनके उक्त चतुर्विध व्यापार होते हैं दुष्प्रणिधान हैं परन्तु भ्रम विध्वंसन कार सामायक और पोषामें बैठे हुए श्रावकके मन वचन और कायके व्यापारको तो सुप्रणिधान और उसके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान कहते हैं यह इनका एकान्त व्यामोह है । सामायक और पोषामें बैठे हुए श्रावकोंके उपकरणोंका व्यापार यदि दुष्प्रणिधान है तो उसके मन वचन और कायके व्यापार कैसे सुप्रणिधान हो सकते हैं ? और मन वचन तथा कायके व्यापार यदि सुप्रणिधान हैं तो उसका उपकरणका व्यापार कैसे दुष्प्रणिधान हो सकता है ? अतः सामा

और पोषामें बैठे हुए श्रावकके मन वचन और कायके व्यापारको सुप्रणिधान और उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान बताना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये ।

ठाणाङ्ग सूत्रके उक्त मूल पाठमें मन, वचन, काय और उपकरणके व्यापार, कि मुन्युक्तके सुप्रणिधान कहे गये हैं वहा रायति पदसे जीतमलजीने केवल साधुओं ही ग्रहण होना माना है देश रायति श्रावकोंका नहीं । ऐसी दृशामें इनके मतानुसार श्रावक और पोषामें बैठे हुए श्रावकोंके मन वचन और कायके व्यापार भी सुप्रणिधान नहीं कायम हो सकने क्योंकि मन वचन और कायके व्यापार भी उक्त पाठमें कियेके ही सुप्रणिधान कहे गये हैं दूसरोंके नहीं । यदि उक्त मूल पाठमें "रायत" पदसे देश रायति श्रावकका भी ग्रहण मान कर उमके भी मन वचन और कायके व्यापार सुप्रणिधान मानने हो तो फिर उसके उपकरणके व्यापारको भी सुप्रणिधान मानना पड़ेगा अतः ठाणाङ्गके उक्त मूल पाठ का नाम लेकर सामायक और पोषामें बैठे हुए श्रावकके मन वचन और कायके व्यापारको सुप्रणिधान और उसके उपकरणके व्यापारको दुष्प्रणिधान मानना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ४० वां)

इति दानाधिकारः समाप्तः ।



अथ अनुकम्पाधिकारः

बहुत लोग अहिंसा धर्मका रहस्य नहीं समझते । ऐसे अज्ञानी अनुकम्पाधिकार की व्याख्या भी अजीब तरहसे करते हैं । उनके मनसे जो मनुष्य जीवोंको मारता है वह हिंसा करता और एकान्त पापी होता है । जो नहीं मारता वह अहिंसा धर्मका पालन करता है वह धार्मिक है । लेकिन जो हिंसकको उपदेश देकर उसे हिंसा कर्मसे रोक्ता है और प्राणीकी प्राण रक्षा करता है वह भी अधर्म करता है । जैसे भ्रमविध्वसन का भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२० पर लिखते हैं, “श्री तीर्थं च द्रव्यं पिण पोतानां कर्मं चपात्ता तथा अनेराने तारिवाणे अर्थे उपदेश दत्ते इमं कश्चिच्छेदं पिण जीव वंचना उपदेश दत्तं कश्चिच्छेदं नही” इत्यादि । अनुकम्पाकी ढालमें भीषणजीने इमसे भी अधिक बढ़ कर कहा है “कईक अज्ञानी इम कहे छ कायारा काजे हो देना धर्म उपदेश । एकरुन जीवने सम झाविथा मिट जाये हो घगा जीवारा क्लेश । छ कायारे घरे शान्ति हुवे एइवा भाषे हो अन्य तीर्थी धर्म । त्याभेद न पायो जिन धर्मगे त तो भूलया हो उदय आया अशुभ कर्म । मत मार कहे उगरो गगीरे तीजे करणे हिंसा लागी रे”

“अर्थात् “कुछ लोग कहत हैं कि उ छ कायके जीवोक घरोमे शान्ति होनेके लिये धर्मका उपदेश देते हैं, क्योंकि एक जीवको समझा देनेसे बहुत जीवोंका क्लेश मिट जाता है । लेकिन छ कायके जीवोक घरोमे शान्ति होनेके लिये उपदेश देना, अन्य तीर्थी लोगोका धर्म बनलाता है जैन धर्म नहीं बनलाता इम लिये छ कायके जीवों के घरोमें शान्ति होनेके लिये उपदेश देन वाले जैन धर्मक रहस्यज्ञो नहीं जानते वे मूले हुए हैं और उनको अशुभ कर्मका उदय हुआ है ।

जो मनुष्य हिंसकके हाथसे मतमार कह कर जीवकी रक्षा करता है वह तीसरे करणसे हिंसका पाप करता है ।”

भीषणजीने और भी कहा है “मति मारगरो कश्चो नहीं तेतो सावज जाणी वायरे” लेकिन ‘मतमार’ ऐसा कहके प्राण रक्षा करना कभी साध्य नहीं है । कोई भी जैन धर्मके तत्वको जानने वाला इसका अनुमोदन नहीं कर सकता । ऐसे ही अनर्गल उपदेश देकर लोगोंने जैन जगतमें भ्रम फैलाया है । जहा उपदेश द्वारा मरते प्राणीकी रक्षा करना एकान्त पाप है, वहा और किसी उपायसे बैसा करना तो और भी गहरा होगा अर्थात् उसके तो एकान्त पाप होनेमें कोई सन्देह ही नहीं है ।

भ्रमविध्वंसनकारने अपने मतकी पुष्टिमें कुछ दृष्टान्त भी दे डाले हैं, जैसे “एक मनुष्य झूठ बोलता है और दूसरा झूठ नहीं बोलता और तीसरा सत्य बोलता है। इनमें जो झूठ बोलता है वह एकान्त पापी है और जो झूठ नहीं बोलता है वह एकान्त धार्मिक है। तथा जो सत्य बोलता है उसके दो भेद हैं। एक साजग सत्य बोलता है और दूसरा निरवय सत्य बोलता है। इनमें जो साजग सत्य बोलता है वह एकान्त पाप करता है और जो निरवय सत्य बोलता है वह वर्म करता है। यह तो दृष्टान्त हुआ इसका दार्ष्टान्त जीतमलजी यह देते हैं—“एक मनुष्य हिंसा करता है और दूसरा हिंसा नहीं करता और तीसरा रग करता है। इनमें जो हिंसा करता है वह एकान्त पापी है और जो हिंसा नहीं करता है वह एकान्त धार्मिक है। तथा जो जीवरक्षा करता है उसके दो भेद हैं। एक हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये न मारनेका उपदेश करता है और दूसरा हिंसक हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये न मारनेका उपदेश देता है। इनमें जो हिंसकको हिंसा का पाप छुड़ानेके लिये न मारनेका उपदेश देता है वह तो धार्मिक है और जो हिंसकके हाथसे मारे जानेवाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये न मारनेका उपदेश देता है वह एकान्त पाप करता है क्योंकि मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है” यह जीतमलजी का मत है। इस मतकी पुष्टिने लिये पूर्वाक्त दृष्टांतके सिवाय यह और भी दृष्टान्त देते हैं जैसे—चोरी करनेवालेको साधु धनीके मालकी रक्षाके लिये चोरी न करनेका उपदेश नहीं देते किन्तु चोरको चोरीके पापसे उचानेके लिए उपदेश देते हैं उसी तरह साधु, कसाईके हाथसे मारे जानेवाले मरते की प्राणरक्षाके लिये न मारनेका उपदेश नहीं देते किन्तु कसाईको हिंसाके पापसे बचाने के लिये उपदेश देते हैं इत्यादि भ्रमोत्पादक बातें लिख कर जीतमलजीने जैन धर्मके प्राणभूत रक्षा धर्मका समूल नाश करनेकी चेष्टा की है परन्तु इनकी ये सब बातें निराधार और शास्त्रमें विरुद्ध हैं। कसाईके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियों की प्राणरक्षानेके लिये अपना दाना मात्र सत्यकी तरह एकान्त पाप नहीं है किन्तु यह धर्म कार्य है। मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करना जैन धर्मका स्वाम उद्देश्य है सब पुष्टिये तो प्राणियोंकी प्राणरक्षा के लिये ही जैनागमका निर्माण हुआ है। प्रश्न व्याकरण सूत्र प्रथम स्वर द्वयमें यह पाठ आया है “सर्व्व जग जीव रक्त्सग द्यकृत्याण पावयण भगवया सुकृद्दिय” अर्थात् “संसारके सभी जीवोंकी रक्षारूप दयाने लिये भगवान् तीर्थङ्करसे प्रयत्न (जैनागम) कहा गया है” यदि हिंसकके हाथसे मार जाने वाले जीवोंकी रक्षा करनेके लिए उपदेश देना, एकान्त पाप होता तो इस पाठमें संसारके सभी जीवोंकी रक्षा रूप दयाने लिये जैनागमका अर्थन होता क्यों कहा जाता ? अतः जीवरक्षानेके उद्देश्यसे उपदेश देनेको एकान्त पाप और इसे अन्य तीर्थी का धर्म बताना शस्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

धम्म माइक्खेज्जा बहु गुणतर फलं होज्जा तेसिंच वहुणं समण माहन भिक्खुयाणं । तंजइणं देवाणुप्पिया ! पएसिस्स वहुगुणतरं होज्जा सव्वस्सवि जणवयस्स”

(राजप्रवृत्तीय सूत्र)

अर्थ —

हे देवानुप्रिय ! आप यदि प्रदेशी राजाको धर्म सुनावें तो बहुत गुण युक्त फल हो । क्विसे हो ? सुद राजा प्रदेशीको गुण हो ओर उनके हाथसे मारे जाने वाले बहुतसे द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी ओर सरी सृषोंको हो । हे देवानुप्रिय ! आप यदि राजा प्रदेशीको धर्म उतारें तो बहुतसे धर्मग, माहन, ओर भिक्षुकोंको, तथा राजा प्रदेशी ओर उनके सम्पूर्ण राष्ट्रको बहुत गुणयुक्त फल हो ।

इस पाठमे राजा प्रदेशीको धर्म सुनानेसे राजा प्रदेशी और उसके हाथसे मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरी सृष, दोनों ही को गुण होना कहा है । इसका भाव यह है कि राजा प्रदेशीको धर्म सुनानेसे वह हिंसा करना छोड़ कर हिंसके पापसे बच सकता है और उसके हाथसे मारे जाने वाले द्विपद, चतुष्पद आदि प्राणियोंकी प्रागरक्षा हो सकती है इसलिये राजा प्रदेशीको हिंसके पापसे बचनेका गुण है और उसके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंको प्रागरक्षा रूप गुण है । इन दोनों ही लाभके लिए चित्त प्रदानने केशी स्वामीसे राजा प्रदेशीको धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना की है केवल प्रदेशीको हिंसके पापसे बचानेके लिए ही नहीं अतः हिंसकक हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्रागरक्षके लिए भी साधु उपदेश देते हैं सिर्फ हिंसकको हिंसके पापसे बचानेके लिए ही नहीं यह इस पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है ।

यदि कोई कहे कि “यह पाठ, चित्त प्रदानकी प्रार्थनाको बतलानेके लिए आया है इसलिये यद्यपि इस पाठमे चित्त प्रदानने द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी और सरीसृषोंकी प्रागरक्षके लिए केशी स्वामीसे धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की है तथापि इससे माधुओका मरते प्राणियोंकी प्राण रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि चित्त प्रदान, अज्ञानवश भी मरते जीवकी रक्षा करनेके लिये मुनिसे धर्मोपदेश देनेकी प्रार्थना कर सकता है” तो इसका उत्तर यह है कि चित्त प्रदान, कोई मामूली मनुष्य नहीं किन्तु बागद्व प्रवधारी श्रावक था वह जीवरक्षाने धर्म या अधर्म होना जानता था । दुसरी बात यह कि चित्त प्रदानने केशी स्वामीसे जीव रक्षानेके लिए धर्मोपदेश करनेकी प्रार्थना की थी, यदि यह कार्य एकान्तपापका था तो केशी स्वामीने चित्त प्रदानको क्यों नहीं समझा दिया कि “हे देवानुप्रिय ! राजा प्रदेशीको तामनेके

जो धर्मोपदेश देना तो ठीक है परन्तु उसके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षा किये धर्मोपदेश देना उचित नहीं है क्योंकि मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश देना कान्त पाप है" अतः जीवरक्षामें धर्म होना स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणियोंकी प्राणरक्षाके उद्देश्यसे धर्मोपदेश करनेमें जो एकान्त पाप बतलाने हैं उन्हें मिथ्यावादी और उत्सूय प्ररूपगा करनेवाला समझना चाहिये ।

[बोल २ रा समाप्त]

(प्रेरक)

सुयगाढाग सूत्र श्रु० १ अध्यायन ६ के मूलगाधामें "दाणाण सेह् अमयप्पयाणं" का वाक्य आया है इसका कई एक यह अर्थ करते हैं कि "अपनी ओरसे किसी प्राणी को भय न देना अमयदान है परन्तु दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करना अमयदान नहीं है" इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

किसी प्राणीको अपनी ओरसे भय न देना, और दूसरेसे भय पाते हुए जीवको भयसे मुक्त करना, ये दोनों ही अमयदान हैं परन्तु अपनी ओरसे किसीको भय न देना ही नहीं अतः दूसरेसे भय पाते हुए जीवको भयसे मुक्त करनेको अमयदान न मानना अज्ञानियोंका कार्य है । इस गाथाकी टीकामें टीकाकारने, दूसरेसे भय पाते हुएको भयसे मुक्त करना अमयदान बतलाया है वह टीका यह है —

स्वपरालुपदार्थं मर्धिनोदीयत इति दानं मनोरथा तथा मध्ये जीवानां जीवितार्थिनां प्राणकारित्वाद् अमयदानं श्रेष्ठम् । तदुत्तमं "दीयते त्रियमाणस्य कोटिं जीवितमेव वा घन कोटिं न गृह्णाति सर्वो जीवितुमिच्छति"

गोपालाङ्गनादीनां दृष्टान्तद्वारेणार्थो मुद्धो सुखेनारोहतीत्यतीऽभयदानं प्रधान्यं व्यापनार्थं कथानकं मिदम्—यसन्तपुरे नगरे अरिदमनो राजा, सच कदाचित् चतुर्विधं समेतो वातायनस्थं श्रीढायमानस्तिष्ठति तत्र कदाचिच्चोरो रक्त करवीरकृतमुण्डमालो रक्तपरिधानो रक्तचन्दनोपलिप्तश्च प्रहृतवच्यद्विण्डिमो राजमार्गेण नीयमानः सपत्नीकेन पृष्टः । दृष्ट्वा च तामि पृष्टम् किमनेना क्वरीति । तासामेके न राजपुरुषेणा वेदितम्, यथा परद्रव्यापहारेण राजविरुद्धं मिति तत एकया राजा विहसत यथा यो भवता मम प्राग् वरः प्रतिपन्न सोऽधुना दीयताम् यथाहमस्योपकरोमि किञ्चित् राज्ञापि प्रतिपन्नम् । तत्रत्या स्नानादिपुर सरमलंकारेणालंकृतो द्वीनार सहस्र व्ययेन पञ्चविधाश् शम्भवादीन्-विषयानेक मह प्रापित । पुनर्द्वितीययाऽपि तथैव द्वितीय महो द्वीनार शत सहस्र व्ययेन

छालितः तत स्तृतीयया तृतीय महो टीनार कोटि व्ययेन सत्कारित । चतुर्व्यांतु राजा
 नुमत्या मरणाद्रक्षितोऽभयप्रदानेन । ततोऽसात्रन्याभिहसिता नास्यत्वया किञ्चिद्वत्तमिति ।
 तदेवं तासा परम्परं बहूपकारविषये विज्ञादे जाते राज्ञाऽस्मादेव चौर समाहूय
 “यथावेन तव बहूपकृतम्” तनाप्यभाणि यथा न मया मरणमहाभयभीतेन किञ्चि
 स्नानादिक सुरा व्यज्ञायि अभयप्रदानाकर्णनेन पुनर्जन्मानमिवात्मान मवैमीति
 सर्वदानाना मभय प्रदान श्रेष्ठ मिति स्थितम् ।

अर्थ —

अपने या परायेके अनुग्रहके लिये याचक पुरुषको जो दिया जाता है वह दान
 कहलाता है । वह अनेक प्रकारका है उनमें सनसे श्रेष्ठ अभयदान है । अभयदान, जीने
 की इच्छा रखने वाले प्राणियोंके जीवनकी रक्षा करता है इसलिये वह सन दानोंमें श्रेष्ठ
 माना गया है । कहा भी है—मरते हुए प्राणीको एक तरफ कोटि कोटि धन, और दूसरे
 तरफ जीवन दिया जाय तो वह धन कोटिको न लेकर जीवनको ही लेता है क्योंकि
 जीवोंको सनसे ज्यादा जीवन प्रिय है अतः सन दानोंमें अभय दान ही श्रेष्ठ है ।
 साधारण बुद्धिवालों को समझानेके लिये अभयदानकी प्रधानता दृष्टान्तके द्वारा बतलाई
 जाती है—

वसन्तपुर नगरमें अरिद्रमन नामक राजा रहता था । वह किसी समय अपनी
 चार रानियोंके साथ झरोखे पर बैठ कर झीडा करता था । उसने अपनी स्त्रियोंके साथ,
 राजमागसे ले जाया जाता हुआ कण्ठमें लाल कनैलके फूलकी माला छगाया हुआ छाल
 कपडा पहिना हुआ शरीरमें रक्त चन्दनका लेप किया हुआ और धाजा वजा कर बस
 करनेकी घोषणा किया जाता हुआ किसी चोरको देखा । उसे देख कर रानियोंने पूछा
 कि “इसने क्या अपराध किया है ?” यह सुन कर किमी राजपुरपने कहा कि “इसने
 चोरी करके राजाकी आज्ञा उल्लङ्घन की है” इसके अनन्तर एक रानीने राजासे कहा कि
 “आपने जो मुझे पहले वरदान देना स्वीकार किया था वह अभी दे दें जितसे मैं इस
 चोरका कुछ उपकार कर सकूँ” यह सुन कर राजाने वरदान देना स्वीकार कर लिया ।
 रानीने राजासे यह वर मागा कि “इस चोरको स्नान आदि करा कर भूषण आदि पहिना
 कर हजार मोहरके व्ययसे एक दिन तक शब्दादि पाच विषयोका सुख दिया जाय ।”
 पश्चात् दूसरी रानीने दूसरे दिन उस चोरको एक लाख मोहरके व्ययसे सुख देनेका वर
 मागा । तीसरीने तीसरे दिन एक कोटि मोहरके व्ययसे उसे सुख देनेको कहा । परन्तु
 चौथी रानीने राजासे वर माग कर उस चोरको अभयदान देकर मरनेसे बचा लिया ।
 यह देख कर पहली तीन रानिया चौथी रानीकी इसी उडाने लगीं वे कहने लगीं कि इस

हो इस विचारको कुछ भी नहीं दिया है” इसके अनन्तर ३१ रातियोंमें अपने अपने कारके विषयमें कलह होना आरम्भ हुआ उस कलहकी शान्तिके लिये राजाने चोरको मार पूछा कि “इन रातियोंमें सबसे अधिक तुम्हारा किसने उपकार किया है ?” चोर कहा कि—मरण रूषी महाभयसे म इतना डरा हुआ था कि स्नान आदिका मुक्त हूँ कुछ भी नहीं माझ्म हुआ । जब मैं ने सुना कि मुझे अभयदान मिला है तब मुझ नवीन जीवन प्राप्तिके समान महान् आनन्द प्राप्त हुआ । अतः सब दानोंमें अभयदान श्रेष्ठता स्पष्ट सिद्ध होती है ।

यहा, मारें जाने वाले प्राणीको मरणसे बचा देना अभयदान कहा गया है और स विषयको स्पष्ट समझानेके लिये चोरका दृष्टान्त दिया है । इस दृष्टान्तमें रानी ने अपनी ओरसे चोरको भय देनेका त्याग नहीं बल्कि शूरी या फासीके द्वारा होने वाले मरणरूषी महाभयसे उसे बचाया है और इस कार्योंको यहा अभयदान कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरेसे भय पाने हुए प्राणीका भय दूर करना भी अभयदान है अपनी ओरसे भय न देना ही नहीं अतः दूसरेसे भय पाते हुए प्राणीको भयसे मुक्त करने में जो एकान्त पाप बनलात है वे मिथ्यावादी हैं ।

(वोल ३ रा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२१ पर सुयगडाग सूत्रकी गाथा लिख कर इसकी समालोचना करते हुए लिखत हैं —

“अथ अठे कह्यो पोताना कर्म रतपाना तथा आर्षक्षेत्रना मनु यने तारिवा भगवान् धर्म कहे इम कह्यो पिण इम न क्यो जे जीव बचावाने अर्थे धर्म कहे, इण न्याय असंयति जीवागे जीवगों वाञ्छथा धर्म नहीं ।

इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान् महावीर स्वामी आर्षक्षेत्रके मनुष्यको तारनेके लिए और अपने कर्मोंका क्षय करनेके लिये धर्मोपदेश करत थे परन्तु हिंसक प्राणीसे मारे जाने वाले प्राणियों की प्राणरक्षा करनेके लिये नहीं अतः मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना साधुका कर्तव्य नहीं है । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुयगडाग सूत्रकी गाथाओंको लिख कर इसका समाधान दिया जाता है । वे गाथायें ये हैं —

“नो काम किंचा नयवालकिञ्चा राजाभियोगेण कुतो भयेण ।
वियागरेज्जा पसिणं नवावि सकाम किञ्चे इह आरियाणं ।

गन्तायतत्था अट्टुवा अगंता वियागरेज्जा समिया सुप्पन्ने । अना
रिया दंसणतो परीत्ता इति संकमाणो न उवेति तत्थ”

(सुय० श्रुत० ५ अ० ६ गाथा १७ १८)

अर्थ —

गोशालरुके मतको राण्डन करनेके लिये आर्द्र मुनि कहते हैं कि—भगवान् महा स्वामी बिना हृष्टाके कोई कार्य नहीं करते । जो बिना विचारे काम करता है वह हृष्टाक बिना भी काय्य करता है और वह अपने या दूसरेका जिससे अनिष्ट हो ऐसा भी काय्य कर हाण है परन्तु भगवान् महावीर स्वामी सर्वज्ञ सर्वदर्शी और परायेके हित करनेमें तत्पर रहते हैं जिस अपना या दूसरेका उपकार नहीं होता ऐसा काय्य भगवान् नहीं करते । भगवान् अपनी प्रतिष्ठा के लिये अथवा किसी राजा महाराज आदिके दबावसे धर्मोपदेश नहीं देते क्योंकि उनकी प्रवृत्ति भयसे नहीं होती । यदि कोई कुछ पूछता है तो उसका उपकार होता देख कर भगवान् उत्तर देते हैं अन्यथा नहीं देते । बिना पूछे भी लाभ समझने पर भगवान् उपदेश देते हैं । अनुत्तर विमानका देवता और मन प्रत्याय ज्ञानियोक प्रदनेके उत्तर भगवान् मनसे ही देते हैं वाणीद्वारा नहीं क्योंकि उन्हें वाणीद्वारा उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है ।

भगवान् महावीर स्वामी यद्यपि धीतराग हैं तथापि अपने तीर्थकर नाम कर्मका क्षय व के लिये और उपकार योग्य आर्य क्षेत्रके मनुष्यों का उपकार के लिये आर्यक्षेत्र में उपदेश देते हैं । १७

भगवान् महावीर स्वामी दूसरोंके हित साधनमें प्रवृत्त रहते हैं इस लिये वह शिवा देने योग्य पुरुषके निकट जाकर भी उपदेश देते हैं, वह जिस प्रकार भय जीवोंका करवाण देते हैं उसी तरह कार्य करते हैं, वह नहीं जाकर भी उपदेश देते हैं । उपकार होता देख कर बड़ा जाकर भी उपदेश देते हैं और उपकार न होता देख कर बड़ा रहते हुए भी उपदेश नहीं देते भगवान् किसीसे भी राग द्वेष नहीं है, चाक्रवर्ती राजा हो चाहे दरिद्र हो सबको वह एक दृष्टि देखते हैं पूछने पर या न पूछने पर वह सबको समान रूपसे धर्मोपदेश देते हैं । भगवान् अनार्य देशमें धर्मोपदेश देनेके लिये इस कारण नहीं जाते कि वहाँके निवासी दर्शन भ्रष्ट और ऐहिक सुखको अपना अन्तिम लक्ष्य समझकर परलोकको अङ्गीकार नहीं करते । उन लोगोंकी भाषा और कर्म में आर्य प्रशंसे विपरीत होते हैं इस लिये वहाँ उपकार होता नहीं देख कर भगवान् अनार्य देश नहीं जाते ।

इन गाथाओमें कहा है कि “भगवान् महावीर स्वामी आर्य क्षेत्रके मनुष्योंके उपकारके लिये और अपने तीर्थकर नाम कर्मका क्षय करनेके लिये उपदेश देते हैं” इससे

हिंसक के हाथसे मारे जाने वाले जीवकी प्राण रक्षाके लिये भी भगवान्का धर्मोपदेश देना सिद्ध होता है क्योंकि जैसे हिंसकको हिंसाके पापसे बचाना उसका उपकार करना है उसी तरह हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी रक्षा करना भी उम्मा उपकार करना है । इन गाथाओंका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने भी यह लिखा है—

“असावपि तीर्थं कृन्नामकर्मण क्षणाय न यथा कथं चिदतोऽन्नावग्लान इह अस्मिन् ससारे आर्य्यं क्षेत्रे वा उपकार योग्ये आर्य्याणां सर्वहेयधर्मदूरवर्तिना तदुपकाराय धर्मदेशना व्यागृणीयादसाविति”

अर्थात् भगवान् महावीर स्वामी अपने तीर्थकर नाम कर्मका क्षय करनेके लिये इस ससारमे, अथवा उपकार योग्य इस आर्य्य क्षेत्रमे त्यागने योग्य सभी सुरे धर्मों से मरणा रहने वाले आर्य्य क्षेत्र वासी मनुष्योंका उपकारके लिये धर्मोपदेश देते हैं ।

यह टीकाकारने भी मूल गाथाका अभिप्राय बतलाते हुए आर्य्य क्षेत्र वासी मनुष्योंका उपकारके लिये भगवान्का धर्मोपदेश करना बतलाया है इस लिये हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षाके लिये उपदेश देना भी धर्म सिद्ध होता है क्योंकि मरत प्राणीकी प्राण रक्षा करना उसका सत्रमे प्रवान उपकार है । अतः भगवान् महावीर स्वामी आर्य्य क्षेत्रके प्राणियोंकी प्राण रक्षा रूप उपकारके लिये भी धर्मोपदेश करते थे यह बात इस गाथा और इसकी टीकासे स्पष्ट सिद्ध होती है । तथापि इन गाथाओंका नाम लेकर यह कहना कि “भगवान् आर्य्य क्षेत्रके जीवोंकी प्राण रक्षा करनेके लिये उपदेश नहीं देते थे” एकान्त मिथ्या है ।

सुय गडाग सूत्रकी इन गाथाओंके पहलेकी गाथामे मरत जीवकी प्राण रक्षा करनेके लिये भगवान्का धर्मोपदेश देना स्पष्ट लिखा है इस लिये वह गाथा भी चहा लिखी जाती है ।

“समिच्च लोगं तस थावराण खेमंकरे समणे माहणेवा ।
आहक्ख माणेवि सहस्समज्जे एगतयं सारयति तहच्चे”

(सुय० सु० २ अ० ६ गाथा ४)

टीका—

“स्यादेतन् धर्मदेशनया प्राणिना कश्चिदुपकारो भवत्युत्तनेति, भवतीत्याह “समिच्च लोगं” मित्यादि सम्पद्यथाबन्धित लोक पद्द्रव्यात्मकं मत्वा अवगम्य कत्रला लोकेन परिच्छिद्य प्रस्थन्तीति त्रसा त्रप्र नाम कर्मोदया द्वोन्द्रियादय, तथा निष्पन्तीति स्या-
वग” स्थावरनामकर्मोदयात्स्थावरा प्रथिव्यादयस्तेषां सुभयेषां मपि जन्तूना क्षेमं

शान्ति रक्षा तत्करण शील क्षेमकर । आम्यतीति श्रमग द्वादश प्रकार तपोनिष्ठपदेह
 तथा माहन इति प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो ब्राह्मणो वा स एव भूतो निर्ममो राग द्वेष रहित
 प्राणिहिताद्यर्थं न पूजालाभ ख्यात्याद्यर्थं धर्ममाचक्षणाणोऽपि प्राग्वन् छद्मस्थावस्थायाम्
 मौनव्रतिक इव वाक्संयत एव उत्पन्नदिव्यज्ञानत्वाद्वापागुणदोषविरोक्ततया
 भाषणेनैव गुणावाप्ते अनुत्पन्न दिव्य ज्ञानस्य तु मौन व्रतिकत्वेनेति । तथा देवासुर नर
 तिर्यक् सहस्रमध्येऽपि व्यवस्थित पकाधारपरुजवत्तद्दोषासंगाभावान्ममत्व विहा
 दाशसादोष विकल्पादेकान्तमेवासौ सारयति प्रख्यातिं नयति साधयतीति यावन् ।
 ननुचैकाकिपरिकरावस्थयोरस्ति विशेष प्रत्यक्षेणैवोपालभ्यमानत्वात्सत्यम्—अस्ति
 विशेषो बाह्यो नत्वातरतोऽपि, दर्शयति—तथा प्राग्वदर्चां लेख्या शुक्लध्यानाख्या यस्य
 स तथार्चं यद्विवा अर्चां शरीरं तच्चप्राग्वद्यस्य सतथार्चं । तथाहि असावशो काद्यष्ट प्राति-
 हाय्योपेतोऽपि नोत्सेरु याति नापि शरीरं संस्कारायत्त विदधाति स हि भगवान् आल-
 न्तिक राग द्वेष प्रहाणादेकान्यपि जन परिवृतोऽप्येकाकी न तस्य तयोरवस्थयो कश्चि
 द्विशेषोऽस्ति । तथा चोक्तम् “राग द्वेषौ विनिर्जित्य किमरण्ये कग्ग्यसि । अथनो निर्जि
 तापेवौ किमरण्ये करिष्यसि” इत्यतो बाह्य मनगमान्तरमेव कपायजयादिक प्रयान्
 कारणं मिति स्थितम्”

अर्थ —

भगवान् महावीर स्वामीके धर्मोपदेशसे प्राणियोंका कुछ उपकार होता था या
 नहीं ? कहते हैं कि होता था । भगवान् महावीर स्वामी, केवल ज्ञानसे पद्मद्रव्यत्मक
 लोकको यद्यार्थ रूपसे जान कर द्वीन्द्रियादिक त्रस और पृथिवी आदि स्थावर प्राणियोंकी
 स्वभावमे ही रक्षा, शान्ति या क्षेम करते थे । तथा वारह प्रकारकी तपस्यासे अपने
 शरीरको तपाये हुए और माहन यानी प्राणियोंको अहिंसाका उपदेश करते हुए ममता
 रहित होकर प्राणियोंके हितके लिये धर्मोपदेश करते थे उन्हें अपनी पूजा प्रतिष्ठा मान
 चढ़ाई आदिकी इच्छा न थी । भगवान् धर्मोपदेश करनेके समयमें भी पहलेके समान ही
 मौन व्रतिककी तरह वाक् संयत थे । तात्पर्य यह है कि छद्मस्थावस्थामें जैसे भगवान्
 मौन व्रतिक थे उन्नी तरह केवल ज्ञान होने पर धर्मोपदेश देते हुए भी मौन व्रतिकक
 समान ही थे क्योंकि दिव्य ज्ञान उत्पन्न होने पर उन्हें भाषाके गुण और दोषके ज्ञान
 हो जानेसे बोलनेमें गुण ही था दोष नहीं था और जब तक वे केवल ज्ञानी नहीं हुए थे
 तबतक मौन रहनेमें ही गुण था । भगवान् महावीर स्वामी, यद्यपि हजारों देवता असुर
 मनुष्य और तिर्यक्योंके बीचमें रहते थे तथापि कीचडमें रहने वाले कमलकी तरह दोषसे

लिस नहीं होते थे । किन्तु ममता और सासारिक लाभ की इच्छा तथा दोष रहित होकर वह सदा और सर्वत्र एकान्तका ही अनुभव करते थे । यदि कोई कहे कि एकाकी अवस्था और शिष्यादिकों के साथ रहने की अवस्थामें प्रत्यक्ष ही भेद दृष्टिगोचर होता था फिर भगवान् लोगों के मध्यमें रहने हुए एकान्तका अनुभव कैसे करते थे ? तो इसका उत्तर यह है कि एकाकी अवस्था और शिष्यादिकों के साथ रहने की अवस्थामें जो भेद दृष्टिगोचर होता था वह बाह्य भेद था आन्तरिक नहीं क्योंकि शिष्यादिकों के साथ रहने पर भी भगवान् की पहलूके समान ही शुद्ध ध्यान रूपा लक्ष्याधी और वह अपने शरीरका पूर्ववत् ही मरकार नहीं करते थे तथा अशोकादि बाठ प्रतिहारियों के साथ रहते हुए भी भगवान् गर्व रहित थे एव गग द्वेपका सर्वथा अभाव हो गया था इस लिये मनुष्यों के साथ रहने पर भी भगवान् एकान्तका ही अनुभव करते थे । किसी आचार्यने कहा है कि यदि तुमने राग द्वेपको जीत लिया है तो वनमें जाकर क्या करोगे ? और यदि राग द्वेपको नहीं जीता है तो जगलमें जाकर क्या करोगे । तात्पर्य यह है कि बाह्याचार कल्याणका कारण नहीं किन्तु आन्तरिक कर्माय आदिका विजय ही मुक्ति साधक है । यह उक्त गायिका टीकानुसार अर्थ है ।

इस गायामें लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामी व्रस और स्थावर सम्पूर्ण प्राणियोंके क्षेम यानी रक्षा करने वाले थे । और टीकाकारने भी लिखा है कि “क्षेम शान्ति रक्षा उत्करण शील क्षेमकर ” अर्थात् भगवान् सब प्राणियोंका क्षेम शान्ति, यानी रक्षा करते थे । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवान् मरते प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये भी धर्मोपदेश देते थे केवल हिंसकको हिंसाके पापसे छुड़ानेके लिये ही नहीं । यदि कोई कहे कि हिंसाके पाससे बचा देना ही जीवकी रक्षा या क्षेम है मरनेसे बचाना नहीं, तो हमें कहना चाहिये कि इस गायामें स्थावर जीवोंका भी क्षेम करने वाला भगवान् को कहा है यदि वह मरते जीवकी प्राणरक्षाके लिये उपदेश नहीं देते थे तो स्थावर जीवोंका क्षेम करने वाले वह क्यों कहे गये हैं ? क्योंकि स्थावर जीवोंमें उपदेश प्रहण करनेकी योग्यता नहीं होती इस लिये हिंसाके पापसे बचाने के लिये उनको उपदेश देना नहीं घट सकता किन्तु उनकी प्राणरक्षाके लिये उपदेश देना ही घटता है अतः भगवान् मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये भी उपदेश देते थे यह इस गायामें स्पष्ट सिद्ध होता है । कोई कोई अज्ञानी कहते हैं कि “हिंसकके हाथसे अमर्यादि प्राणी बचाना उनके असंयमका अनुमोदन करना है, और असंयमका अनुमोदन करना साधुको नहीं कल्पता इस लिये हिंसकके हाथसे मारे जाते हुए असंयति जीवकी प्राणरक्षा के लिये साधुको धर्मोपदेश नहीं देना चाहिये” उनसे कहना चाहिये कि साधु, असंयति

जीवकी प्राण रक्षा उसके असयम सेवनका अनुमोदन करनेके लिये नहीं करता। साधु यह नहीं चाहता कि "यह असयति जीवित रह कर असयमका सेवन करे, या असयम सेवन करना अच्छा है। साधु असयम सेवनको युग जानता है इस लिये वह असयम सेवनके लिये असयतिकी रक्षा नहीं करना किन्तु असयतिको आर्त रौद्र ध्यान और मरण भयसे मुक्त करनेके लिये उसकी प्राणरक्षा करता है अतः असयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देनेसे साधुको असयमका अनुमोदन बतलाना मिथ्या है। यदि इस तरह असयमका अनुमोदन लगे तो फिर हिंसककी हिंसा छुड़ानेके लिये अहिंसाका उपदेश भी न देना चाहिये। क्योंकि धर्मोपदेश सुन कर हिंसक यदि असयतिको न मारे तो उसकी प्राण रक्षा होगी और वह जीवित रह कर असयमका सेवन भी कर सकता है। फिर रक्षामे पाप करने वाले, हिंसककी हिंसा छुड़ानेके लिये अहिंसाका उपदेश क्यों देते हैं ?

यदि कहो कि हम असयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये हिंसकको अहिंसाका उपदेश नहीं देते किन्तु उसे हिंसाके पापसे मुक्त करनेके लिये देते हैं इसलिये हमें असयतिकी प्राणरक्षा या असयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता तो उसी तरह समझो कि हम भी असयमका सेवन करानेके लिये असयतिकी प्राणरक्षा नहीं करते किन्तु उसका आर्त रौद्र ध्यान मिटा कर मरण दुःखसे उसे मुक्त करनेके लिये करते हैं अतः हमें असयम सेवनका अनुमोदन नहीं लग सकता। अतः हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें असयम सेवनका नाम लेकर एकान्त पाप करने वाले मिथ्यावक्त्री हैं।

(बोल ४)



(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन शृष्ट १२१ पर लिखते हैं कि—

"जिम कोई कसाई पाच सौ पञ्चेन्द्रिय नित्य हणो छ। ते कसाईने कोई मारतो हुप तो तिणने साधु उपदेश देवे तो तिणने सारिवाने अयें पिण कसाईने जीवतो रक्षणे उपदेश न देवे, ए कसाई जीवतो रहे तो वाचो इम कसाईनो जीवणो वाळ्णो नहीं। कोई पञ्चेन्द्रिय हणो केई एकेन्द्रियादिक हणो छै ते माटे असयति जीव ते हिंसक छै हिंसकनो जीवणो वाळ्णया धर्म किम हुवे" इनके कहनेका आशय यह है कि कोई पञ्चेन्द्रिय जीव को मारता है और कोई एकेन्द्रिय जीवको मारता है इस लिये साधुके सिवाय सभी जीव कसाईके समान हिंसक हैं उनकी प्राण रक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देना धर्म नहीं

केन्दु पाप है। जो कसाई प्रति दिन ५०० रुका मारता है उसको कोई मारने लगे तो साधु उम मारनेवालेकी हिंसा छुड़ानेके लिये धर्मका उपदेश करता है कसाईकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश नहीं करता क्योंकि यदि कसाई बचेगा तो वह फिर ५०० बकरोंको मार मारेगा उसी तरह दूसरे असयति यदि बचें तो वे भी प्रतिदिन एकेन्द्रियादि जीवोंका विनाश करेंगे अतः साधु हिंसाका पाप छुड़ानेके लिये हिंसरुको उपदेश करता है हिंसरुके हाथसे असयतिकी प्राणरक्षा करनेके लिये नहीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

साधु किसी की भी हिंसा होना पसन्द नहीं करता वह सबकी रक्षा करना चा- है वह जैसे कसाईकी हिंसा करनेवालेको धर्मोपदेश देकर कसाईकी प्राणरक्षा करना हवा है उसी तरह कसाईको धर्मोपदेश देकर उससे प्रति दिन मारे जाने वाले बकरोंकी प्राणरक्षा ही चाहता है वह यह नहीं चाहता कि यह कसाई जीवित रह कर प्रतिदिन प्राणोंकी हिंसा करे किन्तु यह कसाई तथा इससे मारे जाने वाले प्राणी, सभी आर्तार्थी जान और मरण भयसे घबे यही कामना साधु करता है और इसके साथ साथ हिंसके हाथसे हिंसरुको भी मुक्त करना चाहता है इसी भावसे प्रेरित होकर साधु धर्मोपदेश देता है और धर्मोपदेश देकर मग्नेवाले प्राणीको आर्तार्थी रौद्र ध्यानसे और मारने वालेको हिंसके पापसे मुक्त करता है। वह मग्ने वाले प्राणीके आर्तार्थी रौद्र ध्यान तथा मरण महा मयकी निवृत्तिका ही कामुक है उसके असयम सेवन आदि दुःखियोंका इच्छुक नहीं है अतः असयति जीवकी प्राणरक्षाके निमित्त धर्मोपदेश देनेसे उस असयतिसे सेवन किये जाने वाले असयम आदि दुःखियोंका अनुमोदन साधुको नहीं लगता।

यदि असयमकी इच्छा न रखने पर भी असयतिको बचा देने मात्रसे साधु को असयमका अनुमोदन लगे तो हिंसरुको अहिंसाका उपदेश देनेसे भी असयमका अनु- मोदन लगना चाहिये क्योंकि अहिंसाका उपदेश सुन कर हिंसरु यदि असयतिको न मारे तो वह असयति जीवित रह कर असयमका सेवन कर सकता है। इस प्रकार जिसने अहिंसाका उपदेशके द्वारा हिंसरुसे असयतिकी हिंसा रोक दी है वह उस अस- यतिके असयम सेवनका अनुमोदक क्यों नहीं होगा ? यदि उक्त अहिंसाका उपदेशक, हिंसके छुड़ाने मात्रकी भावनासे उपदेश देता है हिंसरुके हाथसे मारे जाने वाले प्राणी को प्राणरक्षा तथा उससे किए जाने वाले असयम सेवनकी इच्छासे नहीं इस कारण उसे असयम सेवनका अनुमोदन नहीं लगता तो उसी तरह जो प्राणियोंकी प्राणरक्षा और उनके आर्तार्थी रौद्र ध्यानको निवृत्त करने मात्रकी इच्छामे प्राणियोंकी प्राणरक्षा करता है

उनके असयम सेवनकी इच्छासे नहीं, उसको भी असयम सेवनका अनुमोदन नहीं लागा किन्तु मरते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा रूप महान् धर्मका लाभ होता है। अतः मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये धर्मोपदेश देनेसे असयम या हिंसाका समर्थन बनलाना निर्दोष जीवोंका कार्य्य समझना चाहिये ।

(बोल छट्टा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १२७ पर लिखते हैं —“अथ ईहा तो पावो कहो जे रहारे कारण या जीवाने हणे तो ए कारणज मोने परलोक्रमे कल्याणकारी भला नहीं इम विचारी पाठा फिरया पिण जीवाने छुडाया चाल्यो नहीं” तथा पृष्ठ १२४ पर लिखा है कि “त्या जीवारे जीवणरे अर्थे तो नेमिनाथजी पाठा फिरया नहीं। ए जे जीवारी अनुकम्पा करी तेहनो न्याय इम छै जे माहरा व्याहरे वास्ते या जीवाने हणे तो मोने ए कार्य्य कबो नहीं इम विचारी पाठा फिरया” इत्यादि ।

इमका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंको टीकाके साथ लिख कर इसका समाधान दिया जाता है —

“सोऊण तस्स वयणं बहुपाणि विनासनं
चिन्तेइ से महापन्ने सानुक्कोसो जिये हिउ । १८
जह मज्झ कारणे एए हम्मन्ति सुवहु जिया
नमे एयंतु निस्सेसं पर लोगे भविस्सइ । १९
सो कुण्डलाण जुगलं सुत्तगं च महा जसो
आभरणानिच सब्वाणि सारहिस्स पणामड” २०

(उत्तराध्ययन अ० २२)

(टीका)

इत्य सारथिनोक्ते यद्भगवान् विहित वास्तदाह सुगम मेव नवरं तस्य सारथे
वहूना प्रभूतानां प्राणाना प्राणिना जिनाशनं हननम् अभिधेयं यस्मिन् तद् बहुप्राणि
विनाशनम् । समगवान् सानुक्कोज सकरुण केपु “जीणहिउ” त्ति जीवेषु तु पाद पूरणं
मम कारणादिति मद्दिवाह प्रयोजने भोजनार्थत्वाद्मीपामिति भाव । हम्मति हन्यन्ते

सामीप्ये लट् ततो हनिष्यन्ते इत्यर्ण । पाठान्तरत “इमिहति” च्ति, सुरगण्य ।
 भगवान् अनि प्रभूता “जिय” च्ति जीवा एतदिति जीव हननं तु एव कारणे नेत्यनेन
 शोभ्यते न न तु नैव नि श्रेयस कल्याण परलोके भविष्यति पाप हेतुत्वाद्येति भाव
 भवान्तरपु परलोकमीरुत्वस्यात्यन्तमभ्यरततयैवममिधान मन्यथा चरमशरीरत्वाद्दिति
 शेषज्ञानित्वाच्च भगवत कुन एव विध चिन्तायसा । एवंच त्रिद्वितभगवदादृतेन सार-
 विना मोचितपु सत्त्वेपु परितोपिनोऽपौ यत्कृतमास्तदाह “सो” इत्यादि सुत्तरुथेति कटि
 सुत्त मर्पयनीति योग किमेतदेवंत्याह आभरणानि सर्वाणि शेषाणीति गम्यते ।”

अर्थ—
 इस प्रकार सारथीके कहने पर भगवान् नेमिनाथजीने जो किया वह इन गाथाओं
 में कहा गया है । बहुतसे प्राणियोंका बिनाशरूप अर्ण को बनलाने वालो सारथी की
 कृपा सुन कर बड़े बुद्धिमान नेमिनाथ जी, उन प्राणियों पर दयायुक्त हो कर मो-
 कने लगे ।

यदि ये, बहुतसे प्राणी मेरे कारण यानी मेरे विनाहमे आये हुए लोगोंके भोज-
 नार्थ मारे जाए गे तो यह कार्य परलोकमें कल्याणकारक नहीं होगा । (यद्यपि भग-
 वान् नेमिनाथजी अविशय ज्ञानवान् और चरम शरीरी होनेके कारण उसी भवमें मोक्ष
 जाने वाले थे अन उन्हें परलोककी चिन्ता करनेकी आवश्यकता न थी तथापि दूसरे
 भवाम परलोकसे डरनेका जो उनको अत्यन्त अभ्यास था उस अभ्यासके कारण उन्हें
 पूर्वोक्त चिन्ता हुई थी) भगवान् नेमिनाथजीका अभिप्राय समझ कर सारथीने जब उन
 प्राणियोंको बन्धनमें मुक्त कर दिया तब भगवान् ने प्रसन्न होकर कानोंक कुण्डल और
 कटिमूत्र तथा दूसरे सब आभूषण उतार का सारथीको इनाम दे दिये । यह उक्त गाथाओं
 का टीकानुसार अर्ण है ।

यहां मूलगाथामें कहा है कि “सातुरोसो जीणहिउ” अर्थात् उन प्राणियों पर
 भगवान् नेमिनाथजीको अनुक्रोश यानी दया उत्पन्न हुई । दया नाम दूसरेके दुःख को
 दूर करना यानी दुःखीकी रक्षा करना है कहा भी है “पर दुःख प्रणोच्छ दया” अर्थात्
 दूसरेके दुःखको दूर कानेकी इच्छाका नाम दया है । यदि मरते हुए प्राणीनी रक्षा करना
 एकान्न पाप होता तो भगवान् नेमिनाथजी को उन जीवों पर दया क्यों उत्पन्न
 होनी अत उक्त गाथाओंमें मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करना परम धर्म सिद्ध होता है ।

जीनमलजीने जो यह लिखा है कि ‘स्वार उगण यां जीयाने इणे नो एकागणज
 मोन परलोक्म कल्याणकारी भलो नहीं इस त्रिचागि पाठ किन्वा पिंग जीनेने हुंदाया
 चाल्यो नहीं’ यह मिथ्या है । भगवान् नेमिनाथजी जीवोंकी रक्षाने लिये और उनकी

मृत्युसे होने वाले पापसे बचनेके लिये पीछे लौटे थे केवल अपनी आत्मा को पाप से बचानेके लिये ही नहीं अतएव उक्त मूलगाथामें “सानुकोसोजिण हिउ” यह पाठ आया है । यह पाठ तभी सार्थक हो सकता है जब उन जीवोंकी रक्षा करनेके लिये भगवान् का लौट जाना माना जाय । जो लोग जीवों पर दया करके उनकी रक्षाके लिये भगवान् का लौट जाना नहीं मानते उनके मतमें उक्त पाठ निरर्थक ठहरता है क्योंकि पापके भयसे लौटना तो अपनी अनुकम्पा है उन जीवोंकी नहीं इसलिये जीतमलजिक हिसामें से उक्त गाथाका “सानुकोसोजिण हिउ” यह पाठ किसी प्रकार भी सार्थक नहीं हो सकता अतः उन जीवोंकी रक्षाके लिए भगवान् नहीं लौटे थे यह कहना मिथ्या है ।

ऊपर लिखी हुई वीसवीं गाथामें लिखा है कि भगवान् नेमिनाथजीन अफ कानोके कुण्डल, कटिसूत्र तथा श्रेण सभी आभूषण उनाग कर सारथीको इनाम दे दिए । यहा इनाम देनेका कारण बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि “विदित भगवद्भक्तन

नोट—कोई कोई एकन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाको एक समान मान कर उनमें अल्प और महान रूप भेदका खण्डन करते हैं और एकेन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी हिंसामें अल्प और महानका भेद बतलाने वालोंको हिंसाका अनुमोदक कहते हैं इसी तरह एकेन्द्रियकी दयासे पञ्चेन्द्रियकी दयाको प्रधान करने वालोंको हिंसाका समर्थक बतलाते हैं परन्तु यह उनका अज्ञान है क्योंकि इसी उत्तराध्ययन सूत्र के २३ वें अध्यायनमें भगवान् नेमिनाथजीका विवाहके विमित्त जल स्नान करना लिखा है, जलके जीव, विवाह मण्डपमें बाधे हुए पशुओंसे असत्य गुण अधिक थे फिर भगवान् नेमिनाथजी उन जलके जीवोंकी हिंसा देर कर स्नान करनेसे क्यों नहीं निवृत्त हो गये । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवान् नेमिनाथजीने जलके जीवोंकी अपेक्षा मण्डपमें बाधे हुए पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाको बहुत ज्यादा पाप और एकेन्द्रियकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रियकी दया को बहुत ज्यादा उत्तम समझा था इस लिये वह जलस्नानसे तो निवृत्त न हुए परन्तु मण्डपमें बाधे हुए पशुओंके रक्षार्थ निवृत्त हो गये थे । यद्यपि भगवान् नेमिनाथजी तीन ज्ञानके धनी होनेके कारण अपना विवाह न होना जानते थे और उनके पूर्व तीर्थकारोंने भी २२ वें तीर्थकारको वाल ब्रह्मचारी रह कर दीक्षा ग्रहण करना कहा था तथापि एकेन्द्रिय जीवोंकी अपेक्षा पञ्चेन्द्रिय जीवोंकी दयाका महत्त्व बतलानेके लिये भगवान्ने जल स्नानमें कोई आपत्ति नहीं की परन्तु विवाह मण्डपमें बाधे हुए पञ्चेन्द्रिय जीवोंको देख कर वहासे हट गये थे ।

सारथीना मोचितेषु सन्वेषु परितोपितोऽसौ यत्कृतजास्तदाह” अर्थात् भगवान्का अमि-
 प्राय समझ कर जब सारथीने उन जीवोंको मुक्त कर दिया तब भगवान्ने सारथी पर
 प्रसन्न होकर जो कार्य किया था वह वीसर्वोगायामे कहा है। वीसर्वोगायामे भगवान्का
 आशय समझ कर उन जीवोंको मुक्त करना, और इस कार्यसे प्रसन्न होकर भगवान्
 का सारथीको इनाम देना स्पष्ट कहा गया है। यदि जीवरत्ना करनेमें पाप होता तो
 भगवान् उन जीवोंकी रक्षा करनेके कारण सारथी पर प्रसन्न हो कर उसे इनाम क्यों
 दत्त ? तथा उन जीवोंकी रक्षाके लिये भगवान् का भाव क्यों होता ? अत उक्त
 गाथाओंसे मरते जीव की रक्षा करना परम धर्म सिद्ध होता है। जो लोग जीव-
 रक्षा को एकान्त पाप कहते हैं उन्हें उत्सूत्र वादी और निर्दय समझना चाहिये।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १२७ के ऊपर ज्ञाना सूत्रके प्रथम अध्ययनका
 मूल्यांश लिख कर उसके अन्तर्गमने लिखते हैं कि “वली मेवकुमारो जीव हाथीरे भरे
 सुमलारी अनुकम्पा करी परीत समार कियो। अने फेई कहे मण्डलामें घणा जीव बच्या
 तथा घणा प्राणी गी अनुकम्पा ई करी परीत ससार कियो उ ते सूत्राथना अजाण छै एक
 सुमलारी अनुकम्पा दयाकरी परीत ससार कियो छै। (अ० पृ० १२७)

इसका स्या उत्तर ।

(प्ररूपक)

हाथीने अनेके शशककी अनुकम्पासे परीत समार किया है बहुत जीव, जो
 मण्डलार्थ धचे थे उनकी अनुकम्पासे संसार परीत नहीं किया यह कथन अविरोधका सत्र
 से बड़ा उदाहरण है। जब भ्रम विध्वंसन कार एक जीव शशककी अनुकम्पासे ससार
 परिमित होना स्वय ही स्वीकार करत हैं तब अनेक जीवोंकी अनुकम्पा से डरनेकी क्या
 घान है। एक प्राणीकी अनुकम्पासे जब ससार परीत हो सकता है तो अनेक जीवोंकी
 अनुकम्पासे और भी अधिक धर्म ही होगा। यह एक ऐसी साधारण बात है कि जिसे
 बालक भी समझ सकता है। और। अब देखना यह है कि हाथीने अनेके शशककी अनु-
 कम्पा की या बहुतसे जीवों की ? यदि हाथीको शशककी ही अनुकम्पा करनी इष्ट थी
 दूसरोंकी नहीं तो वह अपना उदाया हुआ पैर शशकके ऊपर नहीं रख कर दूसरे प्राणी
 पर रख देता परन्तु उसने ऐसा नहीं करके अडाई दिन तक पैर ऊपर ही उठाये रखना
 इससे स्पष्ट है कि हाथी शशकके माध और भी प्राणियोंकी रक्षा करना चाहता था।

इसी बातको सूत्रकारने "पाणाणुकम्पयाए" इत्यादि चार पद देकर स्पष्ट बतल दिया है ।

कुछ लोग कहते हैं कि हाथीने बचाने रूप अनुकम्पा नहीं की थी सिर्फ न मारने रूप अनुकम्पा की थी और इधेसे उसने ससार परीत किया था । पता नहीं कैसे उन लोगोंने यह बात जान ली कि हाथीका विचार जीवोंको बचानेका नहीं था । जानकर दो ही मार्ग हैं—या तो हाथीने आकर स्वयं उनसे ऐसा कहा हो या उन्होंने ही मन पर्याय ज्ञानसे जाना हो । इन दोनों उपायोमेसे एक भी संभव नहीं है ऐसी दशामें सूत्रके पाठका ही आश्रय लेना पडता है । सूत्रके पाठमें ऐसा एक भी शब्द नहीं है जिससे यह जाना जा सके कि हाथीका विचार जीवरक्षा करनेका नहीं था वरन् स्पष्ट शब्दोंमें 'पाणाणुकम्पयाए' इत्यादि शब्द दिये हैं यदि उसने पापसे बचनेके लिये ही न मारने रूप अनुकम्पा की होती तो वह अनुकम्पा मुरय रूपसे उमी (हाथी) की ही होती और भ्रमविध्वसन करने भी ऐसा नहीं लिखा कि हाथीने अपनी अनुकम्पासे ससार परीत किया किन्तु शशरुकी अनुकम्पासे वे ससार परीत होना मानते हैं और पाठमें "आयाणुकम्पयाए" या "प्राणार्हिमयाए" इत्यादि पाठ नहीं हैं अत जो लोग पाप भयसे न मारने रूप अनुकम्पा से ही ससार परीत होना मानते हैं जीव रक्षा रूप अनुकम्पासे नहीं उनके मतसे 'पाणाणुकम्पयाए' इत्यादि पाठ मिथ्या ठहरना है इस लिये यही मानना उचित है कि हाथीने प्राणियोंकी रक्षा रूप अनुकम्पासे ससार परीत किया क्योंकि "पाणाणुकम्पयाए" इत्यादि पाठसे बचाने रूप दया अर्थ ही निकलता है । जो शशरु हाथीके पैर रखनेकी जगह आया था उसे बलवान प्राणी सत्ता रहे थे हाथीने अपने पैरके ठहरनेका स्थान उसे दिया और स्वयं मारा भी नहीं इससे सिद्ध होता है कि जीवोंको खय भी न मारे और यदि दूमग मागता हो तो ऐसी सामग्री देवे कि उसके प्राणोंकी रक्षा हो जाय । अत हाथीने एक शशरुकी अनुकम्पासे ही परीत ससार किया था दूमरेकी अनुकम्पासे नहीं यह कहने वाले मिथ्यावादी हैं ।

भीषणजीने इस विषयमे लिखा है कि —

कष्ट सहो तिण पापसो डरतो, मन दृढ सं ठि राखी तिण काया ।

बलता जीव दवानलदेखि, सु ढ सू मही मही बाहिरे न लाया ।”

(पद्य भीषण जी का)

इनके कहनेका भाव यह है कि हाथीने पापसे डर कर मनको दृढ और शरीरको मजबूत रखता परन्तु दवानलमें जलने हुए जीवोंको सुटसे पकड कर बाहर नहीं लाया था इस लिये मरते प्राणीकी प्राण रक्षा रूप दया करना एकान्त पाप है” परन्तु यह बात

अश्विक पूर्ण है। हाथीके आनेके पहले ही उसका मण्डल जीवोंसे इतना ज्यादा भर गया था कि स्वयं हाथीको भी अपने उठाये हुए पैर को नीचे रखनेका स्थान नहीं मिला। यही स्थिति वह हाथी दानानलमें जलते हुए जीवोंको लाकर कहा रखता और उनको उनके लिये वह किस मार्गसे जाता क्योंकि वह स्थान जीवोंसे इतना ज्यादा भर गया था कि कहीं भी पैर रखनेकी जगह नहीं थी अतः भीषणजीका पूर्वोक्त कथन एकान्त में क्या समझना चाहिये। वास्तवमें हाथीने शत्रुकी प्राणरक्षाके लिये अपना उठाया पैर नीचे नहीं रखा और दूसरे प्राणियोंकी प्राण रक्षाके लिये दूसरी जगह भी नहीं रक्खा अतः हाथीक उदाहरणसे जीव रक्षामें पाप बनाना मिथ्या दृष्टियोंका कार्य है।

बोल ८ वां समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १३४ पर सुय गडाग सूत्रकी गाथा लिए कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

अथ अठे कह्यो जीवाने मार तथा मत मार एहवू पिण वचन न कहिणो द्वा ए रहस्य—मरणो महणो तो साधुने उपदेश छै ते तारिवाने अर्थे उपदेश दवे अने इहा वज्यो द्वेष आणीन हणो इम पिण न कहिणो अनेत्या जीवारे राग आणीने मतहणो इम पिण न कहिणो मध्यस्थपणे रहिणो”

(भ्र० पृ० १३४)

इतके कहनेका भाव यह है कि हिंसरुके हाथसे मारे जाते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा के लिये 'मत मार' कहना मरते जीव पर राग लाना है, किसी जीव पर राग करना साधुको उचित नहीं है अतः मरते जीवकी प्राण रक्षा करनेके लिये साधुको 'मत मार' यह उपदेश न देना चाहिये।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रम विध्वंसनकारने सुय गडाग सूत्रकी गाथाका मूल अर्थ बतलाते हुए जो यह लिखा है कि "अथ अठे कह्यो जीवाने मार तथा मत मार एहवू पिण वचन न कहिणो" यह अर्थ ही मिथ्या है। भ्रम विध्वंसनकार इस गाथाका ठीक ठीक अर्थ नहीं समझ सके। इस गाथामें कहा है कि

“ वज्झा पाणा न वज्जेति इति वापं न निसरे ”

इसका अर्थ करते हुए शीलाकाचार्य्य अपनी टीकामें लिखते हैं “व्याघ्रौ पारदारिकादयोऽनध्याया तत्कर्मानुमति प्रसगादित्येव भूता वाचं स्वानुष्ठान पराण साधु पर व्यापार निरपेक्षो न निस्तृजेत्” अर्थात् वध दण्ड देने योग्य चौर और पारदारिक प्राणीको साधु, वध दण्ड न देने योग्य निरपराधी न कहे क्योंकि अपराधीको निरपराधी कहनेसे साधुको उसके कार्यका अनुमोदन लगता है अत अपने अनुष्ठानमें पायण और दूसरोंके व्यापारसे निरपेक्ष साधुको पूर्वोक्त घात न कहनी चाहिये । यह उक्त मूल पाठका टीकानुसार अर्थ है । यहा मार और मत मार न कहनेका कोई प्रसंग नहीं है यहा तो वध दण्ड देने योग्य अपराधीको निरपराधी कहनेका निषेध किया है अत इस गाथाका नाम लेकर निरपराधी प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके लिये मत मार कहनेका निषेध करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

आगे चल कर इस गाथाका तात्पर्य्य बतलाने हुए भ्रमविध्वसन करने जो यह लिखा है कि ‘द्वेष आणीने हणो इम पिण न कहिगो, अनेत्याजीवारे राग आणीने मत हणो इम पिण न कहिणो’ यह भी अयुक्त है क्योंकि मूल गाथामें न तो राग शब्द है और न द्वेष शब्द, परन्तु भ्रम विध्वसनकारने दया धर्म को पाप बतलानेके लिये अपने मनसे राग और द्वेष घुसेड दिये हैं । इस गाथामे भाषा सुमतिकी उपदेश किया गया है राग द्वेषकी कोई चर्चा नहीं है अत मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें रागका नाम लेकर पाप बतलाना मूलगाथाका अभिप्राय न समझनेका परिणाम है ।

अब शीलाका चार्य्यकी टीका लिख कर इसका अर्थ बतलाया जाता है जिससे उक्त टीकाका नाम लेकर भ्र० वि० कारका फैलाया हुआ भ्रम दूर हो जाय । “तथाहि सिंह व्याघ्र मार्जारादीन् परस्त्वव्यापादन परायणान् दृष्ट्वा साधुर्मध्यस्थ्य मवलबधेत् तथाचोस्तम्—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्यानि सत्त्रगुणाधिकच्छिश्यमाना विनेयेषु”

अर्थात् जीवोकी हिंसा करनेमें तत्पर रहने वाले सिंह, व्याघ्र, मार्जार आदि प्राणियोंको दूर कर साधु मध्यस्थ होकर रहे । कहा है कि सब जीवोके साथ मैत्री और अधिक गुणगानोमें प्रमोद, क्लेश पाते हुए जीवो पर कृपा और अविनेय प्राणियों पर मध्यस्थ भाव रखना चाहिये ।

यहा टीकामे “सिंह व्याघ्र मार्जारादीन्” इस पदमें जो आदि शब्द आया है उस से पञ्चेन्द्रियघातक महारम्भी प्राणियोंका ग्रहण होता है साधुके सिवाय सभी जीवोंका नहीं इसलिए सिंह व्याघ्र और पञ्चेन्द्रिय जीवोका विघातक प्राणियोंके विषयमें ही मौन रहना, या मध्यस्थ भाव रखना शास्त्र सम्मत है क्लेश पाते हुए हीन दीन दुःखी जीवोंके

कर्ममें नहीं उन पर करुणा करना साधुओंका कर्तव्य है । इसलिये जो मरत प्राणी पर
 या नहीं करता और दया करके उसकी रक्षाका उपदेश नहीं देता वह अज्ञानी गव
 म्यादृष्टि है उसे शास्त्रीय रहस्यका ज्ञान नहीं है । जो लोग इस टीकामे आये हुए आदि
 मन्त्रसे साधुके सिवाय सभी जीवोंका महण होना मान कर साधुके मित्राय सभी जीवों
 को हिंसक और सभीके विषयमे मध्यस्थ भाव रखनेका उपदेश देते ह वे प्रिलुल्ल मूर्ख
 हैं । यदि साधुके सिवाय सभी हिंसक हैं और सभीके विषयमे मध्यस्थ भाव रखना शास्त्र
 का नियम है तो फिर मैत्री, प्रमोद, और कारण्य किस पर रखते जाए गे ? अत इस टीका
 का नाम लेकर साधुके सिवाय सभी प्राणियोंको हिंसक और उपदेशके द्वारा उनकी प्राण
 रक्षा करनेमें पाप बताना एकान्त मिथ्या है वास्तवमे पञ्चेन्द्रिय घात आदि महारम्भका
 कारण करने वाले जो प्राणी समझानेसे भी नहीं समझ सकते हैं उन्हींके विषयमे मौन रहने
 का या मध्यस्थ भाव रखनेका यहा उपदेश किया है मरते प्राणी पर , दया करके उपदेश
 नका नियम नहीं किया है उन पर करुणा करनी ही चाहिये, जो नहीं करता और
 करुणा करनेमे पाप कहता है उसे निहय और प्राणियोंका द्रोही समझना चाहिये ।

(बोल ९ वां समाप्त)

प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन वृष्ट १३५ पर आचाराग सूत्रका मूलपाठ लिख
 उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—“अथ इहा क्वो गृहस्थ माहो माहि छडे
 आक्रोश आदि करे छै तो इम चिन्तवगो नहीं एहनो आक्रोशो हणो रोको उद्वेग दु ख
 तावो । तथा एहने मतहणो मत आक्रोशो मत रोको उद्वेग दु ख मत उपजावो इमि
 उवगो नहीं । एहनो ए परमार्थ जे राग आगी जीवगो धाच्छी इम न चिन्तवगो
 एहने मतहणो उद्वेग दु ख न देवो । तो रागमे धमकिहाथी जीवगो धाच्छ्या
 किम कहिए अने जे हणो तेहने पाप टालिमाने तारिवाने उपदेश देई हिंसा छोडावे ते
 में छै” (भ्र० पृ० १३५।३६)

इसका क्या उत्तर ?

रूपक)

आचाराग सूत्रका मूल पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ

“आयाण मेयं भिवस्वस्स सागारिण उवस्सए मंबंसमाणस्स
 सलु गाहावईवा जाव कम्मकरीया अन्नमन्नं आक्कोसतिवा

वयंतिवा रुंभंतिवा उद्वंतिवा अहभिक्वू उचावथं मणं नियच्छेजा
एए खलु अन्नमन्न आक्कोसंतुवा मावा आक्कोसंतु जाव मावा
उद्वंतिवा”

(आचाराग श्रु० १ अ० २ उ० १)

अर्थ —

गृहस्थ जिस मकानमें रहते हैं उसमें साधुका रहना कर्मबन्धका कारण होता है क्योंकि उस मकानमें रहते हुए साधुके समक्ष यदि उस गृहका स्वामी या, कमकरी आदि, परस्पर आक्रोश करते हों या एक दूसरेको दण्ड आदिसे मारते हों रोक्ते हों या उपद्रव करते हों यह देव के साधु अपना मन ऊँचा नीचा करे, अर्थात् ये लोग परस्पर आक्रोश मत करें मत मारें मत रोक्ते मत उपद्रव करे या ये लोग पूज्योक्त कार्यों करें तो यह कर्मबन्धका कारण होता है इसलिये गृह के निवास स्थानमें साधुको नहीं रहना चाहिए । यह इस पाठका भावार्थ है ।

इस पाठमें कहा है कि जिस मकानमें सपरिवार गृहस्थ रहता हो उसमें साधु रहना कर्मबन्धका कारण है क्योंकि गृहस्थोंके घरोंमें कभी कभी पारिवारिक कलह होता है वह यदि साधुकी मौजूदगीमें हो और साधु उसे देख कर अपने मनको ऊँचा नीचा करे तो यह कर्मबन्धका कारण होता है । यहाँ मत मारो मत रोको मत उपद्रव करो इस भावनाको ऊँचा मन कहा है और मारो रोको उपद्रव करो इस भावनाको नीचा मन कहा है । परिवार वालोंके घरमें रहने पर साधुकी ऐसी भावना होना सम्भव है इस लिये शास्त्रमें परिवार वालोंके निवास स्थानमें साधुका रहना वर्जित किया है ।

इस पाठसे यह मतलब नहीं निकलता कि कोई हिंसक किसी पञ्चेन्द्रिय जीवका घात करना चाहता हो तो उसे देख कर न मारनेकी भावना करनेसे साधुको कर्मबन्ध होता है या उसे पाप लगता है क्योंकि इस पाठमें पारिवारिक कलहका वर्णन है जो कि गृहस्थोंके घरोंमें कभी कभी हो जाया करता है वह कलह किसीकी हिंसाके लिये नहीं होता क्योंकि परिवारमें परस्पर बड़ा भारी स्नेह होता है अतः वह कलह एक प्रकारके प्रणय कलह है उसका असर गृहस्थके साथ रहनेसे साधु पर भी पड़ सकता है उस निवृत्तिके लिये गृहस्थके मकानमें साधुका रहना वर्जित किया है हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षाके भयसे नहीं अतः इस पाठका नाम लेकर हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये उपदेश देनेमें पाप कहना अज्ञान परिणाम है ।

जो लोग इस पाठका तात्पर्य यह बतलाते हैं कि “किमी मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेकी भावना करना अनुचित है” उनसे कहना चाहिये कि आप लोग गृहस्थ

निवासभूत गृहमें क्यों नहीं रहते ? क्योंकि आपके हिसाबसे मरते प्राणी की प्राणरक्षा करनेकी भावना न करता हुआ माधु यदि गृहस्थके निवासभूत गृहमें भी रहे तो उसे कर्मबन्ध नहीं हो सकता है तथा दूसरी जगह रहता हुआ भी यदि मरते प्राणीकी प्राणरक्षा की भावना करे तो उसे कर्मबन्ध होगा । ऐसी दशमे गृहस्थके निवासभूत मकानमें साधुका रहना इस पाठमें क्यों वर्जित किया गया है ? सिफ मरते प्राणीकी प्राणरक्षा की भावना करना वर्जित कर देते परन्तु शास्त्रकारने मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेकी भावनाको वर्जित नहीं करके गृहस्थके निवासभूत मकानमें साधुका रहना वर्जित किया है । अतः मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश आदिमें पाप कहना अज्ञान है ।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमत्रिध्वंमनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १३७ पर आचारग सूत्रका मूलपाठ लिख उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अटे इम क्खो जे अग्नि लगाव तथा मत लगाव बुझाव इम पिण साधुने चिन्तवणो नहीं । तो लाय मत लगाव इहा स्यू आरम्भ छै ते माटे इमो चिन्तवणो नहीं । इहा ए गृहस्थ — जे अग्निथी कीडिया आदि घणा जीव मरस्ये त्या जीवार जीवणो बाळीने इम न चिन्तवणो जे अग्नि मत लगाव । अने अग्निरो आरम्भ तेहनो पाप दालिवा तहने तारिवा अग्निसे आरम्भ करवारा त्याग करा या धर्म छै पिण जीवणो बाळ्या धर्म नहीं” (अ० पृ० १३७)

इसका क्या समाधान ?

(प्रहृषक)

आचारग सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है वह पाठ यह है —

“आपाणमेय भिक्खुस्स गाहावइहिं सद्धिं वसमाणस्स इह खलुगाहावई अप्पणो स मट्ठाए अगणिकायं उज्जालिज्जावा पज्जालिज्जावा विज्जावेज्जवा, अहभिरत्तू उच्चावचं मणं निपच्छेज्जा ण्ते खलु अगणिकायं उज्जालेंतुवा मावाउज्जालेंतुवा पज्जालेंतुवा मावापज्जालेंतु विज्जवेंतुसू मावाविज्जवेंतुवा”

(आचारग श्रु० २ अ० २ उ० १)

अर्थ —

गृहस्थके निवासभूत गृहमें साधुका रहना कर्मबन्धका कारण होता है। गृहस्थ अपने कान्ठके लिये आग जलावे या बुझावे उस समय यदि साधुका मन ऊँचा नीचा हो अर्थात् गृहस्थ आग न जलावे या जलावे बुझावे या न बुझावे तो यह कर्मबन्धका कारण होता है इसलिये गृहस्थके निवासभूत गृहमें साधुको नहीं रहना चाहिये। यह इस पाठका अर्थ है।

इस पाठमें अग्नि जलानेसे मरने वाले कीड़े आदिकी रक्षाके लिये साधुको अग्नि नहीं जलानेकी भावना नहीं करनी चाहिये यह नहीं कहा है इसलिये अग्नि जलानेसे मरने वाले जीवोंकी रक्षाके लिये अग्नि नहीं जलानेकी भावनाको कर्मबन्धका कारण कदापि भ्रमविध्वसनकारका अज्ञान है।

भ्रमविध्वसनकारको जीवरक्षा न करना ही इस पाठका रहस्य सूझा है परन्तु इसका कारण क्या आपना स्वार्थ नहीं हो सकता है ? जैसे कि साधुको शीतकी पीडा हो रही हो तो उसके मनमें ऐसी भावना होना सम्भव है कि यह गृहस्थ आग जलावे तो अच्छा हो, एवं गर्मी लगने पर यह भावना होना भी सम्भव है कि यह गृहस्थ आग न जलावे तो अच्छा हो। इस प्रकार अपने स्वार्थके लिये साधुके मनमें आग जलाने और न जलानेकी भावना हो सकती है। ऐसी भावना गृहस्थके निवास स्थानमें रहने वाले साधुके मनमें सम्भव होना देख कर शास्त्रकारने गृहस्थके निवास स्थानमें साधुका रहना वर्जित किया है जीव बचानेके लिये उक्त भावनाका होना कर्मबन्धका कारण जान कर नहीं क्योंकि जीव बचाना और जीव बचानेके लिये जगतको उपदेश देना तो साधुका प्रधान कर्तव्य है सच पूछिये तो जैनागमका निर्माण ही जीवरक्षाके लिये हुआ है अत एव प्रश्न व्याकरण सूत्रमें “सर्व जग जीव रक्षणं दयतुयाए पाचयण भगवया सुकथिय” यह पाठ आया है। अत जीवरक्षामें पाप कहना और जीवरक्षा के लिये आग नहीं जलानेकी भावना को कर्मबन्ध का कारण धतलाना शास्त्र का रहस्य नहीं समझने का फल है।

भ्रमविध्वसनकारने जो इस पाठको व्याख्या की है उससे तो यहाका सारा शास्त्रीय सिद्धान्त ही विपरीत हो जाता है। भ्रमविध्वसनकार कहते हैं कि “आगमें जल कर मरने वाले जीवोंकी रक्षाके भावसे साधु यदि आग नहीं जलानेकी भावना करे तो यह कर्मबन्धका कारण है” इनके हिसाबमें साधु यदि आगसे जल कर मरने वाले जीवोंकी रक्षाकी भावनासे नहीं बरन् अपने स्वार्थसे आग न जलाने की भावना करे और गृहस्थके निवासभूत गृहमें रहे तो दोष न होना चाहिये। वृत्तिक इनके हिसाब से तो साधुको गृहस्थके निवासभूत मकानमें ही रहना चाहिये क्योंकि वहा रहनेसे जब जब

गृहस्थ आग जलाना या बुझाना चाहेगा तब तब साधु उसे समझा बुझा कर आग जलाने का बुझानेका निषेध कर सकता है इस प्रकार गृहस्थके तरनेमे और ज्यादा सुविधा ही होगी परन्तु शास्त्रकार गृहस्थके मकानमे साधुका रहना वर्जित करते हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपने स्वार्थके लिये ही साधुको पूर्णक भावना करना बुरा है जीव रक्षा करना बुरा नहीं है अतः उक्त पाठका उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमे पाप बतलाना अज्ञान समझना चाहिये ।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १३८ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दशका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं — “अथ अठे पिण क्खो जीव णो मरणो आपणो वाञ्छणो न्हो तो पारको क्याने वाञ्छमी” इत्यादि लिख कर हिंसक के हाथसे मार जाने वाले प्राणोंकी प्राण रक्षा करनेमें एकान्त पाप बतलात हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसन कारने भ्र० वि० पृ० ३५४ में लिखा है कि “अथ अठे क्खो साध्वी पानीमे डूबतीने साधु वाहिरे फाडे तो आजा उल्लाघे न्हो” इनके मतानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि साधु जब कि अपना या दूसरेका जीवन ही नहीं चाहता तब वह पानीमे डूबती हुई साध्वीको क्यों निकालता है ? तथा अपनी प्राण रक्षाके लिये साधु क्यों आहार करता है ? उत्तराध्ययन सूत्रके २६ वें अध्यायनमे अपनी प्राण रक्षाके लिये साधु को आहार करनेका विधान किया गया है वह गाथा यह है —

“वेघण वेघावच्छे श्रियद्वाए य संजमद्वाए

तह पाण वत्तियाए छट्ठं पुण धम्म चिन्ताए”

अर्थात् (१) क्षुधा और पिपासासे उत्पन्न हुई वेदनाकी निवृत्तिके लिये (२) क्षुधा और पिपासासे व्याकुल मनुष्य गुरु आदिकी सेवा नहीं कर सकता अतः गुरु आदिकी सेवा करनेके लिये (३) क्षुधा और पिपासासे व्याकुल मनुष्य विधिवत् ईश्या समितिमा पालन नहीं कर सकता अतः ईश्या समितिका पालन करनेके लिये (४) श्रुचातुर होकर यदि सचित्र धम्मका आहार कर लेता तो संयम ही महा कायम रह सकता अतः संयमसे रक्षाने लिये (५) अपने प्राणोंकी रक्षा करनेके लिये (६) धम्मकी चिन्ता लिये, साधुको आहार पानीका अन्यथा करना चाहिये ।

यहा स्पष्ट लिखा है कि अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये साधुको आहार पानोत्पन्न करनेपण करना चाहिये और टीकाकारने भी लिखा है कि “पाणवत्तिया एति प्राप्रत्ययं जीवत निमित्तम् अविधिनाह्यात्मनोऽपि प्राणोपक्रमणे हिंसा स्यात् ।”

अर्थात् अपने जीवनकी रक्षा करनेके लिये साधुको आहारका उत्पन्न करना चाहिये क्योंकि शास्त्रीय विधिसे विपरीत अपने प्राणोंको छोड़ना भी हिंसा करना है। यह उक्त टीकाका अर्थ है। यहा टीकामे साधुको अपने जीवनकी रक्षाके लिये आहार करना बतलाया है और मूल पाठमे भी यही बात कही है इस लिये साधु अपने जीवनकी रक्षा नहीं करते यह कहना मिथ्या है। जब कि साधु अपने प्राणोंकी रक्षा करते हैं तो वह दूसरे प्राणोंकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देवें तो इसमे पाप कैसे हो सकता है? या बुद्धिमानोंको विचार लेना चाहिये। उत्तराख्ययन सूत्रकी ऊपर लिखी हुई गायामे जैसे अपने प्राणोंकी रक्षाके लिये साधुको आहार करनेका विधान किया गया है उसी तरह भगवती सूत्र शतक १ उद्देश ९ मे पृथिवी काय आदिकी रक्षाके लिये साधुको प्रासु और एपणिक आहार लेनेका विधान किया है। वह पाठ यह है —

“फोसु एसणिज्जं भुंजमाणे समणे निगंथे आयाए धम्म
नाईक्कमइ आयाए धम्मं अणहक्कममाणे पुढविक्षायं अवकांखइ जा
तसकायं अवकांखइ”

(म० श० १ उ० ९)

अर्थ —

जो साधु प्रासुक और एपणिक आहार लेता है वह अपने धर्मका उल्लंघन नहीं करता और अपने धर्मका उल्लंघन नहीं करता हुआ साधु पृथिवी कायसे लेकर यावत् त्रस कायकी प्राण रक्षा करना चाहता है।

यहा पृथिवी कायसे लेकर यावत् त्रस कायके प्राणियोंकी प्राणरक्षा करनेके लिये साधुको प्रासुक और एपणिक आहार लेनेका विधान किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणियोंकी प्राण रक्षा करना भी साधुका कर्तव्य है। अतः ठाणाङ्ग सूत्रका नाम लेकर अपनी तथा दूसरेकी प्राण रक्षा साधु नहीं चाहते यह कहने वाले अज्ञानी हैं।

ठाणाङ्ग सूत्रके दशवें ठाणामे साधुको प्राप्त जीवनकी इच्छा करना वर्जित नहीं की है चिर काल तक जीते रहनेकी इच्छा वर्जित की गई है। वहा साधुको “जीवनाग्रसा”का निषेध किया है “आग्रसा” नाम है नहीं पायी हुई चीजके पानेका है। अभिधान राजेन्द्र कोशमें लिखा है “अप्राप्त प्राणमाशान्ना” अर्थात् नहीं पायी हुई चीजको पाना आशान्ना

। इस प्रकार जो जीवन प्राप्त नहीं है उसके पानेकी इच्छा करना यानी चिर फाल तक जीनेकी इच्छा करना "जीवनाशसा" कहलाती है वही साधुके लिये वर्जित की गई है तथा प्राप्त जीवनकी इच्छा वर्जित नहीं की है अन्यथा उत्तराध्ययन और पूर्वोक्त भगवत्की मूल पाठमे ठागाङ्ग सूत्रका रपट ही विरोध होगा अतः ठागाङ्ग सूत्रके मूल पाठ का नाम लेकर साधु अपने और दूसरेका जीवन नहीं चाहता यह कहना अज्ञान तथा एकान्त मिथ्या है ।

कोई कोई कहते हैं कि "असंयतिकी प्राण रक्षा करनेसे असयमका अनुमोदन लगता है" अतसे कइना चाहिये कि जो काम जिसको अच्छा नहीं लगना उसका अनुमोदन उसको नहीं लग सकता । साधु असयतिको असंयम सेवनके लिये उपदेश नहीं देता और उसके असयम सेवनको वह अच्छा भी नहीं समझता बल्कि वह असयतिको असंयम सेवनका त्याग करनेके लिये उपदेश देता है फिर असयतिकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश देनेसे साधुको उसके असयमका अनुमोदन कैसे लग सकता है ? यदि असयतिके बच जाने मात्रसे साधुको असंयमका अनुमोदन लग जाय तो फिर कसाईको तारने के लिये भी अहिंसाका उपदेश न देना चाहिये क्योंकि अहिंसाका उपदेश सुनकर कसाई यदि असंयतिको न मारे तो वह बच सकता है और बच कर वह असयमका सेवन कर सकता है । फिर कसाईको तारनेके लिये अहिंसाका उपदेश देने वालेको असयमका अनुमोदन क्यों नहीं लगता ? यदि कहो कि कसाईको तारनेके लिये उपदेश देनेपर यद्यपि असंयति बच जाता है और बच कर वह असंयमका सेवन भी कर सकता है तथापि साधुको असंयमका अनुमोदन नहीं लगता क्योंकि उसने असयम सेवन करानेके लिये कसाईको अहिंसाका उपदेश नहीं दिया है तो इमो तरह यह भी समझो कि मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेके लिये जो उपदेश देता है वह उस प्राणीका आर्त रौद्र ध्यान छुडाना चाहता है और कसाईको भी पापसे बचाना चाहता है वह यह नहीं चाहता कि यह प्राणी असयमका सेवन करे तो अच्छा हो इस लिये मरते हुए असयति प्राणीका आर्त रौद्र ध्यान छुडानेके लिये उमकी प्राण रक्षा करनेसे असयमका अनुमोदन घटलाना मिथ्या वादियोंका कार्य है ।

(बोल १२ वां)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १३८ पर सुय० सू० अ० १० गाथा २४ एवं सूय० श्रुत० १ अ० १३ गाथा २६ वीं की लिख कर घटलाते हैं कि इन

ओंमें साधुको अपने जीने और मरनेकी इच्छा करना वर्जित की गई है अतः दूसरे प्राणी मरने और जीनेकी इच्छा भी न करनी चाहिये । इस प्रकार साधु जब कि दूसरे प्राणीकी जीवनकी ही इच्छा नहीं रखता तब फिर वह मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश कैसे दे सकता है ? अतः मरते प्राणीको प्राण रक्षाके लिये उपदेश देना एकान्त पाप है इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुय गडाग सूत्रकी दो गाथाओंका नाम लेकर हिंस्रके हाथसे मारे जाने वाले प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये धर्मोपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना मिथ्या है । उन गाथाओं में भी ठाणाङ्ग ठाणा दशमे कहे हुये “जीविताशसा सप्रयोग” मरणाशसा सप्रयोग की तरह साधुको चिर काल तक जीवित रहने और शीघ्र मर जानेकी इच्छा ही वर्जित की गई है यथा प्राप्त जीवन और यथा काल मरणकी इच्छा वर्जित नहीं की है अन्यथा उत्तराध्ययन सूत्रकी पूर्व लिखित गाथाके साथ सूय० की गाथाओंका भी विरोध पड़ेगा क्योंकि उत्तराध्ययनकी पूर्व लिखित गाथामें, साधुको अपने जीवन रक्षार्थ आहार अन्वेषण करनेका विधान किया है और भगवतीजीके पूर्ण लिखित पाठमें पृथिवी कायम लेकर यान्त्रिक न्यायकी रक्षाके लिये साधुको प्रासुक और एषणिक आहार लेनेका विधान किया है ऐसी दशामे सूय गडाग सूत्रकी गाथाओंमें साधुको अपने जीवन और मरणकी इच्छा करना नहीं वर्जित की जा सकती है ? क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र और भगवतीके उक्त पाठोंसे विरोध पड़ता है अतः सुय गडाग सूत्रकी गाथाओंका यही भाव है कि साधु चिर काल तक जीवित रहने और शीघ्र मर जानेकी इच्छा न करे यथा प्राप्त जीवन और यथा काल मरणकी इच्छाका निषेध नहीं किया है । अतएव सुय गडाग सूत्र की उक्त गाथाओंकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि—

“जीवित मसयम जीवित दीर्घायुष्क वा स्थावर जगम जन्तुदण्डेन नाभिकारि स्यात्”

अर्थात् साधु, स्थावर जगम जन्तुओंको दण्ड देकर असयमके साथ जीवित रहने, या चिर काल तक जीवित रहनेकी इच्छा न करे ।

यहां प्राणियोंकी हिंसा करके तथा चिर काल तक जीवित रहनेकी इच्छा करना साधुको वर्जित की गई है परन्तु प्राणियोंकी रक्षा करके और यथा प्राप्त जीवित रहनेकी इच्छा वर्जित नहीं की है । इस लिये साधु जीवोंकी रक्षाके साथ यथा प्राप्त जीवनकी इच्छा करते हैं और इसी इच्छासे प्रेरित होकर वे मरते प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश

भी दत्त हैं मारने वाले और मरने वाले दोनों ही से वे जीव रक्षा करनेका उपदेश देते हैं । साधुका परम कर्तव्य है कि वह जीव रक्षा करनेका आदेश जगह जगह पहुँचा दें और सभी जीवोंको हिंसककी छुरीसे बचा दें । पहले कहा जा चुका है कि जीव रक्षाके लिये ही जैनागमका निर्माण हुआ है । अतः जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें जो एकान्त पापकी स्थापना करते हैं वह एक प्रकारका हिंसक और मिथ्या दृष्टि है ।

सुयगडाग सूत्रकी उक्त गाथाओंमें “नो जीविअनो मरणावकस्वी” इस वाक्यमें “नो अवकस्वी” ये पद आये हैं इनको देख कर कई भ्रम जालमें पड़कर कहने लगते हैं कि “यहा तो जीवनकी इच्छा करना साफ साफ वर्जित की गई है फिर साधु किसो मरते प्राणीकी रक्षा क्यों कर सकता है ? उन भ्रातः पुरुषोंसे कहना चाहिये कि जैसे सुयगडाग सूत्रकी उक्त गाथाओंमें “नो अवकस्वइ” यह पाठ आया है वसी तरह भगवती शत्रु १ उद्देश ९ में “पुढवी काय अवकस्वइ जाव तसकाय अवकस्वइ” इस पाठमें “अवकस्वइ” यह पाठ आया है इसका अर्थ, पृथिवी कायसे लेकर यावन्त्रम कायके जीवोंको जीवरक्षा की इच्छा करना है इसके विरुद्ध सुयगडाग सूत्रमें जीवन रक्षा की इच्छा करना कैसे वर्जित की जा सकती है ? अतः सुयगडाग सूत्रके उक्त पाठका यही आशय है कि साधु चिरकाल तक जीते रहनेकी इच्छा नहीं करे यथाप्राप्त जीवन रक्षाकी इच्छा करनेका निषेध नहीं है अतः सुयगडाग सूत्रका नाम लेकर जीवरक्षाके लिये उपदेश देनेमें पाप करना एकान्त मिथ्या है ।

[बोल १३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृष्ठ १४० । १४१ । १४२ के ऊपर सुयगडाग सूत्र श्रुत० १ अ० १५ गाथा १० तथा उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० ३ उ० ४ गाथा १५ एवं उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० ५ गाथा ३ तथा उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० १ गाथा ३ और उक्त सूत्र श्रुत० १ अ० २ उ० २ गाथा १६ का नाम लेकर हिंसकके हाथसे मार जाने वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें पाप बतलाते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युक्त)

भ्रमविध्वंसनकारकी लिखी हुई सुयगडाग सूत्रकी गाथाओंमें छ कायके जीवोंकी रक्षा करके साधुको जीवित रहनेकी इच्छाका निषेध किया गया है परन्तु छ काय

जीवोकी रक्षाके साथ जीवित रहनेकी इच्छा नहीं वर्जित की है अत उक्त गाथाका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप घतलाना मूर्खता है ।

सुयगडाग सूत्र श्रुत० १ अ० १५ के दशमीं गाथामे लिखा है कि “जीविय पाठ् ओकिच्चा” इसका भाव यह है कि “साधु असयम (हिंसा) सहित जीवनको पीछे न देवे” इससे प्राणियोंकी रक्षाके साथ जीवित रहना स्पष्ट सिद्ध होता है ।

इसी तरह सूय० श्रु० १ अ० ३ उ० ४ के गाथा १५ मे भी असयम यानी हिंस के साथ जीना ही निषेध किया गया है रक्षाके साथ जीनेका निषेध नहीं किया है वह जो “नाव करजति जीविय” यह वाक्य आया है उसका यही आशय है कि “साधु असयम (हिंसा) के साथ जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करते” इससे जीवरक्षाके साथ जीवकी इच्छा करनेका निषेध नहीं सिद्ध होता । एवं सुयगडाग सूत्र श्रुत० १ अ० ५ उ० १ गाथा ३ मे अपने जीवनके निमित्त दूसरे प्राणियोंको भय देने, और हिंसादि पापोंके आचरण करनेमे नरक जाना कहा है प्राणियोंको अभयदान देने, और उनकी रक्षा करनेसे नरक होना नहीं कहा है देखिये वह गाथा यह है —

“जेकेइ बाले इह जीवियट्टी पावाइं कम्माइं करेतिरुदा । ते घोर
रुवे तिमिसद्धुपारे तीब्बाभितावे नरए पतन्ति”

अर्थ —

(सूय० श्रु० १ अ० ५ उ० १ गाथा ३)

अर्थात् जो अज्ञानी पुरुष, अपने जीवनके लिये दूसरे प्राणियोंको भय देना है और हिंसादि घोर कर्म करता है वह तीन तापयुक्त अन्यायकार परिपूर्ण घोर नरकमें पडता है ।

यहां प्राणियोंको भय देने, और उनकी हिंसा करनेसे नरक जाना कहा है प्राणियोंको अभयदान देने, और उनकी रक्षा करनेसे नरक जाना नहीं कहा है अत इस गाथाका नाम लेकर हिंसकके हाथसे मारे जाने वाले प्राणी की प्राणरक्षा करने के लिये उपदेश देनेमें पाप घतलाना एकान्त मिथ्या है ।

इसी तरह सुय० श्रु० १ अ० १० गाथा तीसरीका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप घताना मिथ्या है देखिये वह गाथा यह है —

“सुयक्खाय धम्मे वित्तिगिच्छतिन्ने

लाढेचरे आय तुले पयासु -

आयानं कुञ्जा इह जीवियट्टी

वर्यं न कुञ्जा सुतवस्सिभिवरू”

(सूय० श्रु० १ अ० १० गाथा ३)

अथात् धीतराम भाषित धमका आचरण करने वाला संशयरहित, ज्ञान दर्शन सम्पन्न
 रूप तपस्वी साधु प्राणिक आहारसे अपना जीवन निर्वाह करे और समयके पालनमें सदा दत्त-
 अप रहे, तथा सब प्राणियों को आत्म तुल्य देखता हुआ आत्म का सेवन नहीं करे एव
 जीवन (हिंसा के साथ जीवन) और परिग्रह रूप संजय की इच्छा नहीं करे । यह इस
 गाथा का अर्थ है ।

इस गाथामें कहा है कि "साधु अपने समान सब प्राणियोंको देखे" अतः अपने
 समान सब प्राणियोंको देखना जब साधुका कर्तव्य है तो जिस प्रकार साधु अपनी रक्षा
 करनेमें पाप नहीं ममज्ञता उसी प्रकार उसे किसी भी प्राणीकी रक्षा करनेमें पाप नहीं
 ममज्ञता चाहिये । इस प्रकार इस गाथासे जीवरक्षा करना साधुका कर्तव्य सिद्ध होता है
 अतः जीवमलजनीने इसी गाथाका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप घतानेकी चेष्टा की
 बुद्धिमानोंको विचार कर देखना चाहिये कि इस गाथासे जीवरक्षा करनेमें धर्म सिद्ध
 है या पाप ?

एक साधारण बुद्धिवाला भी इस गाथाको देख कर जीव रक्षा करनेमें धर्म ही
 है या पाप नहीं कह सकता । तथा इस गाथामें भी पूर्व गाथाओं की तरह असयम
 (हिंसा) के साथ जीवित रहना ही वर्जित क्रिया है रक्षार्थे साथ जीवित रहने का
 अपेक्ष नहीं है अतः इस गाथा का नाम लेकर जीव रक्षा करने में पाप कहना
 ठीक है ।

इसी तरह सूय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६ वीं का नाम लेकर मरते जीवकी प्राण-
 रक्षण करनेमें पाप घतलाना मिथ्या है देखिये वह गाथा यह है —

“नो अभिकलेज्ज जीवियं नावि य पूयण पत्थएसिया । अज्जत्थ
 भंति भेरवा सुन्नो गारगयस्स भिकूवुणो”

(सूय० श्रु० १ अ० २ गाथा १६)

अर्थात् शून्य गृहमें निवास करते हुए साधुके निकट यदि भैरवादि छत्र उपद्रव हो तो उन
 को दूर कर भागना नहीं चाहिये किन्तु अपने जीवनकी परवाह न करके उन उपद्रवका सहन करना
 उचित है यह सहन अपनी मान पूजा घटार्थक लिण नहीं किन्तु स्वाभाविक होना चाहिये । यह इस
 गाथाके टीकासुसार अर्थ है ।

इस गाथामें अभिमदवागी साधुके लिये भैरवादि छत्र उपद्रव सहन करनेका उप-
 द्योग्य क्रिया गता है, किसी हिंसकके हाथसे मारे जान वाले प्राणीकी प्राणरक्षा करनेका

निषेध नहीं किया है अतः इस गाथाका नाम लेकर मरते जीवकी प्राणरक्षा करने में कहना मूर्खता है ।

(बोल १४ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४३ पर उत्तराध्ययन सूत्र अ० ४ गाथा सातवींको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे पिण कइयो अन्न पानी आदि देई संयम जीवितव्य बधारणो पिण औ मतलब नहीं ते किम उग जीवितव्यरी वाञ्छा नहीं एक सयमरी वाछा । आहार कता पिण सयम छै आहार करणरी पिण अब्रत नहीं तीर्थकर री आज्ञा छै अने श्रावक नीत आहार अब्रतमे छै तीर्थकरनी आज्ञा वाहिरे छै । श्रावकने तो जेतलो जेतलो पच करण छै ते धर्म छै ते माटे अद्यम जीवन मरणरी वाछा करे ते तो अब्रतमे (भ्र० पृ० १४३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिख कर इसका समाधान किया जाता है व गाथा यह है —

“चरे पयाईं’ परिसङ्कमाणो जंकिंचि पासं इह मन्नमाणो
लाभंतरे जीविय बृहद्दत्ता पच्छा परिन्नाय मलावधंसी,,

(उत्तरा० अ० ४ गाथा ७)

अर्थ —

किसी तस प्राणीकी विराधना न हो जाय इसलिये साधु अपने पैरको शङ्काके साथ पृष्ठ पर रख कर चले । गृहस्थ लोग यदि थोडा भी प्रशंसा करें तो उसे पासके समान कर्मकरण कारण समझे । ज्ञान दान और चारित्रिके विशेष लाभार्थे धन्न पानादिके अपने जीवन का रक्ष करे । जब ज्ञान दर्शन और चारित्रिकी प्राप्ति हो जाय और अपना शरीर भी रोगदिके शस्त वा घृद्ध हो जाय, तथा साधुको ज्ञात हो कि इस शरीरसे अब ज्ञान दर्शन और चारित्रिका उपार्जन नहीं हो सकता, तब वह शास्त्रीय विधानसे अपने शरीरका त्याग कर देवे । यह इस गाथाका ठाक नुमार अर्थ है ।

इसमे कहा है कि साधु ज्ञान दर्शन और चारित्र आदि गुणका उपार्जन करनेके लिये अन्न पानादिके द्वारा अपने जीवनकी रक्षा करे । इससे मरते हुए प्राणीकी प्राण रक्षाके लिये उपदेश आदि देना भी साधुका कर्त्तव्य सिद्ध होता है क्योंकि प्रश्न व्याक-

रक्षादि सुखोंमें जीवोंकी रक्षा करना गुण कहा गया है और गुणका उपार्जन करनेके लिये हम गायामें साधुको जीवनरक्षा करना कहा है इसलिये जो साधु उपदेश आदिके द्वारा मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करता है वह गुणका उपार्जन करना है पापका उपार्जन नहीं करता अतः इस गाथाका नाम लेकर मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेके लिये उपदेश देनेमें एकान्त पाप कहना अज्ञान है ।

इस गाथाकी समालोचनामें भ्रमविध्वंसनकारने साधुके भोजनको स्वतः प्रथममें बतलाया है यह भी इनकी भारी भूल है यदि भोजन करना स्वतः प्रथममें है तो जैसे अधिकमें अधिक उपवास करना उत्तम है उसी तरह अधिकसे अधिक भोजन करना भी साधुके लिये गुण होना चाहिये । जो साधु अधिकसे अधिक और बार बार भोजन करे वह जीतमलजीके हिसानमें बहुत ही उत्तम समझा जाना चाहिये । जैसे अधिकसे अधिक उपवास करने वाला साधु उत्कृष्ट प्रतधारी समझा जाता है उसी तरह अधिक से अधिक भोजन करनेवाला साधु जीतमलजीके मतमें उच्चश्रेणिका प्रतधारी समझा जाना चाहिये । परन्तु शास्त्र ऐसा नहीं कहता शास्त्र तो साधुको कारणवश आहार करनेका आदेश देता है और और अकारणसे तथा बार बार अधिक आहार करनेवाले साधुको पाप श्रमण कहता है इसलिए साधुका भोजन करना उपवासादिकी तरह साक्षात् प्रथममें नहीं है उसे स्वतः प्रथममें गिनना अज्ञानका परिणाम है । साधुका कारणवश आहार करना उसके प्रथमका उपकारक है इसलिए वह अग्रतमें नहीं है और उपवासादिकी तरह वह साक्षात् प्रथम स्वरूप भी नहीं है अतः साधुके भोजनको उपवासादिकी तरह साक्षात् प्रथम स्वरूप बतलाना अज्ञानियोंका कार्य है ।

जैसे साधुका आहार करना उसके प्रथमका उपकारक होनेसे अग्रतमें नहीं है उसी तरह बारह प्रतधारी श्रावक का भोजन भी उसके प्रथमका उपकारक होनेसे अग्रतमें नहीं है । श्रावकको अग्रतकी क्रिया लगती भी नहीं है यह विस्तारके साथ पहले कहा जा चुका है अतः साधुके आहारको उपवासादिकी तरह माक्षान् प्रथममें, और श्रावकके आहारको अग्रतमें मानना मिथ्यात्वका परिणाम समझना चाहिये ।

इसी तरह मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेसे असंयम जीवनकी इच्छा बतलाना भी मिथ्या है हिंसा करके जीवित रहनेकी की इच्छा करना असंयम जीवनकी इच्छा करना, या उसका अनुमोदन करना है गन्धके साथ जीवित रहनेकी इच्छा करना असंयम जीवनकी इच्छा नहीं है अतः मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेसे असंयम जीवनकी इच्छा बतलाना भ्रमविध्वंसनकारका एकान्त मिथ्या है ।

(बोल वां १५ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंससन कार भ्र० वि० पृष्ठ १४४ पर सूयगडाग सूत्रकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं "अथ अठे पिण सयम जीवितव्य दोहिलो फहो पिण और जीवितव्य दोहिलो न फहो" भ्रम पृ० १४४)

इनका आशय यह है कि हिंसकके हाथसे मारे जाने जानेवाले असयति जीवकी रक्षा करना असयम जीवनकी इच्छा करना है इसलिये साधुको मरते प्राणीकी रक्षके लिये उपदेश नहीं देना चाहिये । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सूयगडाग सूत्रकी वह गाथा लिखकर इसका समाधान किया जाता है । वह गाथा निम्नलिखित है—

"संवुज्झह, किं न बुज्झह संवोही खलुपेच दुल्लहा,

नोह्वण मंति राहयो नो सुलभं पुनराविजीविणं"

(सू० भ्रु०१ २ गाथा १)

अर्थ —

हे प्राणियों ! तुम सम्यग् ज्ञान आदिकी प्राप्ति करो, तुम इसकी प्राप्ति क्यों नहीं करत यदि इस भ्रममें नहीं किया तो परलोकमें करना दुर्लभ होगा । जो रात घेत जाती है वह फिर छोट कर नहीं आती । संसारमें संयम प्रधान जीवन दुर्लभ है अथवा जिस जीवनकी साधु दूट गई है वह फिर नहीं जुट सकती । यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इसमें सयम प्रधान जीवनको दुर्लभ कहा है । जो जीवन हिंसासे निवृत्त होकर रक्षके साथ साथ व्यतीत होता है वही सयम जीवन है इसलिये जो साधु मरते प्राणीकी रक्षा करता है उसका जीवन संयम जीवन है असयम जीवन नहीं है । रक्षा करनेसे सयमकी निर्मलता होती है इसलिए संयमी पुरुष जीव रक्षा करते हैं इसमें पाप करना अज्ञानका परिणाम है । ऊपर लिखी हुई गाथामें 'ऐसा एक भी शब्द नहीं है जिससे जीवरक्षामें पाप होनेका समर्थन किया जा सके तथापि जीतमलजीने झूठाही इस गाथाका नाम लेकर रक्षा करनेमें पाप सिद्ध करनेकी चेष्टा की है अत बुद्धिमानोको इनके कथनका विश्वास न करना चाहिये ।

(बोल १६ वां)

(प्रेरक)

भूम विध्वंसनकार भूमविध्वसन पृष्ठ १४५ के ऊपर उत्तगध्ययत सूत्र अध्ययन ९ की १२।१३ और १४ की गाथाओको लिखकर उनकी समालोचना

करते हुए खिरते हैं—“अथ अठे इम कश्चो मिथिला नगरी बलनी देण नमिराज ऋषि साहमो न जोयो वली कश्चो म्हारो वाहलो दुवाहलो एकही नहीं, रागद्वेष अकरवा मांटे तो साधु मितक्रियादिकरे छारे पढ़ने उ दुरादिक जीमाने वचावे ते शुद्ध के अशुद्ध अस-
तिरा गरीरनी जाब्जा करे ते धर्म के अधर्म” (भ० पृ० १४५)

(प्ररूपक)

नमिराज ऋषिका दाखला देकर मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञान है। नामिराज ऋषि प्रत्येक बुद्ध साधुओंका आचार स्थविर कल्प वालोंसे कियेनेही अशोभे भिन्न होना है। वे किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षा नहीं करते शिष्य भी नहीं करते और अहाण पानी लाकर किसी साधुका व्यायच भी नहीं करते वे सधके अन्दर न रहकर अकेला रहते हैं जीतमलजीनेभी पडिमाधारी साधुके विषयमें यह यह लिखा है—“जे पडिमा धारी किणहीने मथारो पिण पच खाये नहीं कोईने दीक्षा दवे नहीं थावकरा व्रत आदराने नहीं उपदेण देवे नहीं। पडिमाधारी धर्मोपदेशकादिक कोईने देवे नहीं एतो एकान्त आपरोइज उदार करवाने उठ्या छै। तो पोते किणही जीवने हणे नहीं एतो आपरी अनुकम्पा कर पिण परनी न करे। जिन ठाणाङ्ग चौथे ठाणे उदेशा ४ कर्यो “आयाणु कम्पण नाम मेगे जो परालु कम्पण’ आत्मानीज क्नुकम्पा करे पिण परनी न करे ते जिन कल्पी आदिक। इहा पिण जिन कल्पिक आदि कश्यो ते आदिक शब्दमे तो पडिमाधारी पिण आया त आपरीज अनु-
कम्पा करे पिण परनी न करे तो जीवने नहणे ते आरीज अनुकम्पा छै” यह लियकर जीतमलजीने पडिमाधारी साधुको अपने पर अनुकम्पा करनेजाला और दूसरे पर नहीं करनेजाला बतलाया है और इसमे प्रमाण देनेके लिये ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा चौथेका मूल पाठ लिखा है। उस मूलपाठमे जिन कल्पी आदिक शब्द नहीं है परन्तु उमकी टीकामे लिखा है कि अपने पर अनुकम्पा करनेजाले और दूसरे पर अनुकम्पा नहीं करनेजाले तीन प्रकारके जीव होते हैं (१) प्रत्येक बुद्ध साधु, (२) जिन कल्पी (३) और परोपकार बुद्धि रहित निर्दय। इस टीकाके अनुसार प्रत्येक बुद्ध साधु दूसरकी अनु-
कम्पा नहीं करते यह बात सर्वमान्य है और जीतमलजीको भी स्वीकृत है ऐसी दशामे प्रत्येक बुद्ध साधु नमिराज ऋषिका उदाहरण देकर स्थविर कल्पीको जीव रक्षा करनेमें आप बतलाना किना महान् अज्ञान है यह बुद्धिमानको देखना चाहिये। प्रत्येक बुद्ध अपनी ही अनुकम्पा करते हैं दूसरेकी नहीं और स्थविर कल्पी अपनी तथादूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करते हैं फिर प्रत्येक बुद्धके उदाहरणसे स्थविर कल्पीको जीवरक्षा करनेमें पाप कैसे कहा जा सकना है ?। प्रत्येक बुद्धका कल्प दूसरा है और स्थविर

कल्पीका कल्प दूसरा है अतः इन दोनोंके कार्य एक समान नहीं हो सक्त। जे नमिराजके उदाहरणसे जीव रक्षा करनेमे पाप कहते हैं उनसे कहना चाहिए कि प्रत्येक बुद्ध साधु शिष्य नहीं करते धर्मोपदेश नहीं देते आहार व पानी लाकर किसी साधुका व्यावच नहीं काते इसलिए तुम्हारे हिमानसे स्थविर कल्पी साधुको भी ये कार्य नहीं करन चाहिए और जो स्थविर कल्पी इन कार्योंको करे उसे एकान्त पाप होना चाहिए। यदि कहो कि प्रत्येक बुद्धका कल्प दूसरा और स्थविर कल्पीका दूसरा है इसलिए इन कार्योंसे प्रत्येक बुद्धको ही दोष आता है स्थविर कल्पीको नहीं आता तो उसी तरह जीवरक्षाक विषयमे भी तुम्हको मानना चाहिए अर्थात् जीवरक्षा करनेमे स्थविर कल्पीको धर्म होता है और उसका यह कल्प है परन्तु प्रत्येक बुद्धका यह कल्प नहीं है। अतः प्रत्येक बुद्ध साधुका उदाहरण देकर स्थविरकल्पी साधुको जीव रक्षा करनेमे पाप कहना अज्ञानका परिणाम है।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रने नमिराज ऋषिसे यह नहीं पूछा था कि मरते जीवकी रक्षा करना धर्म है या पाप है ? यदि वह ऐसा पूछते और इसके उत्तरमे नमिराज ऋषि जीव रक्षा करना पाप बतलाते तो अवश्य जीवरक्षा करनेमे पाप माना जाता परन्तु वहा तो इन्द्रने माया करके नमिराज ऋषिकी ससारिक पदार्थों में आसक्ति न होनेकी परोक्षा की है और नमिराज ऋषिने यह स्पष्ट कह दिया है कि “मिथिलाए डङ्गमाणीए नमे डङ्गइ किचण” अर्थात् मिथिलाके जलजाने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता। ऐसा उत्तर देकर नमिराज ऋषिने ससासारिक पदार्थोंसे अपना ममत्त्व हट जाना बतलाया है परन्तु मरते जीवको रक्षा करनेमे पाप नहीं कहा है क्योंकि इन्द्रका यह प्रश्न ही नहीं था अतः नमिराज ऋषिके उदाहरणसे जीवरक्षा करनेमे पाप कहना अज्ञानियोका कार्य है।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भूमविध्वसनकार भूमविध्वसन पृष्ठ १४६ पर दशवैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—“अथ अठे पिण कस्यो देवता मनुष्य तिर्क्यञ्च माहोमाही कल्ह करे तो हार जीत वाञ्छणी नहीं तो कायाथी हार जीत किम करावणी असयति ना शरीरनी साता करते तो सावय है” (भू० पृष्ठ १४६) इसका क्या समाधान ?

(प्रसूतक)

दशवैकालिक सूत्रकी गाथाका नाम लेकर मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप करना एकान्त मिथ्या है। यह बात इन गाथासे किसी प्रकार भी नहीं सिद्ध होती, किन्तु यह गाथा यह है —

“देवाणं मणुषाणश्च तिरियाणंच वुग्गहे
जमुयाणं जपो होउं मावा होउत्तिणोवए,,

(दशवैकालिक सूत्र अ० ७ गाथा ५०)

अर्थ—

दस्ता, मनुष्य और तिर्य्यञ्चोके परम्पर युद्ध होने पर अमुककी जीत हो और अमुककी जीत हो यह साधुको नहीं कहना चाहिये ।

यहां देवता मनुष्य और तिर्य्यञ्चोके युद्ध होने पर किसी एक पक्षकी हार या जीत कहनेका निषेध किया गया है क्योंकि साधुको मध्यस्थ भाव रखना ही शास्त्र सम्मत है किन्ती एक पक्षका श्रेय और दूसरे पक्षका अहित चाहना उचित नहीं है इस लिये जो दलोंमें युद्ध होने पर एक दलकी जीत और दूसरे दलको हार होनेकी बात कहना साधुको उचित नहीं है। ऐसे समयमें, जब कि दोनों दल वाले लड़ रहे हों साधु समझा लूना कर युद्ध बन्द करादे और युद्धमें मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षा कर तो उसका इस गाथाका निषेध नहीं है एक दलके पक्षपात करनेका और दूसरे पर द्वेष करने का यहां निषेध है इस लिये इस गाथा का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना अज्ञान का परिणाम है ।

इसी गाथाका नाम लेकर जीतमलञ्ची कहते हैं कि “बिल्लीसे मारे जाते हुए चूहे की रक्षा करना एकान्त पाप है क्योंकि यह बिल्ली पर द्वेष और चूहे पर राग करना है, तथा बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना है” परन्तु यह इनका अज्ञान है। बिल्लीसे मार जाते हुए चूहेकी रक्षा करना चूहेकी अनुकम्पा करना है अनुकम्पा करना पाप नहीं किन्तु धर्म है और यह बिल्ली पर द्वेष करना नहीं है क्योंकि जो बिल्ली चूहे को मारना चाहती है उसी बिल्लीको यदि कोई कुत्ता आदि मारना चाहे तो दयालु पुरुष, कुत्तेसे उस बिल्लीकी भी रक्षा करता है यदि बिल्ली पर उसका द्वेष होता तो वह कुत्ते से बिल्ली को क्यों बचाता ?

इसके सिवाय बिल्लीसे चूहेकी रक्षा करना बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना नहीं है क्योंकि हार और जीत का व्यवहार युद्धमें होता है परन्तु चूहेके साथ बिल्लीका

कल्पिका कल्प दूसरा है अतः इन दोनोंके कार्य एक समान नहीं हो सकत। जो नमिराजके उदाहरणसे जीव रक्षा करनेमें पाप कहते हैं उनसे कहना चाहिए कि प्रत्येक बुद्ध साधु शिष्य नहीं करते धर्मोपदेश नहीं देते आहार व पानी लाकर किसी साधुका व्यावच नहीं कात इसलिए तुम्हारे हिसाबसे स्थविर कल्पी साधुको भी ये कार्य नहीं करते चाहिए और जो स्थविर कल्पी इन कार्योंको कर उसे एकान्त पाप होना चाहिए। यदि कहो कि प्रत्येक बुद्धका कल्प दूसरा और स्थविर कल्पिका दूसरा है इसलिये इन कार्योंसे प्रत्येक बुद्धको ही दोष आता है स्थविर कल्पिको नहीं आता तो उसी तरह जीवरक्षाके विषयमें भी तुझको मानना चाहिए अर्थात् जीवरक्षा करनेमें स्थविर कल्पिको धर्म होता है और उसका यह कल्प है परन्तु प्रत्येक बुद्धका यह कल्प नहीं है। अतः प्रत्येक बुद्ध साधुका उदाहरण देकर स्थविरकल्पी साधुको जीव रक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका परिणाम है।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रने नमिराज ऋषिसे यह नहीं पूछा था कि मरते जीवकी रक्षा करना धर्म है या पाप है ? यदि वह ऐसा पूछते और इसके उत्तरमें नमिराज ऋषि जीव रक्षा करना पाप बतलाते तो अवश्य जीवरक्षा करनेमें पाप माना जाता परन्तु वहा तो इन्द्रने माया करके नमिराज ऋषिकी सप्ताहिक पदार्थोंमें आसक्ति न होनेकी परीक्षा की है और नमिराज ऋषिने यह स्पष्ट कह दिया है कि “मिथिलाप डङ्गमाणीए नमै डङ्गइ किचण” अर्थात् मिथिलाके जलजाने पर भी मेरा कुछ नहीं जलता। ऐसा उत्तर देकर नमिराज ऋषिने सप्ताहिक पदार्थोंसे अपना ममत्व हट जाना बतलाया है परन्तु मरते जीवको रक्षा करनेमें पाप नहीं कहा है क्योंकि इन्द्रका यह प्रश्न ही नहीं था अतः नमिराज ऋषिके उदाहरणसे जीवरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानियोका काव्य है।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भूमविध्वसनकार भूमविध्वंसन पृष्ठ १४६ पर दशवैकालिक सूत्रकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—“अथ अठे पिण कश्चो देवता मनुष्य विघ्नोच्च माहोमाही फलह करे तो हार जीत वाञ्छणी नही तो फायथी हार जीत किम करावणी असंयति ना शरीरनी साता करेते तो सावद्य है” (भू० पृष्ठ १४६) इमका क्या समाधान ?

प्रत्येक)

दशवैकालिक सूत्रकी गाथाका नाम लेकर मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप ना एकान्त मिथ्या है । यह बात इन गाथामें किसी प्रकार भी नहीं सिद्ध होती, बर्ये वह गाथा यह है —

“देवाणं मणुयाणश्च तिरियाणंच युग्गहे
अमुयाणं जयो होउ' मावा होउत्तिणोवए,,

(दशवैकालिक सूत्र अ० ७ गाथा ५०)

तं —

देवता, मनुष्य और तिर्यग्शोचि पाप्मण युद्ध होने पर अमुककी जीत हो और अमुककी जीत हो यह साधुको नहीं कहना चाहिये ।

यहां देवता मनुष्य और तिर्यग्शोचि युद्ध होने पर किसी एक पक्षकी हार या उ कहनेका निषेध किया गया है क्योंकि साधुको मध्यस्थ भाव रखना ही शास्त्र मत है किसी एक पक्षका श्रेय और दूसरे पक्षका अहित चाहना उचित नहीं है इससे दो दलोंमें युद्ध होने पर एक दलकी जीत और दूसरे दलकी हार होनेकी बात कहना उचित नहीं है । जैसे समयमें, जब कि दोना दल वाले लड़ रह हो साधु समझा कर युद्ध बन्द करादे और युद्धमें मारे जाने वाले जीवोंकी रक्षा करे तो उसका इस नाम निषेध नहीं है एक दलके पराजित करनेका और दूसरे पर द्वेष करने का यहा निषेध है इस लिये इस गाथा का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना अज्ञान का काम है ।

इसी गाथाका नाम लेकर जीतमलज्जी कहते हैं कि “बिल्लीसे मारे जाते हुए चूहे रक्षा करना एकान्त पाप है क्योंकि यह बिल्ली पर द्वेष और चूहे पर राग करना है, बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना है” परन्तु यह इनका अज्ञान है । बिल्लीसे मारे जाते हुए चूहेकी रक्षा करना चूहेकी अनुरूपा करना है अनुकम्पा करना पाप नहीं किंतु धर्म है और यह बिल्ली पर द्वेष करना नहीं है क्योंकि जो बिल्ली चूहे को मारना चाहती है उसी बिल्लीको यदि कोई कुत्ता आदि मारना चाहे तो क्यालु पुरुष, कुत्तेसे उस बिल्लीकी भी रक्षा करता है यदि बिल्ली पर उसका द्वेष होता तो वह कुत्ते से बिल्ली को क्यों बचाता ?

इसके सिवाय बिल्लीसे चूहेकी रक्षा करना बिल्लीकी हार और चूहेकी जीत कराना नहीं है क्योंकि हार और जीत का व्यवहार युद्धमें होता है परन्तु चूहेके साथ बिल्लीका

कोई युद्ध नहीं होता क्योंकि जहा दोनो ही विजयकी इच्छासे दोनों पर आक्रमण की वही युद्ध है चूहा तो त्रिल्लीसे उर कर भयभीत होकर आप ही भागा फिरता है वह बुद्ध करनेके लिये त्रिल्लीके सम्मुख नहीं जाता इसलिये वह युद्ध नहीं है किन्तु बलवान् हिंसक प्राणीके द्वारा वहा दुर्बल और कायर प्राणीकी हिंसा हो रही है उसे युद्ध कायम करके चूहे की प्राणरक्षा करनेसे चूहेकी जंत और बिल्लीकी हार बनलाना अज्ञानियोंक समझना चाहिये ।

बोल १८ वां समाप्त

(प्रेरक)

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ७ गाथा ५१ को लिख कर उसकी समालोचते हुए भ्रमविध्वसनकार पृष्ठ १४६ पर लिखते हैं —

“अथ अठे कथो—वायरो, वर्षा, शीत, तावडो, राजविरोध रहित सुभिक्षणो उपद्रव रहित पणो, ए सात बोल हुबो इम साधुने कहिणो नहीं तो करणो किम उदुग दिक्खे मिनकियादिकथी छुडायने उपद्रव पणो रहित करे ते सूत्र विल्लह कायं है (भ्र० पृ० १४६ । १४७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ७ गाथा ५१ मे साधुको अपनी पीडाकी निवृत्तिक लिये उक्त सात बातोंकी प्रार्थना करना वर्जित किया गया है क्योंकि आर्ताध्यान करना साधुको उचित नहीं है और यह आर्ताध्यान है परन्तु असंयति जीवकी प्राणरक्षा होनके भयसे उक्त सात बातोंकी प्रार्थनाका निषेध यहा नहीं किया गया है । देखिये वह गाथा और उसकी टीका ये है —

“वाओ विट्ठिं च सोउण्हं खेमं धायं सिवन्तिवा । कयाणुहुज्ज
एयाणि मावाहोऊत्ति णोवए”

(दशवैकालिक अ० ७ गाथा ५१)

इसकी दीपिका टीका —

“पुन किञ्च धर्मादिनाऽभिभूतोयत्तिरेवंनोवदेदधिकरणाद्विदोषप्रसंगान् । वातादिषु सत्सु सत्त्व पीडा प्राप्ते । तद्वचनतस्तथाऽभवन्नेऽप्यार्ताध्यान भावादित्येव नो वदेत् । तत्किं—वातो मलय मारुतादि घृष्टंवा वर्षण शीतोष्ण प्रतीत क्षेमं राज

केवल मृत्यु पुनः प्रातः सुभिक्षं शिवमितिः उपसर्ग रहित कदाचु भवेयुरेतानि वाता-
दीनि मात्रा भवेयुरिति" ।

धर्म —

घाम (गर्मी) आदिसे पीड़ित होकर साधु इन बातोंको न कहे क्योंकि इसमें अधिक-
रूप दोष होता है । वायु आदिके चलने पर प्राणियोंको पीडा होती है । यद्यपि साधुके कहने
से वायु आदि नहीं चलते तथापि साधुको आर्तध्यान करना उचित नहीं है इसलिये यह इन बातों
को नहीं कहे व बातें ये हैं — (१) मलय मारुत आदि (२) घषा (३) शीत (४) उष्ण (५) राज-
सूय होना (६) सुमिक्ष होना (७) उपसर्ग रहित होना । इन सात बातोंके होने या नहीं
होनेका बात साधुको नहीं कहनी चाहिये । यह उक्त गाथाका दीपिकानुसार अर्थ है ।

इसमें अपनी पीडाको निवृत्तिके लिये साधुको इन सात बातोंकी प्रार्थना करनेका
विषय किया है परन्तु असयति प्राणियोंकी रक्षाको पाप मान कर उसकी निवृत्तिके लिये
नहीं इस लिये इस गाथाका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना मिथ्या है । इस
गाथाकी टीकामें लिखा है —

“एतानि वातादीनि मात्रा भवेयुरिति धर्माद्यभिभूतो नो वदेद् अधिकरणादि दोष-
पूर्णम् । वातादिषु सत्सु सत्त्वपीडा प्राप्ते । तद्वचनत स्तथाऽभवनेऽप्यार्तं ध्यान भावा-
दि सूत्रार्ण ।

अर्थात् वायु आदिके चलने पर प्राणियोंको पीडा होती है इसलिये घाम (गर्मी)
आदिसे पीड़ित होकर साधु वायु आदि सात बातोंके होने वा न होनेकी प्रार्थना नहीं
करना क्योंकि इसमें अधिकरण आदि दोषोंका प्रसङ्ग होता है । यद्यपि साधुके कहनेसे ये
बातें नहीं हो जाती तथापि आर्तध्यान करना साधुको उचित नहीं है इसलिये यह
सात बातोंको न कहे ।

यह गाथाका अर्थिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने भी यही कहा है कि “अपनी
आपकी निवृत्तिके लिये साधुको इन सात बातोंकी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये परन्तु
प्राणियोंकी रक्षाको पाप जान कर उसकी निवृत्तिके लिये इन सात बातोंकी प्रार्थना का
विषय नहीं किया है । टीकाकारने यह भी लिखा है कि “वायु आदिके चलने पर प्राणि-
योंको पीडा होती है” इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि दूसरे प्राणीको पीडा न हो इसलिये
वायु आदिसे स्वयं पीडा पाते हुए भी साधु वायु आदि सात बातोंकी प्रार्थना नहीं करते ।
जीवोंकी रक्षा नहीं वर्जित की गयी है प्रत्युत जीवोंकी पीडा वर्जित की गयी
इस लिये इस गाथा का नाम लेकर जीव रक्षामें पाप सिद्ध करना अज्ञान का परि-
णाम है ।

वस्तुतः इस गाथामे वर्जित की हुई सात वाते सम्पूर्ण रूपसे जिन कल्पीके लिये और अपनी कल्प मर्यादानुसार कई वाते स्थविर कल्पीके लिये समझनी चाहिये । सात ही वाते स्थविर कल्पीके लिये वर्जित नहीं हैं क्योंकि स्थविर कल्पी साधु रोग साधुको रोग निवृत्त्यर्थ औषध आदि भी देते हैं और पानीमें डूबती हुई साध्वीको न से बाहर निकाल कर उसका उपसर्ग भी दूर करते हैं तथा उपदेश देकर जनताक ड्रव और उपसर्गको निवृत्त करते हैं साक्षात् भगवान् महावीर स्वामी त्रस और स्वा प्राणियोका क्षेमके लिये उपदेश दिया करते थे । सुय० श्रु० २ अ० ६ गाथा ४ मे लिखा क "समिच्च लोग तसथावगण रोमकरे समणे माहणेवा" अर्थात् भगवान् महावीर स्वामी, त्रस और स्थावर सम्पूर्ण प्राणियोंका क्षेमके लिये उपदेश देते थे । यदि कालिक सूत्र की उक्त गाथानुसार साधुको क्षेम की प्रार्थना करना युग होता । भगवान् त्रस और स्थावरका क्षेम करनेके लिये उपदेश क्यों देते ? अतः दशवैकल्पि सूत्रकी उक्तगाथामे जो सात वाते वर्जित की हैं वे सम्पूर्णरूपसे जिन कल्पीके लिये कई वाते स्थविर कल्पीके लिये समझनी चाहिये । अतएव इस गाथामे उपसर्ग दूर करने और रोग निवृत्ति करनेकी प्रार्थना वर्जित होने पर भी स्थविर कल्पी साधु रोगी साधु की रोग निवृत्तिके लिये औषध आदि देते हैं और पानीमे डूबती हुई साध्वीको निकाल कर उसका उपसर्ग दूर करते हैं । अतः उक्त गाथामे कही हुई सात ही वातोंको स्वयं कल्पीके लिए भी बतलाना मिथ्या है ।

इस गाथामे आये हुए "क्षेम" शब्दका टीकाकारने "राज विज्वर शून्यम्" एत अर्थ किया है यानी राज रोगका अभाव होना "क्षेम" है परन्तु जीतमलजीन "राज विज्वर शून्यम्" का अर्थ नहीं समझा है अतएव उन्होने लिखा है कि "राजादिकता कलह रहित हुवे ते क्षेम" यह अर्थ मिथ्या है अतः किसी प्राणीको उपद्रव रहित करनेमें पाप बतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये । स्वयं भ्रमविध्वसनकारने भी दूरी जगह पर उपसर्ग निवारण करना साधुका कर्तव्य बतलाया है । उन्होने भ्र० वि० पृ० १४९ पर लिखा है कि "धर्मनी चोयणा करीने परने उपदेशे जिम अनुकूल प्रतिकूल उपसर्ग कर्ताने वारे" इस लेखमें जीतमलजीने उपसर्ग निवारण करना साफ साफ साधुका कर्तव्य माना है तथापि दुराग्रहमे पड कर अपने कथनसे ही विरुद्ध यहा उन्होने उपसर्ग निवारण करनेको दोष बतलाया है इस प्रकार अपने कथनसे ही विरुद्ध बोलने वाक्की वातमे आकर मन्चे धर्मका तिरस्कार करना बुद्धिमान् पुरुषोका कार्य नहीं है ।

(चोल १९ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४८ के ऊपर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ४ की चौभट्टी लिख कर उसकी ममालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे पिण कह्यो—जे साधु पोतानी अनुकम्पा करे पिण आगलानी अनुकम्पा न कर तो जे परजीव ऊपर पग न देवे ते पिण पोतानीज अनुकम्पा [अथय नित्यमा] तै व किम् पढ़ने मारथा मोने इज पाप लागसी इम जाणी नहणे ते भणी पोतानी अनुकम्पा कही छै । अने आपने पाप लगायने आगलानी अनुकम्पा करे ते सावय छै”
(भ० वि० पृ० १४८)

इसका क्या समाधान ?

(प्रहृषक)

ठाणाङ्ग सूत्रके चौथे ठाणेकी चौभट्टीमे मरते जीवकी रक्षा करना स्थविर कल्पी साधुका परम कर्तव्य बतलाया है परन्तु अपनी पोल छिपानेके लिए भ० वि० कारने इनका साफ साफ भावार्थ नहीं लिखा है । ठाणाङ्ग सूत्रका वह पाठ यह है —

“चत्तारि पुरिस जाया पन्नत्ता तं जहा—

आयानु कम्पए नाम मेगे णो परानु कम्पए” ।

इसकी टीका—

आत्मानुकम्पक आत्म हित प्रवृत्त प्रत्येक बुद्धो जिन कल्पिको वा परानपेक्षो निर्धुषण । परानु कम्पक निष्ठिनार्थतया तीर्थ कर अत्मानपेक्षोया दयैकरसो मेतार्य्ये-
वन् । उभयानुकम्पक स्थविरकल्पिक । उभयानुकम्पक पापात्मा कालशौकरि-
कादिरिति ।”

अर्थात्—चार प्रकारके पुरुष होते हैं । (१) अपनी ही अनुकम्पा करते हैं परन्तु दूसरेकी नहीं करते, ऐसे तीन पुरुष होते हैं—प्रत्येक बुद्ध, चिन कपी और दूसरेकी अपेक्षा नहीं करनेवाला निर्दय पुरुष । ये तीनों अपने ही हितमे तत्पर रहते हैं दूसरेका हित नहीं करते । (२) जो दूसरेकी अनुकम्पा करता है अपनी अनुकम्पा नहीं करता वह दूसरा भद्रका स्वामी है, ऐसा पुरुष या तो तीर्थकर होते हैं अथवा अपनी पगवाह नहीं करनेवाला मेतार्य्यकी तरह परम दयालु पुरुष होता है । (३) जो अपनी और दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करता है वह तीसरा भद्रका स्वामी है । तेना पुरुष स्थविर कल्पी साधु होता है । स्थविर कल्पी साधु अपनी और दूसरेकी दोनोंकी अनुकम्पा करता है । (४) जो अपनी भी अनुकम्पा नहीं करता और दूसरेकी भी नहीं करता वह पुण्य

चौथा भङ्गका स्वामी है । ऐसा पुरुष काल श्रौकरिकादिकी तरह अतिशय पापी होता है । यह उक्त चौभङ्गीका टीकानुसार अर्थ है ।

इसमें कहा है कि स्थविर कल्पी साधु उभयानुकम्पी है वह अपनी और दूसरे दोनोकी अनुकम्पा करता है अत मरते प्राणीकी रक्षा करना स्थविर कल्पी साधुका धार्मिक कर्तव्य सिद्ध होता है । जो स्थविर कल्पी साधु कहलाकर दूसरे जीवकी रक्षा नहीं करता वह उक्त पाठानुसार अपने कर्तव्यसे पतित होता है । जिन कल्पी और प्रत्येक बुद्ध साधु दूसरेकी अनुकम्पा नहीं करते किन्तु अपने हितमे ही प्रवृत्त रहते हैं इसलिए वे प्रथम भङ्गके स्वामी कहे गए हैं उनकी तरह जो दूसरे जीवकी अनुकम्पा नहीं करता है वह पुरुष यदि जिनकल्पी और प्रत्येक बुद्ध नहीं है तो उसे प्रथम भङ्गका तीसरा स्वामी निर्दय समझना चाहिए ।

भ्र० वि० कारणे भ्र० वि० पृष्ठ १४७ पर इस चौभङ्गीके पहला भङ्गका अर्थ इस प्रकार लिखा है—

“जे पोताना हितने विपै प्रवर्ते ते प्रत्येक बुद्ध अथवा जिन कल्पिक अथवा परो पकार बुद्धि रहित निर्दय पारका हितने विपे न प्रवर्ते” । इनके अपने लेखसे भी यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि जो जिन कल्पिक और प्रत्येक बुद्धसे भिन्न पुरुष, दूसरे प्राणीकी अनुकम्पा (रक्षा) नहीं करता वह दयाहीन पुरुष है, साधु नहीं है । उस निर्दय को साधु समझना भ्रम है ।

इस पाठकी समालोचना करते हुए भ्रमविध्वंसन कारणे सभी प्रकारके कल्प वाले साधुओंको इस चौभङ्गीके प्रथम भङ्गमे ही रक्खा है उन्होंने लिखा है कि “अथअटे पिण कखो साधुपोतानी अनुकम्पा करे पिण आगलानी अनुकम्पा न करे तो जे पर जीव ऊपर पग न देवेते पिण पोतानीज अनुकम्पा निश्चय नियमाटे” यह मिथ्या है । स्थविर कल्पी साधु दूसरेकी भी अनुकम्पा करते हैं । स्वयं भ्र० वि० कारणे भी लिखा है—“तीजे बेहूने हित बाच्छे ते स्थविर कल्पी” इनके इस लेखसे भी स्थविर कल्पीका दूसरेकी अनुकम्पा करना सिद्ध होती है ।

अन्य प्रश्न यह है कि दूसरे जीवपर पैर नहीं रखना तो निश्चय नयसे अपनी ही अनुकम्पा है दूसरेकी नहीं है फिर स्थविर कल्पी दूसरेकी क्या अनुकम्पा करता है ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि स्थविर कल्पी दूसरे मरते हुए जीवकी जो प्राण रक्षा करता है यह दूसरेकी अनुकम्पा है और स्वयं किसी जीवको वह नहीं मारता यह निश्चय नयसे उसकी अपनी अनुकम्पा है अत उक्त पाठका नाम लेकर मरते जीवकी प्राणरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका फल समझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि स्वयं कृपा साधु दूसरेको धर्मोपदेश देते हैं यह तो उनकी दूसरेपर अनुकम्पा करना है और वह स्वयं किसी जीवको नहीं मारते यह निश्चय नयके अनुसार अपनी अनुकम्पा है परन्तु मरते जीवकी रक्षा करना दूसरेकी अनुकम्पा नहीं है । यह मिथ्या है । तीर्थंकर भी धर्मोपदेश देते हैं और वह स्वयं किसी जीवको मारते भी नहीं हैं फिर तो वह भी तीसरे भङ्गका स्वामी उभयानुकम्पक ही ठहरे गे । दूसरे भङ्गका स्वामी परानुकम्पक मात्र नहीं इसलिए दूसरे जीवकी रक्षा करना ही यहाँ परानुकम्पा कही गई है इस प्रकार जो जीव अपनी रक्षाके ऊपर ध्यान न देकर दूसरे जीवकी ही रक्षा करता है वह दूसरे भङ्गका स्वामी है । ऐसे पुरुष तीर्थंकर और गार्ह्य ऋषिकी तरह परम दयालु पुरुष होते हैं । जो अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करता है वह तीसरा भङ्गका स्वामी स्वयं कृपा है । जो अपनी और दूसरेकी किसी की भी रक्षा नहीं करता वह चतुर्थे भङ्गका स्वामी काल शोकारिकादिकी तरह पापत्मा है । जो केवल अपनी ही रक्षा करता है दूसरेकी नहीं करता वह प्रथम भङ्गका स्वामी है । इस प्रकार इस चतुर्भगीसे मरते जीवकी रक्षा करना स्वयं कृपा साधु कर्तव्य सिद्ध होता है । जो किसी प्राणीकी स्वयं भी रक्षा नहीं करता और दूसरेकी भी रक्षा करनेमें पापका उपदेश देता है वह इस पाठसे परोपकार बुद्धि रहित निर्दय सिद्ध होता है । मेघकुमारके जीवने हाथीके भ्रम में अपनी रक्षाका रयाल नहीं रख कर दूसरेकी रक्षाकी थी और वमंरुचि अनगारने भी अपनी रक्षाकी परवाह नहीं करके दूसरेकी रक्षा करना ही अपना कर्तव्य समझा था इसलिए वे लोग इस चतुर्भङ्गीके दूसरे भङ्गका स्वामी थे अतः इस चतुर्भङ्गीका नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप कहना अज्ञानका रोग समझना चाहिए ।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसन कार भ्रमविध्वसना पृष्ठ १४८ पर उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथा लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ अठे पिण कङ्को-समुद्र पाली चोरने मग्नो देति वैराग्य आणी चारिण जो पिण गर्व देई छुडायो नहीं” (भ्र० पृ० १४८) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

समुद्रपालीका उदाहरण देकर जीव रक्षामें पाप बनाना अज्ञान है । राजा, चोर को मारने नहीं करता था और उमने द्रव्य लेकर चोरको छोड़नेकी घोषणा नहीं कराई

थी फिर समुद्रपाली द्रव्य देकर उस चोरको कैसे छुड़ा सकता था ।” अब दण्डके योग्य अपराधी प्राणीको द्रव्य लेकर न्यायकारी राजा छोड़ता भी नहीं है यह जगत्प्रसिद्ध है कि बध दण्डके लिए आज्ञा पाया हुआ अपराधी, द्रव्य देकर भी नहीं छुड़ाया जा सकता ऐसी दृश्यामे समुद्रपाली किसी प्रकार भी उस चोरको नहीं छुड़ा सकता था अतः समुद्रपालीका उदाहरण देकर हिंसकके हाथसे मारे जाते हुए निरपराधी प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमे एकान्त पाप कहना नितान्त मिथ्या समझना चाहिए ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १४८ पर लिखते हैं “परिग्रह तो पाप में पाप कहयो छे । जो परिग्रह देई छुड़ाया धर्महृवे तो बाकी चार आसन्न सेनायने जीव छुड़ाया पिण धर्म कहिणो पिण इण धर्म निपजे नहीं” इनके आचार्यने इस विषयमें यह लिखा है —

“दोय वेश्या कसाई वाडे गई । करता देखी हो जीवारा सहार । दोनो जणिया मतो करी । मरता गल्या हो जीव दोय हजार ।

एक गहणो देई आपगो । तिण छोडायो हो जीव एक हजार । दूजो छुडाया इण विधे एक दोयसे हो चौथे आसन्न सेवाय ।

(अनुकम्पाकी ढाल ७)

इनके कहनेका भाव यह है कि किसी हिंसकको द्रव्य देकर जीव छुड़ाना, या उससे व्यभिचार कराकर जीव छुड़ाना दोनो ही एक समान एकान्त पापके कार्य हैं अतः हिंसकको द्रव्य देकर उसके हाथसे मारे जाते हुए जीवकी रक्षा करना एकान्त पाप है । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जीव रक्षा आदि परोपकारके कार्यमें अपने द्रव्यको लगाना, अपने धनमें लोभ और तृष्णाके न्यून करनेका फल है । अपने धनमें जिसकी तृष्णा और लोभ न्यून होता है वही पुरुष परोपकारार्थ अपने द्रव्यका व्यय करता है परन्तु जिसकी तृष्णा और लोभ तीव्र होते हैं वह नहीं कर सकता । जीव रक्षा आदि परोपकारके लिए अपने धनका व्यय करनेवाला पुरुष अपने लोभ और मोहको न्यून करता है तथा इसके साथ वह मरते प्राणीकी प्राण रक्षा भी करता है अतः यह पुरुष धार्मिक है एकान्त पापी नहीं है । परिग्रहसे अपनी ममता उबरना और जीव रक्षा करना ये दोनों ही धर्मोद्देश्य हैं अतः इन दोनोको एकान्त पाप बताना जीवमलजी और अज्ञान है ।

द्रव्य देकर जीव छुड़ानेको एकान्त पाप मिट्ट करानेके लिए, व्यभिचार कराकर जीव छुड़ानेवाली वेद्याका दृष्टान्त देना भी भीषणजीका अज्ञान है । परोपकारार्थ अपने धनका खर्च करना, धनसे अपनी मोह तृष्णा और ममताको घटाना है और व्यभिचार सेवन करना, अपना मोह और तृष्णाको घटाना है इसलिए ये दोनों बातें प्रकाश और अन्वकारकी तरह पररपर एक दूसरेसे त्रिलकुल विपरीत हैं इन्हें एक समान मान कर परोपकारार्थ धन देनेवाले और व्यभिचार कराकर जीव रक्षा करनेवाले इन दोनोंको एक समान पापी बताना भीषणजीका अज्ञान है ।

इस विषयको साफ करनेके लिए भीषणजीके दिये हुए दृष्टान्तके समान ही एक दृष्टान्त दिता जाता है ।

मान लीजिए कि भीषणजीके पाटानुपाटपर बैठे हुए पूज्यजीका दर्शन करनेके लिए दो गरीब स्त्रिया दूर देशसे आईं, उनसे पूज्यजीने पूजा कि "तुम लोगोंने इतने दूर स्थान पर आनेके लिये द्रव्य आदि किस प्रकार प्राप्त किये हैं ।" यह सुन कर एकने उत्तर दिया कि "मने अपने जेवरों को बेच कर आपके दर्शनार्थ द्रव्य प्राप्त किया है" दूसरीने कहा कि "मैने व्यभिचार करा कर द्रव्य प्राप्त किया है और उस द्रव्यसे आप के पाम आई हू ।" वहा कोई मध्यस्थ सम्यग्दृष्टि श्रावक बठा हुआ था उसने पूज्यजीसे पूजा कि "इन दोनों स्त्रियोंमेंसे कौनमी धार्मिक और कौन पापिनी है ?" इसके उत्तरमें भ्रमविश्रमनकारके मतानुयायी पूज्यजी यह तो नहीं कह सकत कि "ये दोनों स्त्रिया एक समान ही धार्मिक हैं" किन्तु लाचार होकर उन्हें कहना ही पड़ेगा कि "जिसने जेवर बेच कर दर्शनका लाभ किया है वह स्रो धार्मिक है और जिसने व्यभिचार करा कर द्रव्य प्राप्त किया है वह धमको लज्जित करने वाली दुराचारिणी है साधुके दर्शनसे लपन्न होने वाला धम उसे नहीं हो सकता । ऐसी दुष्टा स्त्रियोंका साधु दर्शन का नाम लेना दम्भ है ।"

यह सुन कर प्रश्नकर्ताने कहा कि "एकने तो पाचवें आस्रयका सेवन किया है और दूसरीने चौथे आस्रयका सेवन किया है फिर इन दोनोंको आप एक समान ही क्यों नहीं मानते ? जिसने पाचवें आस्रयका सेवन करके आपके दर्शनका लाभ किया है उसे धार्मिक और चौथे आस्रयका सेवा करके आपके दर्शनका लाभ उठाने वालीको आप पापिनी क्यों कहते हैं ?"

इसके उत्तरमें उनके पूज्यजीको यह कहना ही पड़ेगा कि जिसने साधु दर्शनार्थ अपना जेवर बेचा है उसने शृङ्गार और द्रव्यसे अपना ममत्व हटाया है और गहना बेचनेसे उसने चारित्र्यमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं हुई है । अतः वह धार्मिक है । परन्तु

थी फिर समुद्रपाली द्रव्य देकर उस चोरको कैसे छुड़ा सकता था ।” बध दण्डके योग्य अपराधी प्राणीको द्रव्य लेकर न्यायकारी राजा छोड़ता भी नहीं है यह जगन्मू प्रसिद्ध है कि बध दण्डके लिए आज्ञा पाया हुआ अपराधी, द्रव्य देकर भी नहीं छुड़ाया जा सकता ऐसी दृश्यामे समुद्रपाली किसी प्रकार भी उस चोरको नहीं छुड़ा सकता था अतः समुद्रपालीका उदाहरण देकर हिंसकके हाथसे मारे जाते हुए निरपराधी प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमे एकान्त पाप कहना नितान्त मिथ्या समझना चाहिए ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४८ पर लिखते हैं “परिमह तो पाच में पाप कह्यो छे । जो परिमह देई छुड़ाया धर्महुवे तो बाकी चार आसन्न सेनायने जीव छुड़ाया पिण धर्म कहिणो पिण इण धर्म निपजे नहीं” इनके आचार्यने इस विषयमे यह लिखा है —

“दोय वेइया कसाई वाडे गई । करता देखी हो जीवारा सहार । दोनों जणिया मतो करी । मरता राख्या हो जीव दोय हजार ।

एक गहणो देई आपणो । तिण छोडायो हो जीव एक हजार । दूजी छुड़ाया इण विधे एक दोयसे हो चौथे आसन्न सेनाय ।

(अनुकम्पाकी ढाल ७)

इनके कहनेका भाव यह है कि किसी हिंसकको द्रव्य देकर जीव छुड़ाना, या उससे व्यभिचार कराकर जीव छुड़ाना दोनों ही एक समान एकान्त पापके कार्य हैं अतः हिंसकको द्रव्य देकर उसके हाथसे मारे जाते हुए जीवकी रक्षा करना एकान्त पाप है । इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जीव रक्षा आदि परोपकारके कार्यमें अपने द्रव्यको लगाना, अपने धनमें लोभ और तृष्णाके न्यून करनेका फल है । अपने धनमें जिसकी तृष्णा और लोभ न्यून होता है वही पुरुष परोपकारार्थ अपने द्रव्यका व्यय करता है परन्तु जिसकी तृष्णा और लोभ तीव्र होते हैं वह नहीं कर सकता । जीव रक्षा आदि परोपकारके लिए अपने धनका व्यय करनेवाला पुरुष अपने लोभ और मोहको न्यून करता है तथा इसका साथ वह मरते प्राणीकी प्राण रक्षा भी करता है अतः यह पुरुष धार्मिक है एकान्त पापी नहीं है । परिमहसे अपनी ममता उतरना और जीव रक्षा करना ये दोनों ही बर्तन महान् धर्मके कारण हैं अतः इन दोनोंको एकान्त पाप बताना जीवमलजी और भीषणजीका अज्ञान है ।

द्रव्य देकर जीव छुड़ानेको एकान्त पाप मिद्ध करनेके लिए, व्यभिचार कराकर जीव छुड़ानेवाली वेद्याका दृष्टान्त दना भी भीषणजीका अज्ञान है । परोपकारार्थ अपने धनका खर्च करना, धनसे अपनी मोह तृष्णा और ममताको घटाना है और व्यभिचार सेवन करना, अपना मोह और तृष्णाको बढ़ाना है इसलिए ये दोनों धर्मों काग और अन्याकारकी तरह परस्पर एक दूसरेसे विपरीत हैं इन्हे एक समान मान कर परोपकारार्थ धन देनेवाले और व्यभिचार कराकर जीव रक्षा करनेवाले इन दोनोंको एक समान पापी बताना भीषणजीका अज्ञान है ।

इस विषयको साफ करनेके लिए भीषणजीके दिये हुए दृष्टान्तके समान ही एक अन्त दिता जाता है ।

मान लीजिए कि भीषणजीके पाटानुपाटपर बैठे हुए पूज्यजीका दशन करनेक लिए दो गरीब स्त्रिया दूर देगसे आईं, उनसे पूज्यजीने पूछा कि "तुम लोगोंने इनने रथान पर आनेके लिये द्रव्य आदि किम प्रकार प्राप्त किये हैं ?" यह सुन कर एकने र दिया कि "मैंने अपने जेबरो को बँच कर आपके दर्शनार्थ द्रव्य प्राप्त किया है" दूसरीने कहा कि "मैंने व्यभिचार करा कर द्रव्य प्राप्त किया है और उस द्रव्यसे आप के पाम आई हूँ" वहा कोई मध्यम्य सम्प्रगृष्टि श्रावक उँठा हुआ था उसने पूज्यजीसे पूछा कि "इन दोनों स्त्रियोंमेंसे कौनमी धार्मिक और कौन पापिनी है ?" इसके उत्तरमें ध्रमविध्वसनकारके मतानुयायी पूज्यजी यह तो नहीं कह सकन कि "ये दोनों स्त्रिया एक समान ही धार्मिक हैं" किन्तु लाचार होकर उन्हे कहना ही पड़ेगा कि "जिसने जेवर बँच कर दर्शनका लाभ किया है वह सा धार्मिक है और जिसने व्यभिचार करा कर द्रव्य प्राप्त किया है वह धमको लज्जित करने वाली दुर्गचारिणी है साधुक दशनसे उत्पन्न होने वाला धम उसे नहीं हो सकता । ऐसी दुष्टा स्त्रियोंका साधु दशन का नाम उँठा दम्म है ।"

यह सुन कर प्रश्नकर्ताने कहा कि "एकने तो पाचवें आस्रयका सेवन किया है और दूसरीने चौथे आस्रयका सेवन किया है फिर इन दोनोंको आप एक समान ही क्यों नहीं मानते ? जिसने पाचवें आस्रयका सेवन करके आपका दर्शनका लाभ किया है उसे धार्मिक और चौथे आस्रयका सेवन करके आपके दर्शनका लाभ उठाने वालीको आप पापिनी क्यों कहते हैं ?"

इसके उत्तरमें उनके पूज्यजीको यह कहना ही पड़ेगा कि जिसने साधु दर्शनार्थ अपना जेवर बँचा है उसने शृङ्गार और द्रव्यसे अपना ममत्व हटाया है और गहना चनेसे उसके धारित्रमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं हुई है । अत वह धार्मिक है । परन्तु

जिसने व्यभिचार करके द्रव्य संप्रह किया है उसने अपने मोह ममताको बढ़ाया है तथा अपने चारित्रको नष्ट किया है इसलिये वह विषयानुरागिणी है धर्मानुरागिणी नहीं है। यह सुन कर उन्नत श्रावकने कहा कि “जिस प्रकार आपके दर्शनार्थ आई हुई इन दोनों स्त्रियोंमेंसे गहना बेंच कर साधु दर्शनका लाभ उठाने वालीको धार्मिक और व्यभिचार करा कर दर्शनका लाभ करने वालीको आप पापिनी कहते हैं, उसी तरह अपना जेवर देकर जीवरक्षा करने वाली स्त्रीको धार्मिक और व्यभिचार करा कर जीवरक्षा करने वालीको आप पापिनी क्यों नहीं कहते ? जिसने अपना जेवर देकर जीवरक्षा की है उसने अपने जेवरसे प्रेम उतार कर किसी सन्त महात्माके सत्सङ्गसे दयामे चित्त लगाया है और घुरे कार्यसे निवृत्त हो कर जीवरक्षा जैसे उत्तम काव्य का सेवन किया है अतः वह धार्मिक स्त्री है। और जिसने जीवरक्षाके बढ़ानेसे व्यभिचारका सेवन किया है वह साधु दर्शनार्थ व्यभिचार सेवन करने वाली स्त्रीके समान ही दुरात्मा है। परन्तु आप लोग साधु दर्शनार्थ आई हुई एक दोनो स्त्रियोंमें तो झट भेद बतला देते हैं और जीवरक्षाके विषयमे उन्नत दोनो स्त्रियोंको एक समान ही पापिनी बतलाते हैं इसका कारण क्या है ? यह तो आपका एक दुराग्रह है।

अथ कि साधु दर्शनार्थ अपने जेवरसे प्रेम हटाने वाली स्त्री धार्मिक हो सकती है तो जीवरक्षार्थ अपने जेवरका प्रेम हटाने वाली स्त्री धार्मिक क्यों नहीं हो सकती ? अतः द्रव्य दान देकर जीवरक्षा करने वाली स्त्रीको पापिनी कहना पापियोंका कार्य समझना चाहिये ।

(बोल २१ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १४९ पर निशीथ सूत्र उद्देशा १३ बोल २० का नाम लेकर लिखते हैं —

“अथ अठे गृहस्थ तथा अन्य तीर्थीने मार्गे भूलाने दुःखी अत्यन्त देवि मार्ग चताया चौमासी प्रायश्चित्त पक्षो ते माटे असयतिरी सुप साता वाबछया धर्म नहीं ।
(भ्र० पृ० १४९)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रका वह पाठ लिख कर इसका समाधान दिया जाता है वह पाठ यह है —

“जे भिक्षू अन्नउत्थियाणंवा गारव्वियाणं णट्ठाणं मुट्ठाणं
विपरियासियाणं मगंवा पवेदेइ संधि पवेदेइ संधिउवा मगं पवेदेइ
वेदंतंवा साड्जइ”

(निशीथ सूत्र उ० १३ । बोल २७)

अथे —

जो साधु, मार्ग छट या दिहूत तया विपरीत मार्गसे जाते हुए गृहस्थ या अन्य यूथिक
को मार्ग, या मार्गकी संधि बतलाता है अथवा संधिसे मार्ग या मार्गसे संधि बतलाता है तथा
बतलाते हुए को जो भच्छा जानता है उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है । यह इस पाठ का
मूलक है ।

यहा यह प्रश्न होता है कि अन्य यूथिक और गृहस्थको मार्ग या उमकी संधि
साधु द्वारा नहीं बतलानेका क्या कारण है ? तो इसका उत्तर देते हुए चूर्णीकार इस पाठ
की चूर्णीमें बतलाते हैं कि—

मुनिसे बतलाये हुए मार्गसे जाते हुए गृहस्थ या अन्य यूथिकको कदाचित् कोई
चोर लुट ले, सिंहादि जङ्गली जानवर उन्हें डु ख दे, और उस उपसर्गसे कदाचित् उन
का प्राण छूट जाय, अथवा वे ही कदाचित् मृगादि पशुओं का हनन करें, इस लिये
ब्यावान् मुनि अन्य यूथिक और गृहस्थको मार्ग नहीं बतलाते । वह चूर्णी यह है —

“तेण पहेण गच्छताण सावयोवद्व सरीरोवहि तेणोवद्व पावेति जवा ते गच्छता
अन्नेसि उवद्व करेति ।”

अर्थात् साधुके बतलाये हुए मार्गसे जाते हुए अन्य यूथिक और गृहस्थको कदा-
चित् जङ्गली जानवरोंसे उपद्रव हो अथवा चोरोसे वे लुट लिये जाय या वे ही किसी
जीव पर उपद्रव कर बैठें अतः साधु अन्य तीर्थी और गृहस्थ को मार्ग नहीं बतलाते ।
यह ऊपर लिखी हुई चूर्णीका अर्थ है ।

यहा चूर्णीकारने स्पष्ट लिखा है कि अन्य यूथिक और गृहस्थ पर होने वाले या
उनके द्वारा दूसरे पर किये जाने वाले उपद्रवकी सभावनासे साधु मार्ग नहीं बतलाते
रन्तु जीवका या दु खसे उचानेको बुग जान कर नहीं अतः निशीथ सूत्रके इस
पाठका नाम लेकर जीवक्षामे पाप कहना अज्ञान मूलक है ।

इसी पाठका नाम लेकर भोपणजीने अनुकम्पाको सायज बतलाया है । अनुकम्पा
की ढालमें उन्होंने लिखा है —

“गृहस्थ भूलो ऊजड वनमें । अटवीने बले ऊगड जाये । अनुकम्पा आणी साधु
को बतलावे । तो चार महीना रो चारित्र जावे । आ अनुकम्पा सायज जाणो”

यह भीषणजीकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या है शास्त्रमें कहीं भी अनुकम्पा को सावद्य नहीं कहा है और इस पाठकी चूर्णोंमें भी रास्ता नहीं बतानेका कारण अनुकम्पा का सावद्य होना नहीं लिया है प्रत्युत भावी उपद्रवकी आशङ्कसे रास्ता बतानेका निषेध करके अनुकम्पाका समर्थन किया है अतः अमंयतिकी प्राणरक्षाको पाप और अनुकम्पा को सावद्य बताना इनका अज्ञान है ।

यदि इनसे पूछा जाय कि कोई मनुष्यका झुण्ड आपके पूज्यजीके दर्शनार्थ ग्रामान्तरको जाना चाहे और वह आपसे मार्ग पूछे तो आप बतला सकते हैं या नहीं ? यदि कहे कि हम नहीं बतला सकते तो पूटना चाहिये कि क्या आपके पूज्यजाका दर्शन सावद्य है ? नहीं तो आप दर्शनार्थ जाने वालेको मार्ग क्यों नहीं बतलाते हैं ? यदि कहें कि “पूज्यजीका दर्शन तो सावद्य नहीं है परन्तु रास्ता बतलाना साधुका कर्त्तव्य नहीं है इसलिये हम रास्ता नहीं बतलाते” तो सिद्ध हुआ कि जैसे आपके पूज्यजीका दर्शन सावद्य नहीं है तथापि रास्ता बताना कर्त्तव्य न होनेसे आप रास्ता नहीं बताते वही तरह किसी प्राणीका दुःख दूर करना, अथवा अनुकम्पा करना सावद्य नहीं है परन्तु रास्ता बताना साधुका कर्त्तव्य न होनेसे साधु रास्ता नहीं बतलाते । यदि वह कहें कि पूज्यजीके दर्शनार्थ जाने वालेको निरवद्य भाषासे रास्ता बतानेमें कोई दोष नहीं है तो उसी तरह प्राणियों के कष्ट निवर्णार्थ निरवद्य भाषासे रास्ता बता देनेमें भी दोष नहीं मानना चाहिये ।

(बोल २२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसकरसनकार भ्रम० पृ० १४९ पर ठाणा ग सूत्र ठाणा ३ का मूल पाठ लिखकर उसकी समाचोचना करते हुए लिखते हैं —“अथ अठे पिण कसो हिंसादिक् अकार्य्यं कस्ता देसि धम उपदेश देई समझावणो तथा अनवोटयो रहे तथा उठि एकान्त जाणणो कसो पिण जवरीसू छुडावनो न कसो तो रजोहरणयी भिनकीने डराने’ ष दुगने धचावे त्याने आत्मरक्षक क्रिम कहिए”

(भू० वि० पृ० १४९) इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ३ उद्देशा ४ के पाठका नाम लेकर जीवरक्षाका निषेध करना मिथ्या है उम पाठमें मर्ते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेका निषेध नहीं है । देखिये वह पाठ और उमकी टीका ये है —

“तत्रां जापरक्खा पन्नत्ता तंजहा—धम्मियाए पडिचोय-
णाए भवइ तुसिणीए वासिया उचित्तावा आया एगंत मवक्कमेज्जा”
(टगाद्द टाणा ३ उद्देशा ४)

टीका

“आत्मान रागद्वेषा दे रक्षत्या इय कृपा द्वाग्दन्तीति आत्मरक्षा । “धम्मियाए
डिचोयणा” ए चि धार्मिकोपदेशेन नेद भगवत्तया मुचित मित्यादिना प्रेरयिता उप
ष्ट भवति अनुकूटेनरोपसग फारिण । ततोऽमातुपमगकरगान्निर्गतं ततोऽट्टन्त्या
त्वा न भवती त्यात्मा रक्षितो भवति । तुग्गीकोजा वार्चयम उपेयक स्पादिति प्रेर-
णाया अपिपये उपेयगा सामर्थ्ये च तत् स्थानादुत्पाय आत्मना एकान्त विजनम्
न्य भूमिभाग मवक्कामेद् गच्छेत्” ।

अर्थ —

जो पुण्य रागद्वेषते, अनुचित आचरणसे, तथा भयकरसे अपनी आत्माकी रक्षा करता
वह आत्मरक्षक कहलाता है । उस आत्मरक्षक पुण्यके पास आकर यदि कोई
खुदख उरसर्ग करे तो धर्मोपदेश देकर समझाना चाहिये । कहना चाहिये कि—“आप
जैसे पुण्यको यह आचरण करने योग्य नहीं है” इस उपदेशको धनकर यदि वह उपसर्ग करनेवाला
अपसर्ग करना बन्द कर दे तो मायुसे अकार्मणकी सेवा नहीं होतो किन्तु साधुकी आत्मा
वस्तुन्य आचरणसे बच जाती है । अथवा पुण्य रक्षकर मायु उस उपसर्गका सदन करलेवे तो इस
रक्षक भी अनुचित आचरणसे उसकी आत्मा रक्षित होती है । यदि उपसर्ग करनेवाला धर्मो-
पदेश देने योग्य न हो और साधुसे उपसर्ग भी न सदा जा सके तो बहारासे हटकर किसी एकान्त
स्थानमें साधुको बला जाना चाहिये । इसप्रकार अनुचित आचरणसे साधुको अपनी आत्माकी
रक्षा करनी चाहिये ।

(यह उक्त मूलपाठका टीकानुसार अर्थ है)

यदा अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग करनेवालेके प्रति रागद्वेष और अकृत्य
आचरणसे बचनेके लिये आत्म रक्षक पुरुषको तीन उपाय बताने हैं (१) धर्मोपदेश
दना (२) उपसर्गको सह लेना (३) बहारासे हटकर एकान्तमें चला जाना । इसमें
हिसक द्वारा मारे जाते हुए प्राणीकी प्राणरक्षा करने, या उसके लिये धर्मोपदेश देनेका
निधेय नहीं क्रिया है अतः इस पाठका नाम लेकर मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें-
पाप बनलाना एकान्त मिथ्या है ।

इस पाठकी समालोचनामें जीतमलजीने लिखा है कि ‘पिण जवरी मू दुडा
धगो ७ कह्यो’ इस लेखसे प्रतीत होता है कि जीतमलजी जबरजस्तीसे जीव

वंचानेमे पाप कहते हैं उपदेश देकर जीव वंचानेमे पाप नहीं कहते परन्तु यह बात भी मिथ्या है । यह उपदेश देकर भी जीव रक्षा करनेमे पापही कहते हैं । इनका मन्तव्य, इनके लेख और भीषणजीकी ढाल लिखकर विस्तारके साथ बतलाया जा चुका है इसलिए इनका यह लिखना कि “पिण जवरीसू छोडावणो न कळो” जनताको पोसा देना है ।

आगे चलकर जीवमलजिने लिखा है कि “रओहरणथी मिनकीने डरायने उदुराने वचावे त्याने आत्मरक्षक किम कहिए” इनकी यह बात भी असंगत है जो दया मनुष्य ओघासे विडलीको डराकर चूहेकी प्राणरक्षा करता है वह कौनसा अनुचित कार्य करता है जिससे वह आत्मरक्षक नहीं कहा जाय ? यदि कहो कि “किसी प्राणीको भय देना उचित नहीं है और वह विडलीको भय देकर चूहेकी रक्षा करता है इसलिये विडलीको भय देनेके कारण वह आत्मरक्षक नहीं है” तो जो साधु, मारनेकेलिये आती हुई गाय भैंसको तथा काटनेके लिये आते हुए कुत्तेको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करता है वह आत्मरक्षक कैसे कहला सकता है ? क्योंकि वह भी कुत्ते, गाय भैंसको ओघासे डराता है ? इसलिये उसे भी आत्मरक्षक नहीं कहना चाहिए । यदि कहो कि जो साधु मारनेके लिये आती हुई गाय भैंसको तथा काटनेके लिये आते हुए कुत्तेको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करता है वह कुछ भी अनुचित कार्य नहीं करता अतः वह आत्मरक्षक ही है तो उसी तरह यह भी समझो कि जो दयालु पुरुष ओघासे विडलीको डराकर चूहेकी रक्षा करता है वह भी अनुचित कार्य नहीं करता परन्तु विडलीको हिंसाके पापसे बचाता है और चूहेकी प्राणरक्षा करता है इसलिये वह अपनी और दूसरेकी दोनोंकी रक्षा करता है किसीकी भी हानि नहीं करता इसलिये वह धार्मिक ही है पापी नहीं है अतः भूमविध्वसनकारकी पूर्वोक्त बात भी मिथ्या है ।

(बोल २३ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भूमविध्वसनकार भूमविध्वसन पृष्ठ १५१ पर निशीथ सूत्र उद्देश ११ बोल १७० का मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे पर जीवने विहाव्या विहावताने अनुमोद्या चौमासी प्रायश्चित्त कृत्यो तो मिनकीने डरायने उदुराने पोपगो किहाथी अने असयतिना शरीरनी रक्षा किम करणी” (ध्र० द० १५१) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रके मूलपाठमें किसी प्राणीको भय देनेमें साधुको चौमासी प्रायश्चित्त होना कहा है इसलिए ओघासे बिड़ीको डराकर चूहेको रक्षा करना पाप है तो फाटनेके लिए आते हुए कुत्तेको और मागनेके लिए आनी हुई गाय भैंसको ओघासे डराकर अपनी रक्षा करनेमें भी पाप ही होना चाहिए। परन्तु भ्रम विघ्नसन कारकें मतानुयायी साधु कुत्ते, गाय, भैंस आदि प्राणियोंको ओघासे डराकर अपनी रक्षा कर लेते हैं और इससे निशीथ सूत्रकी आज्ञाका उलघन भी नहीं मानते परन्तु जगोही बिड़ीको डराकर चूहेकी रक्षा करनेका प्रश्न आता है त्योंही झटपट निशीथ सूत्रकी आज्ञाका उलघन होने का कोलाहल मचाने लगते हैं यह इनका दूसरे जीवोंपर द्वेष करनेके सित्राय और कुछ नहीं है। जब कि ओघासे गाय भैंस और कुत्तेको डराकर अपनी रक्षा करनेमें निशीथ की आज्ञा उलघन नहीं होती तब ओघासे बिड़ीको डराकर चूहेकी रक्षा करनेमें निशीथ सूत्रकी आज्ञा उलघन कैसे हो सकती है? यह बुद्धिमानोंको स्वथ सोच लेना चाहिए।

वास्तवमें, किसी जीवको सतानेके अभिप्रायमें भय देना पाप है और इसी पाप के लिए निशीथ सूत्रके मूलपाठमें प्रायश्चित्त कहा गया है। किसी जीवको पापसे बचाने, तथा आत्मरक्षा और पर रक्षा करनेके लिए नासमझ प्राणीको भय दिखाकर हटा देना पाप नहीं है और उसके लिए निशीथ सूत्रमें प्रायश्चित्त भी नहीं कहा गया है क्योंकि किसी ना समझ प्राणीको भय दिखाकर जो पाप करनेसे हटाता है या आत्मरक्षा तथा पर रक्षा करता है उसका अभिप्राय उस नासमझ प्राणीको सतानेका नहीं किन्तु उसे पाप करनेसे हटानेका होता है इसलिए यह पाप नहीं कहा जा सकता यह तो उस प्राणी का कल्याण करना है फिर इसमें प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है? यह हरणक बुद्धिमान समझ सकता है। अतः निशीथ सूत्रका नाम लेकर जीव रक्षा करनेमें पाप घटाना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिए।

(बोल २४ वां)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रम० पृ० १५१ पर निशीथ सूत्र उद्देशा १३ बोल १४ का मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ कठे शूद्रस्यनी रक्षा निमित्ते मंत्रादिक क्रिया अनुमोद्या चौमासी प्रायश्चित्त कर्तव्ये । तो जे उ दुरादिकनी रक्षा साधु क्रिम करे । अने जो रक्षा क्रिया धम हुवे तो डाकिनी डाकिनी भूतादिक काइना सर्पादिका जइर उतारना औपधादिक फरो

असयतिने वचवणा । अने जो एतला बोल न करणा तो असयतिना शरीरनी रक्षा पिन नकरणी (भ्र० प० १५२) इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रका वह पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है । वह यह है —

“जे भिक्खु अण्णउत्थिदंवा गारत्थियवा भुङ्कम्मं करेद्दं करं तंवा साइज्जइ ।”

(निशीथ उ० १३ बोल १४)

अर्थ—

जो साधु गृहस्थ या अन्य यूथिकको भूति कर्म करता है अथवा भूति कर्म करवानेकी अच्छा जानता है उमे प्रायश्चित्त होता है ।

इस पाठमे साधुको भूति कर्म करनेका निषेध किया है किसी मरते प्राणीको मर पनी कल्प मर्यादानुसार रक्षा करनेका निषेध नहीं किया है किन्तु भ्रमविध्वंसनकारको चाहे जिस पाठमे जीवरक्षा करने का निषेध ही निषेध सूझ पडता है निशीथ सूत्रमें वही भी पाठ आया है कि—

“जेभिक्खू विज्जा पिण्डं भुंजइ भुंजतंवा साइज्जइ”

“जेभिक्खू मंत पिण्डं भुंजइ भुंजतंवा साइज्जइ”

“जेभिक्खू जोग पिण्डं भुंजइ भुंजतंवा साइज्जइ”

(निशीथ सूत्र)

अर्थ—

जो साधु विद्या वृत्ति से आहार पानी लेता है जो मन्त्र और योग वृत्ति से पकाने पानी लेता है या लेने वाले साधु को अच्छा समझता है उसे प्रायश्चित्त होना है । वह पाठका मूलार्थ है ।

इस पाठमें जैसे विद्या मन्त्र और योग वृत्तिसे साधुको आहार पानी लेना वर्जित किया है अपनी कल्पमर्यादानुसार आहार लेना वर्जित नहीं किया है मनी लक्ष निशीथके पूर्वोक्त पाठमे भूति कर्म करनेका निषेध किया है अपनी कल्प मर्यादानुसार जीव रक्षा करनेका निषेध नहीं किया है यदि जीव रक्षा करनेसे प्रायश्चित्त वतलता होना सो वह भूति कर्म करनेका नाम क्यों लेते ? क्योंकि केवल भूति कायसे ही रक्षा नहीं होती रक्षा करनेके अनेकों उपाय होते हैं इसलिए सामान्य रूपसे यही लिख देते कि—

“जे भिक्षू अन्न उत्थियवा गारत्थिय वा रक्खइ रक्खतं वा साइज्जइ”

ऐसा लिखनेपर जीवगक्षाका निषेध सरल गीतसे हो जाता परन्तु ऐसा नहीं लिख
शस्त्रकारने भूति कम करनेका निषेध किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि
शस्त्रकारको भूतिकम करनेमें प्रायश्चित्त बतलाना है जीवगक्षा करनेमें नहीं ।

जैसे किसी मनुष्यको प्रतिबोध देना पापका कार्य नहीं है तथापि यदि कोई
पशु किसीको भूति कर्मके द्वारा प्रतिबोध देवे तो उसे अप्रश्य ही निशीय सूत्रके
म पाठके अनुसार प्रायश्चित्त होगा परन्तु वह प्रायश्चित्त प्रतिबोध देनेका नहीं किन्तु
भूति कर्म करनेका है उसी तरह जो भूतिकर्मके द्वारा किसीकी रक्षा करता है उसको
भूति कर्म करनेका प्रायश्चित्त आता है जीवगक्षा करनेका नहीं क्योंकि जीवगक्षा करना
रक्षा देनेके समानही धर्म है पाप नहीं है ।

इसी तरह डाकिनी, शाकिनी, और भूत आदि निकालना तथा सर्प आदिका
महर उतारना, और, औषध आदि बाटना साधुका कर्षण नहीं है अत इन कार्योंको
ज्ञान नहीं करते परन्तु मरते प्राणीको अपने कल्पानुसार रक्षा करते हैं क्योंकि मरते
प्राणीकी रक्षा करना प्रतिबोध देनेके समान ही एकान्त धर्मका कार्य है पाप नहीं है इस-
लिये विविध कृतकों की सहायतासे मरते प्राणीकी प्राणरक्षा करनेमें पाप करना निर्दय
जीवोंका कार्य समझना चाहिये ।

(बोल २५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

ध्रमविध्वंसनकार ध्रम विध्वंसन पृष्ठ १५० से लेकर १५६ तक उपासक
दशम सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे पिण कत्तो चुलगी प्रिय श्रावकरा मु हडा आगे देवता तीन पुमाना
मूला किया पिण त्याने बंचाया नहीं माताने बंचावा उठयो ते पोपा धत भाग्यो कश्यो
ते उ दुरादिकने साधु किम बंचावे (ध्र० द० १५९ इसका क्या समाधान ?)

(प्ररूपक)

ध्रमविध्वंसनकारका सिद्धान्त है कि “हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके
लिये उपदेश देना चाहिये किन्तु मरते जीवकी रक्षाके लिए नहीं” अत इनके मना-
नुसार यहा यह प्रश्न होता है कि “चुलगी प्रिय श्रावकने उसके सामने हिंसा करते
हुए हिंसक पुरुषको हिंसाके पापसे बचानेके लिए धर्मोपदेश क्यों नहीं दिया ?”

क्योंकि हिंसक प्राणीको हिंसा नहीं करनेके उिये उपदेश देना तो भूमविध्वंसन का मतमे भी धर्म ही है ।

यदि कहो कि हिंसकको हिंसाके पापसे बचानेके लिये धर्मोपदेश देना धर्म तो है परन्तु वह पुरुष निलकुल अनार्य्य और अयोग्य था उसे उपदेश देना निष्फल जानकर चुलगी प्रियने उपदेश नहीं दिया था तो इसी तरह सरल बुद्धिसे यह भी समझो कि जीवरक्षाके लिये धर्मोपदेश देना धर्म तो है परन्तु वह पुरुष अनार्य्य और अयोग्य था उसे जीवरक्षाके लिए उपदेश देना निष्फल जानकर चुलगी प्रियने उपदेश नहीं दिया । अतः चुलगी प्रिय श्रावकका दृष्टान्त देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बताना इनका अज्ञान समझना चाहिए ।

इसीतरह माताकी रक्षाके लिये प्रवृत्त होनेसे चुलगी प्रियने व्रतनियमका भगवत्ताना भी अज्ञान है क्योंकि हिंसक पुरुषपर क्रोध करके उसे मारणार्थ दौड़नेसे चुलगी प्रियने व्रत नियम नष्ट हुए थे माताकी रक्षाका भाव आनेसे नहीं देखिये वहाका मूलपाठ और टीका ये हैं —

“तएणं साभदा सात्थवाही चुलणी पियं समणोवासयं एवं वयासो नो खलु केइ पुरिसे तव जाव कणीयसं पुत्तं साओ गिहाओ निणेइ २ ता तव अग्गओ घाएइ । एसणं केइ पुरिसे तव उवसगं करेइ एसणं तुमे विदरिसणे दिट्ठे तणं तुमं एयाणि भग्गवए भग्गणिघमे भग्ग पोसहे विहरसि”

(टीका)

“भगवए” त्ति भग्गवत स्थूलप्राणातिपातविरतेर्भावतो भग्गत्वात् तद्विना-
नाशार्थं कोपेनोद्धावनात् । सापराधस्यापित्रताविपयीकृतत्वात् । भग्गनियम कोपोदये
नोत्तरगुणस्य क्रोधाभिग्रहरूपस्य भग्गत्वात् । भग्गपोष्य अव्यापार पोषरूपस्य
भंगत्वात्”

(मूलार्थ)

इसके अनन्तर उस भद्रा सार्थवाहिनीने कहा कि हे चुलगी प्रिय ! तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र से लेकर यावत् कनिष्ठ पुत्रको घरसे बाहर लाकर तुम्हारे समक्ष किसीने भी नहीं मारा है । यह तुम्हारे पर किमीने उपसर्ग किया है तुमने जो देखा है वह मिथ्या दृश्य था । इस समय तुम्हारे व्रत नियम और पोष्य नष्ट हो गये हैं । यह ऊपर लिखे मूलपाठका अर्थ है ।

इस मूल पाठमे भद्रासार्थवाहिनीने चुलगीप्रियके व्रत नियम और पोष्य भंग होनेकी जो बात कही है इसका कारण बतलाते हुए टीकाकारने यह कहा है—

(टीकार्थ)

चुलगी प्रिय श्रावकका स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत भावसे नष्ट हो गया क्योंकि वह क्रोध करके हिंसकको मारनेके लिये दौड़ा था। व्रतमें अपराधी प्राणी को भी मारनेका त्याग होता है। उत्तर गुण—क्रोध नहीं करने का जो अभिप्राय था वह क्रोध करनेसे नष्ट हो गया और अग्रयत्न पूर्वक दौड़नेसे उसका अव्यापार पोषध नष्ट हो गया” यह टीकाका अर्थ है।

यदा टीकाकारने व्रत नियम और पोषध भंगका कारण बतलाते हुए यह स्पष्ट लिखा है कि “हिंसक पर क्रोध करके मारणार्थ दौड़नेसे चुलगी प्रियके व्रत नियम और पोषध नष्ट हुए थे” मातृरक्षाका भाव आनेसे व्रत नियम और पोषध भङ्ग होना नहीं था है अतः चुलगी प्रियके हृदयमें मातृरक्षाके भाव आनेसे और मातृ रक्षार्थ प्रवृत्त होने से उसके व्रत नियम और पोषध का भङ्ग घताना कपूतो का कार्य्य समझना चाहिये।

इसी तरह भोपगजीने मूढ मत्वियोंको बढकानेके लिये माताकी अनुकम्पा करनेसे चुलगी प्रियका व्रत भङ्ग होना कहा है। उन्होंने लिखा है —

“इम मुग्धने चुलगी प्रिया चल गयो, माने राखग रो करे उपाय रे। ओतो पुरुष अनाथ्य कहे जिसो, झाल राखू ज्यो न करे घातर। ओतो भद्रा बचावण ऊठियो, इगरे थामो आयो हाथरे। अनुकम्पा आगी जननी तगी तो भाग्या व्रतरे नेमर। इरतो मोह अनुकम्पा पहवी, तिणमें धर्म कहीजे केमरे”

(अनुकम्पा विचार ढाल ७ कडी ३५)

इनके कहनेका भाव यह है कि किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षार्थ अनुकम्पा करना मोह अनुकम्पा है चुलगी प्रियने माताकी रक्षाके लिये अनुकम्पा की थी इसीसे उसका व्रत भङ्ग हुआ क्योंकि वह मोह अनुकम्पा थी। इनकी यह प्रवृत्तियां शास्त्र विरुद्ध है। टीकाके प्रमाणसे भी पहले बतला दिया गया है कि क्रोधित होकर हिंसकके मारणार्थ दौड़नेसे चुलगी प्रियका व्रत नष्ट हुआ था माताकी अनुकम्पासे नहीं क्योंकि व्रत पोषध के समय श्रावकको हिंसाका त्याग होता है अनुकम्पाका त्याग नहीं होता अतः हिंसाके भाव आनेसे ही व्रत भङ्ग हो सकता है अनुकम्पाके भाव आनेसे नहीं। भोपगजी ने सामायक और पोषधके समय अग्नि सर्पादिका भय होन पर जयणाके साथ निकल जाने की आज्ञा दी है। जैसे कि उन्होंने लिखा है —

“लाय सर्पादिकग भयथकी, जयणासू निसर जायजी। राग्या ते द्रव्य ले जावना तामाइरो भंगनथायजी। पोषधने सामायक व्रतना सरीखा छे पच्चवखाणजी। पोषधने सामायक व्रतने यहा पोषधने सरीखा छे आगारजी”

(श्रावक धर्म विचार नवम व्रतकी ढाल)

इस ढालमें भीषणजीने यह आज्ञा दी है कि “अग्नि सर्पादिका भय होन पर श्रावक यदि जयणाके साथ निकल जाय तो उसका व्रत नष्ट नहीं होता ।”

यदि सामायक और पौषधके समय अनुकम्पा करना बुरा है तो अग्नि सर्पादिका भय होने पर श्रावक जयणाके साथ कैसे निकल सकता है ? क्योंकि यह भी तो अपने ऊपर अनुकम्पा ही करना है । यदि कहो कि अपने पर अनुकम्पा करनेसे व्रत भङ्ग नहीं होता किन्तु दूसरे पर अनुकम्पा करनेसे होता है इसलिये सामायक और पौषधमें अपनी अनुकम्पाके लिये जयणाके साथ निकल जानेमें कोई दोष नहीं है तो फिर सुरादेवका व्रत भङ्ग क्यों हुआ था क्योंकि उसने किसी दूसरे पर अनुकम्पा नहीं करके अपने पर अनुकम्पा की थी । देखिये वह पाठ यह है —

“तएणं से सुरादेवे समणोवासए धन्नं भारियं एवं वयासी—
एवं खलु देवाणुप्पिए ! केवि पुरिसे तहेव कहड जहा चुलणीपिया !
धन्नाविभणह—जाव कणीयसं नो खलु देवाणुप्पिया ! तुब्भंकेऽपि
पुरिसे सरीर गंसि जमग समगं सोलस रोगायंके परिपक्खिवड ।
तएणं केवि पुरिसे तुब्भं उवसग्गं करेइ सेस जहा चुलणीपियस
तहा भणह”

(उपासक दशाग अ० ४)

अर्थ —

इसके अनन्तर उस सुरादेव श्रमणोपासकने धन्या नामक अपनी भार्यासे अपना सारा वृत्तान्त चूर्णी प्रिय श्रावकके समान छी कह छनाया । यह छन कर धन्याने कहा कि हे देवतु प्रिय ! किमीने भी तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्रसे लेकर यावत् कनिष्ठ पुत्रको नहीं मारा है और को भी तुम्हारे शरीरमें एक ही साथ सोलह रोग नहीं डाल रहा था किन्तु यह किमीने तुम्हारे पर उपमा किया है । नेप बातें चूर्णीप्रियकी माताके समान धन्याने अपने पतिसे कहीं । अर्थात् “तुम्हारा व्रत नियम और पौषध इस समय भङ्ग हो गये” यह, धन्याने अपने पतिसे कहा ।

यहा मूलपाठमें चूर्णी प्रिय श्रावकके समान ही सुरादेव श्रावकका व्रत नियम और पौषध भङ्ग होना कहा गया है अत भीषण मत्तानुयायियोंसे पूछना चाहिये कि “सुरादेवका व्रत नियम और पौषध क्यों भङ्ग हुए ? । सुरादेवने अपनी अनुकम्पा की थी दूसरे की नहीं की थी, और अपनी अनुकम्पासे व्रत नियम और पौषध का भङ्ग होना भीषणजीने भी नहीं माना है फिर सुरादेवके व्रत नियम और पौषध भङ्ग होनेका

का कारण है ? । यदि कहो कि सुरादेवके व्रत नियम और पौष पर अपनी अनुकम्पाके लक्षण नहीं नष्ट हुए किन्तु अपराधीको मारणार्थ क्रोधित हो कर दौड़नेसे नष्ट हुए तो यहही बात चूर्णाप्रिय श्रावकके निषयमें भी तुमको मानना चाहिये । चूर्णाप्रिय और रादवके सम्बन्धमें आये हुए पाठोंमें विलकुल समानता है केवल भेद इतना हो है कि चूर्णाप्रियने अपनी माता पर अनुकम्पा की थी और सुरादेवने अपने ऊपर की थी । यदि माताके ऊपर अनुकम्पा करनेसे चूर्णाप्रियका व्रत भङ्ग होना मानने हो तो फिर सुरादेवका व्रत पर अनुकम्पा करनेसे व्रत भङ्ग मानना पड़ेगा और जैसे चूर्णाप्रियकी माता अनुकम्पाको साध्य करते हो उसी तरह सुरादेवकी अपनी अनुकम्पाकोभी साध्य कहना होगा जो दशार्थ भोगजोने उन्नत ढालमें सामायक और पौषमें अपने पर अनुकम्पा करके मि सर्पादिके भयसे बचनेके लिये जयणाके साथ जो निकल जानेकी आज्ञा दी है वह क्लृप्त मिथ्या सिद्ध होगी अतः अपनी अनुकम्पाको भोग मत्तानुयायी साध्य नहीं है सकृत् अतः जैसे सुरादेवकी अपनी अनुकम्पा साध्य नहीं थी और उससे व्रत नियम या पौष नष्ट नहीं हुए थे उसी तरह चूर्णाप्रिय की भी माता के ऊपर अनुकम्पा साध्य नहीं थी और उससे उसके व्रत नियम भंग नहीं हुए थे इसलिये चूर्णाप्रियका दाहरण देकर अनुकम्पाको साध्य बनाना अज्ञानियोंका कार्य है ।

(बोल २६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १५९ पर आचाराग सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अडे कश्यो जे पाणी नागमें गाये घगा मनुष्य डूबता देखे पिण साधुने मन बचन करी घतावणो नहीं जो असंयतिरो जीवणो वाञ्छथा धर्म हुवे तो नागमें पाणी आवतो दरि साधु कथों न घतावे । केनला एक फड़े जे लाय लाया ते परस फवाड उगाडना तथा गाडा हेठे बालक आवे तो साधुने वडाय लेणो इमि कहे तेहनो उत्तर—जे लाय लाया दाढा बाहिर फाडना तो नागमें पानी गाये ते कथू न घतावणो” (भ्र० पृ० १५९)

इमका क्या समाधान

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वसनकार दूसरे प्रणालीकी रक्षा करना पाप मानते हैं परन्तु अपनी रक्षा करना पाप नहीं मानते । अपनी रक्षा करना तो वे साधुका करान्य मानते हैं ऐसी दृष्टि

में दूसरेकी रक्षाके लिये न सही, अपनी रक्षाके लिये साधु नावमें आता हुआ पानी बराना नहीं बतला देता ? क्योंकि नावमें पानी आने पर दूसरे लोगोंके समान साधु मय भी तो डूब सकता है फिर वह अपनी रक्षाके लिये पानी क्यों नहीं बनाता ? यदि कहे कि अपनी रक्षा करना साधुका कर्तव्य तो है परन्तु पानी बतलानेकी जिन आज्ञा नहीं है यह साधुका कल्प नहीं है इसलिये साधु नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता तो उसी तरह यह भी समझो कि दूसरे जीवकी रक्षा करना साधुका कर्तव्य है परन्तु पानी बतलाना उसका कल्प नहीं है इसलिये साधु नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाना ।

भीषगजी ने लिखा है कि “ आप डूबे अनेरा प्राणी अनुकम्पा क्रिणी नहीं आणी ”

अर्थात् नावमें बैठा हुआ साधु आप भी डूबे और दूसरे प्राणी भी डूब जाय परन्तु साधु किसी पर अनुकम्पा न करे । ऐसा माननेसे भीषगजीके सम्प्रदाय वाले साधु ठाणाग सूत्रकी पूर्वोक्त चतुर्भगीके चौथे भगमे शामिल होते हैं क्योंकि उस चतुर्भगीके चौथे भग वाले जीव न अपनी अनुकम्पा करते हैं और न परकी, जैसे काल औरिक आदि, किन्तु यह बात शास्त्र तथा इनके अपने सिद्धांतसे भी विरुद्ध है । जीतमलजीने लिखा है कि —

“अथ अठे पिण कइयो जे साधु पोतानो अनुकम्पा करे पिण आगलानो अनुकम्पा न करे” (भ्र० पृ० १४७)

यह लिख कर जीतमलजीने अपनी अनुकम्पा करना साधुका कर्तव्य बतलाया है तथा इनके मतानुयायी साधु गाय भैंस कुत्ता आदिसे अपनी रक्षा करत हैं और अपने शरीर की रक्षाके लिये आहार पानी का अन्वेषण करते हैं इस लिये पूर्वोक्त ढालमें भीषगजीने जो यह लिखा है कि “आप डूबे अनेरा प्राणी अनुकम्पा क्रिणी नहीं आणी” यह इनके अपने सिद्धांत और आचारसे भी विपरीत है परन्तु पर जीव की प्राण रक्षा का रण्डन के आदेश में आकर भीषग जी ने अपनी रक्षा का भी निषेध कर दिया है अत आचारागके मूलपाठसे जीवरक्षाका निषेध करना जीतमलजी और भीषग जी का अज्ञान समझना चाहिये ।

वास्तवमें ठाणाग सूत्र ठाणा ४ में कही हुई चौभगीके अनुसार स्थविर कर्त्तव्य साधु अपनी और दूसरकी दोनोंकी रक्षा करते हैं परन्तु नावमें आता हुआ पानी गृहस्थ को बताना उनका कल्प नहीं है इसलिये वे नावमें आना हुआ पानी नहीं बतलाते । इनो जगह आचाराग सूत्रमें साधुको तैर कर नदी पार करना कहा है । यदि भीषगजी की

अधिके अनुसार अपनी रक्षा करना साधुको कर्तव्य नहीं होता तो इस पाठमें नदी तैर कर साधुको अपनी रक्षा करना कैसे बतलाया जाता ? वह पाठ यह है —

“सेभिकखूवा उदगंसि पवमाणे नो हत्येणं हत्थां पाएण पायं
काएण कायं आसाइज्जा से अणासायणाए अणासायमाणे तओ
स० उदगंसि पविज्जा ।

सेभिकखूवा उदगंसि पवमाणे नो उमुग्ग निमुग्गियं करिज्जा
मामेय उदगं कन्नेसुवा अच्छीसुवा नक्कंसिया मुहंसिया परियाव-
ज्जिज्जा तओ संजयामेव उदगंसि पविज्जा । सेभिकखूवा उदगंसि
पवमाणे दुव्वलियं पाउणिज्जा खिप्पामेव उवहिं विगिं चिज्जवा विसो
हिज्जवा नो चेवणं साइजिज्जा । अह पु० पारए सिया उदगाओ तीरं
पाउणित्तए तओ संजयामेव उदउल्लेणवा ससिणिद्धेणवा काएण
उदगतीरे चिट्ठिज्जा”

(आचाराग ध्रु० २ अ० २६)

अर्थ —

साधु या साध्वी जलते तैरकर पार करते समय हाथसे हाथका, पैरसे पैरका और शरीरसे शरीरका स्पर्श न करें । किन्तु अपने भङ्गोंका परस्पर स्पर्श न होने देकर जगनाके साथ जलको पार कर । तैरते समय जलमें दूधो न लगाव और अपने आँख, कान, नासिका और मुखमें जल न गिरने दे । जलमें तैरते तैरते यदि साधुके अंग दुर्बल हो जायें तो वह अपने उपकरणोंको तुरन्त उसी जगह छोड़ देने उनमें थोड़ी भी मूच्छा न लाने । यदि भाण्डोपकरणोंको लेकर साधु पार जानेमें समर्थ हो तब उन्हें छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है । इस प्रकार जलसे पार हो कर जबतक शरीर न जलके विन्दु गिरें और शरीर भीगा रहे तबतक साधु जलके किनारे पर ही खड़ा रहे, यह ऊपर के पाठसे हुप पाठका अर्थ है ।

यहां जलसे तैरकर साधुको पाप जाना कहा है जलमें डूबकर मरना नहीं कहा है इसलिए इस पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु अपनी रक्षा करना पाप नहीं समझते ?

जन अपनी रक्षा साधु करता है और उससे उसे पाप नहीं होता तो दूसरेकी रक्षा करनेसे उसे पाप कैसे हो सकता है ? अब भीषणजीने साधुको जलमें डूब मरनेकी आज्ञा दी थी वह गकान्त मिथ्या है ।

यदि कोई कहे कि “नदी पार करते समय साधुसे जलके जीवोंकी विराधता हो जाती है ही है फिर वह नावमें आना हुआ पानी बनलाफर अपनी और दूसरेकी रक्षा क्यों नहीं

करता ? । तो इसका उत्तर यही है कि साधु शास्त्रीय विमानुसार ही अपनी और दूसरों की रक्षा करता है विधानका उल्लंघन करके नहीं करता । नावमें आता हुआ पानी बतलाना साधुका कल्प नहीं है इसलिए वह नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता । जैसे कि गृहस्थके हाथकी रेखा भी यदि कच्चेपानीसे भींगी हुई हो तो साधु उसके हाथमें आहार नहीं लेता क्योंकि उसका यह कल्प नहीं है और वही साधु अपवाद मार्गमें नदी भी पार करता है । नदी पार करना उसके कल्पके विरुद्ध नहीं है क्योंकि इसक लिये तीर्थ चरकी आज्ञा है परन्तु नावमें आता हुआ पानी बतलाना आज्ञामें नहीं है इसलिए साधु नावमें आता हुआ पानी नहीं बतलाता परन्तु अपनी और दूसरोंकी कल्पानुसार रक्षा करने में साधु पाप नहीं समझता अत आचाराग सूत्रका नाम लेकर जीव रक्षा करनेमें पाप बताना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिए ।

(बोल २७)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६१ पर निशीथं सूत्र उद्देश १२ बोल १२ का मूल पाठ लिखकर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ इहा “कोलुण पडियाए” कहिता अनुकम्पा निमित्ते तस जीवने बाधे वा ताने अनुमोदे भलो जाणे तो चौमासी दण्ड कश्चो अने बाध्या जीवने छोड़े छोड़ताने अनुमोदे भलो जाणे तो पिण चौमासी प्रायश्चित्त कश्चो बाधे छोड़े तिणने सरीखो प्रायश्चित्त कश्चो छे । (भ० पृ० १६१ इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रका वह पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है ।

“जे भिक्खू कोलुण पडिआए अण्णरियां तसपाणिजायं तण पासएणवा मुञ्जपासएणवा कट्टपासएणवा चम्म पासएणवा वंधइ वंधतंवा साइज्जइ । जेभिक्खू वंधोल्लयं मुयइ मुयंतंवा साइज्जइ ।”

जो साधु अनुकम्पाके निमित्त किसी प्रस प्राणीको तृण पाससे, मुञ्जके पाससे, काष्ठपाससे या चर्म पाससे बाधता है या बाधनेवालेको अच्छा जानता है तथा जो साधु कथे हुए प्रस प्राणीको छोड़ता है या छोड़ते हुएको अच्छा जानता है उसे चौमासी प्रायश्चित्त आता है । यह इस पाठका अर्थ है ।

यहां उस प्राणीको धाधने और छोड़नेसे साधुको प्रायश्चित्त कहा है उनपर अनु-
 कम्पा करनेसे नहीं क्योंकि अनुकम्पा करनेकी तीर्थादरकी आज्ञा है। जैसे साधुको
 धार पानी लेनेसे प्रायश्चित्त नहीं होता क्योंकि बाहार पानी लेनेकी भगवानकी आज्ञा
 किन्तु यदि मित्रा वृत्तिसे, या मत्र वृत्तिसे साधु बाहार पानी ले तो उसका प्राय-
 चित्त साधुको होता है। वह प्रायश्चित्त बाहार पानी लेनेका नहीं किन्तु विद्या वृत्ति
 पर मत्र वृत्ति करनेका है उसी तरह निमीधके इम पाठमें जो उस प्राणीको अनुकम्पाके
 मित्त धाधन छोड़नेसे प्रायश्चित्त कहा है वह उस प्राणीपर अनुकम्पा करनेका प्राय-
 चित्त नहीं किन्तु उनको धाधने और छोड़नेका प्रायश्चित्त है। उस प्राणीपर अनुकम्पा
 करना, जमें शान्ति रथापित करना, तथा किसी जीवकी प्राणरक्षा करना पाप नहीं है
 पर अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ?

इस पाठके भाष्य और चूर्णामिं स्पष्ट लिखा हुआ है कि "उस प्राणीको धाधने
 और छोड़नेसे अनर्थकी सम्भावना रहती है इसलिये इन पाठमें उस प्राणीको धाधने
 और छोड़नेमें प्रायश्चित्त कहा है अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं कहा" वह भाष्य और
 चूर्ण लिखी जाई।

"अच्चापेटन मरण तराय फट्ट त आत्त पर हिंसा सिंग सुग्ग पेहग्गमा उट्ठाहो भदपता
 " (भाष्य)

"अईव आपेटिय परिताविज्जइ मरइजा अन्तरायचभवइ । चट्ट चतड फूफडत्तं
 प्पाण परवाहिंसइ एमा मज्जम विाहरणा, तथा वज्जत सिंगेण सुरेणमा काएणवा
 णु पलेज्जा एव च माहुस्स आय तिराहणा तच्च दट्ठु जणो उट्ठाह करज्जा अहो दुद्धि
 म्मा पर तत्ति वाहिणो एव पण्यणोवघाओ भदयत्त दोपा वा भय । भदो भणइ अहो
 मे माहवो अम्हे परोवक्खणघरे वावार कं ति पतो पुग्गभणेज्जा दुद्धि धम्म चाहु
 रिणो कोसवा अम्हं वच्छे वधति सुयतिना दिवा वा राओमा निच्छुमेज्जा वोच्छेचवा
 रज्ज एए पणो दोसा" (चूणा)

अर्थ —
 रस्सी आदिसे बाधे हुए पशु अत्यन्त आटा खाकर दुग्ध पाते हैं। एवं बन्धन
 पीडित होकर तडफडाते हुए अपनी या दूसरेकी हिंसा भी कर देते हैं। इस
 पर पशु धाधनेसे साधुके संयमकी विराधना होती है। पशु धाधने ममय पशु, यदि
 म या खुम्से साधुको मार देवे तो साधुकी अपनी विराधना होती है।

यदि ये धाते न हों तो भी गृहस्थके पशुओंको धाधने और छोड़ने हुए साधुको
 मार कर लोग साधुको निन्दा करते हैं। ये कहते हैं कि इन साधुओंका धम अच्छा नहीं है

ये लोग गृहस्थकी नौकरी करते हैं। इस प्रकार प्रवचनकी निन्दा होती है। उमः पर श्रेष्ठजन और साधारणजन दोनोही दोष लगाते हैं श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि मेरे मेरे घरके कामकाज करते हैं और साधारण पुरुष कहते हैं ये साधु गृहस्थाकी तु मद करते हैं। इनका धर्म अच्छा नहीं है ये मेरे बटुडोको बाधते हैं और छोट इन निन्दा आदि कारणोसे साधुको गाय आदि प्राणियोका बधन और मोचन चाहिये। यह ऊपर लिखे हुए भाष्यकी चूर्णीके पाठका अर्थ है।

उक्त भाष्य और चूर्णीमें गाय आदि पशुओके बाधनेसे अनर्थ होना बताने प्रायश्चित्त कहा है परन्तु गाय पर अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त होना नहीं है। इसलिए निशीथ सूत्रके इस पाठका नाम लेकर गाय आदि प्राणियोपर अनुकम्पा करने प्रायश्चित्त बताना अज्ञानियोका कार्य्य समझना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि त्रस प्राणीको बाधनेसे तो अनर्थ होनेकी इसलिए निशीथके उक्त पाठमें उन्हें बाधनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है। वधे हुए पशुको बंधनसे मुक्त करनेमें कौनसा अनर्थ होता है जिससे वधे हुए पशु छोटनेसे भी प्रायश्चित्त कहा है” तो इसका उत्तर भी इसी भाष्य और चूर्णी दिया है, वह निम्नलिखित भाष्य और चूर्णीका पाठ है—

“छ काय अगड विममे हिय णट्ट पलाय रयइ पीएवा । जोग ख्लेम कर्णेणं दोसाय जे वुत्ता”

(भाष्य)

तन्न गाय मुक्क मडत छ काय विराहण करेज्ज । अगडे विसमेवा परिम तेणेंहिवा हीरेज्जा नट्टं अटवीए रुलत अत्येज्ज मुक्क वा पलाइयं पुणो वीसु सषट्ठ । दुगादि सडफुडहिंवा रज्जइ । मुक्कं वा माऊण थणात रीर पीणज्ज । एणवमादि दोषा न होज्ज तहवि गिहिणो विसत्था अत्येज्ज अम्ह धरे साइरो हुक्क जोज ख्लेम वावार व्हंति मणति एव मणेण चिन्तिता अणुत्त सत्ता अप्पजो क्कंतेति । अहतहोपभया मुक्क पुणो वधति तत्थण वन्धने जे दोसा वुत्ता ते भवति जम्हा एए दोसा तम्हाण वधति णमुयति” (चूर्णी)

(अर्थ)

बन्धनसे छुटे हुए चट्टे दौड़कर छ कायके जीवोंकी विराधना करते हैं। रसाई या गद्दें आदिमें गिर जाते भी हैं उन्हें चोर चुरा सकता है या जगलमें भूखे श्वर उबर भटकते फिरते हैं। भागने फिरते हुए चट्टोको फिर बाधनेमें कठिनाई होती है। तथा नाहर आदि जीवोंमें यदि वे मार दिए जायें अथवा वे अपनी

न दूध पी जायें तो उनका धनी नाराज हो, इत्यादि अनेको दोष बढे आदिको मनसे छोडनेपर सम्भव होते हैं। यदि ये दोष न हों तो भी इस कार्यमे साधुकी प्रति हानेपर गृहस्थके मनमें यह विश्वास हो जाता है कि मेर घरकी सम्हाल रखने के साधु बहा मौजूद हैं मुझे गृह कार्यकी कुछ भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं। यह सोच कर गृहस्थ गृह कार्यकी चिन्ता छोड कर दूसरे कामोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं। ऐसी दशामे साधु यदि गृहस्थके पशुओंको बाधे तो उसे बाधनेके दोष लगते हैं अतः गृहस्थके पशुओंको बाधते और छोडते नहीं है।

यह ऊपर लिखे हुए भाष्य और चूर्णोंके पाठोंका अर्थ है।

इसमे स्पष्ट लिखा है कि “बढे आदिको धनसे मुक्त करने पर अनेक प्रकारके उपद्रवोंकी सम्भावना है इसलिये साधु गृहस्थके बढे आदिको नहीं छोडते” यदि छोडे इन्हीं उपद्रवोंके कारण ही साधुको प्रायश्चित्त होना फदा है परन्तु अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं फदा है अतः इस पाठका नाम लेकर तस प्राणी पर अनुकम्पा करने का नियम करना भाष्य और चूर्णोंसे विरुद्ध है।

गाय आदि प्राणियों पर अनुकम्पा करना महान् धर्मका कार्य है परन्तु उनको धन और छोटनेमे अनर्थकी सम्भावना है इसीलिये उन्हें बाधने और छोडनेसे साधुको प्रायश्चित्त फदा है। जहा बाधे और छोडे बिना गाय आदि प्राणियों की रक्षा नहीं हो सकती हो वहा इसी जगह निशीयसूत्रके भाष्य और चूर्णोंमे बाधने और छोडनेका विधान किया है—

“कारणे पुण वन्धमुचयण करेज्जा ।

वित्तिप पदमणपज्जे वन्धे अविकोवित्तेव अप्पज्जे

विसम गडअ गणिआउ चणभूफगादीसु जाणमवी”

(भाष्य)

अणपज्जो वधइ अविकोविओवा सेहो अहना विकोविओवा सेहो । अथवा विको-
जो अपज्जो इमेहिं कारणेहिं वधति विममा अगडि अगणिउसु मरिज्जिहि । इति
गादिमणफण्णना मात्तज्जिहिति एव जाणाणावि वधइ सुयइ”

अर्थात् जहा पशुकी आगमें जल कर गडुमें गिर कर या जङ्गली जानवरसे मारा
कर मर जानेकी आशङ्का हो वहा साधु उन्हें बाधन और छोडने भी है। परन्तु वन्धन
न होना चाहिये।

यह ऊपर लिखे हुए भाष्य और चूर्णोंका अर्थ है।

ये लोग गृहस्थकी नौकरी करते हैं। इस प्रकार प्रवचनकी निन्दा होनी है। उस पर श्रेष्ठजन और साधारणजन दोनोही दोष लगाते हैं श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि ये मेरे घरके कामकाज करते हैं और साधारण पुरुष कहते हैं ये साधु गृहस्थाकी सुख मद करते हैं। इनका धर्म अच्छा नहीं है ये मेरे बड़ोको बाधते हैं और छोड़ने इन निन्दा आदि कारणोसे साधुको गाय आदि प्राणियोका वधन और मोचन न चाहिये। यह ऊपर लिखे हुए भाष्यकी चूर्णीके पाठका अर्थ है।

उक्त भाष्य और चूर्णीमें गाय आदि पशुओके बाधनेसे अनर्थ होना वन प्रायश्चित्त कहा है परन्तु गाय पर अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त होना नहीं इसलिये निशीथ सूत्रके इस पाठका नाम लेकर गाय आदि प्राणियोपर अनुकम्पा प्रायश्चित्त बताना अज्ञानियोका कार्य्य समझना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि त्रस प्राणीको बाधनेसे तो अनर्थ होनेकी संभावना इसलिये निशीथके उक्त पाठमे उन्हे बाधनेसे साधुको प्रायश्चित्त होना कहा है वधे हुए पशुको वधनसे मुक्त करनेमें कौनसा अनर्थ होता है जिससे वधे हुए छोड़नेसे भी प्रायश्चित्त कहा है" तो इसका उत्तर भी इसी भाष्य और दिया है, वह निम्नलिखित भाष्य और चूर्णीका पाठ है—

“छ काय अगड विसमे हिय णट्ट पलाय सयइ पीएवा । जोग वस्सेम पोवे दोसाय जे युत्ता”

(भाष्य)

तन्न गाय मुक्क मडतं छ काय विराहण करेज्ज । अगडे विममेवा तेणेहिवा हीरेज्जा नट्टं अटवीए रलातं अत्येज्ज मुक्कांवा पलाइय पुणो सक्कइ । दुगादि सडफूफडहिवा सज्जइ । मुक्क वा माऊए थणात खीर पीएज्ज । एवमादि दोषा न होज्ज तहवि गिहिणो विसत्था अत्येज्ज अह घरे साइने जोग वस्सेम वात्रार वहति मणति एव मणेण चिन्तित्ता अणुत्त सत्ता अप्पणे करेति । अहतदोषभया मुक्क पुणो वधति तत्थग वन्धने जे दोसा युत्ता ते जम्हा ण्ण दोसा तम्हाण वधति णमुयति” (चूर्णी)

(अर्थ)

वन्धनसे छुटे हुए बड़ड़े दौड़कर छ कायके जीवोंकी विराधना करते हैं साई या गड्ढे आदिमें गिर जाते भी हैं उन्हे चोर चुरा सकता है या जगलमे इधर उधर भटकते फिरते हैं। भागते फिरते हुए घट्टोंको फिर बाधनेमें कठिन दोषी है। तथा नाहर आदि जीवोंसे यदि वे मार दिए जायें अथवा वे अपनी

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

हरिण गमेशी देवनाने अनुकम्पा करके उ बालकोके प्राण बचाये थे इस अनुकम्पाको सावग कहना अज्ञान है । वे छ ही लडके चरम शरीरी थे और वे दीक्षा लेकर मोक्ष गये । यदि हरिण गमेशो उनकी रक्षा नहीं करता तो वे किस तरह बचते और दीक्षा धारण करके किस प्रकार मोक्ष पात ? इसलिये हरिण गमेशीने जो बालकों पर अनुकम्पा करके उनके प्राण बचाये थे और सुकमाकी दु ग निवृत्ति की थी उसे सावग कहना सवथा मिथ्या है ।

उन बालकोकी रथा करनेके लिये जो देवनाने आने जानेकी क्रिया की थी उस क्रियाका नाम लेकर अनुकम्पाको सावग बनाना भी अज्ञान है । आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पाका परिणाम दूसरा है अन आने जानेके कारण अनुकम्पा सावग नहीं हो सकती । तीर्थकरों की बन्दना करनेके लिये देवना लोग आते जाते हैं परन्तु आने जानेसे तीर्थकर की बन्दना सावग नहीं होती क्योंकि आने जानेकी क्रिया पृथक् है और बन्दना पृथक् है उसी तरह आने जानेकी क्रिया दूसरी है और अनुकम्पा दूसरी है इसलिये आने जानेकी क्रिया सावग होने पर भी अनुकम्पा सावग नहीं है । यदि कोई आने जानेकी क्रिया सावग होनेसे अनुकम्पाको सावग माने तो उसे आने जानेसे सावग होनेसे तीर्थकर की बन्दनाको भी सावग कहना चाहिये । परन्तु आने जानेसे यदि तीर्थकरकी बन्दना सावग नहीं होती तो उसी तरह आने जानेसे अनुकम्पा भी सावग नहीं हो सकती । हरिण गमेशी की अनुकम्पा का यह फल हुआ कि वे छ ही लडके कस के भयसे बच गये । अन हरिण गमेशीको अनुकम्पाको सावग कहना अज्ञान का परिणाम है ।

(बोल २९ वां)

(प्रेरक)

भ्रमप्रित्वमनकार भ्रमप्रित्वसत पृष्ठ १६८ पर बन्गोड सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी ममालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ ईहा छुगजी डोकुरानी अनुकम्पा करी हस्तिस्त्रय बेठा ई ट उपाडी तिणर घरे मूको ए अनुकम्पा आज्ञामे के आत्रा बाहिरे सावग छै के निरवग छै”

(भ्र० पृ० १६९)

इसका क्या समाधान ?

यहां बाधे और छोड़े बिना त्रस प्राणीकी रक्षा न होनेकी दशम माधु को ज्ञान बाधने और छोड़नेका भी विधान किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निशीथ सूत्रके उक्त मूलपाठमें जहां बाधने और छोड़नेसे अनर्थकी सम्भाजना है वहीं त्रस प्राणी को बाधने और छोड़नेसे प्रायश्चित्त कहा है परन्तु त्रसप्राणीकी रक्षा या अनुकम्पा करनेसे प्रायश्चित्त नहीं कहा है । इसलिये निशीथ सूत्रके मूलपाठ का नाम लेकर त्रस प्राणीकी अनुकम्पा करने और उन की रक्षा करनेमें पाप बनाना अज्ञानियोंका कारण है ।

यदि जीतमलजीके मतानुयायी साधु कहे कि "अपवाद मार्ग में गाय आदि बाधने और छोड़ने का विधान भाष्य में किया है मूल पाठ में नहीं" तो उनसे यह कहा चाहिये कि—

आप लोग अपने जलके पात्रमें पड़ कर शीतसे मूर्च्छित मत्स्यों को काँटे में बाध कर क्यों रखते हैं ? और मूर्च्छा मिट जाने पर उसे क्यों छोड़ते हैं ? क्योंकि मत्स्य भी तो त्रस प्राणी ही है । तथा पागल होनेकी हालतमें साधुको क्यों बाधते हैं ? क्या कि साधु भी त्रस प्राणीसे इतर नहीं है अतः निशीथ सूत्रकी चूर्णा और भाष्यमें जो बात कही है उसका आप लोग भी मत्स्यी आदि तथा साधुओं पर व्यवहार करते हैं परन्तु गाय आदिके विषयमें इसे पाप कहने लगते हैं यह आप लोगोंका अज्ञानर सिवाय और कुछ नहीं है ।

निशीथ सूत्रकी इस चूर्णाको जीतमलजीने भी प्रमाण माना है उन्होने लिखा है कि "कोलुण पडियाण" के अर्थ चूर्णा में अनुकम्पा करणाइज कियो छै" (प्र० पृ० ११६)

वही चूर्णा कारण पडने पर पशुके बन्धन और मोचनका भी विधान करती है इस लिये इस चूर्णा की आधी बात को मानना और आधी नहीं मानना दुराभ्यस सिवाय और कुछ नहीं है ।

(बोल २८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६८ पर लिखते हैं —

"अथ अटे ऋतो सुलसानी अनुकम्पाने अर्थे देवकी पासे सुलसानी मुआ वाउ के मेल्या देवकी ना पुत्र सुलसा पासे मेज्या एपिग अनुकम्पा कही ए अनुकम्पा आजा मर के आजा बाहिरे सात्रय के निरवय छै । एतो कार्य्य प्रत्यक्ष आजा बाहिरे सात्रय छै त कार्य्यनी देवता ना मनमे उपनी जे ए दु खिनी छै तो एहने कार्य्य करी दु ख में । परिणाम रूप अनुकम्पा पिण सावय छै (भ्र० पृ० १६८)

“अथ अठे हरिकेशी मुनिनी अनुकम्पा करी यझे त्रिपाने ताच्या ऊधापाड्या ए अनुकम्पा सावण्य छै के निरवण्य छै आशामे छै के आज्ञा वाहिरै छै एतो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिर छै” (अ० पृ० १६९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तगाध्ययन सूत्रकी वह गाथा लिय कर इसका समाधान किया जाता है वह गाथा यह है —

“जक्पो तर्हि तिंदुग रुखवासो,
अणु कम्पओ तस्स महा मुनिस्स ।
पच्छाइयत्ता नियगं सरीरं
इमाइ वयणाइ मुदाहरित्था ।”

(उ० अ० १२ गाथा ८)

अर्थ —

तिंदुक वृक्षपर निवास करनेवाला उम महा मुनिका अनुकम्पक यानी उनमें भक्तिभाव होनेवाला यक्ष अपने शरीरको छिपाकर ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कटा । यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इसीका नाम लेकर जीतमलजी और भीयगजी अनुकम्पाको सावण्य कहते । नका कहना है कि यक्षने जो ब्राह्मण बुमारोंका ताडन किया था यह उसकी हरिकेशी निपर अनुकम्पा हुई” परन्तु यह बात मिथ्या है यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणों से सदुपदेश दिया था जत्र वे ब्राह्मण उसे मारने छगे तो उसने भी मारनेके बदलेमें मारा था परन्तु अनुकम्पाके कारण नहीं मारा । मुनिपर अनुकम्पा करके सदुपदेश नत्रा शास्त्रमे कथन है मारनेका नहीं वह गाथा यह है —

“समणो अहं सजउ वभयारी,
विरओ धण पयण परि गहाओ ।
पर प्पवित्तस्सउ भिक्ख काले,
अन्नस अट्ठा इह आगओ मि” ॥

विघरिज्जइ, खज्जइ, भुज्जइय, अन्नं पभुयं भवयाणमेयं
नाणाहिमे जायण जीवणुत्ति, सेसावरोसं लहओ तवस्सो” ।

(उत्तराध्ययन अ० १२ गाथा ११०)

(प्ररूपक)

श्रीकृष्णजी नेमिनाथजीकी वन्दनाके निमित्त जा रहे थे रास्तामें उन्होने जगन जीर्ण अति दु र्गी और कापते हुए एक वृद्धको देखा उसे देख कर कृष्णजीके हृदय अनुकम्पा उत्पन्न हुई और उन्होने अपने हाथसे ई ट उठा कर बुढ़ेके घर पर रख था । यह श्रीकृष्णजीकी अनुकम्पा स्वार्थरहित थी इसे सावद्य सिद्ध करनेके लिये भ्रम विध्वसनकारकी ओरसे यह कुहेतु लगाया जाता है कि "ई ट उठा कर रगन की सा आज्ञा नहीं देते इसलिये श्रीकृष्णजीकी बुढ़े पर अनुकम्पा सावद्य थी" परन्तु यह कि कुल अयुक्त है ई ट उठानेकी क्रियाके सावद्य होनेसे अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती क्योंकि ई ट उठानेकी क्रिया भिन्न है और अनुकम्पा भिन्न है, दोनों एक नहीं हैं इस लिये ई ट उठानेकी क्रियाके सावद्य होनेसे अनुकम्पा सावद्य नहीं हो सकती । श्रीकृष्णजीकी नेमिनाथजीका दशन करनेके लिये जय इच्छा उत्पन्न हुई तब उन्होने चतुर गिणी सेना सजायी थी । उस सेना सजाने रूप कार्यकी साधु आज्ञा नहीं देते परन्तु तीर्थ कर के वन्दनको तो अच्छा जानते हैं । वह तीर्थकरका वन्दन जैसे सेना सजाने रूप कार्यके सावद्य होने पर भी सावद्य नहीं समझा जाता क्योंकि सेना सजाना दूसरे कार्य है और वन्दन करना उससे भिन्न है उसी तरह ई ट उठा कर रगने की साधु नहीं देते परन्तु अनुकम्पा करनेकी आज्ञा देते हैं अतः ई ट उठानेकी क्रिया का नाम लेकर अनुकम्पाको सावद्य बताना मिथ्या है । यदि ई ट उठानेकी क्रियाके कारण अनुकम्पा सावद्य हो तो फिर सेना सजा कर आने जानेकी क्रियाके कारण नेमिनाथजीके वन्दन भी सावद्य होना चाहिये परन्तु जैसे सेना सजा कर आने जानेसे वन्दन सावद्य नहीं होता वसी तरह ई ट उठानेसे अनुकम्पा भी सावद्य नहीं होती ।

उत्तराध्ययन सूत्रके २९ वें अध्ययनमें वन्दनका फल उच्च गोत्र वाधना कहा है और भगवती सूत्रमें अनुकम्पाका फल सात वेदनीय कर्मका बन्ध बतलाया है इसलिये ये दोनों ही कार्य अच्छे हैं अनुकम्पा करना सावद्य नहीं है अतः बुढ़े पर श्रीकृष्णजीकी अनुकम्पाको सावद्य बताना अज्ञानका परिणाम है ।

(बोल ३०)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १६९ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ११ गाथा ८ वींको लिख कर उसकी समालोचना करत हुए लिखते हैं—

(प्रेरक)



ध्रमविध्वंसनकार ध्रमविध्वसन पृष्ठ १७० पर ज्ञाता सूत्रका मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं "अथ ईहा धारणी गणी गर्भनी अनुकम्पा करी मन मगता आहार जीस्या ए अनुकम्पा सावग छै के निरवद्य छै एतो प्रत्यक्ष आद्या बाहिरे छै" (अ० पृ० १७०) इनका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ध्रमविध्वसन कारने जनताको ध्रममे डालनेके लिए ज्ञाता सूत्रका मूल पाठ अपूण लिखा है इसलिए उमदा पूरा पाठ और अर्थ लिखकर इसका समाधान क्रिया जाता है ।

वह पाठ यह है—

"तएणं सा धारणी देवो तंसि अकालदोहलंसि विणियंसि सम्मा-
णियदोहला तस्स गम्भस्स अणुकम्पणट्टयाए जयं चिट्ठह जयं आसह
जयं सुवह आहारं पिणणं आहारेमाणी नोइतित्तं नाह कहुअं नाह
कसायं नाह अंवलं णाह मधुरं जं तस्स गम्भस्स हिण मियं पत्थं
तं देसेय कालेय आहारं आहारेमाणी णाइचिन्तां णाइ सोगं णाइ-
देण्ण णाइ मोहं णाइ भयं णाइ परितास ववगयचिन्तासोगमोह
भयपरितासा भोयणछायणगन्धमल्लालकारेहितं गम्भ सुखां सुखेम
वहति"

(ज्ञाता अ० १)

अर्थ —

इसके अनन्तर वह धारिणी रानी अकाल दोहदको पूर्ण करके गर्भकी अनुकम्पाके लिये जयणाके साथ खदी होती थी । जयणाके साथ बेटती थी । जयणाके साथ सोती थी । मेघा और आयुको बढाने वाला इन्द्रियोंके अनुकूल नीरोग और देशकालके अनुसार न अति तिक्त न अति कटु न अति कषाय न अति आम्ल (कटा) न अति मधुर किन्तु उम गभके हितकारक, परिमित, तथा पथ्य आहार खाती थी और अति चिन्ता, अति शोक, अति दीनता, अति मोह अति भय तथा अति परित्रास नहीं करती थी । चिन्ता, शोक, मोह, भय और परित्रास से रहित हो कर भोजन, आच्छादान, गन्धमाल्य और अलङ्कारों से युक्त होकर छत्रपूर्वक उस गर्भके बहन करती थी । यह ज्ञाता सूत्रने उक्तपाठका अर्थ है ।

इसी पाठका नाम लेकर जीतमलनी कहते हैं कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मनवाञ्छित आहार खाया था परन्तु इस पाठमे मनवाञ्छित आहार खाना नहीं

अथ —

मैं धमण हूँ और सयत यानी सर्व सावध योगोंसे हटा हुआ हूँ । मैं ब्रह्मचारी और धन, पचन, पाचन, तथा परिग्रहसे रहित हूँ, आपके यहा भिक्षार्थ भिक्षाके समयमें आया हूँ गृहस्थ अपने भोजनार्थ जो अन्न बनाते हैं उसी अन्नको भिक्षाके लिए मैं आया हूँ आपके इस पत्र स्थान में प्रचुर अन्न दीन अनाथ और दरिद्रोंको दिया जाता है और खाया जाता है तथा खिलवाया जाता है यह सब अन्न आप लोगोंका ही है । मैं भिक्षाजीवी तपस्वी हूँ इसलिए आपके यहा जो वचाते भी वचा हुआ अन्न हो वह मुझे मिलना चाहिए ।

यहा यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणोंसे नम्रतापूर्वक मुनिको भिक्षा देनेका उपदेश दिया है यह उपदेश देना बुरा नहीं किन्तु धर्म है । जैसे कोई पुरुष क्षुधातुर साधुको भिक्षा देनेके लिए लोगोंको उपदेश देवे तो वह बुरा नहीं कहा जा सकता । उसी तरह मुनिको भिक्षा देनेके लिए यक्षका ब्राह्मणोंको उपदेश देना बुरा नहीं है ।

जब यक्षके उपदेशसे ब्राह्मण लोग न समझे बल्कि और अधिक उत्तेजित होकर मुनिको मारने दौड़े तब यक्षने भी क्रोध करके ब्राह्मणोंको मारा था । यह मारना रूप कार्य्य ब्राह्मणोंपर क्रोध करके यक्षने किया था मुनिपर अनुकम्पा करके नहीं क्योंकि जहा मारने पीटनेकी बात आई है वहा मूल पाठमें यह नहीं कहा है कि यक्षने मुनिपर अनुकम्पा करके ब्राह्मणोंको मारा था अतः यक्षका यह कार्य्य क्रोधके कारण हुआ था अनुकम्पाके कारण नहीं अनुकम्पा करके उसने ब्राह्मणोंको उपदेश दिया था मारा नहीं था । इसलिए इस मारने रूप कार्य्यके सावध होनेपर भी इसके पहले जो यक्षने ब्राह्मणोंको उपदेश दिया था वह सावध नहीं हो सकता ।

जैसे कोई साधु भक्त श्रावक, साधुपर अनुकम्पा करके लोगोंको भिक्षा देनेका उपदेश देवे परन्तु उसके उपदेशसे लोग भिक्षा तो न दें उल्टे उत्तेजित होकर मुनिको मारने दौड़े, यह देखकर साधु भक्त वह श्रावक भी यदि लोगोंको मारे पीटे तो उसके इस कार्य्यसे उसका पहला कार्य्य यानी साधुको भिक्षा देनेके लिए उपदेश देना बुरा नहीं हो सकता उसी तरह यक्षने जो ब्राह्मणोंको मारा था इससे उसका पहला कार्य्य यानी मुनि पर अनुकम्पा करके भिक्षा देनेके लिए उपदेश देना बुरा नहीं हो सकता । अतः उत्तराख्ययन सूत्रकी गाथाका नाम लेकर हरिकेशी मुनिपर यक्षकी अनुकम्पा को सावध पहना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ३१ वां समाप्त)

अन्तमें अविचार आता है अत धारिणी रानीकी गर्भानुकम्पाको मोह अनुकम्पा और मातृ अनुकम्पा घटाना अज्ञानियोंका कार्य है ।

(वोल ३२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ १७१ पर ज्ञाना सूत्र अध्ययन १ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा अभयकुमारनी अनुकम्पा फंगी दबना मेद वरसायो, ए पिण अनुकम्पा कही ते सावद्य छै के निरवद्य छै एतो प्रत्यक्ष आज्ञा बाहिरे छै” (भ्र० पृ० १७१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अभयकुमारने तीन दिन तक उपवास किया था और ध्रुवचर्य्य धारण पूर्वक तीन दिन तक बैठा रहा । उसका कष्ट देव कर देवताके हृदयमे अनुकम्पा उत्पन्न हुई तथा अभयकुमारका जीवके साथ उस देवताके पूर्वजन्ममे जो स्नेह, प्रीति, और बहुमान थे उनका स्मरण करके उसके हृदयमे क्षोभ उत्पन्न हुआ था । मूलपाठमे यही बात कही है अनुकम्पा लाकर पानी बरसाना नहीं कहा है परन्तु जीतमलजी अनुकम्पा लाकर पानी बरसानेकी बात कहते हैं इसकी यह बात मिथ्या है मूलपाठमें पानी बरसानेका कारण अनुकम्पा नहीं किन्तु प्रीति कही गयी है । यह मूल पाठ लिख कर स्पष्ट किया जाता है—

“अभयकुमार मणुकम्पमाणे दवे पूर्वभव जणिय नेहपीई बहुमान जाय सोमे”

(टीका)

हा । तस्य अष्टमोपवाम रूप कष्ट विवते इति विरहपरम्”

अर्थात् मेर मित्रको अष्टमोपवास जनित कष्ट हो रहा है यह सोचते हुए उस देवताके हृदयमे पूर्वजन्मकी प्रीति स्नेह बहुमान (गुणानुराग) के स्मरण होनेसे मित्र विरह रूप खेद उत्पन्न हुआ ।

यहा अनुकम्पा करने पानी बरसाना नहीं लिखा है आगे चल कर मूलपाठमे पानी बरसानेकी बात आई है वहा प्रीतिके कारण पानी बरसाना कहा है अनुकम्पा के कारण नहीं वह पाठ यह है—

“अभयं कुमारं एवं वयासी गत्र खलुदेवाणुपिया ! मण तव पियट्ठयाए सगज्जिया, सफुसिया सविज्जुया दिव्वा पाउससिरी विउच्चिया”

(ज्ञाना अ० १)

घटिक मनवाहित आहार छोडना लिखा है तथा गर्भके हितकारक आहार खाना लिखा है इसलिये “धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मनवाहित आहार खाया था” यह जीव मलजीकी प्ररूपणा इस मूलपाठसे प्रत्यक्ष विरुद्ध है ।

इस पाठमें गर्भ पर अनुकम्पा करके धारणीसे अजयणाका त्याग किया जाना लिखा है तथा चिन्ता शोक मोह और भयको छोड देना लिखा है अतः तेरह पत्नियोंसे पूछना चाहिये कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके जो अजयणाका त्याग किया था तथा चिन्ता शोक मोह और भय आदि छोड़ दिये थे यह अच्छा किया था या बुरा किया था ? यदि अच्छा किया था तो धारिणीकी गर्भ पर अनुकम्पा बुरी कैसे हुई ?

इस पाठमें स्पष्ट लिखा है कि धारिणीने गर्भ पर अनुकम्पा करके मोह छोड़ दिया था तथापि जीवमलजी धारिणीकी गर्भानुकम्पाको मोह अनुकम्पा बतलाते हैं वह इनका महान् अज्ञान है जिस अनुकम्पाके होनेसे मोह छोड दिया जाता है वह अनुकम्पा खुद ही मोह अनुकम्पा हो यह किस प्रकार हो सकता है ?

इस पाठमें कहा है कि “धारिणी रानी गर्भ पर अनुकम्पा करके गर्भका हितकारक आहार खाती थी” इस आहार खानेका नाम लेकर गर्भकी अनुकम्पा को साक्षात् कहना भी अज्ञान है क्योंकि गर्भका आहार गर्भवतीके आहारके आधीन है यदि गर्भवती आहार न करे तो उसके गर्भका भी आहार बन्द हो जाता है और आहार बन्द होनेसे वह गर्भ मर सकता है ऐसी दशामे आहार नहीं करनेवाली गर्भवतीको गर्भ हितकारक का पाप लग सकता है उस गर्भ हिंसाकी निवृत्ति और गर्भरक्षाके लिये धारिणीका भोजन करना भी एकान्त पापमे नहीं है

गर्भवती श्राविका यदि भोजन न करे तो उसके पहले व्रतमे अतिचार आता क्योंकि अपने अश्रित प्राणीको भूखा मारना पहले व्रतका अतिचार है परन्तु निर्दय जीव इतना भी नहीं सोचते वे गर्भवतीको उपवास करनेका उपदेश देते हैं और गर्भको दया न करनेको धर्म मानते हैं वे प्रत्यक्ष ही शास्त्रविरुद्ध कार्य्य करा कर गर्भ हिंसा समर्थक बनते हैं । भगवती सूत्र शतक १ उद्देश ७ मे साक्षात् तीर्थकरने कहा है कि “माताके आहारसे गर्भको आहार मिलता है” अतः जो गर्भवतीका आहार छुडाते हैं गर्भस्थ बालकको भूखा मारते हैं परन्तु सम्यग्दृष्टि मनुष्य कदापि गर्भको दुःख नहीं देता उस पर अनुकम्पा रखते हैं ।

यह बात केवल गर्भके लिये ही नहीं किन्तु अपने अश्रित द्विपद चतुष्पद आदि प्राणियोंको भी सम्यग्दृष्टि भूखा नहीं रखते । उनपर अनुकम्पा करते हैं नहीं तो उनके पर

ई कारण न था किन्तु प्रियाके वियोगसे जो करुण नामक एक रस उत्पन्न होता है
सही वहा सामग्री पूर्णरूपसे मौजूद थी इसलिये रयणा देवीके प्रति जिन ऋषिका करुण
र ही उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं अत उक्त पाठमे आया हुआ "कलुण" शब्द
हरसरका ही बोधक है अनुकम्पाका नहीं ।

ज्ञाता सूत्रके मूल पाठमें साफ साफ लिखा है कि रयणा देवीके विचित्र हाव भाव
र कटाक्ष तथा सुरत सुखको स्मरण करके तथा उसके मनोहर शब्द और भूषणोंकी
दुर ध्वनि सुन कर जिन ऋषिके हृदयमे करुण भाव उत्पन्न हुआ था इससे स्पष्ट सिद्ध
था है कि जिन ऋषिका रयणा देवीके ऊपर करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं
बोकि अपनी प्रियाके हाव भाव कटाक्ष और सुरत सुखके स्मरण करनेमे और उसके
मोहर वाक्य तथा भूषणोंकी ध्वनि सुननेसे करुण रस ही उत्पन्न होता है अनुकम्पा
ही उत्पन्न होती है । वह ज्ञाता सूत्रका पाठ यह है —

“ततेणं से जिण रक्खिए चलमणे तेणेव भूसणारवेणं कण्णसुह
जोहरेणं तेहिंघ सप्पणय सरल म्हुर भासिएहिं संजायविउल-
ए रयणा देवीस्स देवयाए तीसे सुन्दर धण जहण वयण कर चरण
पन लावणरूप जोवण सिरीचदिव्वं सरभस उवगूहियाह जातिं
वेत्तोय विलसिताणिय विहसिय सकडक्खदिट्ठी निस्ससिय मलिय
बललिय ठियगमण पणयखिज्जिय पासादियाणिय सरमाणे राग
गेहियमइ अवसे कम्मवसगण अवयक्खति मग्गतो सविलियं ।
तेणं जिणरक्खियं समुप्पन्नकलुण भावं मच्चुगल्लत्थल्लणोल्लियमइं
वयक्खंत तहेव जक्खेय सेलए जाणिउण सणियं सणियं उव्विहति
यग पिट्ठाहिं विगयसत्थं । ततेणं सा रयण दीव देवता निस्संसा
लुणं जिण रक्खियं सकलुसा सेलग पिट्ठाहिं उवयंत दास ! मओ-
त्ति जम्पमाणो अप्पत्तं सागर सलिलं गेण्हिय याहाहिं आरसंत
इं उव्विहति अंवर तले ओवयमाणंच म्बल्लगेण पडिच्छित्ता
लुप्पणघवल अयसिप्पगासेण असिवरंण खडाखडि करेति”

अर्थ —

अर्थात् देवताने अभयकुमारसे कहा कि—

हे देवानुप्रिय ! मैंने तुम्हारे प्रेमके लिये गर्जन विद्युत् और जलविन्दु पातक साज किया था।
घषांरुतुकी शोभा उत्पन्न की है।

यहा अभयकुमारकी प्रीतिके लिये मेह बरसाना कहा है अनुकम्पाके लिये नहीं
अत अनुकम्पासे मेह बरसानेकी बात मूलपाठसे विरुद्ध है।

जैसे गुणोंमें प्रेम रखने वाले देवता तप और सयमसे युक्त मुनि पर अनुकम्पा
करके उत्तर वैक्रिय शरीर बना कर उनके दर्शनार्थ हर्षके साथ आते हैं और उन देवताओं
के गुणानुराग और मुनि पर अनुकम्पा तथा साधु दर्शनको शास्त्रकार वैक्रिय शरीर
बनाने और आने जानेकी क्रिया करनेसे बुरा नहीं किन्तु उत्तम बतलाते हैं क्योंकि गुण
नुगाग, अनुकम्पा और साधु दर्शन भिन्न हैं और उत्तर वैक्रिय शरीर बनाना तथा आना
आदि भिन्न है उसी तरह आने जाने आदिकी क्रियायें भिन्न हैं और अनुकम्पा भिन्न
है इस लिये आने जाने आदि क्रिया के सावद्र्य होने पर भी अनुकम्पा सावद्र्य नहीं
होती अत अभय कुमार पर देवता की अनुकम्पा को सावद्र्य कहना अज्ञान का
परिणाम है।

(बोल ३३ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन १७१ पर ज्ञाता सूत्र अध्ययन ९ का मूल पाठ
लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा रयणा देवीरी अनुकम्पा करी जिन ऋषि साहमो जोयो एपिण अनु
कम्पा कही ए अनुकम्पा मोह कर्मरा उदयथो के मोह कर्मरा क्षयोपशम थी ए अनुकम्पा
सावद्र्य छै के निरवद्र्य छै आहामे छै के आह्रा बाहिरे छै विपेक विलोचने करी विचारो
जोयजो” (भ्र० पृ० १७१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जिन ऋषिने रयणा देवी पर अनुकम्पा करके उसे देखा था यह भ्रमविध्वसनकारकी
बात बिलकुल झूठी और मूलपाठसे विरुद्ध है। वहा मूल पाठमें अनुकम्पाका नाम नहीं है
वहा यह पाठ आया है—

“समुपपन्न क्लृणुभाव” इस पाठमें जो “क्लृणु” शब्द आया है वह अनु
कम्पा अर्थमें नहीं है क्योंकि रयणा देवी पर जिन ऋषिकी अनुकम्पा उत्पन्न होने का

“वीरो सिंगारो अब्भुओ रोदो होइ धोद्धव्वो ।
वैलणओ वीभच्छो हासो फलुणो पसंतो अ”

(अनुयोग द्वार सूत्र)

वि —

नौ प्रकारके काव्यके रस होते हैं ये ये हैं—(१) वीर (२) शृंगार (३) मद्भुत (४)
(५) शोचनक (६) वीमत्स (७) हास्य (८) करुण (९) प्रशान्त ।

यहा करुण नामक एक रस बनाया गया है उसकी उत्पत्तिका कारण भी इसी
हि मूलश्लोकमें कहा है । यह पाठ यह है —

“पिय विषययोग चंघ वह वाहि विणिवाय सम्भमुप्पण्णो । सोइय
लविय अपम्हाण रुणलिंगो रसो करुणो” करुणो रसो जहा—
ज्जाय किलामिअयं चाहाणयप्पुअच्छियं बहुसो । तस्सवियोगे
तेप इव्वलयंते मुहं जायं”

(अनु० गाथा १६।१७)

अर्थ —

प्रियके साथ वियोग होनेसे तथा, वन्दन, पथ, व्याधि, पुत्रादि मरण और पर राष्ट्रके भय
नेसे काय रस उत्पन्न होता है । विन्ना काना विलाप काना उदास होना रोगी होना इसके
रस हैं । इसके उदाहरणकी गाथाका यह अर्थ है—

प्रिय वियोगसे दुःखिन् बालाछे कोई वृद्धा स्त्री कहती है कि हे पुत्रि ! अपने प्रियकी
अत्यन्त विन्ता करनेसे तुम्हारा मुख खिन्न हो गया है और अविरभ्रुधारासे तुम्हारी आँखें
जला भरती रहती हैं ।

यहा प्रियके वियोगसे करुण रसकी उत्पत्ति बना कर प्रियके वियोगसे अत्यन्त
खिन्न बालाका उदाहरण दिया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि रयणा देवीके वियोग
से जिन ऋषिके हृदय में करुण रस उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा उत्पन्न नहीं हुई थी ।
यह रयणा देवीके ऊपर जिन ऋषिके करुण रसको अनुकम्पा फायम करके अनुकम्पाको
भाव धराना अज्ञानियोंका कार्य है ।

बोल ३४ वां

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ १७५ के ऊपर राज प्रशनीय सूत्रका मूल
पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

अर्थ —

इसके अनन्तर उस जिन रक्षितका मन रयणा देवीके ऊपर चलायमान हो गया। रयणा देवीके कर्ण मनोहर भूपग शब्द, और प्रेम सहित सरल मृदु भाषणसे जिन रक्षितका राग (मोह) रयणा देवी पर पहलेसे भी ज्यादा बढ कर द्विगुण हो गया। रयणा देवीके सुन्दर स्तन, जवन, मुख, कर चारण और नयनोंके लावण्यको तथा उसके शरीरकी सुन्दरता दिव्य यौवनकी शोभा इत्यादि साथ आलिङ्गन करना एत्रो चेष्टा विलास मधुर हास्य सकटाक्ष दर्शन निश्वास छन्द अगस्त्य रति कृजित अ क तथा आमनादि पर बैठना इसयत् गमन प्रणय क्रोध और प्रसन्नताको स्पर्श करके वह जिन रक्षित रयणा देवी पर मोहित हो गया वह अपने वशमें नहीं रह सका। वह जिन रक्षित अवश और कर्म धशीभूत होकर पीछेसे आती हुई रयणा देवीको लज्जाके माघ देखने लगा।

इसके अनन्तर प्रियाके वियोगसे जिसको कर्ण रस उत्पन्न हो गया था और रयणा देवीके जिसका गला पकड लिया गया था जो यमपुरी जानेके लिये तत्पर हो गया था जो रयणा देवीके प्रेम सहित देख रहा था ऐसे जिन रक्षितको उस शैलक यक्षने धीरे धीरे अपने घृष्ट कर्ण गिरा दिया।

इसके अनन्तर मनुष्योंका घात करने वाली द्वेषसे पूर्ण हृदय वाली उस रयणा देवीके शैलक यक्षके घृष्टमे गिरते हुए कर्णारससे युक्त उस जिन रक्षितको अरे दास ! मरा ऐसा कहता है। समुद्रमें पहुँचानेके पहले ही अपनी भुजाओंसे ऊपर आकाशमें फेंक दिया पश्चात् अपने तीक्ष्ण कर्ण ऊपर उसे रोप कर तीक्ष्ण तलवारसे खण्ड खण्ड कर डाला।

यह ज्ञाता सूत्रके ऊपर लिखे हुए मूल पाठका अर्थ है।

यहा साफ साफ लिखा है कि रयणा देवीके भूपगोके मनोहर शब्द और ऊर्ध्व कर्णमधुर वाक्योंको सुनकर जिन रक्षितका राग रयणा देवीके ऊपर पहलेसे भी अधिक हो गया तथा रयणा देवीके शरीरकी सुन्दरता और स्तन जवन मुख आदि अंगोंको देख कर जिन रक्षित उसके ऊपर मोहित हो गया। मोहित होकर जिन रक्षित रयणा देवीके ओर देखने लगा। यहा रयणा देवी पर मोहित होकर जिन रक्षितका उसकी ओर दखना कहा है अनुकम्पाके कारण देखना नहीं कहा है। अतः जिन रक्षितका रयणा देवीके ऊपर मोह उत्पन्न हुआ था अनुकम्पा नहीं उत्पन्न हुई थी इस पाठमें जो "समुत्पन्न कर्ण भावं" यह जिन रक्षितका विशेषण आया है इसका अर्थ भी रयणा देवीके ऊपर प्रिय वियोगसे उत्पन्न होने वाला कर्ण रसका उत्पन्न होना ही है अनुकम्पा होना नहीं। अनुयोग द्वार सूत्रमें प्रियके वियोगसे कर्ण रसको उत्पत्ति बताई है वह पाठ यहा लिखा जाता है—

“न च कव्य रसा पण्णात्ता तंजहा—

भगवान् सूर्याभने कथनका आदर नहीं किया । अनुमोदन भी नहीं किया किन्तु मौन धारण रखा । यह ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें सूर्याभने भक्तिपूर्वक नाटक दिखानेकी बात कही है भक्ति को ही क नहीं कहा है यदि नाटक ही भक्ति होता तो इस पाठमें “भक्ति पुञ्जग” की जगह “तत् रूप” ऐसा नाटकका विशेषण आना परन्तु वह नहीं होकर जो यहाँ “भक्ति ग” यह पाठ आया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि नाटक दूसरी चीज है और वानकी भक्ति दूसरी है, ये दोनों एक नहीं हैं । वीतरागमें परमानुगम रखना वीतरागकी भक्ति है और वष भाषा और भूषाके द्वारा किसी उत्तम पुत्रका अनुकरण करना एक है । ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं एक नहीं हैं । नाटकके आरम्भमें वित्त निवारणके लिये नट लोग भगवानकी भक्ति करते हैं यदि नाटक ही स्वयं भक्ति स्वरूप होता तो एकके पूर्वमें भक्ति करनेकी क्या आवश्यकता थी । रागादिवासनाके उदयसे नाटक या और देखा जाता है परन्तु वीतरागकी भक्ति, रागके क्षयोपशम आदि होनेसे की जाती है इसलिये भगवद्भक्ति और नाटक दोनों एक पदार्थ नहीं हैं । भगवान्ने भक्ति करनेकी आज्ञा दी थी परन्तु नाटककी आज्ञा नहीं दी इसलिये भक्ति और नाटक भिन्न भिन्न पदार्थ हैं एक नहीं हैं । अब नाटकको ही भक्ति कायम करके उसे सात्वत सिद्ध करनेकी चेष्टा करना अज्ञान है ।

इस पाठकी टीकामें टीकाकारने लिखा है कि नाटक स्वाध्याय का विधातक है और भगवान् महावीर स्वामी वीतराग थे इसलिये भगवान्ने नाटक करनेकी आज्ञा नहीं दी । यदि नाटक ही भक्ति होता तो टीकाकार स्पष्ट लिख देते कि नाटकस्वरूप भक्ति नावद्य है इसलिये भगवान्ने उसकी आज्ञा नहीं दी थी । देखिये वह टीका यह है—

“तत श्रमणो भगवान् सूर्याभेग एवमुक्त सन् सूर्याभिस्य देवस्यैव मनतरो देवमर्थं नाद्रियते ननदर्थं करणायादग्परो भवति नापि परिजानाति, अनुमन्यते वक्तो वीतरागत्वात् गोतमाद्रीनाथ नाट्य त्रिषे स्वाध्यायादि विधात कानित्वात् । केवल गोकोऽवतिष्ठते” ।

अर्थात् सूर्याभदेवके इस प्रकार कहने पर भगवान् महावीर स्वामीने उसके अर्थका आदर नहीं किया और उसका अनुमोदन भी नहीं किया । भगवान् स्वयं वीतराग थे और नाटक गोतमादि मुनियोंके स्वाध्यायका विधातक था । अब भगवान्ने उन नियममें मौन रहे ।

यहाँ टीकाकारने नाटककी आज्ञा न देनेका कारण भगवान्का वीतराग होना, और नाटकका गोतमादिके स्वाध्यायका विधातक होना बनलाया है परन्तु वीतराग की

“अथ अठे सूर्याभरी नाटक रूपभक्ति कही तेहनी भगवान् आज्ञा न दी थी अनुमोदना पिण न कीधी । अने सूर्याभ वन्दना रूप सेवा भक्ति की थी तिहा एको पदो है । “अवभृणुष्णाग मेय सुरियाभा” एवन्दनारूप भक्तिरी म्हारी आज्ञा इम आज्ञा दीधी अने नाटक रूपभक्ति सावय है ते माटे आज्ञा न दी थी अनुमोदना पिण न की थी जिम सावय निरवय भक्ति है तिम अनुकम्पा पिण सावय तिरवय है कोई कहे सावय अनुकम्पा क्रिडा कही है तेहणो कहिणो सावय भक्ति किहा कहा है”

इसका क्या समाधान ?

(अ० पृ० १७५)

(प्ररूपक)

राज प्रश्नीय सूत्रका मूल पाठ लिए फर इसका समाधान किया जाता है—

“तएणं से सूरियाभे देवे समणेणं भगवथा महावीरेणं एवं बुते समाणे हृद्व तुद्व चित्त माणं दिए परम सोमणस्से समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति एवं वयासी तुब्भेणं भन्ते ! सव्वंजाणं सव्वं पासह सव्वं कालं जाणह सव्वं कालं पासह सव्वे भावे जाणह सव्वे भावे पासह जाणंतिणं देवाणुप्पिया ! मम पुब्बिंवा पच्छावा ममेयरुवं दिव्वंदेविड्ढिं दिव्वं देवजुहं दिव्वं देवाणुभागं लोपत्तं अभिसमणणागयं चेति तं इच्छामिणं देवाणुप्पियाणं भत्तिपुक्कं गोतमातिथोणं समणाणं निग्गंथाणं दिव्वं देविड्ढि दिव्वं देवजुहं दिव्वं देवाणुभागं दिव्वं वत्तीसति वद्धं नद्धविहिं उवदंसितए । तएणं समणे भगवं महावीरे सूर्याभेणं देवेणं एवं बुत्ते समाणे सूरियाभसं देवस्स एयमट्टंनो आढाति नोपारिजाणाइ तुसिणिए सविट्ठइ”

(राज प्रश्नीय सूत्र)

अर्थ —

धर्मण भगवान् महावीर स्वामीसे इस प्रकार कहा हुआ सूर्याभ देवता हृद्व तुद्व आनन्दित्र चित्त होकर भावाचरकी वन्दना नमस्कार करके कहने लगा कि हे भगवन् ! आप को कुछ जानते और देखते हैं । आप सब कालको सब भावोंको जानते और देखते हैं । तथा इस प्रकार की दिव्य देव ऋद्धि देव धृति और दिव्य देव प्रभाव मुझको सर्वदा प्राप्त है यह भी आप जानते हैं इस लिये आपकी भक्ति पूर्वक मे गौतमादि निग्रन्थोको दिव्य देव ऋद्धि, दिव्य देव धृति, दिव्य देव प्रभाव और वत्तीस प्रकारकी नाटक विधि दिखलाना चाहता हूँ । यह सुन कर भगवान् स

तथापि यदि कोई हठ करके "वेयावडियट्टुवाए" यह पाठ देस कर मारनेको ही व्यावच कहे ता फिर उसे वन्दनके निमित्त किया जाने वाला वैक्रिय समुद्रघातको भी वन्दन स्वरूप ही मानना पड़ेगा और भगवान्का वन्दन भी वैक्रिय समुद्रघात स्वरूप होने साव्य कहना पड़ेगा । परन्तु वैक्रिय समुद्रघातको यदि वन्दन स्वरूप नहीं मान कर वन्दनसे भिन्न मानते हो तो उसी तरह व्यावचको भी मारनेसे भिन्न ही मानना पड़ेगा एक नहीं मान सकते ।

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथामें भी मुनिने ब्राह्मणसे यही कहा है कि "यक्ष मेरा व्यावच करते हैं" परन्तु यक्षोंने जो ब्राह्मण कुमारोंको मारा था उसे ही मुनिने अपना व्यावच नहीं कहा था । देखिये, उत्तराध्ययनकी गाथा यह है —

"पुर्व्विच इण्हच अनागच मनप्पदोसो नमे अत्थिकोई ।

जक्खालु वेयावडियं करेत्ति तम्हाट्ट ए ण निहया कुमारा"

(उत्तरा० अ० १० गाथा ३२)

अर्थात् आप लोगोंके प्रति मेरे मनमें न कभी द्वेष था और न है और न होगा । यक्ष मेरा व्यावच करते हैं इसलिये ये लडके मारे गये हैं । यह उक्त गाथा अर्थ है ।

यहां मुनिने यही कहा है कि यक्ष मेरा व्यावच करते हैं परन्तु यक्षोंने जो ब्राह्मण कुमारोंको मारा है यह मेरा व्यावच है ऐसा नहीं कहा, इसलिये मारनेकी ही व्यावच मानना अज्ञान है ।

यद्यपि यक्षोंने मुनिका व्यावच करनेके लिये ही ब्राह्मण कुमारोंका ताडन किया था तथापि जैसे तीर्थङ्करकी वन्दनाके लिये देवताओंसे किया हुआ वैक्रिय समुद्रघात वन्दनसे भिन्न है उसी तरह मुनिका व्यावचके लिये किया हुआ ब्राह्मण कुमारोंका ताडन भी व्यावचसे भिन्न है । आज कल भी श्रावक लोग मुनियोंका दर्शन करनेके लिये रेलगाडी घोडा गाडी मोटर गाडी आदि विविध वाहनोमे बैठ कर दूर दूरसे मुनियोंके पास जाते हैं । उनका आना मुनियोंका वन्दनके लिये ही होता है परन्तु जैसे आने जाने रूप कल्याणसे मुनिका वन्दन भिन्न है उसी तरह हरि केशी मुनिका व्यावचके लिये यक्षोंके मारा ब्राह्मण कुमारोंका ताडन भी व्यावचसे भिन्न है अतः मुनिके वन्दनके समान ही मुनिका व्यावच भी निरव्य है साव्य नहीं है ।

यदि कोई कहे कि "मुनिका वन्दन तो अपने लिये किया जाता है परन्तु व्यावच अपने लिये नहीं मुनिके लिये किया जाता है इस लिये व्यावच और वन्दन दोनों समान नहीं हैं" तो उस कहना चाहिये कि व्यावच भी वन्दनके समान अपन लिये ही किया जाता है और उस व्यावचसे जो निर्जरा होती है वह भी व्यावच करनेवाले को ही

भक्तिका सावय होना कारण नहीं बतलाया है अतः नाटकको भक्ति मान कर उसको आह्ला न देनेसे वीतरागकी भक्तिको सावय कायम करना अज्ञानका परिणाम है। यदि नाटक भक्तिस्वरूप होता तो मूलपाठमे “भक्ति पूर्वग” यह पाठ न होकर “भक्ति स्व” यह पाठ आता और टीकाकार नाटककी आह्ला न देनेका कारण भक्तिका सावय होना बतलाते परन्तु टीकाकारने भक्तिको सावय नहीं कहा है और मूलपाठमें नाटकको भक्ति रूप नहीं कहा है अतः राजप्रश्नीय सूत्रके उक्त मूलपाठके आधार पर वीतरागकी भक्तिको सावय कहना अज्ञानका परिणाम है ।

(बोल ३५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७६ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ वीं ३२ वीं गाथाको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि —

“अथ अठे हरिकेशी कह्यो ए छानाने हण्या ते यक्षे व्यावच की धी छै पर मारा दोष तीन ही कालमे न थी इहां व्यावच कही ते सावय छै आह्ला वाहिरे छै अने हरिकेशी मुनिने अशनादिक दान रूप जे व्यावच ते निरवय छै तिम अनुकम्पा पिण सावय निरवय छै” (भ्र० पृ० १७६)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

यक्षने ब्राह्मण कुमारोको जो मारा था उसे मुनिका व्यावच कहना मिथ्या क्योंकि व्यावच दूसरी वस्तु है और मारना दूसरा है । मारना ही व्यावच नहीं है अतः गाथामें कहा है कि—

“इसिस्स वेयावडियट्टयाए जक्खा कुमारे विणिवारयन्ति”

अर्थात् ऋषिका व्यावच करनेके लिये यक्ष, ब्राह्मण कुमारोका निवारण करने के लिये

यहा व्यावचके लिये मारना कहा है परन्तु मारनेको ही व्यावच नहीं कहा है अतः लिये मारनेको ही व्यावच बतलाना मिथ्या है । जैसे भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन करनेके लिये जहा देवताओने वैक्रिय समुद्रघात किया है वहा “वन्दन वक्तियाए” यह कहा आया है उसी तरह यहा भी “वेयावडियट्टयाए” यह पाठ आया है अतः जैसे भगवान् का वन्दन करनेके लिये देवताओसे किया हुआ वैक्रिय समुद्रघात वन्दन स्वरूप न किन्तु उससे भिन्न है उसी तरह मुनिका व्यावचके लिये यक्षोसे किया हुआ ब्राह्मण कुमारोका ताडन भी व्यावच स्वरूप नहीं किन्तु उससे भिन्न है ।

व्य कहना अज्ञान है। शीतललेख्याने जीवकी विराधना नहीं होती यह बात विस्तार साथ लब्धि प्रकरणमे चल कर बतलाई जावेगी।

कृष्णजीने बूढ़े पर जो अनुकम्पा की थी वह भी सावध नहीं है। यद्यपि अनु-
कम्पाके लिये कृष्णजीने बूढ़ेकी ईंट उपाड़ी थी परन्तु ईंट उपाडनेकी क्रिया न्यायी और
नुकम्पा न्यायी चीज है इस लिये ईंट उपाडने रूप कार्याके सावध होने पर भी अनु-
म्पा सावध नहीं हो सकती। यह बात विस्तारके साथ पहले बतला दी गई है अन
ष्णजी आदिकी अनुकम्पाके उदाहरणसे गोशालक पर भगवान्की अनुकम्पाको सावध
गना अज्ञान मूलक ही है।

(बोल ३७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमनिव्यसन कार भ्रम विध्वसन पृष्ठ १७८ पर लिखते हैं —

“एकार्यानी मनमे अपनी हियो कम्पायमान हुवो ते माटे ए अनुकम्पा पिण सावध
है। इहा अनुकम्पा अने कार्या सलान छै। जे कृष्णजी ईंट उपाड़ी ते अनुकम्पाने अर्थे
“अनुकम्पाद्वयाए” एहू पाठ कइयो छै। ते अनुकम्पाने अर्थे ईंट उपाड़ी मूझी ते माटे
एकार्यानी अनुकम्पा सलान छै एकार्या रूप अनुकम्पा सावध छै। इस हरिण गमेशी
तया धारिणी अनुकम्पा की धी तिहा पिण “अनुकम्पाद्वयाए” पाठ कइयो ते माटे ते अनु-
कम्पा पिण सावध छै। जिम भगवती शतक ७ उद्देशा २ कइयो “जीवो दब्बद्वयाए सासए
भावद्वयाए असासए” जीव द्रव्यार्थे मासतो भावार्थे असासतो कइयो ते द्रव्य भाव जीव
नी न्यारी नहीं तिम कृष्ण आदि जे सावध कार्या किया त तो अनुकम्पा अर्थे किया
ते माटे ए कार्या थी अनुकम्पा पिण न्यारी न गिणयी” (भ्र० पृ० १७८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अनुकम्पाके निमित्त जो कार्या किया जाता है वह यदि अनुकम्पासे भिन्न नहीं
है तो फिर भगवान् महावीर स्वामी और साधुओंका दर्शनके लिये जो कार्या किया जाता
है वह भी भगवान् महावीर स्वामी और साधुओंके दर्शनसे भिन्न न होना चाहिये।
ऐसी दशामें अनुकम्पाके निमित्त किये जाने वाले कार्याके बजहसे जैसे अनुकम्पाको भ्रम
निव्यसनाकार सावध कइते हैं उसी तरह दर्शनके लिये किये जाने वाले कार्याकी बजहसे
दर्शनको भी सावध कइना चाहिये। जैसे कृष्णजीकी अनुकम्पाके विषयमे “अनुकम्पा-
द्वयाए” यह पाठ आया है उसी तरह भगवान् महावीर स्वामीके दर्शार्थ कौणिक रागा

होती है अतएव वारह प्रकारकी निर्जराओमें व्यावच को भी गिनाया है । मुनि तो वच का एक साधन मात्र है अत मुनिका व्यावच भी मुनि वन्दनके समान ही नि है और वह अपने लिये ही किया जाता है । जैसे वन्दनके लिये की जाने आनेकी क्रिया वन्दनसे भिन्न है उमो तरह मुनिका व्यावचके लिये की जाने क्रिया भी व्यावचसे भिन्न है अत यक्षोंने हरिकेशी मुनिका व्यावच करनेके लिये ब्राह्मण कुमारोका ताडन किया था उसे मुनि का व्यावच स्वरूप कायम करके घताना और उस के दृष्टान्त से अनुकम्पा को भी सावद्य कहना अज्ञानियों का समझना चाहिये ।

(बोल ३६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १७७ के ऊपर लिखते हैं—

‘बली केतला एक कहे—गोशालाने भगवान् वचायो ते अनुकम्पा कही है माटे धर्म छै’

तेहनो उत्तर—जो ए अनुकम्पामे धर्म छै तो अनुकम्पा घणे ठीकाने कही छै’

इत्यादि लिख कर बूढ़े पर कृष्णजीकी और सुलसापर हरिण गमेशी आदि अनुकम्पाका दृष्टान्त देकर गोशालक पर भगवान् की अनुकम्पाको सावद्य बतलाते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवान् महावीर स्वामीने गोशालक पर अनुकम्पा करके उसके प्राण बचाये इस अनुकम्पाको सावद्य कहना अनुकम्पाके साथ द्रोह करने वालोंका कार्य है । प्राण व्याकरण सूत्रके मूलपाठका प्रमाण दे कर यह बतलाया जा चुका है कि मरते जीव पर दया करके उसकी प्राणरक्षा करना जैनागमका प्रधान उद्देश्य है अत गोशालकर पर अनुकम्पा करके भगवान् ने उसके प्राण बचाये थे । इस कार्यको सावद्य कहना अज्ञानका परिणाम है ।

यदि कोई कहे कि गोशालकको बचानेके लिये भगवान् को शीतललेण्या प्रकट करनी पडो थी और शीतललेण्या प्रकट करनेसे जीवोकी विराधना होती है इसलिये भगवान् की यह अनुकम्पा निरवद्य नहीं कही जा सकती किन्तु यह सावद्य है तो क कहना चाहिये कि शीतल लेण्यासे जीवोंकी विराधना नहीं प्रत्युत उससे जीवरक्षा होती है इस लिये शीतल लेण्याका नाम लेकर भी गोशालक पर भगवान् की अनुकम्पा को

अर्थ —

यह हम का हृष्ट हृष्ट हृदय चाहे दयतागग, कोई भगवानकी वन्दना करनेके लिये, कोई भो पूजा करनेके लिये, कोई सत्कार सम्मान करनेके लिये, कोई कौतूहलके लिये, कोई नहीं तो हुई बातको छाननेके लिये और छाने हुए संदिग्ध भयको पूजनेके लिये, कोई सूर्याभकी आज्ञा ठर करनेके लिये, कोई अपने मित्रकी आज्ञा पालनके लिये, कोई भगवदक्तिके अनुगतसे, कोई समझ कर, सम्पूरा ऋद्धियोंसे युक्त होकर सूर्याभके निकट उपस्थित हुए ।

इस पाठमें कहा है कि “देवता लोग भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन नमस्कार कर सम्मान और सेवा शुश्रूषा करनेके लिये सूर्याभके निकट सध ऋद्धियोंसे युक्त का आप” । देवताओंके हृदयमें जन भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार करनेका भाव उत्पन्न हुआ तब वे सूर्याभके पास आये थे अतः भ्रमविध्वसनकार के भावसे भगवान् का वन्दन नमस्कार भी सावय ही ठहरेगा क्योंकि साधु किसीको फर्हीं जाने आनेकी आज्ञा नहीं देते । परन्तु यदि जाने जानेकी क्रिया दूसरी है और वन्दन नमस्कार दूसरा है इसलिये जाने जानेकी क्रियाके आज्ञा बाहर होन पर भी वन्दन नमस्कार आज्ञा बाहर नहीं है तो उसी तरह अनुकम्पा भी दूसरी है और उसके लिये किया जाने वाला काव्य्य दूसरा है । उस काव्य्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर और सावय नहीं है । अतः अनुकम्पाके लिये की जाने वाली क्रियाका नाम लेकर अनुकम्पाको सावय कायम करना अज्ञानका परिणाम है ।

जिस काव्य्यके लिये मुनि आज्ञा नहीं देते वह एकान्त पाप है यह भ्रमविध्वसन कारकी प्ररूपणा भी मिथ्या है क्योंकि मुनि लोग किसीको साधुका दर्शन करनेके लिये जानेकी भी आज्ञा नहीं देते तथापि साधु का दर्शन करने के लिये जाना एकान्त पाप नहीं है ।

भगवती सूत्र और राजप्रदनीय सूत्रमें यह पाठ आया है—“सहारूवाण अरिहता मारगताण नाम गोयस्सवि मयगयाए महाफलं किमङ्ग पुग अबिगमण वन्दन तमसण परिपुच्छण पञ्जुवासणआण”

अर्थात् तथारूपके अरिहत और भगवतोंके नाम गोत्रके श्रवण करनेसे भी महान् फल होता है फिर उनके सम्मुख जाने, वन्दन नमस्कार करने, कुशल प्रश्न करने और सेवा शुश्रूषा करनेसे तो फलना ही क्या है अर्थात् उससे तो अवश्य ही महान् फल होता है ।

इस पाठमें अरिहत भगवतोंके सम्मुख जानेका महान् फल बतलाया है परन्तु साधु किसीको अरिहतोंके सम्मुख जानेकी आज्ञा नहीं देते तथापि शास्त्रकार

अर्थ —

सूर्याभ देवने भगवान् महावीर स्वामीकी वन्दना करनेके लिये जाते समय सुघोष नामक घण्टा बजा कर अपने विमान वासी देवताओको सूचित किया कि हे देवानुप्रियों ! सूर्याभ देवता जम्बू द्वीपके भारतवर्षमें भगवान् महावीर स्वामीको वन्दना करनेके लिये आश्रकल्या नगरके आश्रकाल नामक उद्यानमें जा रहा है अतः आप लोग भी अपनी सम्पूर्ण ऋटियासे युक्त हाथ शीघ्र ही सूर्याभ देवके समीप आ जावें ।

इस पाठमें कहा है कि “सूर्याभदेवने भगवान् महावीर स्वामीकी वन्दनाके लिये जाते समय सुघोष नामक घण्टेको बजा कर देवताओको सूचना दी थी” । अब सूर्याभ देवके हृदयमें भगवान् महावीर स्वामीको वन्दन करनेका भाव उत्पन्न हुआ तब उसने घण्टा बजाकर देवोंको सूचना दी थी । घण्टा बजानेके लिये मुनि आज्ञा नहीं देते इस लिये घण्टा बजाना आज्ञा बाहर है । जो लोग अनुकम्पाके भाव आनेसे जो कार्य किया जाता है उसकी वजहसे अनुकम्पाको सावय कहते हैं उनके मतमें भगवानकी वन्दना भी सावय कहनी चाहिये क्योंकि वन्दनाके भाव आनेसे ही सूर्याभदेवने सुघोष नामक घण्टा बजाया था । यदि घण्टा बजाना दूसरा है और वन्दना करना दूसरा है इस लिये घण्टा बजाना आज्ञा बाहर होने पर भी वन्दना आज्ञा बाहर नहीं है तो उसी तरह अनुकम्पा दूसरी है और उसके लिये जो कार्य किया जाता है वह दूसरा है इस लिये अनुकम्पाके लिये किये जाने वाले कार्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर और सावय नहीं है ।

सूर्याभकी आज्ञा पाकर देवता लोग जब भगवानका दर्शन करनेके लिये सूर्याभ के समीप आये हैं उस समयका वर्णन करनेके लिये यह पाठ आया है —

“एयमट्टं सोचा णिसम्म हट्ट तुट्ट जाव हियया अप्पेगइया वन्दन वत्तियाए अप्पेगइया पूयण वत्तियाए अप्पेगइया सक्कारवत्तियाए अप्पेगइया असुयाइं सुणिससामो सुयाइं अट्टाइं हेउइं पासिणाइं कारणाडं वागरणाइं पुच्छिससामो अप्पेगइया सूरियाभस्स वयण मणुपत्तमाणा अप्पेगइया अन्न मन्न मणुपत्तमाणा अप्पेगइया जिण भत्तिरागेणं अप्पेगइया धम्मोत्ति अप्पेगइया जियमेयंति कट्टु सब डिट्ठए जाव अकाल परिहीणाचेव सुरियाभस्स अन्तियं पाउवभवति”

(राज प्रश्नीय सूत्रम्)

मध्य —

यह उन का हृष्ट हृष्ट हृष्ट घाटे देवताग, कोई भगवानकी वन्दना करने लिये, कोई को पूजा करनेके लिये, कोई सत्कार सम्मान करनेके लिये, कोई कौतूहलके लिये, कोई नहीं ही हुई बातको सुननेके लिये और एने हुए संदिग्ध भयको पूत्रनेके लिये, कोई सूर्यामको आज्ञा करनेके लिये, कोई अग्ने मित्रकी आज्ञा पाठनेके लिये, कोई भगवत्कृतिके अनुगामसे, कोई ममस कर, सम्पूर्ण ऋद्धियोंसे युक्त होकर सूर्यामके निकट उपस्थित हुए ।

इस पाठमें कहा है कि “देवता लोग भगवान् महावीर स्वामीका वन्दन नमस्कार सत्कार सम्मान और सेवा श्रुश्रूपा करनेके लिये सूर्यामके निकट सब ऋद्धियोंसे युक्त हुए आए” । देवताओंके हृदयमें जब भगवान् महावीर स्वामी को वन्दन नमस्कार करनेका भाव उत्पन्न हुआ तब वे सूर्यामके पास आये थे अतः भ्रमविध्वंसनकार के नामसे भगवान् का वन्दन नमस्कार भी सावद्य ही ठहरेगा क्योंकि साधु किसीको कहीं जाने आनेकी आज्ञा नहीं देते । परन्तु यदि आने जानेकी क्रिया दूसरी है और वन्दन नमस्कार दूसरा है इसलिये आने जानेकी क्रियाके आज्ञा बाहर होने पर भी वन्दन नमस्कार आज्ञा बाहर नहीं है तो उसी तरह अनुकम्पा भी दूसरी है और उसके लिये किया जाने वाला काव्य दूसरा है । वस काव्यके आज्ञा बाहर होने पर भी अनुकम्पा आज्ञा बाहर और सावद्य नहीं है । अतः अनुकम्पाके लिये की जाने वाली क्रियाका नाम लेकर अनुकम्पाकी सावद्य कायम करना अज्ञानका परिणाम है ।

जिस काव्यके लिये मुनि आज्ञा नहीं देते वह एकान्त पाप है यह भ्रमविध्वंसनकारकी प्रकृपा भी मिथ्या है क्योंकि मुनि लोग किसीको साधुका दर्शन करनेके लिये जानेकी भी आज्ञा नहीं देते तथापि साधु का दर्शन करने के लिये जाना एकान्त पाप नहीं है ।

भगवती सूत्र और राजप्रश्नीय सूत्रमें यह पाठ आया है—“तहारूवाण अरिहता भगवतीण नाम गोयस्सवि सवगयाण महाफण्डे किमद्द पुग अभिगमण वन्दन नमसण परिपुच्छण पञ्जुवासणभाण”

अर्थात् तथारूपके अरिहत और भगवतोंके नाम गोत्रके श्रवण करनेसे भी महान् फल होता है फिर उनके सम्मुख जाने, वन्दन नमस्कार करने, श्रुश्रू प्रश्न करने और सेवा श्रुश्रूपा करनेसे तो कइना ही क्या है अर्थात् उससे तो अवश्य ही महान् फल होता है ।

इस पाठमें अरिहत भगवतोंके सम्मुख जानेका महान् फल बतलाया है परन्तु साधु किसीको अरिहतोंके सम्मुख जानेकी आज्ञा नहीं देते तथापि शास्त्रकार अरिहतोंके

सम्मुख जानेसे महान् फल होना बतलाते हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस कार्य के लिये साधु आशा नहीं देते वह सब कार्य एकान्त पाप ही हो यह कोई नियम नहीं है अत आशा शहर के कार्यों को एकान्त पाप कहना अज्ञान भूलक समझना चाहिये ।

(बोल ३८)

इति अनुकम्पाधिकारः



अथ लब्ध्यधिकारः ।

प्रश्न) भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थपनेमें शीतल पात्रो प्रकट करके गोशालककी प्राणरक्षा की थी इसमें भगवान् को जघन्य तीन और छष्ट पात्र क्रियाएँ लगी थीं क्योंकि पन्नाशणा पद ३६ में तेज, समुद्घात करनेसे अन्य तीन और उत्कृष्ट पात्र क्रिया लगना बतलाया है । शीतल लेश्या भी तेजो लेश्या है इसलिये उसमें भी तेज समुद्घात होता है अतः शीतल लेश्याको प्रकट करके भगवान् ने जो गोशालक की प्राणरक्षा की थी उसमें उनको जघन्य तीन और उत्कृष्ट पात्र क्रियाएँ लगी ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युक्त)

तेज समुद्घात करनेसे जघन्य तीन और उत्कृष्ट पात्र क्रियाओंका लगना शास्त्र कहे है परन्तु तेज समुद्घात उष्ण तेजोलेश्याके प्रकट करनेमें ही होता है शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें नहीं होता ।

भगवती शतक १५ उद्देश १ में उष्ण तेजोलेश्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्घात होना बतलाया है परन्तु शीतल लेश्या के प्रकट करने में नहीं कहा है वह पाठ है —

“तएणं से गोशाले मंखलि पुत्ते वेसियायणं बालतवस्सिं पासइ
सइत्ता ममं अंतिजाओ सणियं पचोसकइ पचोसकइत्ता जेणेव
सियायणे बालतपस्वी तेणेव उवागच्छइ उवागच्छइत्ता वेसियायणं
बालतवस्सिं एव वयासी—कि भवं मुणा मुणोए उदाह्व जुया सेजा
त्परण ? तएणं से वेसियायणे बालतवस्सी गोशालस्स मखलि पुत्त-
एवमद्वं नो आढाइ नो परिजाणइ तुसिणोए संचिट्ठइ । तएणं से
शाले मंखलिपुत्ते वेसियायणे बालतवस्सिं दोवपि एवं वयासी—
भवं मुणो मुणोए जावसेजावरणं । तएणं से वेसियायणे बाल-

तवस्सी गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं बुत्ते समापे
 असुक्ते जाव मिस मिसे माणे आयावण भूमिओ पच्चोसक्कइ पच्चोस
 कइत्ता तेया समुद्घाएणं समोहणइ समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइ पच्चो
 सक्कइ पच्चोसक्कइत्ता गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स बहाए सरोरगं तेपं
 णिसिरइ तएणं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स अणुक्कम्प
 णट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उसिण तेयलेस्सा तेय
 पडिसाहरणट्ठयाए एत्थणं अन्तरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं निस्स
 रामि । जाए सा ममं सियलियाए तेय लेस्साए वेसियायणस्स बाल
 तवस्सिस्स साउसिण तेय लेस्सा पडिहया”

(भगवती शतक १५ उद्देश १)

अर्थ.—

इसके अनन्तर गोशालक मंखलिपुत्रन वैश्यायन बालतपस्वीको देखा । देल कर धार धारे
 मेरे पाससे हट कर उसके पास गया बहा जाकर गोशालक मंखलिपुत्रने वैश्यायन बाल तपस्वीसे
 कहा कि “तुम कोई मुनि हो या जू आदिकी शय्या हो ?” यह छन कर वैश्यायन बालतपस्वीने
 गोशालककी बात पर कुछ ध्यान नर्वा दिया किन्तु मौन धारण करके रहा । पश्चात् गोशालक
 मखलिपुत्रने दो तीन बार यही बात कही । यह देख कर क्रोधके मारे मिस मिस करता हुआ
 वैश्यायन बाल तपस्वीने आतापन भूमिसे पीछे हट कर तेजका समुद्घात किया । तेजका समुद्घात
 करके सात आठ पैर पीछे हट कर गोशालक मंखलिपुत्रका वध करनेके लिये अपने शरीर सम्बन्धी
 तेजको गोशालकके ऊपर फेंका । हे गोतम ! उस समय गोशालक मंखलिपुत्रकी अतुल्यपाक
 लिये उस पर आती हुई तेजोलेश्याके निवारणार्थं मेने शीतललेश्या छोडी । मेरी शीतललेश्या
 से वैश्यायन बाल तपस्वी की उष्ण तेजो लेश्या प्रतिहत हो गई । यह इस पाठका अर्थ है ।

इसमे उष्ण तेजो लेश्याके वर्णनमे तेजके समुद्घात होनेका कथन है पारन्तु शीत
 ललेश्याके प्रकट करनेमें तेजके समुद्घात होनेका जिक्र नहीं है इसलिये शीतल लेश्यामें
 तेजके समुद्घात होनेकी बात अप्रामाणिक है । जब कि शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें
 तेजका समुद्घात नहीं होता तब फिर उसमे जघन्य तीन और उत्कृष्ट पाच क्रियाए कैसे
 लग सकती हैं ? अतः शीतल तेजो लेश्याके प्रकट करनेमे जघन्य तीन और उत्कृष्ट
 पाच क्रिया लगानेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या समझनी चाहिये ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

“तेज समुद्रघात” शब्दका प्रमाणके साथ अर्थात् घतलाइये जिससे यह ज्ञात हो जाय कि शीतल लेख्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्रघात क्यों नहीं होता ?”

(प्ररूपक)

प्राचीन आचार्यों ने तेज समुद्रघात शब्दका यह अर्थ किया है—

“तेजो निसर्गं लब्धिमान् ऋद्ध साध्वादि सप्ताष्टौपदानि अवप्त्रक्ष्य विक्रम वाहल्याभ्या शरीरमान मायामतस्तु सत्येव योजन प्रमाण जीवप्रदेशदण्ड शरीराद्बहिः प्रक्षिप्य क्रोध विपयी कृत्वं मनुष्यादि निर्दहति तत्रच प्रभूतास्तैजसशरीरनामपुद्गलान् शातयति”

(प्रवचन सारोद्धार २३१ द्वार)

अर्थ —

तेजो लब्धिधारी साधु आदि क्रोधित होकर सात आठ पैर पीठे हट कर अपने शरीरके समान स्थूल और विन्तृत तथा सख्यात योजन पर्यन्त लम्बायमान जीव प्रदेश दण्डको बाहर निकाल कर क्रोध विपयीभूत मनुष्य आदिको जला देता है इसमें ज़हुवसे तेजस शरीर नाम वाले पुद्गलोंका शातन होता है इसलिये इसे तेज समुद्रघात कहते हैं । यह प्रवचन सागोद्धारके ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है ।

इसमें, क्रोधित हो कर तेजोलब्धि धारी साधु किसीको जलानेके लिये जो उष्ण तेजोलेश्याका प्रक्षेप करता है उसीमें तेजका समुद्रघात होना कहा है परन्तु किसी मरते प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये जो शीतल लेख्या छोड़ी जाती है उसमें तेजका समुद्रघात होना नहीं कहा है अतः भगवान् महावीर स्वामीने गोशालककी प्राणरक्षा करनेके लिये जो शीतल लेख्या छोड़ी थी उसमें तेजके समुद्रघातका नाम लेकर जघन्य तीन और बत्कष्ट पाच क्रिया लगानेकी प्ररूपणा करना मिथ्या है ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

उष्णलेख्या के प्रकट करनेमें जिन क्रियाओं का लगाना बतलाया है उनके नाम और अर्थ बतलाइये ।

(प्ररूपक)

ये क्रियाएँ पाच हैं—(१) कायिकी (२) आधिकरणिनी (प्राप्तेपिकी), (३) पारि-
चापनिकी (४) प्राणातिपातिकी । ये पाच ही क्रियायें हिंसाके साथ सम्बन्ध होनेसे

तवस्ती गोसालेणं मंखलिपुत्तेणं दोच्चं पि तच्चं पि एवं बुत्ते समणे
 असुक्ते जाव मिस मित्ते माणे आयावण भूमिओ पचोसक्कइ पचोस
 कइत्ता तेया समुग्घाएणं समोहणइ समोहणइत्ता सत्तट्ठपयाइ पचो
 सक्कइ पचोसक्कइत्ता गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स वहाए सरीरगं तेयं
 णिसिरइ तएणं अहं गोयमा ! गोसालस्स मंखलि पुत्तस्स अणुक्कम्प
 णट्ठयाए वेसियायणस्स बालतवस्सिस्स सा उस्सिण तेयलेस्सा तेय
 पड्डिसाहरणट्ठयाए एत्थणं अन्तरा अहं सीयलियं तेयलेस्सं निस्स
 रामि । जाए सा ममं सियलियाए तेय लेस्साए वेसियायणस्स बाल
 तवस्सिस्स साउस्सिण तेय लेस्सा पड्डिहया”

(भगवती शतक १५ उद्देशा १)

अर्थ —

इसके अनन्तर गोशालक मंखलिपुत्र ने वैश्यायन बालतपस्वीको देखा । देख कर धार धार धार
 मेरे पाससे हट कर उसके पास गया वहा जाकर गोशालक मंखलिपुत्रने वैश्यायन बाल तपस्वीको
 कहा कि “तुम कोई मुनि हो या नू आदिकी शय्या हो ?” यह सुन कर वैश्यायन बालतपस्वीने
 गोशालककी बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया किन्तु मौन धारण करके रहा । पश्चात् गोशालक
 मंखलिपुत्रने दो तीन धार यही घात कही । यह देख कर क्रोधके मारे मिस मिस करता हुआ
 वैश्यायन बाल तपस्वीने आतापन भूमिते पीछे हट कर तेजका समुद्घात किया । तेजका समुद्घात
 करके सात आठ पैर पीछे हट कर गोशालक मंखलिपुत्रका बध करनेके लिये अपने धारों सम्बन्ध
 तेजको गोशालकके ऊपर फेंका । हे गोतम ! उम समय गोशालक मंखलिपुत्रकी अनुकम्पणा
 लिये उस पर आती हुई तेजोलेश्याके निवारणाथ मेने शीतलेश्या छोडी । मेरी शीतलेश्या
 से वैश्यायन बाल तपस्वी की उष्ण तेजो लेश्या प्रतिहत हो गई । यह इस पाठका अर्थ है ।

इसमे उष्ण तेजो लेश्याके वर्णनमे तेजके समुद्घात होनेका कथन है परन्तु शीतल
 लेश्याके प्रकट करनेमें तेजक समुद्घात होनेका जिक्र नहीं है इसलिये शीतल लेश्याके
 तेजके समुद्घात होनेकी बात अप्रामाणिक है । जब कि शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें
 तेजका समुद्घात नहीं होता तब फिर उसमे जघन्य तीन और उत्कृष्ट पाच क्रियाएँ कौन
 लग सकती हैं ? अतः शीतल तेजो लेश्याके प्रकट करनेमें जघन्य तीन और उत्कृष्ट
 पाच क्रिया लगानेकी प्ररूपणा एकान्त निश्चया समझनी चाहिये ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

“तेज समुद्घात” शब्दका प्रमाणके साथ अर्थ बतलाइये जिससे यह ज्ञात हो
 जाय कि शीतल लेश्याके प्रकट करनेमें तेजका समुद्घात क्यों नहीं होता ?”

(प्ररूपक)

प्राचीन आचार्यों ने तेज समुद्घात शब्दका यह अर्थ किया है—

“तेजो निसर्गं लब्धिमान् क्रुद्ध साध्वादि सप्ताष्टौपदानि अवध्वज्य विष्कभ
 बाह्य्याभ्या शरीरमान मायामतस्तु सरयेव योजन प्रमाण जीवप्रदेशदण्ड शरीराद्वहि
 प्रशिष्य क्रोध विषयी कृत मनुष्यादि निर्देहति तत्रच प्रभूतास्तेजसशरीरनामपुद्गलान्
 शातयति”

(प्रवचन सारोद्धार २३१ द्वार)

अर्थ —

तजो लब्धिधारी साधु आदि क्रोधित होकर सात आठ पैर पीठे हट कर अपने
 शरीरके समान स्थूल और विस्तृत तथा सख्यत योजन पर्यन्त लम्बायमान जीव प्रदेश
 दण्डको बाहर निकाल कर क्रोध विषयीभूत मनुष्य आदिको जला देता है इसमें बहुतसे
 तेजस शरीर नाम वाले पुद्गलोंका शासन होता है इसलिये इसे तेज समुद्घात कहते हैं ।
 यह प्रवचन सारोद्धारक ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है ।

इसमें, क्रोधित हो कर तजोलब्धि धारी साधु किसीको जलानेक लिये जो उष्ण
 तजोलेश्याका प्रक्षेप करता है उसीमें तेजका समुद्घात होना कहा है परन्तु किसी मरते
 प्राणीकी प्राणरक्षाके लिये जो शीतल लेश्या छोड़ी जाती है उसमें तेजका समुद्घात होना
 नहीं कहा है अतः भगवान् महावीर स्वामीने गोशालरुकी प्राणरक्षा करनेक लिये जो
 शीतल लेश्या छोड़ी थी उसमें तेजक समुद्घातका नाम लेकर जघन्य तीन और उत्कृष्ट
 पाच क्रिया लगानेकी प्ररूपणा करना मिथ्या है ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

उष्णलेश्या के प्रकट करनेमें जिन क्रियाओं का लगाना बतलाया है उनके नाम
 और अर्थ बतलाइये ।

(प्ररूपक)

य क्रियाए पाच हैं—(१) कायिकी (२) आधिकारणिकी (प्राद्वेपिकी), (४) पारि-
 तापनिकी (५) प्राणतिपातिकी । ये पाच ही क्रियायें हिंसाक साथ सम्बन्ध होगसे

लगती हैं रक्षा करने वालेको नहीं लगतीं। इनका अर्थ ठाणाङ्ग सूत्रका मूल पाठ देकर बताया जाता है।

“काइया किरिया दुविहा पन्नत्ता तंजहा—अनुवरयकायकिरियाचेव दुष्पउत्त कायकिरियाचेव । आहिकरणिया किरिया दुविहापन्नत्ता तंजहा—संजोयणाधिकरणिया चेव निवत्तनाधिकरणिया चेव । पाउसिया किरिया दुविहा पन्नत्ता तजहा—जीव पाउसिया चेव अजीव पाउसिया चेव । पारियावणिपाकिरिया दुविहा पन्नत्ता तंजहा-सहत्थ पारियावणियाचेव परहत्थपारियावणियाचेव । पाणाइवाय किरिया दुविहा पन्नत्ता तंजहा—सहत्थ पाणाइवाय किरियाचेव परहत्थ पाणाइवाय किरिया चेव ।”

(ठाणाङ्ग ठाणा २)

अर्थ —

जो क्रिया शरीरसे की जाती है वह कायिकी क्रिया है वह दो तरहकी होती है अनुपगत काय क्रिया और दुष्प्रयुक्त काय क्रिया ।

जो क्रिया मावद्य कर्मों से नहीं छूटे हुए मिथ्या दृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुषके शरीर से उत्पन्न होकर कर्मवन्धका कारण होती है वह ‘अनुपगत काय क्रिया’ कहलाती है। प्रमत्त संयत पुरुष, अपने शरीरसे इन्द्रियोंकी इष्टानिष्ठ वस्तुको प्राप्ति और परिहारके लिये जो स्वल्प संयोग और निर्देह होनेसे क्रिया करता है वह क्रिया ‘दुष्प्रयुक्त काय क्रिया’ कहलाती है। अथवा मोक्ष मार्गके प्रति दुर्गावस्थित प्रमत्त संयत पुरुष, अशुभ मानसिक संकल्पके साथ जो शरीरसे क्रिया करता है वह ‘दुष्प्रयुक्त काय क्रिया’ है ‘आधिकारिणी क्रिया’ दो तरहकी है (१) ‘संयोगजननाधिकारिणी (२) निर्वर्तनाधिकारिणी’ तलवारमें उसके मूठ जोड़नेकी क्रियाको ‘संयोगनाधिकारिणी’ कहते हैं। तलवार तथा उसके मूठको बनानेकी क्रियाको ‘निर्वर्तनाधिकारिणी क्रिया’ कहते हैं।

जो क्रिया किसी पर द्वेष करके की जाती है उसे ‘प्राद्वेषिकी’ कहते हैं। यह भी दो तरहकी होती है। (१) जीव प्राद्वेषिकी और (२) अजीव प्राद्वेषिकी। किसी जीव पर द्वेष करके जो क्रिया की जाती है वह ‘जीव प्राद्वेषिकी’ है और जो अजीव पर द्वेष करके की जाती है वह ‘अजीव प्राद्वेषिकी’ है।

किसीको ताबन आदिके द्वारा परित्याप देनेको ‘पारितापनिकी’ क्रिया कहते हैं। यह दो तरहकी है ‘स्वहस्त पारितापनिकी’ और ‘परहस्त पारितापनिकी’ अपने हस्तसे किसीको ताप देना

‘स्वस्थ परितापनिकी’ क्रिया है और दूसरेके इन्होंने परिताप दिवाना “परह्यन् परितापनिकी” क्रिया है ।

किन्तु जीवका घात करना “प्रागानिपातिकी” क्रिया है । यह भी द्विविध होता है । (१) स्वस्थ प्रागानिपातिकी और (२) परह्यन्प्रागानिपातिकी । अपन हाथसे प्राणियोंका घात करना ‘स्वस्थ प्रागानिपातिकी’ है और दूसरेके हाथसे प्राणियोंका घात करना ‘परह्यन्प्रागानिपातिकी’ क्रिया है ।

यह हाथके उक्त मूठ पाठका टीकानुसार अर्थ है ।

इसमें कायिकी आदि पाच क्रियाओंका जो स्वरूप बनलाया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि किसी प्राणीकी रक्षा करनेके लिये जो शीतल लक्ष्या प्रकट की जाती है उसमें ये क्रियाएँ नहीं लगती किन्तु उष्ण लक्ष्याका प्रयोग करके किसी जीवकी हिंसा करनेमें लगती हैं । किसी जीवको घात करना प्रागानिपातिकी क्रिया है यह क्रिया किसी जीवकी रक्षा करनेमें कैसे लग सकती है ? क्योंकि जीवोंकी रक्षा करना उनका घात करना नहीं है । किसी जीवको ताड़न आदि करनेसे “परितापनिकी” क्रिया लगती है परन्तु जो किसीका ताड़न आदि नहीं करता है बल्कि उसकी रक्षा करता है उस रक्षक पुरुषको परितापनिकी क्रिया किस प्रकार लग सकती है ? क्योंकि रक्षा करना परिताप देना नहीं है ।

किसी जीवपर द्वेष करनेसे प्राद्वेषिकी क्रियाका लगना बनलाया है अतः जो मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है उसको प्राद्वेषिकी क्रिया कैसे लग सकती है ? क्योंकि मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करना उस पर द्वेष करना नहीं है । तलवार आदि घातक पदार्थोंके बनाने और उनमें मूठ आदि जोड़नेसे ‘आधिकरणिकी क्रियाका लगना कहा है । जो पुरुष किसी मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है वह तलवार आदि घातक पदार्थोंका निर्माण, या बनमें मूठ आदि नहीं जोड़ रहा है फिर उसको ‘आधिकरणिकी क्रिया’ कैसे लग सकती है ? मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करना शरीरका दुष्प्रयोग नहीं किन्तु सुप्रयोग करना है अतः जो मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करता है उसे कायिकी क्रिया भी नहीं लग सकती । इस लिये भगवान् महावीर स्वामीने शीतल लक्ष्या प्रकट करके जो गोशालककी प्राणरक्षा की थी उसमें भगवान्को क्रिया लगनेकी बात मिय्या है । स्वयं भ्रम विध्वंसनकारने भी पृष्ठ १८१ पर लिखा है, —

“अथ अठे वैक्रिय समुद्रघात कर्णे पुद्गल फाडे ते पुद्गल सृ जेतला क्षेत्रमें प्राण मूठ जीव सत्वनी घात हुये ते जाय शब्दमें ओल खाओ छै । ते पुद्गल थी विराधना हुये विणसू उत्कृष्ट पाच क्रिया कही इम वैक्रिय लक्ष्यफोड्या पाच क्रिया कही । हिये तेज्ज

लेख्या फोड़े ते पाठ लिखिए छै” इसके आगे लिखते हैं कि “अथ इहा वैक्रिय समुद्रघात करिता पाच क्रिया कही तिमहिज ते जू समुद्रघात करिता पाच क्रिया जाणनी”

यह लिख कर जीतमलजीने जीव विराधना होनेसे उत्कृष्ट पाच क्रिया लगाना स्वीकार किया है परन्तु गोशालककी प्राण रक्षा करनेके लिये जो भगवान्ने शीतललेख्या प्रकट की थी उसमें कौन सी जीव विराधना हुई जिससे भगवान्को पाच क्रिया छोड़ी ? यह बुद्धिमानोंको विचार लेना चाहिये । शीतल लेख्यासे किसी भी जीवकी विराधना नहीं होती बल्कि जीवोंको सुख शान्ति होती है फिर शीतल लेख्यामें उक्त पाच क्रियाओंके लगानेकी बात विलकुल मिथ्या है ।

पन्नात्रया पद ३२ में तेजके समुद्रघात होनेसे पाच क्रियाओंका लगाना कहा है परन्तु उष्ण तेजो लेख्याके प्रयोगमें ही तेजका समुद्रघात होता है शीतल लेख्याके प्रयोगमें नहीं अतः शीतल लेख्याके प्रयोगमें तेजके समुद्रघातका नाम लेकर उसमें उत्कृष्ट पाच क्रियाओंके लगानेकी स्थापना करना मिथ्या है ।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

शीतल लेख्या किसे कहते हैं यह सप्रमाण बतलाइये ।

(प्ररूपक)

“अगण्य कारुण्यवशादनुप्राह्यं प्राप्ति तेजो लेख्या प्रशमन प्रत्यल शीतल तेजो विशेष विमोचन सामर्थ्ये ।”

(प्रवचन सारोद्धार)

अतिशय दयालुताके कारण दया करने योग्य पुरुषके प्रति तेजो लेख्याको शान्त करनेमें समर्थ शीतल तेजो विशेषके छोड़नेकी शक्तिका नाम ‘तेजो लेख्या’ है । यह शीतल लेख्याका स्वरूप प्रवचन सारोद्धारमें बतलाया है । इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहां उष्ण तेजो लेख्या जलानेका काम करती है वहां शीतल लेख्या शान्तिका कार्य करती है । उष्ण तेजो लेख्या जीव हिंसाके लिये चलाई जाती है और शीतल लेख्या जीव रक्षाके लिये चलाई जाती है । जैसे धूप और छाया, परस्पर एक दूसरेसे विरुद्ध गुण वाले हैं वसी तरह ये दोनों लेख्यायें परस्पर विरुद्ध गुण वाली हैं । अतः उष्ण तेजो लेख्याके छोड़नेसे जीवोंकी विराधना होती है और जीव विराधना होनेसे उष्ण तेजो लेख्यामें उत्कृष्ट पाच क्रिया लगती हैं परन्तु शीतल तेजो लेख्यासे किसी जीवकी विराधना नहीं होती बल्कि उससे जीवकी रक्षा होती है इसलिये जीव विराधनासे उत्पन्न होने वाली पूर्वोक्त क्रियाए

शीतल लेण्यामें नहीं लगती । अतः शीतल लेण्याके द्वारा भगवान्ने गोशालककी प्राण रक्षा की थी उसमें भगवानको उत्कृष्ट पाप क्रिया लगानेकी वान मिथ्या समझनी चाहिये ।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ११८ पर लिखते हैं—

“अने जो लब्धि फोडी गोशालाने वंचाया धर्म हुए तो केवल ज्ञान उपना पडे गोशाला दोय साधा बाल्या त्याने क्युं न धचायो । जो गोशालाने वंचाया घम छै तो तेर साधाने धचाया घगा धर्म हुवे । तिवारे कोई कहे भगवान केवली था सो दोय साधारे आयुपो आयो जाण्यो तिणसू न धचाया इमकहे तेहनो उत्तर जो भगवान केवल ज्ञानी आयुपो आयो जाण्यो तिणसू न धचाया तो और गोतमादिक छद्मस्थ साधु लब्धि धारी घणाइ हुन्ता त्याने आयुपो आयारी खर नही त्या साधाने लब्धि फोडीने क्युं न धचाया ।

(भ्र० पृ० १८९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

केवल ज्ञान होने पर भगवान महावीर स्वामीने सुनश्त्र और सर्वानुभूतिको नहीं वंचाया था इस लिये मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें पाप बनाना मन्द बुद्धिका कार्य है । मूल याठ तथा टीकामे कहीं भी नहीं कहा है कि भगवान महावीर स्वामीने मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमें पाप जान कर सुनश्त्र और सर्वानुभूतिको नहीं वंचाया था बल्कि टीकाकारने यह साफ साफ लिख दिया है कि गोशालकके द्वारा सुनश्त्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्यम्भावी था इस लिये भगवानने उनकी रक्षा नहीं की । वह टीका यह है—

“अवश्यम्भावि भावत्वा द्वेत्यवसेयम्”

अर्थात् गोशालकके द्वारा सुनश्त्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्य होनहार था इस लिये भगवान उनकी रक्षा नहीं कर सके । यदि रक्षा करनेमें पाप होता तो टीकाकार यह स्पष्ट लिख देते कि जीवरक्षामें पाप होना देख कर भगवानने सुनश्त्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं की परन्तु टीकाकारने ऐसा नहीं कह कर सुनश्त्र और सर्वानुभूतिको नहीं वंचानेका कारण अवश्य होनहार बतलाया है अतः गोशालक को प्राणरक्षा करने से भगवानको पाप लगानेकी प्ररूपणा मिथ्या है ।

भ्रमविध्वसनकार मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहते हैं परन्तु किसी साधुको विहार करानेमें पाप नहीं कहते ऐसी दशमें भगवान् महावीर स्वामीने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको वहासे विहार क्यों नहीं करा दिया ? क्योंकि केवल ज्ञानी होनेके कारण उन को यह ज्ञान तो अवश्य था कि गोशालक, सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जलावेगा । ऐसी खबर रहने पर भी भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जो वहासे अन्यत्र विहार नहीं कराया इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान्को यह भी ज्ञात था कि सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका गोशालककी क्रोधाग्निसे जल कर मरना अवश्य भावी भाव है । इसीसे भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूति की रक्षा नहीं की थी, रक्षा करनेमें पाप होना जानकर नहीं ।

शास्त्रमें कहा है कि तीर्थ करों में ऐसा अतिशय होता है जिस से उनके निवास स्थानसे १५ योजन तक किसी प्रकारका उपद्रव नहीं होता । सभी प्राणी परस्पर वैर भावको छोड़ कर मित्र मित्रकी तरह रहते हैं । ऐसा विलक्षण भगवान्का अतिशय होते हुए भी गोशालकने भगवान् महावीर स्वामीके सम्मुख ही सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको जला दिया यह होनहारका ही प्रभाव था । अन्यथा भगवान्के अतिशयसे ही यह बात नहीं हो सकती थी । जो अवश्य होनहार था उसे भगवान् किस प्रकार मिटा सकते थे ? गोशालककी क्रोधाग्निसे सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका जलना अवश्य होनहार जान कर भगवान्ने उनकी रक्षा के लिये कुछ प्रयत्न नहीं किया था मरते जीवकी रक्षामें पाप होना जानकर नहीं । अतः सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिको नहीं बचानेका उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना उक्त टीका तथा प्रश्न व्याकरणादि सूत्रों से विरुद्ध समझना चाहिये ।

भ्रमविध्वसनकार कहते हैं कि “केवल ज्ञानी होनेके कारण यद्यपि भगवान् सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका आयुपूर्ण होना जानते थे तथापि गोतमादि छद्मस्थ मुनियोंको इस बातका ज्ञान न था । यदि रक्षा करनेमें धर्म था तो उन लोगोंने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा क्यों नहीं की ? इससे जाना जाता है कि जीवरक्षा करनेमें धर्म नहीं है” परन्तु भ्रमविध्वसनकारकी यह बात भी अज्ञानसे खाली नहीं है क्योंकि चौदह पूर्व धारी साधु छद्मस्थ होते हुए भी उपयोग लगाकर आयुपूर्ण होना जान सकते हैं । धर्मघोष मुनिने छद्मस्थ हो कर भी उपयोग लगा कर धर्मरुचि मुनिका सम्पूर्ण धृतात जान लिया था और उनकी आत्माको सर्वार्थ सिद्धमें देखा था अतः गोतमादि मुनि सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का आयु पूर्ण होना नहीं जानते थे यह कहना भी अज्ञानमूलक ही है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

(श्रेष्ठ)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ १८९ पर भगवती सूत्रकी टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ टीकामें पिण इम करो ते गोशालानो रक्षग भगवन्ते कियो ते सराग पणो करी अने सुनअन्न सर्वानुभूतिनो रक्षग न करस्ये ते वीनराग पणो करो एतो गोशालाने बचायो ते सराग पणो कछो पिण धर्म न कछो ए सराग पणाना अशुद्ध कार्यामे धर्म किन कहिए’ (अ० पृ० १८९।१९०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सरागपनेके कार्यमें धर्म नहीं होता यह भ्रमविध्वसनकारका कथन अज्ञान से परिपूर्ण है। अपने धर्म, धर्माचार्य और दया आदि उत्तम गुणोंमें राग रखना भी सरागनाका ही कार्य है परन्तु इससे पाप होना शास्त्रमें नहीं कहा है बल्कि शास्त्रमें इसकी प्रशंसा की है। शास्त्रमें ये वाक्य मिलते हैं—

“धम्मावरियापेमाणुरायरत्ता” “अट्टिमिज्जा पेमाणुरायरत्ता” “तीव्वधम्मानुरायरत्ता” इनके क्रमशः अर्थ ये हैं—

अपने धर्माचार्यमें प्रेमानुरागसे रक्त। हठी और मज्जाओंमें प्रेम और अनुराग से रगे हुए। धर्मके तीन अनुरागसे रगे हुए।

ये बातें शास्त्रमें प्रशंसाके लिये कही गई हैं परन्तु धर्माचार्यमें प्रेमानुराग रखना, अपन धर्ममें तीन अनुराग रखना और हठी तथा मज्जाओंमें आचार्यके प्रति प्रेमानुरागसे रक्त होना सरागनाके ही कार्य हैं इसलिये भ्रमविध्वसनकार के हिसाबसे इन कार्यमें भी पाप ही होना चाहिये क्योंकि ये सरागताके ही कार्य हैं। शास्त्रकार ने तो इन कार्योंको पाप नहीं किन्तु धर्म जान कर इनकी प्रशंसा की है अतः सरागताके सभी कार्यों में पाप बनाना अज्ञानका परिणाम है।

शास्त्रमें हिंसा, झूठ, चोरी और ब्यभिचार आदिमें राग रखना घुरा है पाप है परन्तु धर्म, धर्माचार्य, अहिंसा, सत्य, तप, संयम और जीव दया आदिमें राग रखना धर्म है पाप नहीं है।

भिक्षुयश रमायन नामक ग्रन्थमें जीतमलजीने लिखा है कि—“रुड चित्त भेया रहा, बरपट् सत बढ़ीत हो। जात्र जीव छगि जाणियो, परम मादो माही पीति हो।”

भ्रमविध्वंसनकार मरते जीवकी रक्षा करनेमें पाप कहते हैं परन्तु किसी साधुको विहार करानेमें पाप नहीं कहते ऐसी दशामें भगवान् महावीर स्वामीने सुनक्षत्र और सर्वांनुभूतिको वहासे विहार क्यों नहीं करा दिया ? क्योंकि केवल ज्ञानी होनेके कारण उन को यह ज्ञान तो अवश्य था कि गोशालक, सुनक्षत्र और सर्वांनुभूतिको जलावेगा । ऐसी खबर रहने पर भी भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वांनुभूतिको जो वहासे अन्यत्र विहार नहीं कराया इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भगवान्को यह भी ज्ञात था कि सुनक्षत्र और सर्वांनुभूतिका गोशालककी क्रोधाग्निसे जल कर मरना अवश्य भावी भाव है । इसीसे भगवान्ने सुनक्षत्र और सर्वांनुभूति की रक्षा नहीं की थी, रक्षा करनेमें पाप होना जानकर नहीं ।

शास्त्रमें कहा है कि तीर्थ करों में^१ ऐसा अतिशय होता है जिस से उनके निवास स्थानसे १५ योजन तक किसी प्रकारका उपद्रव नहीं होता । सभी प्राणी परस्पर वैर भावको छोड़ कर मित्र मित्रकी तरह रहते हैं । ऐसा विलक्षण भगवान्का अतिशय होते हुए भी गोशालकने भगवान् महावीर स्वामीके सम्मुख ही सुनक्षत्र और सर्वांनुभूतिको जला दिया यह होनहारका ही प्रभाव था । अन्यथा भगवान्के अतिशयसे ही यह बात नहीं हो सकती थी । जो अवश्य होनहार था उसे भगवान् किस प्रकार मिटा सकते थे ? गोशालककी क्रोधाग्निसे सुनक्षत्र और सर्वांनुभूतिका जलना अवश्य होनहार जान कर भगवान्ने उनकी रक्षा के लिये कुछ प्रयत्न नहीं किया था मरते जीवकी रक्षामें पाप होना जानकर नहीं । अतः सुनक्षत्र और सर्वांनुभूतिको नहीं बचानेका उदाहरण देकर जीवरक्षा करनेमें पाप बतलाना उक्त टीका तथा प्रदत्त व्याकरणादि सूत्रों से विरुद्ध समझना चाहिये ।

भ्रमविध्वंसनकार कहते हैं कि “केवल ज्ञानी होनेके कारण यद्यपि भगवान् सुनक्षत्र और सर्वांनुभूतिका आयुपूर्ण होना जानते थे तथापि गौतमादि छद्मस्थ मुनियोंको इस वाचका ज्ञान न था । यदि रक्षा करनेमें धर्म था तो उन लोगोंने सुनक्षत्र और सर्वांनुभूतिकी रक्षा क्यों नहीं की ? इससे जाना जाता है कि जीवरक्षा करनेमें धर्म नहीं है” परन्तु भ्रमविध्वंसनकारकी यह बात भी अज्ञानसे खाली नहीं है क्योंकि चौदह पूर्व धारी साधु छद्मस्थ होते हुए भी उपयोग लगाकर आयुपूर्ण होना जान सकते हैं । धर्मघोष मुनिने छद्मस्थ हो कर भी उपयोग लगा कर धर्मरुचि मुनिका सम्पूर्ण वृत्ताव जान लिया था और उनकी आत्माको सर्वार्थ सिद्धमें देखा था अतः गौतमादि मुनि सुनक्षत्र और सर्वांनुभूति का आयु पूर्ण होना नहीं जानते थे यह कहना भी अज्ञानमूलक ही है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

न सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं करने का सिद्धातभूत कारण बतलाते हुए "अकर्ष्यमाविभावत्वाम्" यह लिखा है । यदि जीवरक्षा करनेमें पाप होता तो टीकाकार ऐसा क्यों लिखत वह साफ साफ लिख देते कि जीवरक्षा करनेमें पाप था इसलिये भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं की । परन्तु टीकाकारने यह नहीं लिख कर सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिका मरना अवश्य होनहार बनलाया है, इससे यही बात सिद्ध होती है कि गोशालककी क्रोधाग्निसे सुनक्षत्र और सर्वानुभूति का मरण अवश्य होनहार जान कर भगवान् ने उन की रक्षा नहीं की थी । अत उक्त भगवती की टीका का नाम लेकर मरते जीव की रक्षा करने में पाप बताना अज्ञानमूलक है ।

(चोल छद्म समाप्त)

(प्रेरक)

कोई कोई कहते हैं कि जैसे पानीके द्वारा आग बुझानेसे हिंसादि रूप आरम्भ होता है उसी तरह शीतल लेश्याके द्वारा तेजो लेश्याको बुझानेमें भी आरम्भ दोष होता है इस लिये शीतल लेश्याके द्वारा भगवान् ने जो तेजो लेश्याको शान्त करके गोशालककी प्राण रक्षा की थी इसमें उनको आरम्भ दोष लगा था ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

शीतल लेश्याके द्वारा तेजो लेश्याके शान्त करनेमें आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल है । भगवती शतक ७ उद्देशा १० के मूल पाठमें उष्ण तेजो लेश्याके पुद्गलोंको अचित्त कहा है । वह पाठ यह है—

“कघरेणं भन्ते ! अचिन्तावि पोग्गला व भासन्ति जाव पभासंति ? कालो दाई ! कुद्धस्स अणगारस्स तेयलेस्सा निसड्ढास-
माणो दूरंगता दूरं निवत्ताइ देसंगता देसं निवत्ताइ जहि जहि चणं सा
निवत्ताइ सहि सहि चणं ते अचिन्तावि पोग्गला व भासंति जाव
पभासंति ।

(भगवती शतक ७ उ० १०)

अर्थ —

(प्रदन) हे भगवन् ! कौनसे अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ?

इस पद्यमे जीतमलजी कहते हैं कि छ साधुओंका जन्म भर भीषणजीमें पाप प्रेम था । क्या यह सरागताका काय्ये नहीं है ? यदि है तो जीतमलजी और उनके अनुयायी इने पाप क्यों नहीं मानते ? यदि अपने धर्माचार्य्य और धर्ममें राग रखना सरागताका काय्ये होने पर भी पाप नहीं है तो फिर जीवदयामे राग रखना पापका काय्ये कैसे हो सकता है ? । अत सरागताके सभी काय्यों को पाप बतला कर भगवान् महावीर स्वामीने दयाके प्रेमसे जो ग शालककी प्राणरक्षा की थी उसमें पाप बताना नितान्त मिथ्या समझना चाहिये ।

भगवती सूत्रकी जिस टीकाको लिख कर जीतमलजीने भ्रम फैलाया है उसे लिख कर उसका अर्थ किया जाता है जिससे जनताका भ्रम दूर हो जाय ।

“इह च यद् गोशालकस्य संरक्षणं भगवता कृतं तत्सारागत्वेन दयैकसत्त्वाद्भगवत् । यच्च सुनक्षत्रं सर्वानुभूतिं मुनिषु गवयोर्न करिष्यति तद्वीतरागत्वेन लब्धुः-जीवत्त्वाद्दवश्यं भावि भावत्वाद्देवसेयम्” (भग० टीका)

अर्थ —

यहा भगवान् ने जो गोशालककी प्राणरक्षा की थी इसका कारण यह है कि सराग सयमी होनेके कारण भगवान् बडे भारी दयाके प्रेमी थे । सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा जो नहीं करेंगे इसका कारण वीतराग होनेसे लब्धिका प्रयोग न करना, और गोशालकके द्वारा उनके मरणका अवश्य होनहार होना समझना चाहिये । यह उक्त टीकाका अक्षरार्थ है ।

इसी टीकाका नाम लेकर जीतमलजी जीवरक्षामे पाप बतलाते हैं परन्तु इस टीका मे जीवरक्षा करनेसे पाप होना नहीं कहा है । यहा लिखा है कि—“भगवान् ने दयाम परमानुराग होनेके कारण गोशालकी रक्षा की थी” । दयामें अनुराग रखना धर्म है पाप नहीं है इसलिये गोशालकी प्राणरक्षा करनेसे भगवान् को धर्म हुआ पाप नहीं हुआ ।

सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षा नहीं करनेका कारण भी टीकाकारने जीवरक्षा करनेमें पाप होना नहीं कहा है किन्तु उस समय वीतराग होनेके कारण भगवान् लब्धिका प्रयोग नहीं करना, और अवश्य होनहार कारण बतलाया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जीवरक्षामें पाप जानकर भगवान् ने सुनक्षत्र और सर्वानुभूतिकी रक्षाका प्रयत्न नहीं छोडा था किन्तु वीतराग होने के कारण वह लब्धि का प्रयोग नहीं करते थे । यद्यपि लब्धिका प्रयोग किये बिना भी वहासे सुनक्षत्र और सर्वानुभूति को विहार आदि कराकर भगवान् उनकी रक्षा कर सकते थे तथापि यह बात अवश्य होने वाली थी इसलिये भगवान् ने उनकी रक्षाके लिये प्रयत्न नहीं किया । अतएव टीकाकार

इस टीकाका नाम लेकर शीतल लेख्याका प्रयोग करनेमें प्रमाद सेवन बतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल ८ वां)

वास्तवमें भीषणजी और जीतमलजीका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है । लब्धि का प्रयोग न करके चाहे दूसरे उपायसे भी जीव रक्षा की जाय तो भी ये लोग उसमें पाप ही कहते हैं । किसी मरते प्राणी पर दया लाकर उसकी रक्षा करनेको ये लोग मोह अनुकम्पा, सावय अनुकम्पा और एकान्त पाप कहते हैं । भगवान महावीर स्वामी लब्धि का प्रयोग न करके यदि उपदेश द्वारा भी गोशालकी प्राण रक्षा करते तो भी इनके मतानुसार भगवानको एकान्त पाप ही होता । भीषणजीने लिखा है कि जीवरक्षा करनेके अभिप्रायसे उपदेश देना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है यह अन्य तीर्थियोंका सिद्धान्त है जैसे कि—“वेई एरु अज्ञानी इमि कहे, छ फायाग काजे हो देवा धर्म उपदेश । एरुन जीवने समझाविया, मिट जावे हो घणा जीवारा क्लेश । छ कायरे घरे शान्ति हुवे, एहवा भापे हो अन्य तीर्थी धमे । त्या भेद नपायो जिन धर्मरो, ततो भूल्या हो उदय आया अशुभ कर्म । (शि० हि० शि० ढाल ५)

अर्थात् कई अज्ञानी कहते हैं कि छ कायके जीवोंके घरमें शान्ति होनेके लिये वे धर्मका उपदेश करते हैं । वे कहते हैं कि “एक जीवको समझा देनेसे बहुत जीवोंका क्लेश मिट जाता है” परन्तु छ कायके घरमें शान्ति होनेके लिये उपदेश देना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है । यह अन्य तीर्थी धर्मका सिद्धान्त है अत वे भूले हुए हैं और उनको अशुभ कर्मका उदय हुआ है ।

इस ढालमें माफ साफ भीषणजीने मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश देना जैन धर्मसे विरुद्ध बतलाया है और भ्र० पृ० १२० पर जीतमलजीने लिखा है—

“श्री तीर्थंकर देव पोताना कम खपावा तथा अनेराने तारिवाने अर्थे उपदेश देवे इम कए पिंग जीव घचावा उपदेश देवे इम कखो नहीं”

यह लिख कर जीतमलजीने जीव रक्षाके लिये उपदेश देना जैन धर्मसे विरुद्ध बतलाया है ऐसी दगामें इन लोगोंका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है जब कि उपदेश द्वारा भी जीव रक्षा करना इनके मतमें पाप है तब फिर दूसरे उपायसे तो कहना ही क्या है वह तो अवश्य ही एकान्त पाप है । शीतल लेख्याके प्रयोग करनेमें जो इन्होंने बतलाया पाप क्रियाका लगना बतलाया है वह केवल मूढ़ लोगोंको बड़काने मानके लिये है ।

(उत्तर) हे कालोदायिन् ! क्रोधित हुए अनगारसे फे की हुई तेजो ऐश्या, दूर तक फे की हुई दूर और निकटमें फेंकी हुई निकटमें जाकर पड़ती है । जहा जहा षड तेजो ऐश्या पड़ती है वहां वहा उसके अचित्त पुद्गल प्रकाश करते हैं ।

यहा भगवतीके मूल पाठमे तेजो ऐश्याके पुद्गलोंको अचित्त कहा है इस लिये अग्निके सचित्त पुद्गलोका दृष्टान्त देकर शीतल ऐश्याके द्वाग इन अचित्त पुद्गलोंको शान्त करनेमे आरम्भ दोष बतलाना शास्त्र नहीं जाननेका फल समझना चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वसन कार भ्रम विध्वसन पृष्ठ १७८ के ऊपर भगवती शतक २० उ० ९ की टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ टीकामें इम कह्यो एलब्धिफोडेते प्रमादनो सेनवो ते आलोया विना चारित्रनी आराधना न थी ते माटे विराधक कह्यो । इहा पिण लब्धिफोड्या रो प्रायश्चित्त कह्यो । इहा पिण लब्धि फोड्या धर्म न कह्यो । ठाम ठाम लब्धि फोडनी सूत्रमें वर्जी छै तो भगवन्त छट्टे गुण ठाणे थका तेजू लब्धि फोडनीने गोशालाने धचायो तिणमें धर्म किम कहिये ।

(भ्र० पृ० १८७)

इमका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक २० उद्देशा ९ की टीकामे जघाचरण और विद्याचरण लब्धिके विषयमें विचार किया गया है दूसरी लब्धिके विषयमे नहीं । वहा जघाचरण और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना प्रमादका सेवन कहा है शीतल ऐश्याका प्रयोग करना प्रमाद का सेवन नहीं कहा है । तथापि यदि कोई दुराग्रह वग सभी लब्धियोंका प्रयोग करना प्रमादका ही सेवन करना बतलावे तो उसे कहना चाहिये कि—शास्त्रमे ज्ञान लब्धि, दर्शन लब्धि, चरित्र लब्धि, क्षीर, मधु, सर्पिरासत्र लब्धि भी कही गई हैं इनका प्रयोग करना भी लुप्त प्रमादका सेवन क्यो नहीं मानते ? यदि कहो कि इनका प्रयोग करना प्रमादका सेवन करना नहीं है किन्तु गुण है तो उसी तरह शीतल ऐश्याका प्रयोग करना भी गुण ही है प्रमादका सेवन करना नहीं है । भगवती सूत्रकी उक्त टीकामे जघाचरण और विद्याचरण लब्धिका प्रयोग करना ही प्रमादका सेवन करना कहा है शीतल ऐश्या लब्धि, ज्ञान, दर्शन, चारित्र लब्धिका प्रयोग करना प्रमादका सेवन नहीं कहा है अत

इस टीकाका नाम लेकर शीतल लेख्याका प्रयोग करनेमें प्रमाद सेवन बतलाना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल ८ वां)

वास्तवमें भीषणजी और जीतमलजीका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है । लब्धि का प्रयोग न करके चाहे दूसरे उपायमें भी जीव रक्षा की जाय तो भी ये लोग उसमें पाप ही कहते हैं । किसी मरते प्राणी पर दण्ड लाकर उसकी रक्षा करनेको ये लोग मोह अनुकम्पा, साव्य अनुकम्पा और एकान्त पाप कहते हैं । भगवान महावीर स्वामी लब्धि का प्रयोग न करके यदि उपदेश द्वारा भी गोशालकी प्राण रक्षा करते तो भी इनके मतानुसार भगवानको एकान्त पाप ही होता । भीषणजीने लिखा है कि जीवरक्षा करनेके अभिप्रायसे उपदेश देना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है यह अन्य तीर्थियोंका सिद्धान्त है जैसे कि—“केई णरु अज्ञानी इमि कहे, छ कायारा काजे हो देवा धर्म उपदेश । एरुन जीवने समझाविया, मिट जावे हो घणा जीवारा क्लेश । छ कायरे घरे शान्ति हुवे, एहवा भाये हो अन्य तीर्थी धमे । त्या भेद नपायो जिन धर्मरो, तैतो भूल्या हो उदय भाया अशुभ कर्म । (शि० दि० शि० ढाल ५)

अर्थात् कई अज्ञानी कहते हैं कि छ कायके जीवके घरमे शान्ति होनेके लिये वे धर्मका उपदेश करते हैं । वे कहते हैं कि “एक जीवको समझा देनेसे बहुत जीवोंका क्लेश मिट जाता है” परन्तु छ कायके घरोंमें शान्ति होनेके लिये उपदेश देना जैन धर्मका सिद्धान्त नहीं है । यह अन्य तीर्थी धर्मका सिद्धान्त है अत वे भूले हुए हैं और उनको अशुभ कर्मका उदय हुआ है ।

इस ढालमें साफ साफ भीषणजीने मरते जीवकी रक्षाके लिये उपदेश देना जैन धर्मसे विरुद्ध बतलाया है और भ्र० पृ० १२० पर जीतमलजीने लिखा है—

“श्री तीर्थंकर देव पोनाला कम रपाना तथा अनेराने वारिवाने अर्थे उपदेश देवे सम क्यू पिण जीव वचाना उपदेश देवे इम कह्यो नहीं”

यह लिख कर जीतमलजीने जीव रक्षाके लिये उपदेश देना जैन धर्मसे विरुद्ध बतलाया है ऐसी दशामें इन लोगोंका लब्धिकी चर्चा करना व्यर्थ है जब कि उपदेश द्वारा भी जीव रक्षा करना इनके मतमें पाप है तब फिर दूसरे उपायोंसे तो करना ही क्या है वह तो अवश्य ही एकान्त पाप है । शीतल लेख्याके प्रयोग करनेमें जो इन्होंने उल्टा पाप क्रियाका लगना बतलाया है वह केवल मूढ़ लोगोंको मदकाने मात्रके लिये है ।

शीतल लेड्याके प्रयोग करनेमें उत्कृष्ट पाच क्रिया नहीं लगती है यह इस प्रक्रमके विचारके साथ बनाया जा चुका है अतः शीतल लेड्याका प्रयोग करके मग्ने मीरची रसा करनेमें पाच क्रिया लगनेका दोष बनलाना मिथ्या दृष्टियोंका कार्य समझना चाहिये ।

(इति लब्ध्याधिकारः)



(अथ प्रायश्चित्ताद्यधिकारः)

(प्रेरक)

मरते जीवकी रक्षा करनेका समर्थन करने वाले मुनियोंका कहना है कि भगवान महावीर स्वामीको यदि गोशालककी रक्षा करनेमें पाप लगा होता तो उस पापकी निवृत्ति के लिये भगवान प्रायश्चित्त भी करते परन्तु इसके लिये भगवानका प्रायश्चित्त करना शास्त्रमें नहीं कहा है अतः शीतल लेदयाकी प्रकट करके गोशालककी रक्षा करनेमें भगवान पर पापका आरोप करना मिथ्या है। इस कथनका खण्डन करनेके लिये जीतमलजी लिखते हैं—

“अथ ईहा सीहो अनगार ध्यात ध्यायता मनमें मानसिक दुःख अत्यन्त उपनो मालुया कच्छमे जाई मोटे मोटे शब्दे रोयो वाग पाही एहवो कखो पिण तेहनो प्रायश्चित्त चाल्यो नहीं पिण लियो इज होसी तिम भगवन्त लबिउ फोही गोशालाने धंचायो तेदनी प्रायश्चित्त चाल्यो नहीं पिण लियो इज होसी”

(भ० पृ० १९६)

इसी तरह भ्रम० पृ० २०८ तक अति मुक्त अनगार रहनेमें, घम घोषका शिष्य सुमगल अनगार, और सेलक इन लोगोका उदाहरण देकर जीतमलजीने कहा है कि उक्त साधुओंने जैसे प्रायश्चित्तके योग्य कारण किये थे परन्तु शास्त्रमें इनका प्रायश्चित्त करना नहीं कहा है उसी तरह भगवान महावीर स्वामीका भी प्रायश्चित्त करना नहीं कहा है परन्तु जैसे उक्त साधुओंने प्रायश्चित्त किया ही होगा उसी तरह भगवानने भी प्रायश्चित्त किया होगा।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

शास्त्रके विधिवादमें जिस कार्यके करनेसे पाप होना कहा है उन्हींके अनुष्ठानसे पाप होता है और उन्हींके लिये प्रायश्चित्त भी कहा गया है परन्तु जिस कार्यके करनेसे पाप होना और उसके लिये प्रायश्चित्तकी कल्पना करना अज्ञानका परिणाम है। शीतल लेदया प्रयोग करनेसे शास्त्रमें कहीं भी पाप होना नहीं कहा है और इसके लिये कहीं प्रायश्चित्तका विधान भी नहीं है ऐसी दशामें शीतल लेदयाका प्रयोग करनेसे भगवानको पाप होने और उस पापकी निवृत्तिके लिये उनके प्रायश्चित्त करनेकी कल्पना करना निमृच्छ

समझना चाहिए । शीतलश्याको प्रकट करके गोशालाकी प्रागरक्षा करनेसे भगवान्को पाप हुआ ही नहीं धर्म हुआ कि वह प्रायश्चित्त क्यों करते ? जिस जिसने शास्त्रानुसार प्रायश्चित्तका काय्ये किया था उसके प्रायश्चित्त करनेका वर्णन यदि शास्त्रमें नहीं है तो उसकी कल्पना की जा सकती है परन्तु जिसने प्रायश्चित्त काय्ये किया ही नहीं किया था उसके प्रायश्चित्त करने की कल्पना तो विलगुल निराधार और उन्मत्त प्रलापकी तरह सर्वथा अनादरणीय है ।

जीतमलजीने भ्रम० पृ० २०८ के अनन्तर जो निय ठाका विचार किया है उसके हिसाबसे भी भगवान् महावीर स्वामी दोषका अप्रतिसेवी ही सिद्ध होते हैं क्योंकि कपाय कुशील निग्रय मूल गुण और उत्तर गुणका अप्रतिसेवी होता है और छद्मस्य तीर्थ का दीक्षा लेनेके बाद कपाय कुशील ही होते हैं अतः भगवान् महावीर स्वामीको दोषका प्रतिसेवी बतलाना मिव्या है ।

बोल १ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २१४ पर लिखते हैं—

“एकपाय कुशील नियंठाने अपडिसेवी कह्यो ते अप्रमत्त तुल्य अपडिसेवी जणाय छै । कपाय कुशीलमें गुण ठाणा ५ छै छट्ठाथी दशमा ताई तिहा मातमें आठमें नवमें दशमे गुणठाणे अत्यन्त विशुद्ध निर्मल चारित्र छै । ते अपडिसेवी छै । अने छट्टे गुणठाणे अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणामनो धनी शुभयोग में प्रवर्त छै ते अपडिसेवी छै”

इत्यादि लिख कर भगवान् महावीर स्वामीको अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणाम का धनी नहीं मान कर उनको दोषका प्रतिसेवी बतलाते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वसनकार अपने इस लेखमें पष्ठ गुण स्थान वाले निर्मल परिणामके धनी को दोषका अप्रतिसेवी बतलाते हैं इसलिये इनके इस लेखसे भी भगवान् महावीर स्वामी दोषके अप्रतिसेवी ही सिद्ध होते हैं क्योंकि आचाराग सूत्रके मूल पाठमें छद्मस्य-वस्थामें भी भगवान् महावीर स्वामीको अत्यन्त विशुद्ध निर्मल परिणामका धनी कहा है । वह आचारागका पाठ यह है—

“तएणं समणे भगवं महावीरं वोसिद्वचत्तदेहे अणुत्तरेणं
 आलणं अणुत्तरेणं विहारेणं एवं संजमेणं पग्गहेणं संवरेणं तवेणं
 वमवेर वासेणं खंतिए मुत्तिए सम्मीहए गुत्तिए तुट्ठीए ठाणं कम्मेणं
 सुवरिय फलनिब्बाण मुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावे माणे विहरइ । एवं
 विहरमाणस्स जेकेइ उवसग्गा समुपज्जंति दिव्वावा माणुत्तावा तिरि-
 ङ्गियावा ते सब्बे उवसग्गे समुपन्ने समाणे अणाउले अब्वहिए
 अदीण माणसे तिविह मणवयण कायगुत्ते सम्म सहइ खमइ तिवि-
 क्खइ अहि आसोइ तओणं समणस्स भगवो महावीरस्स एणं विहा-
 रेणं विहर माणस्स वारस्स वासा विक्कंता तेरस्स सम्मस्सय वासस्स
 परियाये वटमाणस्स”

(आचाराग श्रु० ० चूलिका ३ भावनाध्ययन)

अथ —

इसके अनन्तर अपने चारारकी ममता छोड़ें हुए भगवान् महावीर स्वामी अनुत्तर गाल्य
 मकान) से, अनुत्तर विहार से, अनुत्तर संयम से, अनुत्तर प्रहण से, अनुत्तर रात्र से, अनुत्तर
 पसे, अनुत्तर प्रज्ञाचर्य्य से, अनुत्तर क्षाति से, अनुत्तर त्याग से, अनुत्तर सामगि से, अनुत्तर मुत्ति
 से, अनुत्तर तुष्टि से, अनुत्तर स्त्रिय से से, अनुत्तर गमन से, सम्पद् आचरण से, मोक्षरक्षा प्राप्ति
 पाने वाले मुक्ति मार्गसे अपनी आत्माको पध्दत करते हुए विचरते थे । इस प्रकार विचरते हुए
 गवात्रको जो कोई दिव्य मानुष और तिर्य्यव सम्बन्धी उत्सर्ग उत्पन्न होता था उसे अनाकुल
 नहीं पवद्गते हुए) और अग्नी मानस होकर सद लेते थे । इस प्रकार विचरते हुए भगवान्
 बारह वर्ष व्यतीत हुए पश्चात् तेरहवें वर्षके पद्यर्षयमें विद्यमान होने पर भगवान्को केवल ज्ञान
 लब्ध हुआ । यह ऊपर लिखे हुए पाठका अर्थ है ।

इस पाठमे भगवान् महावीर स्वामीके संयम, प्रज्ञाचर्य्य, तप, क्षाति आदि गुण
 अनुत्तर यानी सघसे उत्कृष्ट कहे गए हैं इससे सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर
 गोमी उच्च श्रेणीके कषाय कुशील निमन्य थे वह दोषके प्रतिसेवी नहीं थे अन्यथा इस
 उमें उनके तप प्रज्ञाचर्य्य और संयम आदि अनुत्तर कौमे कहे जाते ? अतः भगवान्
 महावीर स्वामी पद्य गुण स्थान में अत्यन्त विशिष्ट, निर्मल परिणाम के धारी होने क
 कारण दोष के अप्रतिसेवी थे प्रतिसेवी नहीं थे । तथापि गोशालकको रक्षा करनेके कारण

जीतमलजी जो भगवान् को दोषका प्रतिसेवी बतलाते हैं यह इनका जीवरक्षाक साथ द्रोह रखनेका फल समझना चाहिये ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामे कभी भी दोषका प्रतिसेवन नहीं किया था इस विषयमे कोई शास्त्रका प्रमाण बतलाइए ?

(प्ररूपक)

आचाराग सूत्रमे स्पष्ट लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामे स्वल्प भी पाप और एकवार भी प्रमाद नहीं किया था । वह गाथा यह है —

“गच्छाणं सो महावीरे गोवियं पावगं सयमकासी
अन्नेहिवा कारित्था करंतवि नाणुजाणिस्था”

(आचाराग श्रु० १ अ० ९ उ० ४ गाथा ८)

(टीका)

“किञ्च ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीर कर्मप्रेरणसहिष्णु नाऽपिच पापकं कम
स्त्रय मकार्पात् । नाप्यन्यैरचीकरत् । नचक्रियमाण मपरैरनुज्ञातवान्”

अर्थात् त्यागने और संग्रह करने योग्य वस्तुको जानकर कमकी प्रेरणाको सहित करनेमें समर्थ भगवान् महावीर स्वामीने न तो स्वयं पाप, कर्म किया न दूसरसे कराया और करते हुएको अच्छा जाना । यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

इसमें स्पष्ट लिखा है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थवास्थामे न स्वयं पाप किया न दूसरसे कराया और न पाप करते हुएकी अच्छा जाना । अत गोशालक की प्राणरक्षा करनेसे भगवान् को पाप लगने की प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये ।

यदि गोशालककी प्राणरक्षा करना पाप होता तो इस गाथामे यह कैसे कहा जाता कि भगवान् ने छद्मस्थावस्थामें कभी भी पापका सेवन नहीं किया था । तथा आगे चल कर इसी उद्देशकी १५ वीं गाथा में कहा है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थावस्थामे कभी भी प्रमादका सेवन नहीं किया था । वह गाथा यह है —

“अकसाई विगयगेही-य सहस्वेसु-अमुच्छि ए झाई ।

छउमत्थोऽवि परकम माणो नप्पमायं सर्गंवि कुब्बोस्था”

(आचाराग श्रु० १ अ० ९ उ० ४ गाथा १५)

(टीका)

“नक्रपायी अक्रपायी तद्दुदयापादित भ्रूकुट्यादि कार्या भावात् । तथा विगता गृद्धि गार्ध्यं यस्यासौ विगत गृद्धिः तथा शब्दरूपादिषु इन्द्रियार्थेषु अमूर्च्छितो ध्यायति मनोज्ज्वलेषु नराग मुपयाति नापीतरेषु द्वेषयशोऽभूत् । तथा छद्मनि ज्ञान दर्शना वरणीय मोहनीयान्तरायात्मके तिष्ठतीति उद्यस्थ इत्येव भूतोऽपि विविध मनेक प्रकार अनुष्ठाने पराक्रममागो प्रमाद कार्यादिक सकृदपि न कृतवानिति”

अर्थ —

जिसमे कपाय नहीं है वह अक्रपायी कहलाता है । भगवान् महावीर स्वामी अक्रपायी थे क्योंकि कपायके उद्देशसे उन्होंने किसी पर भी अपनी भ्रूकुटि टेढ़ी नहीं की थी । भगवान् महावीर स्वामी, अनुकूल शब्द आदि विषयोंमें राग और प्रतिकूलमें द्वेष नहीं करते थे । वह शब्दादि विषयोंमें आसक्त नहीं होकर रहते थे । यद्यपि भगवान् उद्यस्थ यानी ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय कर्मों में स्थित थे तथापि वह विविध प्रकारके शुभ अनुष्ठानमें ही प्रवृत्त रहते थे । उन्होंने एक बार भी कपायादि रूप प्रमादका सेवन नहीं किया था । यह इस गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

इसमें छद्मस्थावस्थामें भगवान् महावीर स्वामीका एक बार भी प्रमादका सेवन करना वर्जित किया है अतः 'जो लोग गोशालरुकी प्राणरक्षाको प्रमादका सेवन बतलाते हैं वे प्रत्यक्ष उत्सून चादी मिथशादृष्टि हैं उनके भ्रमजालमें पड़ कर भगवान् महावीर स्वामीको प्रमादका सेवी बतलाना अज्ञान है ।

[बोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमवित्रमत्कार आचारानुसूत्रको इस गाथाको लिख कर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ ईहा गणधरा भगवान् गुण वर्णन कीया त्यागुणार्थं अवगुणाने किम कहे गुणोंमें तो गुणाने इज कहे (अ० पृ० २३१) ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आचारानुसूत्रकी पूर्वोक्त गाथाओंमें भगवान् गुणोंका वर्णन मात्र ही नहीं किन्तु स्वल्प भी पाप करने और एक बार भी प्रमाद सेवन करने रूप दोषका निषेध भी किया है । अतः इन गाथाओंमें केवल भगवान् गुणोंका वर्णन मात्र बतलाना

मिथ्या है । यदि गोशालरुकी प्रागरक्षा करना, प्रमाद सेवन और पापाचरण होता तो इन गाथाओंमें भगवान्के पापाचरण और प्रमाद सेवन करने का खण्डन कैसे किया जाता ? अतः गोशालरुकी प्राण रक्षा करनेसे भगवान्को पापी और प्रमादी कहना अज्ञान है । यदि कोई कहे कि ये गाथायें गणधरोकी कही हुई हैं तीर्थ करकी नहीं । इस लिये ये प्रमाण नहीं हो सकतीं तो उसे कहना चाहिये कि गणधरोने तीर्थकरोंसे सुन कर ही शास्त्रकी रचना की है । आर्य्य सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे जो कुछ सुना था वही इस प्रकरणमें कहा है इस लिये इन गाथाओंको नहीं मानना साक्षात् केवलीके वाक्यका उल्लङ्घन रूप मिथ्यात्वका स्पर्श करना है । आचाराग सूत्रके इसी अध्ययनके आरम्भमें लिखा है—

“सुर्यंमे आउस तेण भगवया एवमकप्ताइ”

अर्थात् हे आयुष्मन् ! भगवान् महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मेने सुना है तथा इस नवम अध्ययनके आरम्भमें सुधर्मा स्वामीने जब्बू स्वामीसे यह प्रतिज्ञा करत हुए कहा है कि —“अहा सुर्य वइस्सामि” अर्थात् मैंने जैसा सुना है वैसा ही कहूंगा अतः आर्य्य सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे जैसा सुना था वैसा ही इस प्रकरणमें कहा है अपनी ओरसे एक भी बात बनाकर नहीं कही है अतः आचाराग सूत्रके नवम अध्ययनके चौथे उद्देशेकी आठवीं और पन्द्रहवीं गाथामें कही हुई बातको नहीं मानना साक्षात् केवलीके वाक्यको नहीं मानने रूप मिथ्यात्वका स्पर्श समझना चाहिये ।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३२ पर उवाई सूत्रका मूल पाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“जे साधामे गुग हुन्ता ते वरणाण्या पर इम न जाणि ए जे वीर रा साधुरे ष्वेइ अर्ताध्यान आवे इज नहीं माठा परिणामे क्रोधादिक आवे इज नहीं इम नथी कदाचित् उपयोग चूका दोष लागे पर गुण वर्णनमें अवगुण किम कहे तिम गणधम भगवान् रा गुण किया तिगमें तो गुग इज वर्णाव्या जेतलो पाप न कीधो तेहिज आश्री क्यो परगुग मे अगुग किम कहे ।”

(भ्र० पृ० २३२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

“उवाई सूत्रका मूल पाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है—

“तेषां कालेषां तेषां समएणं समणस्स भगवओ अन्तेवासी वह्वे
 समणा भगवन्तो अप्पेगइया उग्गपव्वइया भोगपव्वइया राइण्ण णाय
 कोव्व खत्तिप पव्वइया मडा जोहा सेणावड पसत्थारो सेट्ठो इव्भा
 अण्णेय वह्वे एवमाइणो उतम जाति कुल रूव विणय विण्णाण
 वण्ण लायण विक्कम पहाण सोभग कंतिजुत्ता बहु धण घाण्णाणिचय
 परियालफिडिया णरवइ गुणातिरेका इच्छियभोगा सुखसंपल्लुलिश
 किपाक फट्ठोपमंच मुणिय विसयसोत्तव जलचुवुअ समाणं कुसग्ग
 जलविन्दु चंचल जीवियं च णाउण अद्दुवमिणं रयमिव पठगलग्गं
 समुधिणित्ता ण चइत्ता हिरण्णं जाव पव्वइया अप्पेगइया अद्धमास
 परियाया अप्पेगइया मास परियाया एवं दुमास तिमास जाव एक्का-
 रस अप्पेगइया अनेक चास परियाया सजमेणं तपसा अप्पाणं भावे-
 माणाविहरंति”

(उवाइं सूत्र)

अथ —

उस समय भगवान महावीर स्वामीके पास बहुतसे शिष्य विद्यमान थे । जिनमें कोई तो
 अथ वदार्थ उत्पन्न, कोई भोग धराज, कोई राजन्य, कोई नाग धराज, कोई कुल धराज, कोई
 शिष्य वराज, कोई चार भद्र, योद्धा, और कोई सेनापति, कोई धर्मशास्त्र पाठी, कोई सैठ, कोई
 न्य (बड़े धनवान) इन प्रकार उत्तम जाति, कुल, रूप, विनय, विज्ञान, धर्म, छावण्य, विक्रम,
 शिष्य और कान्तिमे युक्त, धन धान्य परिवार दासी दास आदिके द्वारा गृहधाम कालमें बड़े
 धनवान से भी श्रेष्ठ तथा विभव सुखमें राजाआसे भी बड़े बड़े इच्छानुरूप भोग पाने वाले
 कर्म वाले हुए विषय सुखको विपवृक्षके फलके समान सुरा और कुशक अथ मागमें छोड़े हुए जल
 नुकी तरह जीवनको अति चंचल जान कर अनित्य विषय सुख और धन धान्य आदिको कपड़े
 धोई धूरिने समान छादकर हिरण्य एवर्ण आदिको छोड़ कर प्रयजित (साधु) हो गये
 इनमें कोई अथ मासके कोई एक मासके कोई दो मासके कोई तीन मासके यावत् ११ मास
 पण्यय घाटे थे । कोई अनेक दिनके पण्यय वाले थे । ये सभी शिष्य संवय और तपस्यासे
 नी आत्माको पवित्र करते हुए विचरते थे ।

(यह उवाइं सूत्रके उत्तर मूलका कर्म है)

इस पाठमें यह नहीं कहा है कि “भगवान् महावीर स्वामीके ये सब शिष्य कभी
 प्रमादका सेवन नहीं करते थे । तथा इन लोगोंने कभी पाप नहीं किया था ।” इस

लिये भगवान् महावीर स्वामीके इन शिष्योंमें पाप और प्रमादका होना सम्भव है, परंतु भगवान् महावीर स्वामीमें नहीं क्योंकि भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें जो आत्मा रागकी गाथाएं लिखी गई हैं उनमें साफ साफ भगवान् में पाप और प्रमाद का निषेध किया है। अत उवाई सूत्रके इस पाठसे आचार्यग सूत्रकी पूर्वोक्त गाथाओंकी तुल्यता घटा कर भगवान् में बलात्कारसे पाप और प्रमादका स्थापन करना मिथ्या है।

उवाई सूत्रमें यदि यह कहा होता कि “भगवान् महावीर स्वामी के शिष्यों ने कभी भी पाप और प्रमादका सेवन नहीं किया था” तो अवश्य यह बात मानी जाती कि भगवान् के शिष्योंने कभी भी पाप और प्रमाद नहीं किया था परन्तु मूलपाठमें ऐसा नहीं कहा गया है इसलिये भगवान् महावीर स्वामीके शिष्योंमें पाप और प्रमाद होनेका खण्डन नहीं किया जा सकता लेकिन भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें तो आचार्यगकी उक्त गाथाओंमें साफ साफ लिखा है कि “भगवान् ने छद्मस्थावस्थामें स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था।” ऐसी दृशमें जो भगवान् महावीर स्वामीमें पाप और प्रमादका स्थापन करता है वह उतसूत्रवादी मिथ्यादृष्टि है।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३३ पर उवाई सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ अठे कौणिकने सर्व राजाना गुग सहित कथ्यो, माता पितानो विनीत कथ्यो अने निराबलियामें कथ्यो, जे कौणिक श्रेणिकने वेडिवन्धन देई पोते राज्य बैठो तो जे श्रेणिकने वेडी बन्धन बाध्यो ते विनीत पणो नहीं ते तो अविनीत पणोइन छै। पिंग उवाईमें कौणिकना गुग वर्णव्या तिणमे जेतलो विनीतपगो तेहिज वगव्यो अविनीत पणो गुग नहीं तेभणी गुग कहिणोमें तेहनो कथन कियो नहीं तिमगगधरा भगवान् रागुग किया ह्या गुगामें जेतला गुग हुन्ना तेहिज गुग वपणया पर लडिउ फोडो ते गुग नहीं ते अवगुगरो कथन गुगामें किम करे” (भ्र० पृ०, २३३)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भ्रमविध्वसनकारका यह कथन भी अज्ञानसे परिपूर्ण है। उवाई सूत्रके मूलपाठमें कौणिक राजाके चम्पानगरीमें निवास कालका गुग वर्णन किया है। कौणिक राजा चम्पानगरीमें जन्म रहने लगा था तत्र वह माता पिताका विनीत हो गया था अतएव वह

पितृ शोकाकुच होकर राजगृह को छोड़ कर चम्पानगरीमें आया था। उस समय उसे माता पिताका विनीत कहना ठीक ही है परन्तु उस पाठमें यह नहीं कहा है कि कौणिक राजाने माता पिताके साथ कभी भी अविनय नहीं किया था। इसलिये उवाई सूत्रके इस पाठसे कौणिकके अविनयी होनेका निषेध नहीं किया जा सकता परन्तु भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें जो आचाराग सूत्रमें गाथाएं कही गई हैं उनमें साफ साफ भगवान् में पाप और प्रमाद होनेका निषेध किया गया है ऐसी दशामें यह कैसे कहा जा सकता है कि भगवान् में पाप और प्रमाद थे” क्योंकि यह कहना प्रत्यक्ष ही शास्त्रसे विपरीत बोलना है अतः कौणिक वाले पाठके उदाहरणसे भगवान् में पाप और प्रमादका स्थापन करना उत्सूत्रवादियोंका कार्य समझना चाहिये ।

[बोल छट्टा समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३४ पर उवाई सूत्र प्रश्न २० का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ अठे श्रावकने धर्मरा करणहार कइया ते तो स्यू अर्थम न करे काई । चा गिज्य, व्यापार, संभाम आदिक अर्थम छै ते अयम ना करणहार छै । पिग ते श्रावकारे गुण वर्णनमें अक्वगुण किम कहे” इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं “विम भगवान् रे गुण वर्णनमें लब्धिफोडीने अक्वगुण ना वर्णन किम करे” (भ्र० पृ० २३४)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

उवाई सूत्रमें श्रावकोंके सम्बन्धमें जो पाठ आया है उसका उदाहरण दकर भगवान् महावीर स्वामीमें पाप और प्रमादका स्थापन करना मिथ्या है। उवाई सूत्र के श्रावक सम्बन्धी पाठमें साफ साफ लिखा है कि श्रावक अद्वारद पापोंसे देशसे हट हुए और देशसे नहीं हटे हुए होते हैं इसलिये इस पाठसे ही श्रावकोंका देशसे पाप सेवन करना सिद्ध होना है परन्तु भगवान् के विषयमें जो आचारागमें गाथाएं कही हैं उन में स्वल्प भी पाप और एक बार भी प्रमाद सेवन करने का निषेध किया है अतः श्रावक सम्बन्धी पाठके उदाहरणसे भगवान् में पाप और प्रमाद का स्थापन करना अज्ञान है ।

दूसरी बात यह है कि भगवान् महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद छद्मस्थदशामें कपायकुशील निमग्न थे। कपाय कुशील निमग्न, मूल गुण और वत्त गुणमें दोष नहीं

लगाते यह बात शास्त्र प्रसिद्ध है इसलिये भगवान् महावीर स्वामीने जो शीतलरेश्याका प्रयोग करके गोशालेकी प्राणरक्षा की थी उसमें उनको पाप या प्रमाद नहीं हुआ यह बात शास्त्र सम्मत समझनी चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

कपाय कुशील निग्रथ यदि मूल गुग और उत्तर गुगमें दोष नहीं लगाता तो गोतम स्वामी कपाय कुशील निग्रथ होते हुए भी आनन्दके घर पर वचन बोलनेमें क्यों स्खलित हुए थे ? अत जैसे गोतम स्वामी कपाय कुशील निग्रथ होते हुए भी आनन्द के घर पर चूक गये थे उसी तरह भगवान् महावीर स्वामी भी चूक सकते हैं अत कपाय कुशील निग्रथके न चूकनेकी बात मिथ्या है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गोतम स्वामी जिस समय आनन्द भ्रावकके घर वचन बोलनेमें चूक गये थे उस समय उनमें कपाय कुशील नियण्ठा था ही नहीं तथा चौदह पूर्व और चार ज्ञान भी उस समय गोतम स्वामीमें नहीं थे । अन्यथा चार ज्ञान और चौदह पूर्वके धनी कपाय कुशील निग्रथ हो कर गोतम स्वामी कदापि नहीं चूक सकते थे । इस विषयमें बड़ाका मूलपाठ ही प्रमाण है । वह पाठ यह है—

“तएणं से भगवं गोयमे आणं देणं समणोवासएणं एवं वुत्ते
समाणे संकिए कंखिए विइगिच्छा समापन्ने आनंदस्स अंतिआओ
पडिनिक्खमइ”

अर्थ—

अर्थात् आनन्द भ्रावकने गोतम स्वामीसे जब यह केश कि “आप व्यर्थ ही मुझे आलोचना लेनेका उपदेश देते हैं मेरी रायमें आपको ही आलोचना लेनी चाहिये” तब गोतम स्वामी शङ्का, कांक्षा और विचिकित्सासे युक्त होकर आनन्दके घरसे बाहर आये । यह उपर्युक्त गायिका मूलार्थ है ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस समय गोतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्व नहीं थे अन्यथा उनको आनन्दके वाक्यसे शङ्का, कांक्षा और विचिकित्सा क्यों उत्पन्न होती ? वह अपने ज्ञानके प्रभावसे यथार्थ बातका निर्णय स्वयं कर सकते थे फिर उन्हें शङ्का, कांक्षा आदि होनेका क्या कारण था ? तथा उस समय उनमें कपाय

शुद्ध नियगठा भी नहीं था । अन्यथा वह वचन बोलनेमें क्यों चूक जाते ? अतएव उपासक दशाग सूत्रमें जहा गोतम स्वामीका गुण वर्णन किया है वहा उनको चौदह पूर्व और चार ज्ञानका धनी नहीं कहा है ।

कोई कोई कहते हैं कि “भगवती सूत्र, उपासक दशाग सूत्रसे पहलेका बना है उसमें गोतम स्वामीको चार ज्ञान और चौदह पूर्व का धारक बतला दिया है इसीलिये उपासक दशागमें गोतम स्वामीको चौदह पूर्व और चार ज्ञानका धारक नहीं कहा है क्योंकि ये बात भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं । जो वाते भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं वने फिर उपासक दशागमें कहनेकी क्या आवश्यकता है ? ।

उत्तसे कइना चाहिये कि यदि भगवतीमें कहे जानेके कारण गोतम स्वामीके चार ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन उपासक दशाग सूत्रमें नहीं किया गया है तो भगवतीसूत्र में जिन जिन गुणोंका वर्णन किया है उन सभी का वर्णन उपासक दशाग सूत्रमें नहीं होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होकर भगवतीमें कहे हुए कई गुणोंका उपासक दशाग सूत्रमें वर्णन किया है और कई गुणोंका नहीं किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती सूत्रमें समुच्चय रूपसे सभी गुणोंका वर्णन किया गया है और उपासक दशाग सूत्रमें आनन्दके पास जाते समय गोतम स्वामीने जितने गुण थे उन्हींका वर्णन है । नहीं तो उपासक दशागमें फिर उन्ही गुणोंके कहनेकी क्या आवश्यकता थी जो भगवती में कहे जा चुके हैं ।

भगवती सूत्रके साथ उपासक दशाग सूत्रके पाठमें केवल इतना ही अन्तर है कि भगवतीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्वके साथ अन्य गुणोंका कथन है और उपासक दशागमें अन्य गुणोंका वर्णनके साथ चार ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन नहीं है । इसके सिवाय भगवती सूत्र और उपासक दशाग सूत्र के पाठों में कुछ भी अन्तर नहीं है ।

देगिये भगवतीका पाठ यह है —

“तेषां कालेषां तेषां समर्पणं समणस्स भगवतो महावीरस्स जेट्ठे
अन्तेवासी इन्दभूति नामं अनगारे गोतम गोत्तेणं सत्तुसेहे समव-
उरस्स संह्राणं संह्रिए वज्जरिस्सह नाराय संवमणे कणक पुलकणिघस
पथ गोरे उग तवे दित्त तवे तत्त तवे महा तवे उरालं घोरे घोरे गुणे
घोरे तवस्सी घोरे वंभचेर वासी उच्छूह सरारे सखित्तिउत्ततेउ-
त्तेस्से चउहस पूव्वी चउण्णाणोवगयै सव्वक्खर सन्निवाड”

लगाते यह बात शास्त्र प्रसिद्ध है इसलिये भगवान् महावीर स्वामीने जो शीतलदेव्याका प्रयोग करके गोशालेकी प्राणरक्षा की थी उसमें उनको पाप या प्रमाद नहीं हुआ यह बात शास्त्र सम्मत समझनी चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

कपाय कुशील निग्रथ यदि मूल गुग और उत्तर गुगमें दोष नहीं लगाता तो गोतम स्वामी कपाय कुशील निग्रथ होते हुए भी आनन्दके घर पर वचन बोलनेमें क्यों स्तब्ध हुए थे ? अतः जैसे गोतम स्वामी कपाय कुशील निग्रथ होते हुए भी आनन्दके घर पर चूक गये थे उसी तरह भगवान् महावीर स्वामी भी चूक सकते हैं अतः कपाय कुशील निग्रथके न चूकनेकी बात मिथ्या है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गोतम स्वामी जिस समय आनन्द श्रावकके घर वचन बोलनेमें चूक गये थे उस समय उनमें कपाय कुशील नियण्ठा था ही नहीं तथा चौदह पूर्व और चार ज्ञान भी उस समय गोतम स्वामीमें नहीं थे । अन्यथा चार ज्ञान और चौदह पूर्वके धनी कपाय कुशील निग्रथ हो कर गोतम स्वामी कदापि नहीं चूक सकते थे । इस विषयमें बहका मूलपाठ ही प्रमाण है । वह पाठ यह है—

“तएणं से भगवं गोयमे आणदेणं समणोवासएणं एवं बुत्ते
समाणे संकिए कांखिए विहगिच्छा समापन्ने आनंदस्स अंतिआओ
पडिनिक्खमइ”

अर्थ—

अर्थात् आनन्द श्रावकने गोतम स्वामीसे जब यह कंश कि “आप व्यर्थ ही मुझे आलोचना देनेका उपदेश देते हैं मेरी रायमें आपको ही आलोचना लेनी चाहिये” तब गोतम स्वामी शङ्का, काक्षा और विचिकित्सासे युक्त होकर आनन्दके घरसे बाहर आये । यह उपर्युक्त गायका मूलार्थ है ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस समय गोतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्व नहीं थे अन्यथा उनको आनन्दके वाक्यसे शङ्का, काक्षा और विचिकित्सा क्यों उत्पन्न होती ? वह अपने ज्ञानके प्रभावसे यथार्थ बातका तिरण्य स्वयं कर सकते थे फिर उन्हे शङ्का, काक्षा आदि होनेका क्या कारण था ? तथा उस समय उनमें कपाय

उ नियमों भी नहीं था । अन्यथा वह वचन बोलनेमें क्यों चूरु जाते ? अतएव
सक दशाग सूत्रमें जहा गोतम स्वामीका गुण वर्णन किया है वही उनको चौदह पूर्व

र चार ज्ञानका धनी नहीं कहा है ।

कोई कोई कहते हैं कि “भगवती सूत्र, उपासक दशाग सूत्रसे पहलेका बना है उस
में गोतम स्वामीको चार ज्ञान और चौदह पूर्व का धारक बनला दिया है इसीलिये उपा-
सक दशागमें गोतम स्वामीको चौदह पूर्व और चार ज्ञानका धारक नहीं कहा है क्योंकि
ये बातें भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं । जो बातें भगवती सूत्रमें कही जा चुकी हैं
उसे फिर उपासक दशागमें कहनेकी क्या आवश्यकता है ? ।

जान और चौदह पूर्वका कथन उपासक दशाग सूत्रमें नहीं किया गया है तो भगवतीसूत्र
में जिन जिन गुणोंका वर्णन किया है उन सभी का वर्णन उपासक दशाग सूत्रमें नहीं
होना चाहिये परन्तु ऐसा नहीं होकर भगवतीमें कहे हुए कई गुणोंका उपासक दशाग
सूत्रमें वर्णन किया है और कई गुणोंका नहीं किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि
भगवती सूत्रमें समुच्चय रूपसे सभी गुणोंका वर्णन किया गया है और उपासक दशाग
सूत्रमें आनन्दके पास जाते समय गोतम स्वामीमें जितने गुण थे उन्हींका वर्णन है ।
नहीं तो उपासक दशागमें फिर उन्हीं गुणोंके कहनेकी क्या आवश्यकता थी जो भगवती
में कहे जा चुके हैं ।

भगवती सूत्रके साथ उपासक दशाग सूत्रके पाठमें केवल इतना ही अन्तर है कि
भगवतीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्वके साथ अन्य गुणोंका कथन है और उपासक दशा-
गमें अन्य गुणोंका वर्णनके साथ चार ज्ञान और चौदह पूर्वका कथन नहीं है । इससे
सिवाय भगवती सूत्र और उपासक दशाग सूत्र के पाठों में कुछ भी अन्तर नहीं है ।

देखिये भगवतीका पाठ यह है —

“तेषां कालेषां तेषां समपुणं समणसस भगवओ महावीरसस जे
अन्तेवासी इन्दभूति नामं अनगारे गोतम गोत्तेणं सत्तुसेहे सम
उरसस संहाण संट्टिए वज्जरिसह नाराय सधमणे कणक पुलकणि
पत्त गोरे उगग तवे दित्त तवे तत्त तवे महा तवे उरालं घोरे घोरे
घोरे तवहसी घोरे वभचेर वासी उच्छूढ सरोरे सखित्तविज्ज
ल्लेस्से चउदस पूव्वी पउण्णाणोवगये सम्बक्खर सन्निपाड”

“तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे
अन्तेवासी इन्दभूइ नामं अणगारे गोयम गोत्तेणं सत्तुसेहे समवउ-
रंससंझणसंष्टिए वज्जरिसहनारायसंघमणे कणकपुलकणिघस
पह्य गोरे वग्गतवे दित्ततवे घोर तवे उराले घोर गुणे घोर तवस्सी
घोर वंभचेर वासी उच्छूइ सरीरे संखित्त विउल्ल तेउलेरसे छट्टं छ-
ट्टेणं अणित्तिणं तवोपकमेणं संजमेणं तवसा अप्पाणं भावे माणे
विहरइ”

(उपासक दशाग)

इस पाठमें भगवती सूत्रोक्त गौतम स्वामीके “चउइस पूव्वी” “चउणमाणोवण”
‘सव्ववरर सन्निआई’ इन तीन विशेषणोको छोड़ कर बाकी सभी विशेषण कहे गये
हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस समय गौतम स्वामी आनन्दके घर पर गये थे
उस समय उनमें चौदह पूर्व और चार ज्ञान नहीं थे। यदि भगवतीमें कहे जानेके कारण
इन तीन विशेषणोका कथन उपासक दशागके इस पाठमें न माना जाय तो फिर उपा-
सक दशाग सूत्रमें अन्य विशेषणोंका कथन भी नहीं होना चाहिये क्योंकि भगवतीमें ये
सभी कहे जा चुके हैं अतः जिस अनस्थाका गुण वर्णन करनेके लिये उपासक दशागका
पाठ कहा गया है उस समय गौतम स्वामीमें चार ज्ञान और चौदह पूर्व नहीं थे यही
वात सिद्ध होती है।

जो बातें पूर्वके अङ्गोंमें वर्णन की गई हैं वे सभी उत्तरके अङ्गोंमें समझी जाय
ऐसा कोई नियम नहीं है क्योंकि आचाराग सूत्रके दूसरे श्रुत स्कन्धमें भगवान् महावीर
स्वामीके केवल ज्ञान उत्पन्न होनेका वर्णन किया गया है तथापि भगवती सूत्रके १५ वें
शतकमें प्रसङ्गवश फिर भी भगवान् के उदास्थपनेका वर्णन है। भगवती पाचवा अङ्ग है
और आचाराङ्ग पहला है। उसी तरह भगवतीमें गौतम स्वामीके चार ज्ञान और चौदह
पूर्वका वर्णन होने पर भी प्रसङ्गवश उपासक दशाग सूत्रमें गौतम स्वामीके चार ज्ञान
और चौदह पूर्व न होनेके समयकी बात कही गयी है।

यदि भगवतीमें कहे हुए गौतम स्वामीके सभी गुणोंको उपासक दशाग सूत्र
वतलाना होता तो “जाव” शब्दसे भगवतीके पाठका सकोच करके उपासक दशाग सूत्र
में में इस तरह कह देते कि “तेणं कालेण तेण समणण समणस्स भगओ महावीरस्स
जेट्ठे अन्तेवासी इन्दभूइ नाम अणगारे जाव विहरइ” परन्तु शास्त्रकारको भगवतीमें कहे
हुए सभी विशेषणोंके प्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं थी अतएव जाव शब्दसे भगवती

क पाठका यहा सङ्कोच नहीं किया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि आनन्द ध्रावक को उत्तर देते समय गौतम स्वामी चौदह पूर्व और चार ज्ञानके घन्ती नहीं थे अतः गौतम स्वामीके दृष्टान्तसे भगवान् महावीर स्वामीको चूका हुआ मताना मिथ्या है।

(बोल ८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविश्वसनकार भ्रमविश्वसन पृष्ठ २१३ पर दशत्रैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा कश्यो—दृष्टिवादो धर्मी पिण वचनमे रत्नाय जाय तो और साधुने हमनो नहीं।” दृष्टिवादो जाग चूक तिग मे पिण कपाय कुशील नियठो छै”
(भ० पृ० २१३)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भ्रमविश्वसनकारने दशत्रैकालिक सूत्रकी गाथाका अशुद्ध अर्थ किया है इसलिये वह गाथा लिखकर उसका शुद्ध अर्थ किया जाना है—

आचार पन्नत्तिधर दिट्ठिठवाय महिज्जगं
वायविकखलिंगं नच्चा नतं उवहसे सुणी”

(दशत्रैकालिक अ० ८ गाथा ५०)

(टीका)

‘आचार’ ति सूत्रम् । आचार प्रज्ञप्तिधर मिति आचार धर स्त्रीलिङ्गादीनि जानाति प्रज्ञप्तिधर स्तान्मेव सविशेषाणीत्येव भूत । तथा दृष्टिवाद मधीयान प्रकृति प्रत्यय लोपागम वर्ण विकार काल कारक वेदिन वाग्विस्फलिता ज्ञात्वा विविध मनेके प्रकारे-
द्विद्व भेदादिभि स्तलित विज्ञाय नत्र माचारादि धर गुणहसेत्तुनि अहोनु खत्वाचा-
रादिधरस्यवाचि कौशलमित्येवम् इहच दृष्टिवाद मधीयान मित्युक्त मन इद गम्यते—
नापीत दृष्टिवाद तस्य ज्ञानाप्रमादातिशयत स्तलनासभवात् । यद्येव भूतस्यापि
स्वलिङ्ग भवति नचैनगुणहसे दित्युपदेश ततोऽन्वस्य सुतरा भवतीति नामो हसितव्य
इति सूत्रार्थ ।”

अर्थ —

जो लोडिङ्ग आदिको जानता है उसे आचारधर कहते हैं और जो विविध स्वरो खोडिङ्ग आदि जानता है उसे प्रज्ञप्तिधर कहते हैं । जो गुनि, आचारधर और प्रज्ञप्तिधर है तब दृष्टिवादका

अध्ययन कर रहे हैं, प्रकृति, प्रत्यय, छोप, आगम, घर्णाधिकार, काल और कारकको जानते हैं वह यदि बोलते समय लिङ्ग आदिसे अशुद्ध बोल देंगे तो उन पर हास्य नहीं करना चाहिये । यह नहीं कहना चाहिये कि अहो ! आचारादि धर मुनिका इस प्रकार वाक्कौशल है ? इस गाथामें “दृष्टिवाद मधीयान” इस वाक्यमें वर्तमान कलका प्रयोग करके यह बतलाया गया है कि जिस मुनिने दृष्टिवादका अध्ययन करना समाप्त नहीं किया है किन्तु दृष्टिवादका अध्ययन अभी कर रहा है उससे यदि वाक् स्खलन हो जाय तो हास्य नहीं करना चाहिये । निम्ने दृष्टिवादको पढ़ कर समाप्त कर दिया है उससे वाक् स्खलन होना असम्भव है । दृष्टिवादको पढ़ कर जिसने समाप्त कर दिया है उसमें ज्ञान और अप्रमादका बहुत ज्यादा सद्भाव होता है अतः वह भूल नहीं कर सकता है । इस पाठमें यह उपदेश किता गया है कि दृष्टिवादका अध्ययन करते घाले मुनिमें यदि वाक् स्खलन हो जाय तो हास्य नहीं करना चाहिये । इससे यह भी सिद्ध होता है कि आचार प्रज्ञासि धर मुनिसे जब कि वाक् स्खलन होता है तब फिर दूसरेसे वाक् स्खलन होना तो एक साधारण बात है इसलिये यदि दूसरेसे भी वाक् स्खलन हो जाय तो उन पर हास्य नहीं करना चाहिये ।

यह उक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

यहां “दृष्टिवाद मधीयान” इस वाक्यमें वर्तमान कालका प्रयोग देकर दृष्टिवादको पढते हुए मुनिका वाक् स्खलन होना बतलाया है, जिसने दृष्टिवादको पढ़ कर समाप्त कर दिया है उसका वाक् स्खलन होना नहीं कहा है अतः इस गाथाका नाम लेकर चौदह पूर्वधारीको चूक होनेकी सिद्धि करना मिथ्या है । चौदह पूर्वधारी दृष्टिवादको पढ़ा हुआ होता है अतः वह कदापि चूक नहीं सकता है । किन्तु जो अभी दृष्टिवादको पढ़ रहा है उसीका चूकना इस गाथामें कहा है ।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकारका मत है कि कपाय कुशील निग्रन्थमें छ समुदघात और पाच शरीर शास्त्रमें कहे हैं । और वैक्यिलब्धिका प्रयोग करनेवालेको विना आलोचना लिय मरने पर विराधक कहा है तथा वैक्यिलब्धि और आहारक लब्धिसे प्रयोग करनेसे पाच क्रियाका लगना शास्त्रमें कहा है अतः कपाय कुशील निग्रन्थ भी वैक्यिलब्धिका प्रयोग करता हुआ दोषका प्रतिसेवी होता है इसलिये सभी कपाय कुशीलोको दोष अवतिसेवी बताना मिथ्या है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

कपाय कुशीलमें छ समुद्रघात और पाच शरीर पाये जाते हैं तथापि भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में उसे दोषका अप्रतिसेवी कहा है । वह पाठ यह है—

“कसाय कुशीलेर्ग पुञ्जा गोपमा ! नो पडिसेवए होज्जा अप-
डिसेवए होज्जा”

(भगवती शतक २५ उ० ६)

सर्ग —

(प्रश्न) हे भगवन् ! कपाय कुशील दोष का प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! कपाय कुशील दोष का अप्रतिसेवी होता है प्रतिसेवी नहीं होता है ।

इस पाठमें कपाय कुशीलको साफ साफ दोषका अप्रतिसेवी बतलाया है इसलिये छ समुद्रघात और पाच शरीरके पाये जाने पर भी कपाय कुशील दोषका अप्रतिसेवी ही होना है प्रतिसेवी नहीं । यदि कोई पूछे कि “कपाय कुशीलमें जन कि छ समुद्रघात और पाच शरीर पाये जाते हैं तब वह दोषका अप्रतिसेवी कैसे हो सकता है ?” तो उसे कहना चाहिये कि दोषका प्रतिसेवन परिणामके अर्थीन होता है कार्म्यके अर्थीन नहीं होता । जैसे कि वीतराग साधुके पैरके नीचे आकर यदि कोई जानवर मर जाय तो वीतरागको ऐश्यापयिकी (पुण्य बन्ध) क्रिया लगती है और सरागी साधुके पैरके नीचे आकर कोई जानवर मर जाय तो उसको साम्परायिकी क्रिया लगती है । यद्वा पैरके नीचे आकर जानवरके मरनेमें कोई भेद नहीं है परन्तु परिणाममें भेद होनेसे वीतरागको तो पुण्य-बन्ध और सागाको साम्परायिकी क्रिया होती है । वीतरागका परिणाम निर्मल है इसलिये उसके पैरके नीचे आकर जानवरके मरनेसे उसे पुण्यबन्धकी क्रिया होती है और सागा उसके पैरके नीचे आकर जानवरके मरनेसे उसे साम्परायिकी क्रिया लगती है इस लिये उसके पैरके नीचे जानवरके मरनेसे उसे साम्परायिकी क्रिया लगती है उसी तरह कपाय कुशीलका परिणाम निर्मल होता है इसलिये छ समुद्रघात और पाच शरीरके पाये जानेपर भी वह दोषका अप्रतिसेवी ही होता है । वहुना और प्रतिसेवता कुशील, कपाय कुशीलकी तरह निर्मल परिणाम वाले नहीं होते इस लिये ये दोषके प्रति सेवी होते हैं । यदि छ समुद्रघात और पाच शरीरके पाये जानेमें ही दोषका प्रति सेवी हो जाता तो फिर वहुना और प्रतिसेवता कुशीलकी तरह कपाय कुशील

को भी शास्त्रकार दोषका प्रतिसेवी बतलाते परन्तु शास्त्रकारने साफ साफ कषाय कुशील को दोषका अप्रतिसेवी बतलाया है इस लिये कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी बतलाना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये ।

[बोल १० वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कारका कहना है कि “जैसे भगवती सूत्र शतक १६ उद्देशा ६ में संवृत (साधु) को यथार्थ स्वप्न आना कहा है और उसीको आवश्यक सूत्रमें मिथ्या स्वप्न भी आना कहा है इसलिये जैसे संवृत साधु दो तरहके होते हैं एक सच्चा स्वप्न देखनेवाले और एक झूठा स्वप्न देखनेवाले, उसी तरह कषाय कुशील भी दो तरहके होते हैं एक दोषका प्रतिसेवन नहीं करने वाले और दूसरे दोषका प्रतिसेवन करने वाले ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सबुडा साधुका दृष्टान्त देकर कषाय कुशीलको दो तरहका बतलाना अज्ञान है। जिस सबुडा साधुका नाम लेकर भगवती शतक १६ उद्देशा ६ में सच्चा स्वप्न देखना कहा है उसी संबुडाका नाम लेकर आवश्यक सूत्रके चौथे अध्ययनमें मिथ्या स्वप्न देखना भी कहा है इस लिये संबुडा साधुका द्विविध होना शास्त्रसे ही सिद्ध होता है परन्तु कषाय कुशीलका द्विविध होना शास्त्रसे नहीं सिद्ध होता क्योंकि जिस कषाय कुशीलका नाम लेकर भगवती शतक २५ उद्देशा ६ में दोषका अप्रतिसेवी कहा है फिर उसी कषाय कुशीलका नाम लेकर शास्त्रमें कहीं दोषका प्रतिसेवी नहीं कहा है अतः सबुडाकी तरह कषाय कुशीलको दो तरहका बतलाना अप्रमाणिक है ।

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २१७ पर भगवती शतक ५ उद्देशा ४ का मूल पाठ लिख कर उसको समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अत्र इर्श कश्यो—अनुत्तर विमानरा देवता उदीर्ण मोह नथी अने क्षीण मोह नथी उपशान्त मोह छै, इम कश्यो । इहा मोहने उपशमायो कश्यो । अने उपशान्त मोहतो ११वें गुण ठाणे छै अने देवता तो चौथे गुण ठाणे छै त्रिहातो मोहतो उद्भय छै तेह थी समय समय सात २ कर्म लागे छै । मोहनो उद्भयतो दृग्मे गुणठाणे साई छै अने इहा तो देवता ने उपशान्त मोह कश्यो ते उत्कट वेद मोहनो आश्री कश्यो त्रिहा देवताने परिचारणा नथी

ते मति बहुल वद मोहनी आश्री उपशान्त मोह क्यो । पिग सयथा मोह आश्री उप-
 ण्त मोहन यो क्यो" इत्यादि लिख्य पर आगे लिखने हैं "तिम कषाय कुशीलने अप-
 दिनको क्यो ते पिग विदिष्ट परिणामनाश्री आश्री अपदिसेनी क्यो पिग सय कषाय
 कुशील चाग्निया अपदिसेवी नहीं" (ध्र० पृ० २१७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अनुत्तर विमानवासी देवताओंके विषयम जो पाठ आया है उसका उदाहरण देकर
 कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी क्योना अज्ञान है । अनुत्तर विमानवासी देवता चौथे
 पुग स्थानके धनी हैं इसलिये उनमें मोहका पूर्ण उपशम होना असम्भव है अत उन्हें
 उपशान्त मोह कइनेका आशय यही हो सकता है कि उनमें उत्कट वेद मोहनीय का
 अभाव है परन्तु कषाय कुशीलके विषयमें यह उदाहरण नहीं घटता क्योंकि कषाय कुशील
 को वही भी दोषका प्रतिसेवी नहीं कहा है ।

यदि किसी जगह कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी कहा होता अथवा किसी
 दूसरे प्रमाणसे भी कषाय कुशीलका प्रतिसेवी होता जगह ज्ञाता तो भगवतीके २५ वें
 श्लोक और छठे उद्देशके पाठका यह अभिप्राय माना जा सकता था कि कषाय कुशील
 को उच्च कोटिके हैं उनकी अपेक्षासे ही भगवतीमें दोषका अप्रतिसेवी कहा है परन्तु
 कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी बनानेवाला न कोई मूलपाठ ही कहीं मिलता है और
 न किसी दूसरे प्रमाणन ही कषाय कुशीलका प्रतिसेवी होना सिद्ध होता है ऐसी दशामें
 अनुत्तर विमानवासी देवताओंके पाठका उदाहरण देकर कषाय कुशीलके सम्बन्धमें आये
 हुए पाठका यह अभिप्राय बनलाना कि "जो उच्च श्रेणीके कषाय कुशील हैं उन्हीं को
 दोषका अप्रतिसेवी घतलाना इस पाठका आशय है", विलकुल मिथ्या है ।

सभी कषाय कुशील यदि दोषके अप्रतिसेवी नहीं होते तो कदापि भगवती श्लोक २५
 उद्देश ६ में कषाय कुशील मात्रको दोषका अप्रतिसेवी नहीं कहते । अथवा टीकामें तथा
 किसी दूसरी जगह मूलपाठमें ही इसका पुनरावृत्ति अवश्य कर देते परन्तु कषाय कुशील
 दोषका प्रतिसेवी नहीं होता है इसीलिये शास्त्रकारने सामान्य रूपसे सभी कषाय कुशील
 को दोषका अप्रतिसेवी ही कहा है अत कषाय कुशीलको दोषका प्रतिसेवी घतलाने के
 लिये विभिन्न कुनकोंका आश्रय लेना दुरामहका परिणाम समझना चाहिये ।

[बोल ११ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमनिध्वंमन पृष्ठ १८८ पर ठाणाग सूत्र ठाणा ७ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ अठे पिण इम षड्दो सात प्रकारे छद्मस्थ जाणिये अने सात प्रकारे षड्दो जानिए । केवलो तो ए सातुइ दोष न सेवे ते भगी न चूके अने छद्मस्थ सात दोष सेवे छै” (भ्र० पृ० १८८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा सातके मूलपाठसे भगवान् महावीर स्वामीका दोष सेवन करना नहीं सिद्ध होता है क्योंकि सभी छद्मस्थ दोषके प्रतिसेवी होते ही हैं ऐसा कोई नियम ठाणाङ्ग ठाणा सातमे नहीं कहा है । बल्कि मूलपाठका यही आशय है कि छद्मस्थोंमें सात दोषों का सम्भव होता है केवलियोंमें नहीं । सातवें गुण स्थानसे लेकर षड्दो गुण स्थान तक के जीव छद्मस्थ ही होते हैं परन्तु वे दोषोंका सेवन नहीं करते क्योंकि उनका परिणाम घटुव ही निर्मल होता है उसी तरह छद्म गुण स्थान वाले जो विशिष्ट निर्मल परिणाम धनी होते हैं वे भी दोषके प्रतिसेवी नहीं होते । यह बात भ्रमनिध्वसनकारने भी भ्र० पृ २१४ पर लिखी है जैसे कि —

“अने छठे गुण ठाणे पिण अत्यन्त विशिष्ट निर्मल परिणामनो धगी शुभयोग प्रवर्ते छै”

भगवान् महावीर स्वामी पष्ठ गुण स्थानमे अतिविशिष्ट निर्मल परिणामके धनी । इसलिये वह दोषके प्रतिसेवी नहीं थे । भगवान् महावीर स्वामी छद्मस्थ दशमें भी विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी थे यह बात प्रमाणके साथ पहले कही जा चुकी है और आचाराग सूत्रकी गाथाओंको लिख कर यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया गया है कि भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थ दशमे स्वल्प भी पाप और एक वार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था अतः ठाणाङ्ग ठाणा सातके मूलपाठका नाम लेकर भगवान्में चूक होनेकी प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये ।

यदि कोई दुराग्रही सभी छद्मस्थोंमे सात दोषोंका अवश्य सद्भाव बतावे तो उसे कहना चाहिये कि छद्मस्थ तो सातवें गुणस्थान वाले तथा ८।९।१०।११ और षड्दो गुण स्थान वाले भी होते हैं फिर तुम उन्हें भी दोषका प्रतिसेवी क्यों नहीं मान लेते ? । यदि सातवें आठवें आदि गुण स्थान वाले अति विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी होनेसे दोषका प्रतिसेवी नहीं होते तो उसी तरह पष्ठ गुण स्थान वाला भी अतिविशिष्ट

निर्मल परिणामका धनी दोषका प्रतिसेवी नहीं होता । भगवान् महावीर स्वामी पट्ट गुण स्वानमे अति विशिष्ट निर्मल परिणामके धनी थे इसलिये वह दोषका प्रतिसेवी नहीं थे वत गोशालरुकी रक्षा करनेके कारण भगवान् को चूका हुआ बतलाने वाले अज्ञानी और अतुच्छपाके द्रोही हैं ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार ध्र० पृ० ३०० पर लिखते हैं —

“गोशालाने तिल बताई, लेख्या सिरसाई, दीक्षा दीधी ए सर्व उपयोग चूकने कार्य कया । जो उपयोग दव अने जाने ए तिल लपेटेडनारसी तो तिलबतावताइज कयाने णि उपयोग दिया बिना एकार्य क्रिया छै” (ध्र० पृ० २२२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवान् महावीर स्वामीने छद्मस्थपनेमे गोशालरुको तिल बताया, दीक्षा दी और लेख्या सिरसाई यह सन कार्य यदि भगवान् का चूकना है तो केवल ज्ञान होने पर भगवान् महावीर स्वामीने गोशालरुको मृत्यु बताई, जामालोको दीक्षा दी और काली आदि दश रानियोको उनके पुत्रोका मरण बताया था यह सन कार्य उनका चूकना क्यों नहीं मान लेने ? क्योंकि इन कार्यो का परिणाम भी बहुत बुरा हुआ था । गोशालरु अपने मरणका समय आया जान कर बहुत भयभीत हुआ था । जामाली कुशिव्य हुआ और काली आदि दश रानिया पुत्र मरण सुन कर भगवान् के समवसरणमे ही चिन्तित होकर गिर गयी थी । इसी तरह भगवान् नेमिनाथजीने केवल ज्ञान होने पर केवलसे सोमिल घ्राहगका मरण बतलाया था जिसका फल यह हुआ कि सोमिल को शीघ्रगने सारे शहरमे घसीट बाया और घसीटनेकी लकीर जो पृथ्वी पर पडी थी उस पर पानी छिटक बाया फिर इस कार्यको भगवान् नेमिनाथजी के चूकने मे क्यों नहीं मान लेते ?

यदि कहो कि—केवल ज्ञानी पुण्य, अतीन्द्रियार्थ दर्शी अपरिमित ज्ञानी कल्पानी और आगम व्यवहारी होते हैं वह जो करते हैं उसका रहस्य वही जानते हैं इसलिये इन व्यवहारीके कल्पानुसार उनके कार्यको बुरा नहीं कहा जा सकता तो उमी तरह छद्मस्थ तीर्थंकर भी आगम व्यवहारी और कल्पानीक होते हैं इसलिये सूत्र व्यवहारीषण्यका नाम लेकर उनके कार्यको भी बुरा नहीं कह सकते वन गोशालरुको जिस

घटाने, दीक्षा देने आदि कार्यों को भगवान्‌के चूकनेमें प्रमाण देना अविवेकका परिणाम जानना चाहिये ।

[बोल १३ वां]

(प्रेरक)

छद्मस्थ तीर्थंकर आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इस में क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

छद्मस्थ तीर्थंकर आगम व्यवहारी और कल्पातीत होते हैं इस विषयमें भगवती शतक २५ उद्देशा ६ का मूलपाठ प्रमाण है । वह पाठ यह है—

“कपाय कुशीले पुच्छा गोयमा ! जिण कप्पे वा होज्जा, धेर कप्पे वा होज्जा कप्पातीते वा होज्जा”

(भग० श० २५ उ० ६)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! कपाय कुशील निग्रन्थमें कितने कल्प होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! कपाय कुशील निग्रन्थ जिन कल्पी भी होते हैं स्थविर कल्पी भी होते हैं और कल्पातीत भी होते हैं ।

यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इस पाठमें कपाय कुशीलमें तीन कल्प कहे हैं—जिन कल्प, स्थविर कल्प और कल्पातीत । इनमें कल्पातीत कपाय कुशील नियण्ठा, केवल छद्मस्थ तीर्थंकरमें ही होता है दूसरेमें नहीं यह टीकाकारने लिखा है वह टीका यह है —

“कल्पातीतेवा कपाय कुशीलो भवेत् । कल्पातीतस्य छद्मस्थ तीर्थंकरस्य सकपायत्वात् ।”

अर्थात् कपाय कुशील निग्रन्थ, कल्पातीत भी होता है क्योंकि छद्मस्थ तीर्थंकर कपाय कुशील होते हैं और वह कल्पातीत हैं ।

उक्त पाठ और उसकी उक्त टीकामें छद्मस्थ तीर्थंकरको कल्पातीत कहा है । कल्पातीत वह है जो जिन कल्प और स्थविर कल्पका उल्लंघन किया हुआ है । भगवतीश्री टीकामें लिखा हुआ है कि “कप्पा तीतेति जिन 'कल्प स्थविरकल्पाभ्यामन्यत्र' अर्थात् जिन कल्प और स्थविर कल्पसे भिन्नको कल्पातीत कहते हैं । कल्पम् अतीता कल्पातीता ” इस व्युत्पत्तिसे, जो कल्पका उल्लंघन किया हुआ है यानी जिस पर शास्त्रीय मर्यादाका कोई अधिकार नहीं है वह कल्पातीत है । शास्त्रमें प्रधान रूपसे तो ही कल्प

कल्प हैं । जिन कल्प और स्थविर कल्प । शेष सभी कल्प इनमें ही अन्तर्भूत हैं इस लिये जिन कर्पी और स्थविर कर्पी ही शास्त्रीय मर्यादाके अधिकारी होते हैं, जो कल्प को कल्पन किया हुआ है वह नहीं होता । भगवान महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद कल्पपातीत हो गये थे इस लिये जैसे केवल ज्ञान होने पर कल्पपातीत और आगम व्यवहारी होनेसे उनके कार्यको शास्त्रीय कल्पानुसार दोषमें नहीं कह सकते हैं उसी तरह एक उद्गमस्थपनेके कार्यको भी दोषमें नहीं कह सकते । जैसे केवल ज्ञान होनेपर जामाली आदिको दीक्षा देने आदि कार्य भगवानने किये थे और वे कार्य उनके दोषमें नहीं थे उसी तरह उनके उद्गमस्थपनेमें गोशालको दीक्षा देने तिल बनाने आदि कार्य भी दोष या चूस्नेमें नहीं थे । अतः गोशालको तिल बनाने दीक्षा देने आदि कार्यको भगवानके चूस्नेम प्रमाण देना अज्ञान है ।

बोला १४ समाप्त

(प्रेरक)

भगवान महावीर स्वामी उद्गमस्थपनेमें आगम व्यवहारी और कल्पपातीत थे इस लिये सूत्र व्यवहारीके कल्पानुसार उनके कार्यको दोषमें नहीं कहा जा सकता यह ज्ञात हुआ, अब व्यवहारीका भेद बतलाइये ?

(प्रकृत)

भगवती व्यवहार सूत्र और ठाणाङ्ग सूत्रमें व्यवहारका भेद बतलानेके लिये यह शत आया है—

“कह विहेणं भन्ते ! व्यवहारे पन्नत्ते ? गायमा ! पचविहे चव-
हारे पन्नत्ते तंजहा आगमे, सुण आणा, धारणा, जीए । जहासे तत्थ
आगमेसिया आगमेणं व्यवहारे पट्ठवेज्जा णोपसे तत्थ आगमेसिया
जहा से तत्थ सुए सिया सुएणं व्यवहार पट्ठवेज्जा । णोवासे तत्थ
उएसिया जहा से तत्थ आणासिया आणाण व्यवहारं पट्ठवेज्जा ।
णोपसे तत्थ आणासिया जहा से तत्थ धारणासिया धारणाएण चव-
हारे पट्ठवेज्जा । णोपसे तत्थ धारणासिया जहा से तत्थ जीएसिया
जीएणं व्यवहारे पट्ठवेज्जा”

(भा० श० ८ व्यवहार ३० १० ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! व्यवहार कै प्रकारका होता है ?

(उत्तर) हे गोत्रम ! व्यवहार पाच प्रकारका होता है ।

(१) आगम व्यवहार (२) श्रुत व्यवहार (३) आज्ञा व्यवहार (४) धारणा व्यवहार (५) जित व्यवहार । जहा केवल भादि छ आगमोंमेंसे कोई आगम विद्यमान हो वहा प्रायविध तादि व्यवस्था आगमसे दी जाती है श्रुत आदिसे नहीं । जहा आगम न हो वहा श्रुत व्यवहारसे व्यवस्था देनी चाहिये आज्ञा आदिसे नहीं । जहा श्रुत न हो वहा आज्ञासे, जहा आज्ञा न हो वहा धारणासे, जहां धारणा न हो वहा जितसे व्यवस्था देनी चाहिये परन्तु आज्ञाके होने पर धारणासे और धारणाके होने पर जितसे व्यवस्था नहीं देनी चाहिये । यह उक्त पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें व्यवहारके आगम आदि छ भेद बतला कर पूर्व पूर्वके सद्भावमें उक्त उत्तरसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है इसी तरह आगमामे भी केवल ज्ञानके रहने पर शेष पाच आगमोंसे और मन पर्य्यायके रहते शेष चारसे एव अधिकके रहने पर शेष तीन से, चौदह पूर्वके रहते शेष दोसे और दश पूर्वके रहने पर शेष नव पूर्वसे और नव पूर्वके रहने पर श्रुत आदिसे व्यवस्था देनेका निषेध किया है अतः छद्मस्थतीर्थकरमें आगम व्यवहारके होनेसे श्रुतादि व्यवहारानुसार उनमें दोषकी स्थापना नहीं की जा सकती । भगवान महावीर स्वामी दीक्षा लेनेके बाद ही मन पर्य्याय ज्ञानके घनी हो गये थे इस लिये उनको श्रुतादि व्यवहारोंसे आचरण करनेकी कोई आवश्यकता न थी उनके सभी व्यवहार आगम व्यवहारके अनुकूल ही होते थे अतः उनके क्रावर्थाको श्रुतादि व्यवहारके अनुसार समालोचना करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

भ्रम विध्वंसन कारणे भी अपने प्रश्नोत्तर तत्त्वबोध नामक ग्रन्थमें आगम व्यवहारके रहने पर श्रुतादि व्यवहारोंसे क्रावर्था न होनेका उल्लेख किया है ।

(प्रश्न)

दशवर्षा पठे भगवतो भगवो व्यवहार उद्देशा १० कस्यो तो घनो नवमासे ११ अंग भण्यो किम् ?

(उत्तर)

वीरनी आज्ञादि दोष नहीं ते ठाम आगम व्यवहार प्रवृत्ततो सूत्र व्यवहारो काम नहीं । व्यवहार उद्देशे १० तथा ठाणाङ्ग ठागा ५ कस्यो जिवारे आगम व्यवहार व्हे तिवार आगम व्यवहार थापवो अने आगम व्यवहार न व्हे तिवारे सूत्र व्यवहार थापवो इम कस्यो”

ऊपर लिखे हुए जीतमलजीके टेरामे आगम व्यवहारक होनेपर सूत्र व्यवहारका उपयोग नहीं किया जाना साफ साफ लिखा है और महावीर स्वामीके समयमे आगम व्यवहारका ही उपयोग होना भी लिखा है तथापि 'सूत्र व्यवहारानुसार भगवानमें दोष कायम करना इनका अपने कथनमे ही विरुद्ध समझना चाहिये ।

बोल १५ समाप्त

(त्रैक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २२४ पर भगवती शतक १५ वें की टीका लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ टीकामें पिण कह्यो ए अयोग्यने भगवान अगीकार कियो ते अक्षीण गग-
णने करी तेहना परिचय करी स्नेह अनुकम्पाना सद्भावधी अने छद्मस्थ छै ते माटे आगा-
मिया कालाना दोपना अजाण थकी अंगीकार कीधो न्ह्यो राग परिचय स्नेह अनुकम्पा
क्यो त स्नेह अनुकम्पा कह्यो अने भावे मोह अनुकम्पा कह्यो जो एकार्य करवायोग्य
हुव तो इम कयाने कहिता” (भ्र० पृ० २२४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १५ वें की टीकासे महावीर स्वामीका चूकना नहीं सिद्ध होता क्योंकि वहा टीकाकारने लिखा है कि “अवश्यभावविभावत्वाच्चेतस्यार्थस्येति विभावनीयम्” अर्थात् भगवानसे गोशालकका स्वीकार किया जाना अवश्य होनहार था इस लिये भगवानने उसे स्वीकार किया । यह लिखकर टीकाकारने भगवानको चूक जाने का स्पष्ट रूपसे निषेध किया है तथापि इस टीकाक आश्रयसे भगवानको चूकनेकी सिद्धि करना अज्ञान है ।

यदि कोई कहे कि इस टीकामें गोशालकको स्वीकार करनेके दो कारण और भी बतलाये हैं । पहले तो गोशालकके ऊपर स्नेहके साथ अनुकम्पा करना कारण कहा है और सायुका किसी पर स्नेह करना गुण नहीं किन्तु दोष है तो उसे कहना चाहिये कि अनुकम्पाके ऊपर तथा अपने धर्म, धर्मार्थ और अपने सहजर्मी भाइयोंपर स्नेह करना गुण नहीं किन्तु गुण है । शास्त्रमे चोगी जारी हिंसा और झूठ आदिमे स्नेह करना ही गुण कहा है गुणके साथ स्नेह करना गुण नहीं कहा है अतः गोशालकके ऊपर जो भगवानने स्नेहयुक्त अनुकम्पा की थी उसे सब कइना अज्ञानका परिणाम है ।

यदि कोई कहे कि गोशालक अयोग्य व्यक्ति था उसपर स्नेह करना अवश्य गुण था” तो इसका उत्तर देते हुए टीकाकार लिखते हैं कि “छद्मस्थतयानाऽगत दोषाऽनव-

गमान्" अर्थात् जिस समय भगवानने गोशालकको स्वीकार किया था उस समय गोशालक अयोग्य नहीं था किन्तु पीछे अयोग्य हुआ इस बातकी खबर भगवानको नहीं थी क्योंकि भगवान छद्मस्थ होनेके कारण भागी दोषको नहीं जानते थे ।

यह लिखकर टीकाकार भगवानके चूकनेका स्पष्ट रूपसे निवेद कर रहे हैं । क्योंकि भविष्य कालका दोष नहीं जानने वाला कोई पुरुष वर्तमान कालमें किसीको अयोग्य नहीं जान कर यदि उसपर स्नेहके साथ अनुकम्पा करे तो इसमें उमका क्या दोष है ? अब भविष्य कालके दोषको नहीं जान कर भगवानने गोशालकको स्वीकार किया था यह भगवानका चूकना नहीं किन्तु दयालुता है । इसके आगे टीकाकारने भगवानके दोषका खण्डन करनेके लिये तीसरा हेतु अवश्य होनहार बतलाया है जो पहले लिख दिया गया है । यह तीसरा हेतु इस लिये दिया गया है कि पहलेके दो हेतुओंमें अरुचि है । पहले हेतुमें अरुचि यह है कि "गोशालक अयोग्य था उसपर भगवानने स्नेह क्यों किया ?" इस अरुचिके कारण पहला हेतुको छोड़ कर टीकाकार दूसरा हेतु बतलाते हैं कि गोशालकके भविष्यमें अयोग्य होनेका भगवानको ज्ञान नहीं था क्योंकि वह छद्मस्थ थे इस लिये भगवानने गोशालकको स्वीकार किया । इस हेतुमें भी यह अरुचि आती है कि भगवान छद्मस्थ होकर भी भविष्यकी बात जान सकते थे जैसे कि उन्होंने गोशालकको बतलाया था कि इस तिलमें इतने दाने होंगे इत्यादि । अब टीकाकारने पूर्व के दोनो हेतुओंसे सन्तुष्ट न होकर तीसरा हेतु दिया है और तीसरा हेतु देकर यह स्पष्ट कर दिया है कि गोशालकको भगवानके द्वारा स्वीकार किया जाना अवश्य होनहार था इस लिये इसमें भगवानका कुछ भी दोष नहीं है । आगम व्यवहारी पुरुष भागी बातको अपने ज्ञान द्वारा जान कर उसका अनुष्ठान करते हैं इसमें उनका कुछ दोष नहीं होता जैसे कि केवल ज्ञान होनेपर भागीको जानकर ही भगवानने जामाखीको दीक्षा दी थी उसी तरह गोशालकके विषयमें भी समझना चाहिये । अब भगवती शतक १५ की टीका

नोट—भगवती शतक १५ की टीकामें भगवानके दोषका खण्डन किया है चूक जाना नहीं बतलाया है अन्यथा टीकाकार गोशालकको स्वीकार करना अवश्यम्भावी मान क्यों बतलाते । पहलेके दो हेतुओंसे भी यही बात कही है उनसे भी दोषका खण्डन ही किया गया है समर्थन नहीं । क्योंकि एक ही विषयमें टीकाकार दो राय नहीं दे सकते यदि दो राय दें तो स्थाणुर्वा पुरुषोवा की तरह उनकी वान संशयात्मक होनेसे प्रमाण नहीं हो सकती ।

का नाम लेकर भगवानको चूक जानेकी कल्पना करना निर्मूल तथा निराधार सम-
झना चाहिये ।

[बोल १६ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसन कार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २२४ पर ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ९ की टीकामें
लिखी हुई गाथाको लिख कर उसकी साक्षी देते हुए लिखते हैं—

“तथा छद्मस्थ तीर्थकर दीक्षा लेते जिन दिन साथे कोई दीक्षा लेते तैतो ठीक छै
पिण वठापठे कवल ज्ञान ऊपना पहिला औरने दीक्षा दवे नहीं ठाणाङ्ग ठाणा ९ अर्थमें
खली गाथा कही छै ।

(भ० पृ० २२४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ९ के टब्बा अर्थमें लिखी हुई गाथाका नाम लेकर भगवानको
चूक जानेकी प्ररूपणा मिथ्या है । प्रथम तो वह गाथा कहीं मूलपाठ या किसी प्रमाणिक
टीकामें नहीं पायी जाती इस लिये वह गाथा प्रमाण नहीं मानी जा सकती । दूसरी बात
यह है कि उस गाथामें “नय सोमवर्गं दिक्कलितं” यह लिखा है अर्थात् “छद्मस्थ तीर्थकर
किस्य वर्गको दीक्षा नहीं देते ।” यहा शिष्य वर्गको दीक्षा देनेका निषेध क्रिया है किसी
एक शिष्यको दीक्षा देनेका निषेध नहीं है अन इस गाथासे भी एक व्यक्ति (गोशालक)
को दीक्षा देनेमें भगवानका चूकना नहीं सिद्ध हो सकता । अत किसी अज्ञात व्यक्तिकी
कार्य हुई इस गाथाका नाम लेकर भगवानके चूक जानेका समर्धान करना अज्ञान है ।

वास्तवमें छद्मस्थ तीर्थकर, वीतराग तीर्थकरके समान ही कल्पातीत होते हैं इस
लिये उनके कार्यको शास्त्रीय कल्पानुसार दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि शास्त्रीय
कल्प कल्पस्थित साधुओं पर ही लगता है कल्पातीत पर नहीं । कल्पातीत साधु अपने
ज्ञानमें जैसा देखते हैं वैसा ही करते हैं, यह उनका दोष नहीं किन्तु गुण है । ठाणाङ्ग
ठाणा ९ के टब्बा अर्थमें लिखी हुई गाथा, तीर्थ करोंका कल्प नहीं बतलाती है कि “अमुक
अमुक कार्य तीर्थ करको कल्पना है और अमुक अमुक नहीं” क्योंकि कल्पातीतका कोई
कल्प नहीं होता । तीर्थ कर लोग छद्मस्थ अवस्थामें प्राय जो कार्य करते हैं उसका
वगनमात्र इस गाथामें किया है अत इस गाथाका नाम लेकर तीर्थ करमें कल्प कायम
करके उन्हें चूकनेकी कल्पना करना मिथ्या है ।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३५ पर लिखते हैं—

“अने कई एक पाखण्डी रहे गोतमने भगवान कह्यो हे गोतम । बारह वर्ष ते पक्षमे मोने किञ्चिन्मात्र पाप लाग्यो नहीं ते झूठरा बोलनहार छै” (भ्र० पृ० २५५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

बारह वर्ष और तेरह पञ्चमे दोष नहीं लगनेकी बात भगवान्ने सुधर्मा स्वामी कही थी और सुधर्मा स्वामीने यह बात भगवानसे सुन कर जम्बू स्वामीसे आचाराग कही है । आचाराग सूत्रके प्रथम श्रुत स्कन्धके नवम अध्ययनमें पहले पहल सुधर्मा स्वामीने कहा है—

“अहा सुय वइस्सामि” अर्थात् जैसा मैंने सुना था वैसा ही कहूंगा । इससे ज्ञात होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान महावीर स्वामीके मुत्सरे उनके उद्देश्यावस्थाक वृत्तान्त सुन कर उसका वर्णन आचाराग सूत्रमें जम्बू स्वामीसे किया है । अतएव आचारागके आरम्भमें ही यह लिखा है कि “सुयमे आउस । तेण भगविया एवमकंसाय” अर्थात् हे आयुष्मन् । भगवान महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मैंने सुना है । इसमें स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे सुनी हुई बातोंका ही आचारागमें जम्बू स्वामीसे वर्णन किया है । अतः सुधर्मा स्वामीकी आचारागमें कही हुई सब बातें भगवानकी ही कही हुई समझनी चाहिये । उन बातोंको न मानना सुधर्मा स्वामीकी ही नहीं किन्तु साक्षात् वीथंकरकी बातको न मानना है । आचाराग सूत्रमें सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे कहा है कि—

“एएहिं सुणी सयणेहिं समणे असिय तेरस वासे । राहदि यंपि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिए झाइ”

(आचाराग श्रु० १ अ० ९ उ० २)

अर्थात् मुनि भगवान महावीर स्वामी इन स्थानोंपर निवास करते रात निम्न सप्तमके अतुष्टानमें प्रवृत्त रहते थे और प्रमाद रहित होकर धर्म करते थे ।

इस पाठमें तेरहवें वर्ष पर्यान्त भगवानको प्रमाद रहित तथा आगे चलकर एक वार भी प्रमाद करनेका निषेध किया है

“अकसाई विगयगेही सहखवेसु ५

न पमायं सहंवि कुञ्चीत्था”

इस गायामें दृशस्थपनेमें भगवान्के एक वार भी प्रमाद सेवन करनेका निषेध किया है और यह यात्र साक्षात् महावीर स्वामीसे गुनकर ही सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे कही थी इस लिये इस बातको न मानकर भगवानमें प्रमाद सेवन करनेका दोष लगाना केवलीके वाक्यको न मानने रूप मिथ्यात्वका स्पर्श करना है पण्तु दीर्घ ससारी जीव केवलीके वाक्यका तिरस्कार करनेमें शंका नहीं करते । आचार्याग सूत्रके प्रमाणसे अब कि भगवानके न चूकनेकी यात्र स्पष्ट सिद्ध होती है तत्र इमपर पर्दा डालनेके लिये जीवमलजीने अपने मनसे गड़ कर यह बतलाया है कि 'गोतम स्वामीसे भगवानने १२ वर्ष और तेरह पक्ष तक पाप नहीं लगनेकी बात नहीं कही है ।'

अस्तु, भगवानने गोतम स्वामीसे नहीं कही पण्तु सुधर्मा स्वामीसे तो कही है फेर तुम इसे क्यों नहीं मानते ? बात तो सची ही है । सची बातको छिपानेके लिये करने मतमें उसमें एक मिथ्या बात लगा देना कहाका पाण्डित्य है ?

(बोल १८ समाप्त)

(प्रेरक)

भगवान्को दृशस्थपनेमें दृश स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त्त तक भगवान्को निद्रा आई थी । निद्रा देना प्रमादका सेवन करना है फिर आचाराग सूत्रकी गायामें यह क्यों कहा गया कि भगवानने दृशस्थपनेमें एक वार भी प्रमादका सेवन नहीं किया था ?

(प्ररूपक)

भगवान् महावीर स्वामीको दृश स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त्त तक उन्हें निद्रा भी आई थी पर वह निद्रा द्रव्य निद्रा थी भात्र निद्रा नहीं । मिथ्यात्व और अज्ञान को शास्त्रमें भात्र निद्रा कहा है । केवल सोने मात्रको नहीं केवल सोना तो द्रव्य निद्रा है उसे शास्त्रीय विधानानुसार लेता हुआ माधु दोषका सेवन करने वाला नहीं होता । यह बात भ्रमविध्वंसनकारको भी मान्य है उन्होंने लिखा है कि "तिहा भात्र निद्राथी तो पाप लागे छै अन द्रव्य निद्राथी तो जीव देने छै" (ध्र०पृ० ४०९)

अतः भगवान्को द्रव्य निद्रा लेनेसे प्रमादका सेवन करने वाला नहीं कहा जा सकता है । अतः आचाराग सूत्रकी पूर्वोक्त गायामें जो भगवानको एक वार भी प्रमाद सेवन नहीं करनेका कथन है वह अक्षरशः यथार्थ है उसे नमान कर भगवानके चूक जानेका या प्रमाद सेवन करनेका दुराग्रह करना भि०

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३५ पर लिखते हैं—

“अने कई एक पारखण्डी कहे गौतमने, भगवान कहो हे गौतम । बारह वर्ष तेरह पक्षमें मोने किञ्चिन्मात्र पाप लाग्यो नहीं ते झूठरा बोलनहार छै” (भ्र० पृ० २५५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

बारह वर्ष और तेरह पक्षमें दोष नहीं लगनेकी बात भगवान्ने सुधर्मा स्वामीसे कही थी और सुधर्मा स्वामीने यह बात भगवानसे सुन कर जम्बू स्वामीसे आचारागमें कही है । आचाराग सूत्रके प्रथम श्रुत स्कन्धके नवम अध्यायनमें पहले पहल सुधर्मा स्वामी ने कहा है—

“बहा सुय वइस्सामि” अर्थात् जैसा मैंने सुना था वैसा ही कहूंगा । इससे ज्ञात होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान महावीर स्वामीके मुखसे उनके छद्मस्थावस्थाका वृत्तान्त सुन कर उसका वर्णन आचाराग सूत्रमें जम्बू स्वामीसे किया है । अतएव आचारागके आरम्भमें ही यह लिखा है कि “सुयंमे आउस । तेण भगवया एवमकप्याय” अर्थात् हे आयुष्मन् । भगवान महावीर स्वामीने ऐसा कहा था यह मैंने सुना है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि सुधर्मा स्वामीने भगवान् महावीर स्वामीसे सुनी हुई बातोंका ही आचारागमें जम्बू स्वामीसे वर्णन किया है । अतः सुधर्मा स्वामीकी आचारागमें कही हुई सब बातें भगवानकी ही कही हुई समझनी चाहिये । उन बातोंको न मानना सुधर्मा स्वामीकी ही नहीं किन्तु साक्षात् तीर्थ करकी बातको न मानना है । आचाराग सूत्रमें सुधर्मा स्वामीने जम्बू स्वामीसे कहा है कि—

“एएहिं मुणी सयणेहिं समणे असिय तेरस वासे । राइदि यंपि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिए झाइ”

(आचाराग श्रु० १ अ० ९ उ० २ गाथा ४)

अर्थात् मुनि भगवान् महावीर स्वामी इन स्थानोंपर निवास करते हुए तेरहवें वर्ष पर्यन्त रात दिन सयमके अनुष्ठानमें प्रवृत्त रहते थे और प्रमाद रहित होकर धर्म ध्यान या शुकल ध्यान करते थे ।

इस पाठमें तेरहवें वर्ष पर्यन्त भगवानको प्रमाद रहित होकर रहना लिखा है । तथा आगे चलकर एक बार भी प्रमाद करनेका निषेध किया है । वह गाथा यह है—

“अकसाईं विगयगेही सहखवेसु अमूच्छिए झाई । छउमत्थोवि

न पमायं सहं चि कुब्बीत्था”

इस गाथामें छद्मस्थपनेमें भगवान्‌के एक बार भी प्रमाद सेवन करनेका निषेध था है और यह बात साक्षात् महावीर स्वामीसे सुनकर ही सुधर्मा स्वामीने जम्बू लोसे कही थी इस लिये इस बातको न मानकर भगवानमें प्रमाद सेवन करनेका दोष गला केवलके वाक्यको न मानने रूप मिथ्यात्वका स्पर्श करना है परन्तु दीर्घ ससारी व केवलीके वाक्यका तिरस्कार करनेमें शका नहीं करते । आचाराग सूत्रके प्रमाणसे कि भगवानके न चूकनेकी बात स्पष्ट सिद्ध होती है तत्र इमपर पर्दा डालनेके लिये उमलजीने अपने मनसे गढ़ कर यह बतलाया है कि 'गोतम स्वामीसे भगवानने । बड़े और तेरह पक्ष तक पाप नहीं लगानेकी बात नहीं कही है ।'

अस्तु, भगवानने गोतम स्वामीसे नहीं कही परन्तु सुधर्मा स्वामीसे तो कही है । तुम इसे क्यों नहीं मानते ? बात तो सही ही है । मन्वी बातको छिपातेके लिये ते मनसे उसमें एक मिथ्या बात लगा देना कड़ाका पाण्डित्य है ?

(बोल १८ समाप्त)

प्रेरक)

भगवान्‌को छद्मस्थपनेमें दृश स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त्त तक भगवान्‌को निद्रा आई थी । निद्रा लेना प्रमादका सेवन करना है फिर आचाराग सूत्रकी धामें यह क्यों कहा गया कि भगवानने छद्मस्थपनेमें एक बार भी प्रमादका सेवन किया था ?

प्रत्यक)

भगवान महावीर स्वामीको दृश स्वप्न आये थे उस समय अन्तर्मुहूर्त्त तक उन्हें भी आई थी पर वह निद्रा द्रव्य निद्रा थी भाव निद्रा नहीं । मिथ्यात्व और अज्ञान शास्त्रमें भाव निद्रा कहा है । केवल सोने मात्रको नहीं केवल सोना तो द्रव्य निद्रा से शास्त्रीय विधानानुसार लेना हुआ साधु दोषका सेवन करने वाला नहीं होता । बात भ्रमविज्वसनकारकी भी मान्य है उन्होंने लिखा है कि "तिहा भाव निद्राभी पाप लागे छै अने द्रव्य निद्राभी तो जीव दन छै" (भ्र०पृ० ४०९)

अतः भगवानको द्रव्य निद्रा लेनेसे प्रमादका सेवन करने वाला नहीं कहा जा ता है । अतः आचाराग सूत्रकी पूर्वोक्त गाथामें जो भगवानको एक बार भी प्रमाद न नहीं करनेका कथन है वह अश्ररश यथार्थ है उसे न मान कर भगवानके पूरक का या प्रमाद सेवन करनेका दुरामत करना मिथ्या दृष्टियोंका कार्य है ।

(अथ लेश्याधिकारः)

(प्रेरक)

लेश्या किसे कहते हैं ?

(प्ररूपक)

लिङ्गयते श्लिष्यते कर्मणा सह आत्मा अनयेति लेश्या । कृष्णादिद्रव्य साचिव्या-
दात्मनः परिणाम विशेषे । “कृष्णादिद्रव्य साचिव्यात्परिणामोय आत्मनः । स्फटिकस्यैव
तत्राय लेश्या शब्द प्रयुज्यते” ॥१॥

अर्थात् जिसके द्वारा आत्माका कर्मके साथ सम्बन्ध होता है उसे लेश्या कहते
हैं । अथवा कृष्णादि द्रव्यके ससर्गसे स्फटिक मणिकी तरह जो आत्माका परिणाम
विशेष होता है उसे लेश्या कहते हैं । वह लेश्या दो प्रकारकी होती है एक द्रव्य लेश्या
और दूसरी भाव लेश्या । भाव लेश्या मुख्य रूपसे द्रव्यके ससर्गसे पैदा होने वाला
आत्माका परिणाम है और द्रव्य लेश्या मुख्य रूपसे पुद्गलका परिणाम (पर्याय) है ।

(प्रेरक)

सयमधारी साधुओमें कितनी लेश्याये होती हैं ।

(प्ररूपक)

सयमधारी साधुओंमें तेज पद्म और शुक्ल ये तीन भाव लेश्याये होती हैं, कृष्ण
नील और कापोत भाव लेश्याये नहीं होतीं । भगवती शतक १ उद्देशा १ में यह लिखा
है इस लिये वहाका पाठ टीकाके साथ लिखा जाता है ।

“सलेशसा जहा ओहिया किणहलेशसस्स नीललेशसस्स काउलेशसस्स
जहा ओहिया जीवा णवरं पमत्ता पमत्ता न भाणियन्वा । तेउलेशसस्स
पद्मलेशसस्स सुक्कलेशसस्स जहा ओहिया जीवा णवरं सिद्धान
भाणियन्वा । ”

(म० श० १ उ० १)

(टीका)

“लेशसाण भन्ते । जीवा किं आचारंभे” इत्यादि तदेव सर्वं नवरं जीवस्थान
सलेश्या इतिवाच्यम् इत्ययमेको वण्डक । कृष्णादिलेश्या मेवान् तद्वन्ते कर्तव्ये

सन् तत्र "किण्वलेसस्त" इत्यादि कृग्ग्लेश्यस्य नील्लेश्यस्य कापोत लेश्यस्यच जीव-
राशेरुण्डको यथौधिकजीवदण्डकन्तथाऽध्येतव्य, प्रमत्ता प्रमत्त विभेपण वर्ज्य कृष्णादि-
शुदि अप्पास्त भावलेश्यासु सयनत्थनास्ति यच्चोच्यते पुत्र पडिवन्ताओ पुण अनेरिणउ
लेसाए" ति तद्द्रव्य लेश्या प्रतीत्येतिमतव्यम् । ततस्तासु प्रमत्ताद्यभावा । तत्रसूत्रो-
च्चारण मेवम् । "किण्वलेस्साण भन्ते । जीवा किं आयारभा पगरभा तदुभयारभा
अगारभा ? । गोयमा । आयारंभावि जावगो अगारभा, संकेणद्वेण भन्त । एव बुच्चइ ?
गोयमा । अवरय पडुच्च" एव नील कापोतलेश्या दण्डकावपीति । तथा तजोलेश्या दे
जीवराशेरुण्डका यथौधिक जीवास्तथा वाच्य नवर तेषु सिद्धान्ताच्या सिद्धानामले-
श्यत्वान् तच्चेव "तेउलेस्साण भन्ते । जीवा किं आयारभा ४ गोयमा । अत्येगइया
आयारभावि जावगो अनारभा । अत्येगइया नोआयारभा जाव अगारभा । संकेण-
द्वेण भन्ते । एव बुच्चइ ? गोयमा । दुविहा तेउलेस्सा पन्नत्ता सजयाए असजयाए"

इस टीकाके अनुसार मूल पाठका अर्थ यह है—

अर्थात् जीव दो प्रकारका होता है एक सलेश्य और दूसरा अलेश्य । सलेश्य
जीवोंका वर्णन सामान्य जीवोंका वर्णनके समान जानना चाहिये । कृग्ग, नील और
कापोत लेश्या वाले जीवोंका वर्णन भी समुच्चय जीवोंका वर्णनके समान ही जानना
चाहिये परन्तु इनमें प्रमादी और अप्रमादी ये दो भेद नहीं होते क्योंकि कृग्ग नील
और कापोत भाव लेश्याओंमें सयनपना (साधुपना) नहीं होता । कहीं कहीं साधुओं
में छ लेश्याओंका भी उल्लेख है वह द्रव्यलेश्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये भावलेश्याकी
अपेक्षासे नहीं अतः कृग्ग नील और कापोत इन तीन भाव लेश्याओंमें प्रमत्त और अप्र-
मत्त रूप दो भेद नहीं कहने चाहिये । कृष्णादि लेश्याओंमें सूत्रका उच्चारण इस प्रकार
करना चाहिये । "किण्वलेस्साण भन्ते । जीवा" इत्यादि ।

अर्थान् हे भगवन् ! कृग्ग लेश्यावाले जीव आत्मारभी परारंभी और तदुभया-
रंभी होत हैं या अनारभी होते हैं ?

(उत्तर) हे गौतम ! कृग्गलेश्या वाले जीव आत्मारभी परारंभी और तदुभया-
रंभी होत हैं अनारंभी नहीं होते ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! कृग्गलेश्या वाले जीव अनारंभी नहीं होते किन्तु आत्मा-
रंभी परारंभी और तदुभयारंभी होत हैं इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गौतम ! कृग्गलेश्या वाले जीव, अप्रवकी अपेक्षासे आत्मारंभी परा-
रंभी और तदुभयारंभी होते हैं अनारंभी नहीं होते । इसी तरह नील और कापोतलेश्या
वाले जीवोंको भी समझना चाहिये ।

तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या वाले जीवोंको समुच्चय जीवोंके समान ही समझना चाहिये परन्तु इनमें सिद्ध जीवोंको न कहना चाहिये क्योंकि सिद्ध जीवोंमें कोई लेश्या नहीं होती ।

तेजोलेख्याके विषयमें सूत्रका पाठ इस प्रकार है —

“तेजोलेखाणं भन्ते ! जीवा किं आचारं भावि जाव अणारं भा ? गोयमा ! अत्येगह्या आचारं भावि जाव णो अणारं भा अत्येगह्या णो आचारं भा जाव अणारं भा । सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एवं बुच्चह ? गायमा ! दुच्चिहा तेजोलेखा पण्णत्ता संजयाए असंजयाए”

(आ० सू०)

अर्थ —

हे भगवन् ! तेजोलेख्या वाले जीव, आत्मारभी पाररभी और तदुभयारभी होते हैं या अनारभी होते हैं ?

(उ०) हे गोतम ! तेजोलेख्या वाले कोई कोई जीव, आत्मारभी पाररभी और तदुभयारभी होते हैं अनारभी नहीं होते और कोई कोई अनारभी होते हैं आत्मारभी पाररभी और तदुभयारभी नहीं होते ।

हे भगवन् ! तेजोलेख्या वाले जीवों में यह दो भेद क्यों होते हैं ?

हे गोतम ! तेजोलेख्यावाले जीव दो तरहके होते हैं एक सयत और दूसरे असयत । सयत भी दो प्रकार के होते हैं प्रमादी और अप्रमादी । अप्रमादी आत्मारभी पाररभी और तदुभयारभी नहीं होते अनारभी होते हैं परन्तु प्रमादी अशुभ योगी साधु, अशुभ योग की अपेक्षा से आत्मारभी पाररभी और तदुभयारभी होते हैं अनारभी नहीं होते ।

यह भगवतीके मूलपाठ और टीकाका अर्थ है ।

इस पाठमें कहा है कि कृष्ण नील और कापोत लेश्या वाले जीवोंको अधिक दण्डरुके जीवोंके समान ही समझना चाहिये परन्तु विशेष इतना है कि कृष्ण नील और कापोत लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी ये दो भेद नहीं होते ।

इस मूलपाठकी वातका अभिप्राय वतलाते हुए टीकाकारने लिखा है कि—

“कृष्णादिपुहि अप्रशस्त्रभाव लेश्यासु सयतत्व नास्ति”

अर्थात् कृष्ण, नील और कापोत, इन भाव लेश्याओंमें साधुपन नहीं होता इसलिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त्र भाव लेश्याओं में प्रमादी और अप्रमादी, ये दो भेद वर्जित किये गये हैं ।

यहा टीकाकारने मूलपाठका आशय बतलाते हुए साधुओंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्याओंका साफ साफ निषेध किया है इसलिये साधुओंमें तेज पद्म और और शुक्ल, ये तीन भाव लेख्या ही होती हैं कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्या नहीं अतः साधुओंमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्याओंका सद्भाव बनाना उक्त मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २४२ पर लिखते हैं—

“अथ अठे ओधिक पाठ कह्यो—तिणमें सयतिरा भेद प्रमादी अप्रमादी किया ।

अने कृष्ण नील कापोत लेख्याने ओधिकनो पाठ कह्यो तिम कहियो पिण एतलो विशेष सयतिरा प्रमादी अप्रमादी ए दो भेद न करवा ते किम् प्रमत्तमें कृष्णादिक तीन लेख्या हुवे अने अप्रमत्तमें न हुवे ते माटे दो भेद चर्ज्या” (भ० पृ० २४२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवतीजीके उक्त मूल पाठमें “पमत्ता पमत्तान नभाणियव्वा” यह जो वाक्य आया है उसका टीकानुसार यही अर्थ है कि कृष्ण नील और कापोत, इन तीन भाव लेख्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके साधु नहीं होते किन्तु साधुने भिन्न जीव इनमें होते हैं । अतः कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्याओंमें प्रमादी साधुका सद्भाव बनाना मिथ्या है ।

यदि शास्त्रकारको उक्त तीन भाव लेख्याओंमें केवल अप्रमादीको ही वर्जित करना इष्ट होता तो वह “पमत्ता पमत्ता नभाणियव्वा” ऐसा नहीं लिख कर “अपमत्ता नभाणियव्वा” यही लिख देते । इस प्रकार लिखनेसे कृष्णादि तीन भाव लेख्याओं में प्रमादीका होना और अप्रमादीका न होना साफ साफ मालूम हो जाता परन्तु शास्त्रकार ने ऐसा नहीं लिख कर “पमत्ता पमत्ता नभाणियव्वा” यह लिखा है इसका तात्पर्य यही है कि कृष्णादि तीन भाव लेख्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके सयत्त नहीं होते और टीकाकारने भी मूल पाठका यही अर्थ स्पष्टरूपमें बतलाया है तथा इस पाठका उच्चारण अर्थ भी कृष्णादि तीन भाव लेख्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों प्रकारके सयत्तोंका निषेध करता है वह उच्चारण अर्थ यह है—

“एतलो विशेष प्रमत्त अप्रमत्त वर्जित कहिया । कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्याने बिषे संयत्तपणी न थी”

इस टब्बा अर्थमें साफ साफ लिखा है कि कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओं में साधुपना नहीं होना इसलिये इन लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों प्रकार के सयत वर्जित किये गये हैं तथापि उक्त मूलपाठ, उसकी टीका तथा टब्बा अर्थ, इन तीनों को नहीं मान कर कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंमें साधुपनाका स्थापन करना, मिथ्यात्वका परिणाम है ।

जिस प्रकार भगवतीके उक्त मूलपाठ, उसकी टीका और टब्बा अर्थमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंमें प्रमादी और अप्रमादी दोनों ही प्रकारके साधुओंको वर्जित किया है उसी तरह भगवती सूत्र शतक १ उद्देश २ में कृष्णादि तीन भाव लेश्याओं में सराग, वीतराग, प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके साधुओंको वर्जित किया है । वह पाठ यह है —

“सलेस्साणं भन्ते ! नेरइया सव्वे समाहारगा ? ओहियाणं सलेस्साणं सुक्कलेस्साणं एएसिणं तिन्नां तिण्हं एक्को गमो कण्हलेस्साणं नील लेस्साणं वि एक्को गमो । नवरं वेदणाए मायो मिच्छ दिट्ठी उववन्नगाय अमायिसम्मदिट्ठी उववन्नगाय भाणियव्वा मणुसा किरियासु सराग वीयरगपमत्ता पमत्ता न भाणियव्वा । काउलेस्साणवि एसेव गमो नवरं नेरइए जहा ओहिए दण्डए तहा भाणियव्वा । तेउलेस्सा पद्मलेस्सा जस्स अत्थि जहा ओहिओ दण्डओ तहा भाणियव्वा नवरं मणुसा सराग वीयरगा नभाणियव्वा”

(भ० श० १ उ० २)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! सलेशी सभी नारिक जीवोंका क्या एक समान ही भाहार है ?

(उत्तर) ओषिक सलेशी और शुक्लेशी इन तीनोंके लिये एक समान ही पाठ कहना चाहिये । एव कृष्णलेशी और नीललेशी जीवोंके लिये भी एक समान ही पाठ कहना चाहिये परन्तु वेदनाके विषयमें विशेष यह है कि— मायो मिथ्या दृष्टि मद्दान वेदना वाले होते हैं और अमायी सम्यग्दृष्टि अल्पवेदना वाले होते हैं मनुष्यपदमें क्रिया सूत्रके अन्दर यद्यपि ओषिक दण्डकमें सरागो वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी कहे हुए हैं तथापि कृष्ण और नील लेश्याके दण्डकमें इन्हें नहीं कहना चाहिये । कापोत लेश्याके दण्डकको भी नील लेश्याके दण्डकके समान ही कहना चाहिये परन्तु इसमें विशेष यह है कि कापोत लेश्या वाले नारिक जीवोंको ओषिक दण्डकके समान कहना चाहिये । तेजोलेस्या और पद्म लेश्या वाले जीवोंको ओषिक दण्डककी तरह कहना

कविने केवल इतना विरोध है कि इनमें सरागी और धीतरागी न कहने पादिये । यह उक्त मूल अर्थ में है ।

इसमें कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओंमें सरागी धीतरागी प्रमादी और अप्रमादी चारों प्रकारके संयत (साधु) वर्जित किये गये हैं इस लिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याएँ साधुओंमें नहीं होतीं यह स्पष्ट सिद्ध होना है अतः जो लोग सयतिवर्जित कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करते हैं उन्हें उत्सूत्रवादी मानना चाहिये ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वसन पृष्ठ २४६ पर इसी पाठको लिख कर इसकी व्याख्यान करते हुए लिखते हैं—

“सरागी धीतरागी प्रमादी अप्रमादी भेद कृष्ण नील सयति मनुष्यरा न हुवे तिरागी अने अप्रमादीमें कृष्ण नील लेश्या न हुवे ते माटे दो दो भेद न हुवे । सरागीमें ते कृष्ण नील लेश्या हुवे पर धीतरागीमें न हुवे ते माटे सयतिरा दो भेद सरागी धीतरागी न करवा । अने प्रमादीमें तो कृष्ण नील लेश्या हुवे पर अप्रमादीमें न हुवे ते माटे सरागी दो भेद प्रमादी अप्रमादी न करवा । इण न्याय कृष्ण नील लेशी सयतिरा सरागी धीतरागी प्रमादी अप्रमादी भेद करवा वर्ज्या पर सयति वर्ज्यो नहीं सयतिमें कृष्ण नील लेश्या है । अने सयतिमें कृष्णादिक न हुवे तो इमि कहिता ‘संज्ञया न भाणियन्वा’ इत्यादि ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें सयति पुरुष नहीं होते क्योंकि अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें सयत नहीं होता इस लिये भगवतीके उक्त पाठमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें सरागी, धीतरागी, प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके संयतियोंका होना निषेध किया है, केवल सयतियोंके भेदका ही निषेध नहीं किया है वहाके पाठका भाव यह नहीं है कि प्रमादी और सरागीमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्यायें पायी जाती हैं और अप्रमादी तथा धीतरागीमें नहीं पायी जाती क्योंकि इसी मूल पाठमें आग चलकर कहा है कि “तेज पक्क लेश्याओंमें सरागी और धीतरागी दोनों ही प्रकारके साधु नहीं होते” इसका तात्पर्य यही है कि सरागी

और वीतरागी इन दोनों प्रकारके साधुओंमें तेज पद्म लेश्यायें नहीं होतीं, यह नहीं कि सरागीमें तेज पद्म लेश्या पाई जाती है और वीतरागीमें नहीं पाई जाती क्योंकि नवम और दशम गुण स्थान वाले जीव भी सरागी ही होते हैं परन्तु उनमें तेज यें नहीं होतीं एकमात्र शुक्ल लेश्या ही होती है अतः जैसे तेजो लेश्या और पद्म लेश्यामें सरागी और वीतरागी इन दोनों प्रकारके ही साधुओंका होना निषेध किया है उसी तरह कृष्णादिक लेश्याओमें सरागी वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी इन चारों प्रकारके लोकोके होनेका ही निषेध है । केवल भेद मात्र करनेका निषेध नहीं है । यदि कोई दुराग्रही यह नहीं मानकर सरागी और प्रमादीमें कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंका सद्भाव कहे तो उसे कहना चाहिये कि तुम सरागीमें तेज पद्म लेश्याका होना क्यों नहीं मानते ? यदि वह सरागीमें तेज पद्म लेश्याका होना स्वीकार कर ले तो फिर उसे अष्टम नवम और दशम गुण स्थान वाले साधुओंमें भी तेज और पद्म लेश्याका सद्भाव मानना पड़ेगा क्योंकि ये भी सरागी हैं परन्तु यह बात शास्त्र विरुद्ध है अष्टमादि गुण स्थानोंमें एक मात्र शुक्ल लेश्या ही शास्त्र सम्मत है तेज पद्म लेश्या नहीं । अतः जैसे तेज पद्म लेश्या में सरागी और वीतरागीका भेद करना ही वर्जित नहीं किन्तु सरागी और वीतरागी दोनों प्रकारके साधुओंका होनेका निषेध है उसी तरह कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओं में सरागी और वीतरागी प्रमादी और अप्रमादी इन चार प्रकारके साधुओंका होनेका ही निषेध है केवल इनके भेद मात्रका निषेध नहीं है ।

यदि कोई कहे कि तेजो लेश्या और पद्म लेश्यामें सरागी और वीतरागी दोनों ही प्रकारके साधुओंका निषेध है तो फिर सयमी पुरुषों में तेजो लेश्या और पद्म लेश्या नहीं होनी चाहिये तो इसका उत्तर यह है कि उक्त भगवतीजीके मूल पाठोंमें प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी ये चार प्रकारके संयमी कहे गये हैं उनमें षष्ठ गुण स्थान वाले प्रमादी, सप्तम गुण स्थान वाले अप्रमादी और अष्टमसे दशम गुण स्थान पर्यन्त तक सरागी और एकादशादि गुण स्थान वाले वीतरागी माने गये हैं इस लिये षष्ठ और सप्तम गुण स्थान वाले सयतियोंमें तेज पद्म लेश्याके होनेका निषेध नहीं है क्योंकि यहा सरागी शब्दसे अष्टमादि गुण स्थान वाले सयति ही गृहीत होते हैं षष्ठ और सप्तम गुण स्थान वाले नहीं उनको तो प्रमादी और अप्रमादी कह कर बतलाया है इस लिये षष्ठ और सप्तम गुण स्थान वाले सयतियोंमें तेजो लेश्या और पद्म लेश्याके होनेका निषेध नहीं किया जा सकता । जो लोग कृष्ण नील लेश्या वाले भगवतीजीके पूर्व लिखित पाठ में, कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंमें केवल प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागीक भेद होनेका ही निषेध मानते हैं उनके मतमें तेज पद्म लेश्यामें भी सरागी और वीतरागी

रागीक भेदको ही वर्जित कहना चाहिये परन्तु सरागी साधुके अन्दर तेजो लेश्या और पद्म लेश्याक होनेका नहीं ऐसी दशामे जैसे वे लोग कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें प्रमादी और सरागीका सद्भाव मानते हैं उसी तरह तेजो लेश्या और पद्म लेश्यामें अष्टमादि गुण स्थानवाले सरागियोंको भी क्यों नहीं मान लेते ? अतः जैसे अष्टमादि गुण स्थान वाले संयतियोंमे वे तेजो पद्म लेश्या नहीं मानत उन्नी तरह संयतियोंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्या भी नहीं माननी चाहिये ।

यदि कोई कहे कि कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याआमे संयति मात्रका निषेध करना इष्ट था तो शास्त्रकारने पदलाघवात् "सजया नभाणियञ्चा" यही क्यों नहीं लिख दिया ? ऐसा लिखनेसे संयति मात्रका, कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें इष्ट निषेध हो जाता और पदका भी लाघव होता तो इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकार व्याकरणोंकी तरह पद लाघवके पक्षपाती नहीं थे जहा केवल "पाणाणुकम्पयाए" इतना कह देनेसे ही काम चल सकता था, वहा उन्होंने "पाणाणुकम्पयाए भूयानुकम्पयाए जीवानुकम्पयाए सत्तानुकम्पयाए" इत्यादि चार पदोंका प्रयोग किया है । उसी तरह यहा भी "सजया नभाणियञ्चा" यह नहीं लिखकर "पमत्तापमत्ता सरागवीयगगा नभाणियञ्चा" यह लिखा है अतः इस पाठका टीका विरुद्ध और सम्प्रदाय विरुद्ध अर्थ करके साधुओंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंका स्थापन करना मिथ्या समझना चाहिये ।

[बोल ३]

(प्रश्न)

भ्रम विष्वसनकार पन्नावगा सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

— "इहा पिण कृष्ण लेशी मनुष्यरा तीन भेद कहा है संयति असंयति सयत्ता संयति न्याय संयतिमें पिण कृष्णादिक हुवे"

इसका क्या उत्तर ?

(प्रत्युत्तर)

पन्नावगा सूत्रके मूल पाठका नाम लेकर संयतियोंमें कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंका न्यायन करना मिथ्या है । भगवती सूत्र अ ग है और पन्नावगा सूत्र उथा ग इन लिये भगवती सूत्रके विरुद्ध पन्नावगा सूत्रमें संयतियोंके अन्दर कृष्णादिक तीन अप्रशस्त लेश्याओंका सद्भाव नहीं कहा जा सकता । अ गोंमें फही हुई बातका उपाग

सूत्र समर्थन करते हैं रगडन नहीं करते । जब कि भगवती सूत्रके मूल पाठमें और एक ही टीकामें संयतियोंमें कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंके होनेका निषेध कर दिया है उसके विरुद्ध पन्नावणा सूत्रमें संयतियोंमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंका सद्भाव कैसे कहा जा सकता है ? अब पाठकोंके ज्ञानार्थ पन्नावण सूत्रका वह पाठ लिख कर उसका अर्थ कर दिया जाता है ।

वह पाठ यह है —

“कण्ठलेस्साणं भन्ते ! नेरइया सव्वे समाहारा सम सरीरा सव्वेवपुच्छा ? गोयमा ! जहा ओहिया णवरं णेरइया वेदणाए मायी मिच्छदिट्ठी उववन्नगाय अमायी सम्मदिट्ठी उववन्न गाय भाणिपव्वा सेसंतहेव जहा ओहियाणं असुर कुमारा जाव वाणमंतरा एते जहा ओहिया णवरं मणुस्साणं किरियाहिं विसेसो जाव तत्थणं जेते सम्मदिट्ठी तेतिविहा पन्नत्ता संजया असंजया संजया संजया जहा ओहियाणं”

(पन्नावणासूत्र पद १७)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले नारकी क्या सभी समान आहार वाले और समान शरीर वाले होते हैं ?

(उत्तर) हे गोतम ! जैसा औषिक दण्डकमें कहा गया है वैसा इसमें भी कहना चाहिये सिर्फ इतना विशेष है कि जो मायी मिथ्यादृष्टि मर कर मरकमें उत्पन्न होते हैं वे महात् वेदना वाले होते हैं और जो अमायी सम्यग्दृष्टि उत्पन्न होते हैं वे अल्प वेदना वाले होते हैं शेष सभी पाते औषिक दण्डकके समान समझनी चाहिये । अरु कुमार और घाण वृश्चरोंको भी औषिक दण्डकके समान ही समझनी चाहिये । मनुष्यों में यह विशेष है—सम्यग्दृष्टि मनुष्य त्रिषिध होते हैं— १) संयत (२) असंयत (३) और सयता संयत । शेष सब औषिक दण्डक के समान समझना चाहिये ।

यह इस पाठका अर्थ है ।

इस पाठमें “जहा ओहियाणं” कह कर औषिक दण्डकके समान ही संयति जीवोका भेद कहा है । औषिक दण्डकमें संयतिके चार भेद कहे गए हैं प्रमादी, अमादी, सगगी और वीतरागी । इन चारों प्रकारके संयतियोंको भगवती सूत्रमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें न होना कहा है इसलिये इस पाठमें भी वही बात

समझनी चाहिये । अर्थात् यहाँ भी “जहाँ ओहियाण” कह कर प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी इन चारों प्रकारके साधुओंको कृष्णलेख्यासे अलग किया गया है उनमें कृष्णलेख्याका सद्भाव नहीं कहा है । अन्यथा अप्रमादी और वीतरागीमें भी कृष्णलेख्या मानती पड़ेगी क्योंकि औघिक दण्डके समुच्चय लेख्याके अन्दर सयतिके प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी ये चारों ही भेद कहे गये हैं इनमें यदि इस पाठसे कृष्णलेख्याका सद्भाव माना जाय तो प्रमादी और सरागीकी तरह अप्रमादी और वीतरागीमें भी कृष्णलेख्या सिद्ध होगी परन्तु अप्रमादी और वीतरागीमें कृष्णलेख्याका सद्भाव मानना भ्रमविध्वसनकारको भी इष्ट नहीं है अतः पन्नावणा सूत्र के इस पाठमें भी भगवती सूत्र के पूर्वोक्त पाठकी तरह कृष्णलेख्यामें चारों प्रकारके सयतिको निषेध ही किया है परन्तु सरागी और प्रमादीको रथापन नहीं किया है । इसलिये इस पाठका नाम लेकर साधुओं में कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेख्याओं का स्थापन करना एकान्त भिन्ना है ।

(बोल ४ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २३८ के ऊपर भगवती सूत्र शतक २५ उद्देश ६ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ अठे तीर्थक्रमे लक्ष्म्यपणे कषाय कुशील नियठो क्खो छै तिणसु भगवान्में कषाय कुशील नियठो हुन्तो अने कषाय कुशील नियठे छ लेख्या कही छै” आगे चल कर लिखते हैं “त न्याय भगवान्में छ लेख्या हुवे (अ० पृ० २३८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक २५ उद्देश ६ में कषाय कुशीलमें समुच्चय छ लेख्या कही है परन्तु वहाँ यह निर्णय नहीं किया है कि इन छ लेख्याओंमें कौन कौन द्रव्य रूप हैं और कौन कौन भाव रूप हैं । अब देखना यह है कि कषाय कुशीलमें जो छ लेख्याएँ कही गयी हैं वे द्रव्य रूप हैं या भाव रूप हैं ?

इसका निर्णय भगवती शतक १ उद्देश १ के मूलपाठ और दोकी टीकामें टीकाकारने कर दिया है वहाँ टीकाकारने कहा है कि—“कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेख्या-
भारमें साधुपना नहीं होता इसलिये इन लेख्याओंमें साधुको वर्जित किया है अहाँ कहीं

संयतिओमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याका कथन है वहा द्रव्यलेश्याकी अपेक्षासे समझाना चाहिये भावलेश्याकी अपेक्षासे नहीं ।”

यह टीका मूलपाठके साथ पहले लिखी जा चुकी है टीकाकारकी इस उक्तिसे ओर वहाके मूलपाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कपाय कुशीलमें छ द्रव्यलेश्या कही गई है भाव लेश्या नहीं अतः भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठका नाम लेकर कपाय कुशील में कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओका स्थापन करना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

कपाय कुशील निप्रथम मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता है इसमें क्या प्रमाण है ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें कपाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है वह पाठ यह है—

“कसाय कुशीले पुच्छा गोयमा ! नोपडिसेवए होज्जा एवं नियं-
ठेऽवि चउसेऽवि”

(भग० श० २५ । उ० ६)

अर्थ —

हे भगवन् ! कपाय कुशील दोष का प्रतिसेवी होता है या नहीं ?

(उत्तर) हे गोतम ! कपाय कुशील मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता इसी तरह निप्रथम और स्नातक को भी समझना चाहिये ।

यह उक्त गाथाका अर्थ है ।

इस पाठसे स्नातक और निप्रथमको तरह कपाय कुशीलको दोषका अप्रतिसेवी कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कपाय कुशील निप्रथम कृष्णादिक तीन भाव लेश्याए नहीं होतीं क्यो कि जिसमें कृष्णादि तीन भाव लेश्या होती हैं वह अवश्य ही दोषका सेवन करता है कपाय कुशील दोषका सेवन नहीं करता इसलिये उसमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याए नहीं होतीं अतः कपाय कुशीलमें कृष्णादिक तीन भाव लेश्याओंका स्थापन करना भगवती सूत्रके मूलपाठसे विरुद्ध समझना चाहिये ।

बोल छठा समाप्त

क)
कृष्णलेख्याका क्या लक्षण है और वह सयति पुरुषोंमें क्यों नहीं होती यह सप्र
बनलाइये ?
प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रमें कृष्ण लेख्याका लक्षण जिस प्रकार बतलाया है वह पाठ
यह है—

“पंचासवप्पमत्तो तीहिं अगुत्तो छसु अविरयोप । तीव्यारंभ
परिणयो खुदो सहसिओनरो । निद्व घस परिणामो निस्संसो अजि
इन्दिओ । एय जोग समाजत्तो कण्हलेस्सं तु परिणमे ।”

(उत्तराध्ययन अ० ३४ गाथा ३१ । २२)

टीका)

पञ्चाश्रवा हिमादय तौ प्रमत्त प्रमादवान् पञ्चाश्रव प्रमत्त पाठान्तरत पञ्चा-
श्रव प्रवृत्तो वाज्र स्त्रिमि प्रस्तावान् मनोवाक्कायै रगुप्तोऽनियन्त्रितो मनोगुप्त्यादि रहित
इत्यर्थ तथा पट्सु पृथिवीकायादिषु अविरत अनिष्टतस्तदुपमर्दकत्वादेरितिगम्यते ।
अर्धचाठीजारभोऽपिस्याद्वत्माह तीन्ना उत्कटा स्वरूपतोऽध्यवसायतोवा भारभा सब-
मावद्य व्यापारास्तत्परिणत तत्प्रवृत्त्या तदात्मता गत तथा क्षुद्र सर्वस्यैवा हितैषी का-
र्षण्य युक्तोवा सहसा अपर्या लोच्य गुण दोषान् प्रवतत इति साहसिक चौर्यादि
छदिति योऽर्थ नर उपलक्षणत्वा त्स्त्र्यादिर्वा “निद्व घस” चि अत्यन्त भैहिकामुदिम-
गपायशकाचिक्रलोऽन्यन्त जन्तुवाधानपेशोवापरिणामोऽध्यवसायोवा यस्यसतथा । नृ-
संसो निस्तृ शो जीवान् विहिसन् मनागपि नगक्रे नि संसोवा पर प्रशसा रहित
अतिनेन्द्रिय अनिष्टीतेन्द्रिय । अन्येतु पूर्व पूर्वसूत्रोत्तरार्थस्थाने इदमभि धीयते तच्चे
हेति उपसहारमाह एतेच अनतरोक्ता योगाश्च मनोवाक्काय व्यापारा एतद्योग पञ्चाश्र
प्रमत्तत्वादय स्तौ समिति भृगु माडिति अभिध्याप्त्या युक्त अन्वित एतद्योग समानुष
कृष्णलेख्यातु अवधारणे कृष्ण लेख्या मेवपरिणमेत् तद् द्रव्यमाचित्येन तथाविर द्रव्य
संपर्कात् स्फटिक वत्तदु पर जनात् वद्र पतामजेत् वरुदि “कृष्णादि द्रव्यमाचित्येन
परिणामोय आत्मन स्फटिकस्येव तत्रार्थ लेख्या शब्द प्रयुज्यते”

अर्थात् हिंसा आदि पाच आत्मवर्ति प्रमत्त यागी मग्न रहने बला या प्रवृत्त
बला अनएव मन वचन और कायामे अगुन अर्थात् मनोऽग्नि आदि तीन गुनि
रहित तथा पृथिवी आदि छ कायके जीवोंके उपमद से नहीं हटा हुआ म्यत्त्व

अध्यवसायसे तीव्र यानी उत्कट सावद्य व्यापारमे प्रवृत्त होकर तत्स्वरूपताको प्राप्त, क्षुद्र सभीका अहित करने वाला अथवा कृपणतासे युक्त विना विचारे चोरी आदि बुरे कामो मे झटपट प्रवृत्त हो जाने वाला इस लोक और परलोकके विगडनेकी थोड़ी भी शंका नहीं रखने वाला प्राणियोकी हिंसादि रूप बाधासे अत्यन्त निरपेक्ष परिणाम वाला, जीवहिंसा करनेमे थोड़ी भी शंका नहीं रखने वाला अथवा दूसरेकी प्रशंसासे रहित अजितेन्द्रिय और पूर्वोक्त पचाश्रम प्रमत्तत्व आदि योगोंसे अत्यन्त युक्त पुरुष कृष्ण लेश्याके परिणामी होते हैं जैसे कृगादि द्रव्यके संसर्गसे स्फटिक मणि तद्रूप (कृष्ण रूप) हो जाता है उसी तरह उक्त जीव भी कृग लेश्याका परिणामी होता है कहा भी है कृष्णादि द्रव्यके संसर्गसे स्फटिककी तरह जो आत्माका कृगादिरूप परिणाम होता है उसीमे लेश्या शब्दका प्रयोग होता है । यह उक्त गाथाओंका टीकानुसार अर्थ है ।

इन गाथाओमे जो कृष्ण लेश्याके लक्षण कहे गये हैं उनमेंसे एक भी साधुओंमें नहीं पाया जाता । कृष्ण लेशी जीव, हिंसा आदि पाच आस्रवोंमें प्रमत्त (मग्न) या प्रवृत्त रहने वाला कहा गया है परन्तु साधु आस्रवोंमे मग्न नहीं रहता किन्तु वह पाच आस्रवका त्यागी होता है इस लिये साधुओमे कृग लेश्याका लक्षण नहीं घटता । यदि कोई कहे कि “प्रमादी साधु आरंभी कहा गया है और आरम्भ करना आस्रवका सेवन करना है इस लिये यह लक्षण प्रमादी साधुमें घटता है” तो उसे कहना चाहिये कि इस गाथामे सामान्य आरम्भी पुरुषका ग्रहण नहीं होता किन्तु विशिष्ट रूपसे जो हिंसा आदि आस्रवोंमें प्रवृत्त रहता है उसीका ग्रहण है अतएव इस गाथामें कहा है कि तीव्रारम्भ परिणयो” इसका अर्थ टीकाकारने यह किया है—

“अयच अतीव्रार भोपि स्यादत आह तीव्रा उत्कटा स्वरूपतोऽध्यवसायतोबा
आरम्भा सर्वसावद्य व्यापारास्तत्परिणत. तत्प्रवृत्त्या तदात्मतागत.”

अर्थात् सामान्य आरम्भ करने वाला पुरुष भी पाच आस्रवोंमे प्रवृत्त, और मन वचन कायमे अग्रगण्य तथा छ कायके उपमर्दसे अविरत कहा जा सकता है परन्तु उसका ग्रहण वर्जित करनेके लिये इस गाथामें “तीव्रारम्भ परिणयो” ऐसा पद दिया गया है इसलिये जिसका आरम्भ, स्वरूप और अध्यवसाय इन दोनोंसे उत्कट है और जो हमेशा पाच आस्रवोंमे प्रवृत्त होकर तत्स्वरूप हो गया है उसीका इस गाथामे ग्रहण है और वही कृष्णलेश्याका परिणामी है । जो कभी कभी सामान्य रूपसे मंद आरम्भ करता है वह कृष्णलेश्या का परिणामी नहीं है । पष्ठ गुण स्थान वाला प्रमादी साधु यदा कदाचित् प्रमादवश आरम्भ करता है परन्तु उसका आरम्भ तीव्र नहीं होता अतः वह कृष्णलेश्या

का परिणामी नहीं है। जो मनो गुप्ति आदि तीन गुप्तियोंसे रहित है उसे यहा कृष्ण-
लेख्याका परिणामी कहा है साधु मनोगुप्ति आदिसे युक्त होता है इसलिये वह कृष्णलेख्या
का परिणामी नहीं हो सकता ।

अजितेन्द्रिय और चोरी आदिमें प्रवृत्त रहना यहा कृष्णलेख्याका लक्षण कहा है
परन्तु साधु जितेन्द्रिय और चोरी आदि दुष्कर्मसे निवृत्त रहते हैं अत इस पाठमें कहा
हुआ कृष्णलेख्याका लक्षण साधुमें एक भी नहीं मिलना अत सयति पुरुषोंमें और विशेष
कर कपाय कुशील में कृष्णलेख्या का सम्भाव कायम करना अज्ञानका परिणाम सम-
झना चाहिये ।

[बोल ७ वां समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २३८ पर लिखने हैं—

“उत्तराध्ययन अध्ययन ३४ गाथा २१ पञ्चासवप्पमत्ता इतिवचनात् पञ्चास्रवमें
प्रवृत्ते ते कृष्णलेख्याना लक्षण कहा अने भगवान् शीतल तेजो लेख्या लब्धिमोहो विहा
कृच्छ्री पाच क्रिया कह्यो ते माटे ए कृष्णलेख्याना अंश जाणवो”

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन अ० ३४ गाथा २१ में पाच आस्रवमें प्रवृत्त रहना कृष्णलेख्या का
लक्षण कहा है परन्तु जो पुरुष सामान्य रूपसे कमी कभी प्रमाद वश मद आरम्भ करता
वह भी पाच आस्रवमें प्रवृत्त कहा जा सकता है अत उसमें भी कृष्णलेख्याका लक्षण न
छा जाय इसलिये उक्त गाथामें “तीव्रारम परिणयो” यह कृष्णलेख्या पुरुषका विशेषग
गाया है। इस विशेषगको लगा कर जो पुरुष पाच आस्रवमें तीव्र रूपसे प्रवृत्त रहता
जो तीव्र आरम्भ करता है उसीको कृष्णलेख्याका परिणामी कहा है जो तीव्र आरम्भ
ही करता उसको नहीं अतएव इस विशेषग का सार्थक्य बतलाने हुए टीकाकार ने
कहा है कि—“अयचा तीव्रारमभोऽपिस्याद्वत्ताह”

अर्थात् पाच आस्रवमें प्रवृत्त होना, मन बचन कायसे गुप्त नहीं रहना, और
येही काय आदिका लपमद करना, ये सब सामान्य आरम्भ करने वाले पुरुषमें भी हो
सकते हैं परन्तु सामान्य आरम्भ करने वाले कृष्णलेख्याके परिणामी नहीं होने इसलिये
‘तीव्रारम परिणयो’ यह कृष्णलेख्याका विशेषग लगाया है। इसलिये जो कृष्णलेख्याका
आरम्भ करता है वही कृष्णलेख्याका परिणामी है सामान्य आरम्भ करनेवाला नहीं।

जो पुरुष सामान्य आरम्भ करने वाला है वह चाहे गृहस्थ हो तो भी उसमें कृष्णलेश्या का परिणाम नहीं कहा जा सकता फिर साधु तो गृहस्थकी अपेक्षा बहुत ही शुद्ध परिणामी होता है उसमें भाव रूप कृष्णलेश्याका सद्भाव तो सुतरा असम्भव है ।

इस गाथामे बताये हुए कृष्णलेश्याके लक्षण जब कि सामान्य साधुओंमें भी नहीं पाये जाते तब फिर भगवान् महावीर स्वामीके विषयमें तो कहना ही क्या है । वह तो अनुत्तर चारित्र्यी मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाने वाले कषाय कुशील थे उनमें भाव रूप कृष्णलेश्याका सद्भाव कैसे हो सकता है ?

अत उत्तराध्ययन सूत्रके इस गाथाका पहिला चरण लिख कर भगवान् महावीर स्वामी मे कृष्णलेश्या का लक्षण धटाना मूर्ख जनताको धोखा देना है ।

इस गाथाके बाद नीललेश्याका लक्षण बतानेके लिये उत्तराध्ययन सूत्रमें यह गाथा कही है —

“इस्सा अमरिस अतवो अविज्ज माया अहीरिया”

अर्थात् ईर्ष्या यानी दृम्भेके गुणको नहीं सहना, अमर्ष यानी अत्यन्त आग्रह करना, तप नहीं करना, कुशास्त्ररूप अविद्या, माया करना, और निर्लज्जता, ये नीललेश्या के लक्षण हैं ।

इस गाथामे माया करना नील लेश्याका लक्षण कहा है और दशमगुण स्थान पर्यन्त माया होती है । भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठमें अप्रमादी साधुको माया प्रत्यया क्रिया कही गई है वह पाठ यह है—

“तत्थणं जेतो अप्पमत्त संजया तेसिणं एगा माया वत्तिया कि रिया कज्जड’ ।

अर्थात् अप्रमादी साधुमे एक माया प्रत्यया क्रिया होती है ।

यहा अप्रमादी साधुमें माया प्रत्यया क्रियाका होना लिखा है और माया करना नील लेश्याका लक्षण कहा है फिर अप्रमादी साधुमे जीतमलज्जीके मतानुयायी नीललेश्या क्यों नहीं मानते ? यदि कहो कि “उत्तराध्ययन सूत्रकी उक्त गाथामें विशिष्ट मायाका ग्रहण होता है सामान्य का नहीं इसलिये विशिष्ट माया करना नील लेश्याका लक्षण है सामान्य माया करना नहीं । अप्रमादी साधुमें विशिष्ट माया नहीं होती इसलिये उसमें नीललेश्या नहीं है” तो उसी तरह विशिष्ट रूपसे आरम्भ करना कृष्णलेश्याका लक्षण है सामान्य आरम्भ करना नहीं इसलिये सत्यतियोंमें भाव रूप कृष्ण लेश्या नहीं होती क्यों कि वे विशिष्ट रूपसे आरम्भ नहीं करते हैं ।

यदि कोई सामान्य आरम्भको कृष्णलेइयाका लक्षण मान कर सयतियोंमें कृष्ण-
लेइयाका स्थापन कर तो फिर सामान्य मायाको नील लेइयाका लक्षण मान कर अप-
रही साधुमें नील लेइया भी उसे माननी पड़ेगी परन्तु यदि सामान्य माया नील लेइया
का लक्षण नहीं है तो उसी तरह सामान्य आरम्भ करना भी कृष्ण लेइया का लक्षण
नहीं है अतः साधुओंमें भाव रूप कृष्ण लेइया का स्थापन करना अज्ञान मूलक सम-
झना चाहिये ।

शीतल लेइयाके द्वारा जो भगवान् ने गोशालक की प्रागरक्षा की थी उससे भग-
वान् को पाच क्रिया लगानेकी कल्पना करना भी मिथ्या है क्योंकि शीतल लेइयाके प्रयोग
करनेमें उत्कृष्ट पाच क्रिया नहीं होती यह विस्तार के साथ लब्धि प्रकरणमें कहा जा
सुका है अतः लब्धि का नाम लेकर भगवान् में कृष्ण लेइयाका अंश कायम करना एकांत
मिथ्या है ।

यदि कोई कहे कि “कृष्ण लेइया हुये बिना लब्धिका प्रयोग नहीं किया जाता इस
लिये भगवान् में कृष्ण लेइया अवश्य थी” तो उसे कहना चाहिये कि पुत्रक निग्रन्थ,
जिस समय पुलाक लब्धिका प्रयोग करता है उसी समय उसमें पुलाक नियण्ठा माना
गया है । जीनमलजीने भी भिक्खुयश रसायनमें लिखा है कि—

“पुलाक निर्यथो पीठानए लब्धिफोड्या कथो जिण जाणए । स्थिति अन्त-
र्धूरं धायर लब्धिनी स्थितितो अधिकायए ।

विरह उत्कृष्ट असंखेज्ज वामए पठे तो अवश्य प्रकटे विमासण । यामे चारित्र
गुण स्त्रीकारए तिणसुं वन्दन जोग विचारए”

परन्तु पुलाक निग्रन्थमें तीन विशुद्ध भाव लेइया ही कही गई हैं कृष्णलेइया नहीं
या वरुण और प्रतिसेवना कुशील मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाते हैं परन्तु
नमें लेइया विशुद्ध ही कही गयी हैं इसलिये कृष्णलेइयाके हुए बिना लब्धिका प्रयोग
ही होता यह कथन अज्ञान मूलक है ।

[बोल ८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

पुलाक, वरुण और प्रतिसेवना कुशीलमें तीन विशुद्ध भावलेइया ही होती हैं इस
कथना प्रमाण है ?

(परुषक)

भगवती सूत्र शतक २५ उद्देशा ६ का मूल पाठ इसमें प्रमाण है । वह पाठ यह है —

“पुलाएणं भन्ते ! किं सलेस्से होज्जा अलेस्से होज्जा ? गो-
यमा ! सलेस्से होज्जा णो अलेस्से होज्जा । जइ सलेस्से होज्जा
सेणं भन्ते ! कतिमुलेस्सासु होज्जा ? गोयमा ! तीसु विसुद्ध लेस्सासु
होज्जा तंजहा—तेउलेस्साए पम्हलेस्साए सुक्कलोस्साए, एवं वउ-
सेवि एवं पणिसेवणा कुसोलेवि”

(भगवती श० २५ उ० ६)

वर्था —

(प्रश्न) हे भगवन् ! पुलाक निग्रन्थ, सलेशी होता है या अलेशी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! पुलाक निग्रन्थ सलेशी होता है अलेशी नहीं होता ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! यदि सलेशी होता है तो यह कितनी लेश्याओंमें होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! तीन विशुद्ध लेश्याओं में होता है तेजो लेश्या में, पद्म लेश्या में,
और शुक्ल लेश्या में । इसी तरह वक्रुश और प्रतिसेवनाकुशील तीन विशुद्ध लेश्याओं में भी
होते हैं ।

यहा पुलाक वक्रुश और प्रतिसेवना कुशीलमें तीन विशुद्ध भाव लेश्याये कही
गयी हैं कृष्णादि ऋप्रशस्त भाव लेश्या नहीं तथापि पुलाक निग्रन्थ लब्धिका प्रयोग क
रता है और वक्रुश तथा प्रतिसेवना कुशील मूल गुण और उत्तर गुण मे दोष लगाते हैं
इसलिये कृष्ण लेश्या के विना लब्धिका प्रयोग नहीं होता यह कहना शास्त्र नहीं जानने
का फल है ।

(प्रेरक)

पुलाक वक्रुश और प्रतिसेवनाकुशील दोषके प्रतिसेवी होते हैं इसमें क्या
प्रमाण है ?

पुलाक वक्रुश और प्रतिसेवना कुशील दोषके प्रतिसेवी होते हैं इस विषयमे भा
वती शतक २५ उद्देशा ६ का मूलपाठ प्रमाण है वह पाठ यह है —

“पुलाएणं भन्ते ! किं पडिसेवएहोज्जा अपडिसेवएहोज्जा ?
पडिसेवए होज्जा नो अपडिसेवए होज्जा । जइपडिसेवए होज्जा किं
मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए होज्जा ? गोयमा !
मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए होज्जा । मूल गुण

पडिसेवमाणे पञ्चण्हं अणासवाणं अण्णयर पडिसेवएज्जा उत्तर गुण
 पडिसेवमाणे दसविहस्स पञ्चक्खाणस्स अण्णयरं पडिसेवेज्जा । वउ-
 सेणं पुच्छा ? पडिसेवए होज्जाणो अपडिसेवए होज्जा । जइ पडिसे-
 वए होज्जा किं मूल गुण पडिसेवए होज्जा उत्तर गुण पडिसेवए
 होज्जा । गोयमा ! नो मूलगुण पडिसेवए होज्जा उत्तरगुण पडि-
 सेवए होज्जा उत्तरगुण पडिसेवमाणे दसविहस्स पञ्चक्खाणस्स
 अण्णयरं पडिसेवेज्जा । पडिसेवणा कुशीलं जहा पुलाए”

(भग० श० २५ उ० ६)

अर्थ—

हे भगवन् ! पुलाक निग्रथ प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है ।

(उत्तर) हे गोतम ! प्रतिसेवी होता है अप्रतिसेवी नहीं होता ।

(प्रश्न) यदि प्रतिसेवी होता है तो क्या वह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! मूल गुण और उत्तर गुण दोनोंका ही प्रतिसेवी होता है जब वह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है तब पञ्च महाप्रतोंमेंसे किसी एककी विराधना करता है और जब उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है तब दश विध प्रत्याग्यानोंमेंसे किसी एककी विराधना करता है ।

(प्रश्न) हे भगवन् ! वज्जस निग्रथ प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! प्रतिसेवी होता है अप्रतिसेवी नहीं होता ?

(प्रश्न) हे भगवन् ! वह मूल गुणका प्रतिसेवी होता है या उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! वज्जस निग्रथ मूल गुण का नहीं उत्तर गुण का प्रतिसेवी होता है । जब वह उत्तर गुणका प्रतिसेवी होता है तब दशविध प्रत्याग्यानोंमेंसे किसी एककी विराधना करता है । प्रतिसेवना कुशील, पुलाककी तरह मूल गुण और उत्तर गुण दोनोंका प्रतिसेवी होता है ।

यहा पुलाक और प्रतिसेवना कुशीलको मूलगुण और उत्तर गुण दोनोंका प्रतिसेवी कहा है तथा वज्जसको उत्तर गुणका प्रतिसेवी कहा है तथापि इनमें तीन विग्रह मात्र लेश्या ही पाई जाती हैं इस लिये कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्याके विना दोष सेवा नहीं होता यह कहना अज्ञानका परिणाम है ।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वसनकार भ्रम विध्वसन पृष्ठ २१२ पर भगवती शतक २५ उद्देश ६ का मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“कषाय कुशील छाडि ए छ ठीकाने आवतो कह्यो । कषाय कुशीलने दोष लागे इज नहीं तो सयमा सयममे किम आवे एतो साधुपणो भागि श्रावकथयो तेतो मोंटो दोष छै । एतो साम्प्रत दोष लागे तिवारे साधुरो श्रावक हुवे छै । दोष लागा विना तो साधुरो श्रावक हुवे नहीं । जे कषाय नियठे तो साधु हुन्तो पछे साधु पणो पल्यो नहीं तिवारे श्रावकरा घत आदरी श्रावक थयो जे साधुरो श्रावक थयो यह निश्चय दोष लायो”

इसका क्या समाधान ?

(भ्र० पृ० २१२)

(प्ररूपक)

जैसे कषाय कुशील, कषाय कुशीलपनाको छोडकर संयमासयममे जाता है उसी तरह निप्रथ भी निप्रथपनाको छोड कर असयममे जाता है । यदि कषाय कुशील, कषाय कुशीलपना छोडकर सयमा संयममें जानेसे दोषका प्रतिसेवी होता है तो फिर निप्रथ भी निप्रथपना छोड कर असयममें जानेसे दोषका प्रतिसेवी क्यों नहीं होता । भ्रमविध्वसनकार भी निप्रथको दोषका प्रतिसेवी नहीं मानते ऐसी दृशामे कषाय कुशीलको प्रतिसेवी मानना उनका अयुक्त है ।

वास्तवमे दोषका प्रतिसेवी वही कहा गया है जो मूलगुण और उत्तर गुणमे दोष लगाता है । जो मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाता है वह दोषका प्रतिसेवी नहीं कहा गया है । कषाय कुशील और निप्रथ मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष नहीं लगाते हैं इस लिये वे दोषके प्रतिसेवी नहीं हैं । यदि गिरनेसे दोषका प्रतिसेवी माना जाय तो फिर निप्रथको भी प्रतिसेवी ही मानना पड़ेगा क्योंकि निप्रथ भी असंयममें आता है अत गिरनेसे कोई दोषका प्रतिसेवी नहीं माना जाता किन्तु मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगानेसे माना जाता है अत जैसे निप्रथ गिरकर असयममें जानेपर भी दोषका प्रतिसेवी नहीं है उसी तरह कषाय कुशील गिर कर सयमा सयममे जाने पर भी दोषका प्रतिसेवी नहीं है ।

यदि कोई नहे कि कषाय कुशील शास्त्रमें विराधकभी कहा गया है फिर वह दोष का प्रतिसेवी क्यों नहीं ? तो इसका उत्तर यह है कि कषाय कुशीलकी तरह निप्रथ भी विराधक कहा गया है फिर निप्रथको भी दोषका प्रतिसेवी क्यों नहीं मानते ?

भगवती शतक २५ उद्देश ६ में निप्रथको विराधक कहा है वह पाठ यह है —

“कषाय कुशीले पुच्छा ? गोयमा ! अविराहणं पडुच्च इन्द्र-
ताएवा उववज्जेज्जा जाव अहमिन्दताए उववज्जेज्जा । विराहणं
पडुच्च अन्नपरेसु उववज्जेज्जा नियंठे पुच्छा ? गोयमा ! अविराहणं
पडुच्च षोइन्दताए उववज्जेज्जा जावणो लोम पालताए उववज्जेज्जा
अहमिन्दताए उववज्जेज्जा, विराहणं पडुच्च अण्णघरेसु उववज्जे-
ज्जा”

(भगवती शतक २५ उ० ६)

प्रश्न—

हे भगवन् ! कषाय कुशीलके विषयमें प्रश्न है ?

(उत्तर) हे गोतम ! अविराधक कषाय कुशील इन्द्रसे लेकर घायत् अहमिन्द्रमें
लम्ब होता है और विराधक कषाय कुशील भुवनपत्यादिकोंमें जाता है ।

(प्रश्न) निग्रथके विषयमें प्रश्न है ?

(उत्तर) अविराधक निग्रथ इन्द्रादिकोंमें तथा लोकपालादिकोंमें उत्पन्न गर्हीं होता
है और विराधक निग्रथ भुवनपत्यादिकोंमें जाता है ।

यहां कषाय कुशीलकी तरह निग्रथको भी विराधक कहा है अतः विराधक दोनो
यों कषाय कुशील दोषका प्रतिसेवी हो तो फिर निग्रथको भी दोषका प्रतिसेवी कहना
होगा क्योंकि इस पाठमें निग्रथको भी विराधक कहा है । इस लिये जैसे विराधक दो-
नो भी निग्रथ दोषका प्रतिसेवी नहीं होता वसी तरह कषाय कुशील भी दोषका प्रति-
सेवी नहीं होता । अतः विराधक तथा विराधक नाम लेकर कषाय कुशीलको दोषका प्रति-
सेवी बनाना अज्ञान है ।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विव्वंसनकार भ्रम विव्वंसन पृष्ठ २१० पर भाष्यद्वारा गुणका नाम उक्त
लिखने हैं —

“अथ इहा विग छ दृश्या कटी । जो अणुभ दृश्यांती तर्का मो ए पाद वधुं
करो । तथा पदिकमामि चन्द्रिं द्राणेति अट्टीं द्राणेणं अट्टीं द्राणेणं भाषणेणं द्राणेणं
सुक्केणं द्राणेणं” इहा भाषुमें चार ध्यात करण । प्रिय धामं द्रुगामा मो निग कृष्ण
नील, कापोत दृश्या विग धार”
(२१० पृ० ३३५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुओंमें कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव देश्याका स्थापन करना और साधुमें रूद्रध्यान बतलाना अयुक्त है । रूद्रध्यान वालेकी शास्त्रमें नरक गति कही है और हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेके लिये दृढ निश्चय करनेका नाम रूद्रध्यान है । ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें लिखा है कि—

“ध्यान दृढोऽध्यवसाय । हिंसाद्यति क्रौर्यानुगत रुद्रम्”

अर्थात् हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेका जो दृढ निश्चय है वह रूद्रध्यान है । यह चतुर्विध होता है (१) हिंसानुबन्धी (२) मृपानुबन्धी (३) स्तेनानुबन्धी (४) संरक्षणानुबन्धी ।

ये चारो प्रकारके ध्यान अति क्रूर कर्मियोंके होते हैं साधुके नहीं होते क्योंकि साधु अति क्रूर कर्म नहीं है ।

आवश्यक सूत्रमें ‘ पडिकमामि चउर्हिं क्षार्णोर्हिं’ यह पाठ आया है इससे साधुओं में रूद्रध्यान नहीं सिद्ध हो सकता क्योंकि आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यानमें अविश्वास होनेसे जो साधुको अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये उक्त पाठका उच्चारण करके साधु प्रतिक्रमण करता है इन चारों ध्यानोके साधुमें होनेसे नहीं अतएव इस पाठका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है—

“प्रतिक्रमामि चतुर्भिर्ध्यानैः कण भूतै रश्रद्धेयादिना प्रकारेण योऽतिचार कृतः”

अर्थात् शास्त्रोक्त चार ध्यानोमें अविश्वास होनेसे जो अतिचार किया है उससे मैं निवृत्त होता हू यह साधु प्रतिज्ञा करता है ।

यहा टीकाकारने शास्त्रोक्त चार ध्यानोमें अविश्वास रखनेसे होने वाले अतिचारकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमण करना कहा है इन ध्यानोके साधुओंमें होनेसे नहीं । अत आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुमें रूद्रध्यानका स्थापन करना मिथ्या है । जिस प्रकार साधुमें रूद्रध्यान नहीं होता उसी तरह उसमें कृष्णादि अप्रशस्त भाव देश्या भी नहीं होती तथापि यदि कोई दुःखप्रदी प्रतिक्रमण सूत्रकी टीकाको न मान कर साधुमें रौद्र ध्यानका स्थापन करे तो उसे कहना चाहिये कि शास्त्रमें प्रमादी साधुको ही प्रतिक्रमण करनेकी आवश्यकता बतलाई है और प्रतिक्रमण सूत्रमें रूद्र ध्यानकी तरह शुक्ल ध्यानका भी प्रतिक्रमण कहा है फिर तुम प्रमादी साधुमें शुक्ल ध्यानका सद्भाव क्या नहीं मानते ? अत जैसे प्रमादी साधुमें शुक्ल ध्यान न होने पर भी उसमें होनेसे जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये प्रमादी साधु प्रतिक्रमण

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुओंमें कृत्वादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याका स्थापन करना और साधुमें द्रुध्यान बतलाना अयुक्त है । रुद्रध्यान वालेकी शास्त्रमे नरक गति कही है और हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेके लिये दृढ निश्चय करनेका नाम रुद्रध्यान है । ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें लिखा है कि—

“ध्यानं दृढोऽध्यवसाय । हिंसाद्यति क्रौर्यानुगत रुद्रम्”

अर्थात् हिंसा आदि अति क्रूर कर्मोंके आचरण करनेका जो दृढ निश्चय है वह रुद्रध्यान है । यह चतुर्विध होता है (१) हिंसानुबन्धी (२) मृषानुबन्धी (३) स्तेनानुबन्धी (४) संरक्षणानुबन्धी ।

ये चारो प्रकारके ध्यान अति क्रूर कर्मियोंके होते हैं साधुके नहीं होते क्योंकि साधु अति क्रूर कर्मों नहीं है ।

आवश्यक सूत्रमें ‘ पठिकामामि चउर्हि क्षाणोर्हि’ यह पाठ आया है इससे में रुद्रध्यान नहीं सिद्ध हो सकना क्योंकि आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यानमें श्वास होनेसे जो साधुको अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये उक्त रण करके साधु प्रतिक्रमण करता है इन चारो ध्यानोंके साधुमें होनेसे नहीं पाठका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकारने लिखा है—

“प्रतिक्रमामि चतुर्भिर्ध्यानैः करण भूतै रश्चद्वेयादिना मन्त्रैः”

अर्थात् शास्त्रोक्त चार ध्यानोंमें अविश्वास होनेसे जो में निवृत्त होता है यह साधु प्रतिज्ञा करता है ।

यह टीकाकारने शास्त्रोक्त चार ध्यानोंमें अविश्वास चारकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमण करना कहा है इन ध्यानोंके अतः आवश्यक सूत्रका नाम लेकर साधुमें रुद्रध्यानका प्रकार साधुमें रुद्रध्यान नहीं होता उसी तरह उसमे नहीं होती तथापि यदि कोई दुरामही प्रतिक्रमण सूत्रकी रौद्र ध्यानका स्थापन करे तो उसे कहना चाहिये कि क्रमण करनेकी आवश्यकता बतलाई है और प्रतिक्रमण ध्यानका भी प्रतिक्रमण कहा है फिर तुम प्रमादी साधुमें नहीं मानते ? अतः जैसे प्रमादी साधुमें शुक्ल ध्यान न होनेसे जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये मन्त्रैः

तब रुद्रध्यानमें अविश्वास होनेके कारण जो अतिचार आता है उसकी निवृत्तिके लिये प्रतिक्रमण करता है रुद्रध्यानके साधुमें होनेसे नहीं ।

प्रतिक्रमण सुप्तमें जैसे चार ध्यानोंके प्रतिक्रमणके विषयमें पाठ आया है उन्ही तरह मिथ्या दर्शन शल्य के प्रतिहमग के विषय में भी पाठ आया है । वह पाठ यह है—

“पडिक्रमामि तीर्हि सल्लेहि मायासल्लेणं नीयाणसल्लेणं मिच्छा-
दसण सल्लेणं”

अर्थ —

साधु कहता है कि मैं माया शल्य, निगान शल्य और मिथ्या दर्शन शल्य इन तीनोंसे निवृत्त होता हूँ ।

यह इस पाठका अर्थ है ।

यदा साधुको मिथ्यादर्शन शल्यसे भी प्रतिक्रमण करना कहा है परन्तु साधुमें मिथ्या दर्शन शल्यका सद्भाव नहीं है उसी तरह रुद्र ध्यान भी साधुमें नहीं होता तथापि उसमें अविश्वास होनेके कारण प्रतिक्रमण करना कहा है । यदि साधुमें रुद्र ध्यान होनेसे वह प्रतिक्रमण करता है तो फिर साधुमें मिथ्या दर्शन शल्य होने से उसका प्रतिक्रमण करना मानना चाहिये । परन्तु साधुमें मिथ्यादर्शन नहीं होता उसी तरह उसमें रुद्र ध्यान भी नहीं होता, किन्तु उनमें अविश्वास होनेके कारण साधु प्रतिक्रमण करता है ।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २४० पर पन्तावणा सूत्र पद १७ का मूलपाठ लेख कर उसकी मलय गिरिकी टीकाकी सार्थी देकर साधुओंमें धृष्णादिक तीन अप्र-
स्ति भाव लेख्याका स्थापन करते हैं । (भ्र० पृ० २४० व० सू० १७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

मलय गिरि टीकामें मन पर्यवसानियोंमें धृष्णलेख्या बतलाई गयी है परन्तु वह टीका भगवती शतक १ उद्देश २ के मूलपाठ और उसकी टीकासे विरुद्ध है अतः वह प्रमाण नहीं मानी जा सकती है । भगवती शतक १ उद्देश २ का मूलपाठ और उसकी

टीका पहले लिख दी गयी है । वहा साफ साफ लिखा है कि—प्रमादी अप्रमादी सरागी और वीतरागी ये चारो प्रकारके संयति कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाव लेश्यामे नहीं होते । टीकाकारने कहा है कि—

“कृष्णादिपुहि अप्रशस्त भाव लेश्यासु संयतत्व नास्ति”

अर्थात् कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयम नहीं होता । अतः कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें संयम मानना उक्त टीका और भगवती शतक १ उद्देशा २ के मूलपाठसे विरुद्ध है ।

यह स्मरण रखनेकी बात है कि कोई भी टीका स्वतः प्रमाण नहीं होती । टीका की प्रमाणता मूलपाठके आधीन है अतः जो टीका मूल पाठसे प्रतिकूल है वह कदापि प्रमाण नहीं है । मलयगिरि टीका भगवतीके उक्त मूलपाठ और उसकी प्राचीन टीकासे विरुद्ध है इसलिये वह प्रमाण नहीं मानी जा सकती ।

भ्रमविध्वंसनकारने पन्नावणा सूत्रका जो मूलपाठ लिखा है उसमें भी यह नहीं कहा है कि मन पर्यव ज्ञानियोंमें भाव कृष्ण लेश्या पाई जाती है वहा सामान्य रूपसे कृष्ण लेश्याका होना लिखा है अतः वह कृष्ण लेश्या द्रव्यरूप है, भाव रूप नहीं क्योंकि भगवतीके मूलपाठमें साफ साफ संयतियोंमें कृष्णादि तीन भाव लेश्याओंका निषेध किया है उससे विरुद्ध पन्नावणा सूत्रमें संयति पुरुषोंमें भाव कृष्ण लेश्याका स्थापन कैसे किया जा सकता है ? भगवती सूत्र अङ्ग है और पन्नावणा उपाग है । अङ्गमें कही हुई बात का उपाङ्ग सूत्रमें समर्थन किया जाता है खण्डन नहीं किया जाता । अतः पन्नावणा सूत्र की साक्षी से संयतियों में भाव कृष्ण लेश्या का स्थापन करना अज्ञान मूलक है ।

(बोल १२ वां समाप्त)

लेश्या प्रकरणका सार यह है—

कृष्णादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें साधुता नहीं होती । तेज पद्म और शुक्ल रूप भाव लेश्याओंमें ही साधुता होती है । इन विशुद्ध भाव लेश्याओंसे युक्त जो साधु, सधादिकी रक्षाके लिये वैक्रिय लब्धिका प्रयोग करता है उसे शास्त्रकारने भावि-तात्मा अनगार कहा है ।

भगवती शतक ३ उद्देशा ५ में मूलपाठ आया है—

“सेजहा नामए केइ पुरिसे असिचम्म पायं गाहाए गच्छजा
एवामेव अणगारेवि भावियप्पा असिचम्मपायंहत्थकिवगएणं

अप्याणेणं उद्धं वेहासं उप्पएज्जा ? हुंता ! उप्पएज्जा”

(भ० श० ३ उ० ५)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! जैसे कोई पुरुष खड्ग और चर्मको धारण करके चलता है उसी तरह भावितात्मा अनगार संघ आदिका कार्याक लिये अस्ति चर्मको धारण करके ऊपर आकाशमें चल सकता है ?

(उत्तर) हां ! गोतम ! चल सकता है ।

यह उपर्युक्त पाठका मूलार्थ है ।

इस पाठमें सघ सादिका कार्याक लिये अस्ति और चर्मको धारण करके ऊपर आकाशमें चलने वाले साधुको भावितात्मा अनगार कहा है इससे सिद्ध होता है कि मूल गुण और उत्तर गुणमें दोष लगाने पर भी साधुओंमें सचमके श्रेष्ठ गुण मौजूद रहते हैं इसलिये उनमें विशुद्ध भाव लेश्या ही होती हैं अप्रशस्त भाव लेश्या नहीं होती अन्यथा अस्ति चर्म धारी होकर आकाशमें चलने वाले साधुको इस पाठमें भावितात्मा नहीं कहते । जिसमें शुद्ध भाव लेश्याए होती हैं वही भावितात्मा हो सकता है अशुद्ध भाव लेश्या वाला नहीं अतः साधुओं में अप्रशस्त भाव लेश्याओं का स्थापन करना मिथ्या है ।

जीतमलजीने भिक्खुयश रसायन नामक ग्रन्थमें लिखा है कि—

“मूलगुणने उत्तर गुण माहिए दोष लगाने ते दुस दाये पडिसेवणा कुशील पिछाणए । जघन्य दो सौ फोडते जाणए नहीं विरह ए थी ओठा नहीं ए । एपिण छट्ठे गुणठाणे कहिवाये यामे चारिअ गुण स्वीकार ए । तिणसू वन्दवा जोग विचार ए ।”

इन पद्यों में जीतमलजी ने कहा है कि प्रतिसेवना कुशील यद्यपि मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगाना है तथापि उसमें छट्ठा गुण स्थान और चारित्रिके श्रेष्ठ गुण मौजूद हैं अतः वह वन्दनीय समझा जाता है ।

इनके मतानुयायियोंसे पूटना चाहिये कि मूलगुण और उत्तर गुणमें दोष लगाने वाले साधुओंमें जबकि चारित्रिके श्रेष्ठ गुण मौजूद रहते हैं तब फिर उनमें अप्रशस्त कृष्णादिक भाव लेश्या कैसे हो सकती हैं ? क्योंकि कृष्णादिक अप्रशस्त भाव लेश्याओंमें चारित्रिके श्रेष्ठ गुण कदापि नहीं विद्यमान रह सकते । अतः चारित्रिके श्रेष्ठ गुण, और अशुभ भाव लेश्याओंका सद्भाव, इन दोनों परस्पर विरुद्ध धानोंको एक व्यक्तिमें स्वीकार करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये ।

तेज पद्म और शुक्ल ऐश्याओमे भी दोषका प्रतिसेवन होता है इस लिये दोषके प्रतिसेवनका नाम लेकर साधुओमे कृष्णादिक अप्रगस्त भाव ऐश्याओंका स्थापन नहीं किया जा सकता । वैमानिक देवताओंमें तेज पद्म और शुक्ल ऐश्या ही मानी गई हैं परन्तु वैमानिक देवता आत्मारभी परारभी और तदुभयारभी होते हैं । इस प्रकार जय कि आत्मारभी परार भी और तदुभयारंभी वैमानिक देवताओंमे विशुद्ध तीन भाव ऐश्या ही मानी गई हैं तत्र महाव्रतके पालने वाले मुनियोमें दोष लगानेपर भी प्रगस्त तीन भाव ऐश्याओंके होनेमें क्या सदेह है ?

अब इन ऐश्याओका स्वरूप समझानेके लिये आवश्यक सूत्रकी टीकामें दिये हुए छष्टान्त बताये जाते हैं—

“जहजम्बूतरु रेगो सुपक्वफल भरिय नमिय सालगो ।
 दिट्टो छहिं पुरिसेहिं तेवितो जम्बु भक्खेमो ।
 किह पुणतेवेंतेको आरुहयाणाण जीव संदेहो ।
 तो छिंदि ऊण मूले पाडे मुंताहे भक्खेमो ।
 वितिआह एदहेणं किं छिण्णेणं तरुण अम्हंति ।
 साहा महल्ल छिंदह तेदयो वेंती प्रसाहाओ ।
 गोच्छे चउत्थ ओऊण पञ्चमो वेगेण्हह फलाहं ।
 छट्ठोवेंति पडिया एएच्चिय खाह वेतुं जे ।
 दिट्ठं तस्सो वणयो जोवेंति तरुवि छिन्नमूलाओ ।
 सोवट्ठ किण्हाए साल महल्लाउ नीलाओ ।
 एवइ पसाहा काऊ गोच्छा तेऊ फलाय पम्हाए ।
 पडियाए शुक्कलेस्सा अहवा अन्न मुदाहरणं ।”

अर्थ —

पके हुए सुन्दर फलोके भारसे नम्र शाखा वाले किसी एक जामुनके वृक्षको छ पुरुषोंने देखा । वे सभी कहने लगे कि हम लोग इस जामुनके फलको खाय । उनमेंसे किसी एकने जामुनके फलको पानेका उपाय बतलाते हुए कहा कि वृक्षके ऊपर चढ़नेमें गिरनेका भय है इस लिये इस वृक्षको जड़से काटकर हम लोग इसके फलको खाय । दूसरने कहा कि इतने बड़े वृक्षको काटनेसे क्या प्रयोजन है इसकी शाखाको काट कर हम लोग जामुन खा लें । तीसरेने कहा कि शाखाओको काटना भी ठीक नहीं है किन्तु

की प्रशाखाओंको काट कर हम लोग इसके फल खाय । चौथेने पहा कि हम लोग इसका गुच्छोंको तोड़ लें प्रशाखाओंको काटनेकी क्या आवश्यकता है । पाचवेने पहा कि हम लोग इसके फल तोड़ लें गुच्छोंको तोड़नेकी क्या आवश्यकता है । छठेने पहा कि गिरे हुए फलोंको ही खा लें फलोंको तोड़नेका कुछ भी प्रयोजन नहीं है । यह एक दृष्टान्त है । इसमें पहला पुरुष जो वृक्षको जड़से काटनेकी सलाह देता है वह वृक्ष लेख्याक परिणाममे विद्यमान है । जो बड़ी शाखाओंको काटनेकी राय देता है वह दूसरा पुरुष नील लेखी है । प्रशाखाओंको काटनेकी राय देता हुआ तीसरा पुरुष कापोत लेखी है । गुच्छोंको तोड़नेकी राय देने वाला चौथा पुरुष तेजो लेख्या वाला है । फलोंको तोड़ने की राय देने वाला पाचवा पुरुष पद्म लेख्या वाला है । गिरे हुए फलोंके लेनेकी राय देने वाला छठा पुरुष शुक्ल लेख्या वाला है । यह ऊपर लिखी हुई गाथाओंका अर्थ है । इसमें कहा है कि जो गुच्छा तोड़नेकी राय देता है वह तेजो लेख्या वाला है और जो फल तोड़नेकी राय देता है वह पद्म लेखी है, जो गिरे हुए फलोंके खानेकी राय देता है वह शुक्ल लेखी है । यद्यपि ये तीनों पुरुष आरम्भ दोपसे रहित नहीं हैं, तथापि ये पहले दूसरे और तीसरे पुरुषकी अपेक्षा बहुत ही अल्पाभी हैं अतः ये क्रमशः तेजो लेख्या, पद्म लेख्या और शुक्ल लेख्याके स्वामी कहे गए हैं । इसी तरह मूल गुण और उत्तर गुण में दोष लगाने वाले माधु यद्यपि आरम्भ दोपसे मुक्त नहीं हैं तथापि वे अप्रतियोंकी अपेक्षा में बहुत ही उत्तम निर्मल चारित्र्यो हैं इस लिये इनकी लेख्या विशुद्ध है । जो पुरुष अल्प फलकी प्राप्तिके लिये महान् आरम्भ करता है जैसे जामुनके फलको पानेके लिये पहले उरुने जड़ काटनेकी और दूसरेने गारुका काटनेकी और तीसरेने प्रशाखा काटनेकी राय दी थी उसी तरह वह पुरुष भी कृष्णनील और कापोतलेख्या वाला है परन्तु जो अल्प फल पानेके लिये महान् आरम्भ नहीं करता वह छागादि तीन अप्रशस्त भाग लेख्या वाला नहीं है । साधु जन आरम्भ त्यागी पञ्चमहाव्रतधारी और विनेकी होते हैं वे अल्प फलकी प्राप्तिके लिये कदापि महान् आरम्भ नहीं करते अतः उनमें कृष्णादि तीन अप्रशस्त भाग लेख्यायें नहीं होती ।

ऊपर बताया हुआ दृष्टान्तका भाव यह नहीं समझना चाहिये कि तेज पद्म और शुक्ल लेख्या वाले सभी जीव आरम्भ ही होते हैं । जो मुनि उत्कृष्ट परिणामने घनी होने हैं वे विडम्बुल आरम्भके त्यागी होते हैं । शुक्ल लेख्या वाले पुरुष वीतगामी भी होते हैं एक दृष्टान्तमें जयन्य श्रेणीके तेज पद्म और शुक्ल लेख्या वाले फड़े गये हैं इसलिये पद्म दृष्टान्तसे सभी तेज पद्म और शुक्ल लेख्या वालेको आरम्भ नहीं समझना चाहिये ।

ऊपर बताया हुआ लेश्याका दृष्टान्त तैरह पंथी साधु चित्रके साथ दिखलाकर लोगोको इसका परिचय कराते हैं परन्तु जब साधुओके लेश्याका प्रसंग आता है तब वे इस दृष्टान्तके भावको झट भूल जाते हैं और साधुओमे यथा कथं चित् छुगादिक तीन अप्रशस्त भाव लेश्याओका स्थापन करने लग जाते हैं यहा तक कि वे पचमहाव्रतधारी साधुओंको आत्मत्रोका सेवन करने वाला भी कह डालते हैं । इसी तरह मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करनेमे, दुखी जीव पर दया करके उसको दान देनेमे बुरी लेश्याका स्थापन करके उसे एकान्तपाप कहते हैं । बुद्धिमानोको सोचकर देखना चाहिये कि जब फल तोडनेके परिणाम भो भली और बुरी दोनो ही लेश्याओमें होते हैं तब मरते प्राणीकी प्राण रक्षा करने और दुखी जीव पर दया छाकर उसे दान देनेमें बुरी लेश्या कैसे हो सकती है ? ।

(बोल १३ समाप्त)

इति लेश्याप्रकरणम् ।



(अथ वैयावृत्याधिकारः)

—००—

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५१ के ऊपर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १२ की ३२ वीं गाथा लिखकर उसकी सहायतासे मुनिके व्यावचको सावय सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा हरिवेदी मुनि कश्यो—पूर्व दिवाडा अने आतामिये काले म्हागे तो क्खिन्द्रेप नही । अने जे यक्षे व्यावचकीपी ते माटे ण निप वालकाने हण्णा छै । एपो-पानी आशका मेटवा अर्थे कश्यो । जे छापाने हण्णाते यन्न व्यावचकरी पिण म्हागे द्वेप न थी । ए छापाने हण्णा ते पञ्चापात रूप व्यावच कही छै । आह्वा वाहिरे छै ते माटे सावय छै”

(अ० पृ० २५१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

यश्चने मुनिका उपद्रव मिटानेके लिये जो ब्राह्मण कुमारोका ताडन किया था उस ताडनको मुनिका व्यावच घतलाकर मुनिके व्यावचको सावय घतलाना मिथ्या है । क्योंकि मुनिका व्यावच करना न्यारा है और ब्राह्मण कुमारोंको ताडन करना न्यारा है मारना और व्यावच करना दोनो एक नहीं हैं । अतएव इसी उत्तराध्ययन सूत्रमें जहा यश्चने ब्राह्मण कुमारोका निवारण करना आरभ किया है वहा यह गाथा कही है कि “इसिस्सवेयावडियट्टयाए जक्खत्ता कुमारे पिणिवारयन्ति” अर्थात् यक्ष ऋषिका व्यावच करनेके लिये ब्राह्मण कुमारोंका निवारण करने लगे ।

यहा ऋषिका व्यावचके निमित्त ब्राह्मण कुमारोका ताडन किया जाना कहा है, ताडनको ही मुनिका व्यावच नहीं कहा । इस लिये व्यावच और ताडनका भिन्न भिन्न होना स्पष्ट सिद्ध होता है । जैसे देवताओंने भगवान् महावीर स्वामीका वन्दनके निमित्त जहा वैक्रिय समुद्रघात किया है वहा “वन्दन वत्तियाए” यह पाठ आया है । उसी तरह यहा भी यक्ष लोग जब ब्राह्मण कुमारोंको वारण करने लगे हैं वहा ‘वेयावडियट्टयाए’ यह पाठ आया है । जैसे वदनार्थ किया जाने वाला वैक्रिय समुद्रघात वन्दन स्वरूप नहीं है किन्तु वन्दनसे भिन्न है । उसी तरह व्यावचार्य किया जानेवाला ब्राह्मण कुमारोंका ताडन

व्याजचसे भिन्न है व्यावच स्वरूप नहीं है। अतः जैसे वैक्रिय समुद्रघातके सावय होनेपर भी भगवान्‌का वन्दन मात्र नहीं है उसी तरह ब्राह्मण कुमारोंके ताडनके सावय होने पर भी मुनिका व्यावच सावय नहीं है। इस लिये उरागत्रयन सूत्रकी उक्त गाथाका नाम लेकर मुनिके व्याजचको सावय कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये। इस त्रयका विशेष विचार अनुकम्पाधिकारके ३७ नें बोलमें किया गया है इसलिये यह सक्षेपसे लिखा गया है।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २५२ के ऊपर राजप्रभ्रीय सूत्र का मूल पाठ लिख कर उसकी सहायतासे वीतराग की भक्ति को सावय सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए लिखते हैं—

“श्ला सूर्याभ नाटकने भक्ति कही छै। ते भक्ति सावय छै। ते माटे भक्तिनी भगवन्ते आत्मा न दीधी”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

राजप्रभ्रीय सूत्रके मूलपाठके आश्रयसे भक्तिको सावय कायम करना अज्ञान है। उक्त सूत्रके मूल पाठमें भक्तिको नाटक स्वरूप नहीं कहा है किन्तु नाटकसे भक्तिको भिन्न बतलाया है वहाका पाठ यह है—

“त इच्छामिणं देवाणुप्पियाणं भत्ति पुव्वगं गोपमातियाणं सम
णाणं निग्गंयाणं दिव्वं देविद्धिं दिव्वं देव जुहं दिव्वं देवाणुभागं
चत्तीसत्तिवद्धं नटविहिं उवदंसित्तए”

(राजप्रभ्रीय सूत्र)

अर्थ —

हे भगवर ! मैं आपकी भक्ति पूर्वक देव-देव श्रद्धा, दिव्य देव श्रुति, दिव्य देव प्रभाव, और धत्तीस प्रकार की नाटक विधि गोतमादि श्रमण निग्रन्थोंको दिखलाना चाहता हूँ।

यह उपर्युक्त गाथाका अर्थ है।

यहा सूर्याभने भगवान्की भक्तिपूर्वक नाटक करनेकी आज्ञा मागी है परन्तु उस न नाटकको ही भगवद्भक्तिस्वरूप नहीं बल्लया है क्योंकि इस पाठमे "भक्ति पुत्राग" ऐसा पाठ आया है "भक्ति रूप" ऐसा पाठ नहीं है । इसलिये नाटकको ही भक्ति कायम करना सिग्ना है ।

वीतरागमें परमातुराग रखनेका नाम वीतरागकी भक्ति है और शरीर वेप भूषा और भाषा आदिके द्वारा किसी उत्तम पुरुषकी अवस्थाका अनुकरण करना नाटक है । इसलिये नाटक दूसरी चीज है और भक्ति दूसरी चीज है । इन दोनों को एक कायम करना अज्ञान है । यह विषय अनुक्रमपाधिकारके ३५ वें बोलमे स्पष्ट कर दिया गया है विषय जिज्ञासुओंको वही देख लेना चाहिये ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २५४ के ऊपर साधुके सिवाय दूसरे जीवको माता उत्पन्न करनेसे एकान्त पापकी मिट्टि करनेके लिये लिखते हैं—

"कोई कहे सर्वजीवाने साता उपजाया तीर्थ कर गोत्र घघे, इम कहे ते पिण झूठ छ । सूत्रमे तो सर्व जीवारी नाम चारयो नहीं"

इसके अनन्तर ज्ञाता सूत्रका मूलपाठ और उसकी टीका लिख कर उसकी समा-लोचना करते हुए लिखते हैं—

"इहा टीकामे पिण गुर्वादिक साधु इज कथा । पिण गृहस्थ न कथा । गृहस्थनी व्यावच करे तेतो अट्टाइममो अगाचार छै । पिण आज्ञामे नहीं ।" इत्यादि

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ज्ञातासूत्रके मूलपाठमे तीर्थकर नाम गोत्र वाधनेके २० काण्ड बतलाये हैं । उनमें समाधि (चित्तमें शान्ति) उत्पन्न करना भी तीर्थकर गोत्र वाधनेका कारण कहा है । वह समाधि जिमकी उत्पन्न करनी चाहिये ऐसा कोई मास करके पुरान विशेष बश नहीं फही गया है ऐसी दशामें केवल साधुके चित्तमें शान्ति उत्पन्न करना ही तीर्थकर गोत्र पापनका कारण होता है इतर प्राणियोंको शान्ति देना तीर्थकर गोत्र बन्धन का कारण नहीं होता ऐसी कल्पना अप्रामाणिक और मूलपाठसे विरुद्ध है ।

इस पाठकी टीकासे भी यह कल्पना नहीं की जा सकती इसलिये वगकी टीका यह है—

“समाधौ च गुर्वादीना कार्यकरण द्वारेण चित्तस्वास्थ्योत्पादने सति निर्वर्तितवान्”

अर्थात् गुरु आदिका कार्य्य करके उनके चित्तमे शान्ति उत्पन्न करनेसे तीर्थंकर गोत्र बंधता है ।

यहा गुरु आदिकसे साधु का ही ग्रहण मतलाना अज्ञान है क्योंकि माता पिता ज्येष्ठ बन्धु और चाचा आदि भी गुरु कहलाते हैं । फिर गुरु शब्दसे उनका ग्रहण नहीं होकर एरुमात्र साधुका ही ग्रहण क्यों होगा ? इसमे “आदि” शब्द भी आया है । उस आदि शब्दसे गुरुजनसे भिन्न दूसरे लोग यदि नहीं लिये जायेगे तो फिर आदि शब्द का प्रयोजन ही क्या होगा ? अत इम टीकामे गुरु शब्दसे साधुके समान ही माता पिता ज्येष्ठ बन्धु आदि गुरु जन भी गृहीत हुए हैं, और आदि शब्दसे जो लोग गुरु जनसे भिन्न हैं उनका भी ग्रहण किया गया है । अत इस टीकाका मनमाना अर्थ करके साधुसे इतरको साता उत्पन्न करनेसे धर्मपुण्यका निषेध करना मिथ्या है । इस टीकासे साधुसे इतरको शान्ति देना भी तीर्थंकर गोत्र बन्धका कारण सिद्ध होता है । अत भ्रमविध्वसनकारका साधुसे इतरको साता देनेमे पाप कहना अज्ञान है ।

इसी तरह गृहस्थका व्यावच करनेको जो अठाईमवा अनाचार कहा है उसका दाखला देकर साधुसे इतरको साता देनेमे पाप कहना भी मिथ्या है । गृहस्थका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार कहा है परन्तु गृहस्थके लिये गृहस्थ का व्यावच करना अनाचार नहीं कहा है । अतएव उवाई सूत्रमे माता पिताके श्रुश्रूषक पुत्रको स्वर्गगामी कहा है । यदि साधुसे इतरको शान्ति देना (व्यावच करना) गृहस्थके लिये भी अनाचार होता तो माता पिताकी सेवा करनेसे उवाई सूत्र मे स्वर्ग जाना कैसे कहा जाता । अत ज्ञाता सूत्रका नाम लेकर साधुसे इतरको समाधि उत्पन्न करनेसे धर्मपुण्य नहीं मानना असूत्रभाषियोका कार्य्य समझना चाहिये ।

[बोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २५६ के ऊपर सुयगडाग श्रुत० १ अ० ३ उ० ४ की छट्टी और सातवीं गाथावां को लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा कथो—साता दिया साता हुवे इम फहे ते आर्य्यमार्ग थी मल्लो कथो । समाधिमार्ग थी न्यारो न्हो । जिणधर्मरी हीलणारो करणहार, अल्प सुत्त अर्थे घणा सुरारो हारणहार, अमत्त्य पत्ते अणठाणवे करी मोक्ष नहीं । रोहनाणिया

इस करके शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि हे भाइयो ! 'एतसे हा एका मिलता है' इस मिथ्या सिद्धान्तका आश्रय लेकर सम्पूर्ण गान दशन और धार्मिक रूप मोक्ष धर्मका उपदेशक जनागमको तुम माहवदा छोड़ रहे हो । तुम तुच्छ विषय एतस्य लोभर्म पढ़कर वास्तविक एतस्य मोक्षको मत ब्रह्म मनान आहार आदि पानसे कामकी वृद्धि होती है और कामवासनाके प्रबल होनेपर वित्तमें अन्ति नहीं मित्र सकती । इस प्रकार वित्तमें समाधि उत्पन्न होना एकान्त अमम्भव है । अतः मोक्षका आश्रय एतस्य तुम अपनेको पारण्य कर रहे हो । जैसे कोई वणिक् पुत्र दूरसे छोड़ा जाए हुए आता था उसे शस्त्रमें चादी मिली पर उसने सोचा कि मैं दूरमें इस लोहेको लिये आ रहा हूँ इसे छोड़कर चादी बस लूँ । इसी प्रकार शस्त्रमें उसने मोना भी नहीं लिया । पीछे अपने स्वभाव पटु घनेपर उसको सोना पाइयो अपेशा छोड़का बहुत कम मूल्य मिला तो वह पछि-छाने लगा था उर्मी तरह अन्तमें तुम्हें भी पठिताना पड़ेगा ।

यहां जो लोग विषय सुखसे मोक्ष मिलनेका सिद्धान्त मानकर जैनान्द्र प्रवचन का त्याग करते हैं उनका सिद्धान्त रण्डन करनक लिये कहा है कि "विषय सुख भोगने से मोक्षको प्राप्तिकी आशा रखना मिथ्या है । विषय सुख को छोड़ कर जैन मार्गसे गमन करना ही मोक्षका साधन है" । परन्तु किमीको साता दाना मात्रय है या किसीको साता देनेसे धम या पुण्य नहीं होता यह बात यहाँ नहीं फही है । इस लिये इन गाथाओं का नाम लेकर दूसरेको साता देनेसे पाप कहना मिथ्यावादियोंका काव्य समझना चाहिये ।

यदि कोई इन गाथाओंका यही तात्पर्य बतावे कि दूसरको साता देनेसे लोह वणिक्की तरह पश्चात्ताप करना पड़ता है अथवा आर्घ्य मार्गसे दूर रहता है तो फिर किमी साधुको साता देना भी उसके हिस्सेसे पाप ही ठहरेगा । यदि कहो कि "साधु से इतरको साता देनेसे पश्चात्ताप करना इस गाथाय कहा है इस लिये साधुको साता देना दुरा नहीं है" तो यह मिथ्या है उक्त गाथाओंमें तथा उनकी टीकाय यह नहीं कहा है कि "साधुसे इतरको साता देने वाला लोह वणिक्की तरह पश्चात्ताप करता है" किन्तु साधु अथवा गृहस्थ जो कोई ऐसा मानता है कि विषय सुखके सेवन करनेसे मोक्ष मिलता है उस अथम श्रद्धा वालेको लोह वणिक्की तरह पश्चात्तापना भागी बतलाया है परन्तु अनुकम्पा करके किमी हीन दीन दुःखीके दुःख मिटाने वालेकी यहाँ जिक्र भी नहीं है । अतः उक्त गाथाका नाम लेकर हीन दीन दुःखी जीव पर दया करण उन्हें साता देने वालेको एकान्त पापी कहना अज्ञान समझना चाहिये ।

बोल ४ समाप्त

शासन प्रतिपादितो मोक्षमार्गस्त ये परिहरन्ति त्वाच परम समर्थि ज्ञान दर्शन चारित्र्यात्मक येत्यजन्ति तेऽज्ञा ससारान्त वर्तिन मदा भवति । एन मार्ग्य मार्ग जैनेन्द्र प्रवचन सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र्य मोक्ष मार्ग प्रतिपादक “मुसु सुखेनैव विद्यते” इत्यादि मोहेन मोहिता अवमन्यमाना परिहरन्त अत्पेन दैपयिनेण सुपेन मा बहु परमार्थ मुसु मोक्ष सुरा मोक्षा एव दुम्पथ विज्वसथ । तथाहि मनोज्ञाहारादिना कामोद्रे क । तदुद्रे काच्च चित्ता स्वास्थ्य न पुन समाधिरिति । अपिच एतस्यासत्त्वज्ञाभ्युपगमस्यामोक्षेऽरित्वापे सति “अयोहारिञ्च जूरुह” अत्मान यूय कर्द्ध यथ केवल यथासौ अयसो—लोहस्था-हर्ता अपान्तराले रूप्यादि लाभे सत्यपि दूरमानीत भिति कृत्वा नोज्झितवान् पश्चात् स्वस्थानावाप्तमल्प लाभे सति जूर्जितवान् पश्चात्ताप कृतवान् एव भवन्तोऽपि जूर्जित-च्यन्तीति ।”

अर्थ —

मतान्तरका मण्डन करनेके लिये छट्टी गाथामें अन्य मतावलम्बियोंकी धोरसे पूर्व पक्ष किया गया है । यह इस प्रकार है—मोक्ष प्राप्तिके विषयमें शान्त्य आदि, तथा केशोल्लुञ्चनमें पीडित कई एक अपने यूथ वाले, यह कहते हैं कि उत्पत्ती प्राप्ति छल हीसे होती है । जैसे कि उन लोगोंने अपने मतका पोषण करनेके लिये यह श्लोक बनाया है “सर्वाणि सत्त्वानि” इत्यादि । इसका अर्थ यह है कि सभी जीव उत्पत्तमें रत हैं और सभी लोग दु एसे उद्भिन्न होते हैं । इस लिये छलकी इच्छा करने वाले पुग्गरो छल ही देना चाहिये क्योंकि छल देनेवाला ही छल पाता है । हम विषयमें ये लोग यह युक्ति देते हैं कि सभी कार्य अपने कारणके अनुरूप ही उत्पन्न होते हैं शालिके बीजसे शालिका ही अक्षर उत्पन्न होता है यवका अक्षर उत्पन्न नहीं होता इसी तरह इस लोकमें उग्र भोगनेसे ही पर लोकमें छल मिलता है परन्तु केशोल्लुञ्चनादि रूप दुःख भोगनेमें नहीं मिलता । इनके आगममें भी यही कहा है कि साधुको मनोज्ञ आहार खाकर मनोज्ञ शय्याके ऊपर मनोज्ञ गृहमें मनोज्ञ वस्तुका ध्यान करना चाहिये । कोमल शय्यापर शयन करना, प्रभात फालमें दुग्ध आदि पोष्टिक पदार्थ पीना, तथा दिनके मध्य भागमें स्वादिष्ट भात आदि खाना, और दोपहरके बाद शर्बत आदि पीना, तथा आधी रातमें टावल शहर आदि मधुर पदार्थ खाना, इन कार्यों में अन्तमें मोक्ष मिलता है यह शान्त्य पुत्रका विश्वास है । संशेषसे इनका सिद्धान्त यह है कि मनोज्ञ आहार विहारसे चित्तमें समाधि उत्पन्न होती है और चित्तमें समाधि उत्पन्न होनेसे मोक्ष छल मिलता है । अतः सिद्ध हुआ कि उत्पत्त ही छल मिलता है पर केशोल्लुञ्चनादि रूप दुःख भोगनेसे नहीं ।

इस प्रकारका सिद्धान्त रखनेवाले मूढमति शाक्य आदि, सभी हेय धर्मोंसे पृथक् रहने वाले जिन प्रतिपादित आर्य्य धर्मोंका त्याग करते हैं और ज्ञान दर्शन तथा चारित्र्य रूप मोक्ष मार्ग को छोड़ देते हैं ! वे ज्ञान रहित हैं और चिरकाल तक इस ससार चक्रमें घूमते रहते हैं । उनपर

इस प्रकार शास्त्रकार उपदेश देते हैं कि 'है भाइयो ! 'एतसे ही ए' मिलता है' इस मिथ्या सिद्धान्तका आश्रय लेकर सम्पूर्ण ज्ञान दरान और चारित्र्य रूप मोक्ष धर्मका उपदेशक जनागमको तुम मोहवदा छोड़ रहे हो । तुम तुच्छ विषय एतसे एतमर्म पढ़कर वास्तविक एत मोक्षको मत छोड़ो मनोन भाहार आदि स्थानसे कामकी वृद्धि होती है और कामवासनाके प्रबल होनेपर चित्तम शान्ति नहीं मिल सरती । इस प्रकार चित्तमे समाधि उत्पन्न होना एकान्त अत्यन्तव है । अत अत्यन्तका आश्रय लेकर तुम अपनेको रागव कर रहे हो । जैसे कोई चणित् पुत्र दूरसे छोहा विप द्रुप आता था उसे रास्तेमे चांदी मिली पर उमो सोचा कि म दूरसे इस लोहको लिये आ रहा ह इसे छोड़कर चांदी कैसे हू । इसी प्रकार रास्तेमे उसने सोना भी नहीं लिया । पीछे अपने स्थानपर पहुँचनेपर उसको सोना पादको अपेक्षा छोड़कर बहुत कम मूल्य मिला तो वह पछि-दान लगा था उसी तरह अन्तमे तुम्हें भी पछिताता पडगा ।

यहा जो लोग विषय सुखमे मोक्ष मिलनेका सिद्धान्त मानकर जेनेन्द्र प्रवचन का त्याग करते हैं उनका सिद्धान्त स्पण्डन करनेक लिये कहा है कि "विषय सुख भोगने से मोक्षको प्राप्तिकी आशा रखना मिथ्या है । विषय सुख को छोड़ कर जैन मार्गसे गमन करना ही मोक्षका साधन है" । परन्तु किमीको साता देना सायथ है या क्रिसीको साता दनसे धम या पुण्य नहीं होता यह बात यहा नहीं कही है । इस लिये इन गाथाओ का नाम लेकर दूसरेको साता देनेसे पाप कहना मिश्रावादियोका काव्य समझना चाहिये ।

यदि कोई इन गाथाओका यही तात्पर्य्य बनाने कि दूसरको साता देनेसे लोह बणिककी तरह पश्चात्ताप करना पडता है अथवा आर्य्य मार्गसे दूर रहता है तो फिर किमी साधुको साता देना भी उसके हिसाबसे पाप ही ठहरगा । यदि कही कि "साधु से इतरको साता देनेसे पश्चात्ताप करना इस गाथामे कहा है इस लिये साधुको साता देना बुरा नहीं है" तो यह मिथ्या है उक्त गाथाओमें तथा उनकी टीकामे यह नहीं कहा है कि "साधुसे इतरको साता देने वाला लोह बणिककी तरह पश्चात्ताप करता है" किन्तु साधु अथवा गृहस्थ जो कोई ऐसा मानता है कि विषय सुखके सेवन करनसे मोक्ष मिलता है उस अधम श्रद्धा वालेको लोह बणिककी तरह पश्चात्तापका भागी बतलाया है परन्तु अनुकम्पा करके किसी हीन दीन दुखीक दुख मिटाने वालेकी यहा जिक्र भी नहीं है । अत उक्त गाथाका नाम लेकर हीन दीन दुखी जीव पर दया करन उन्हे साता देने वालेको एकान्त पापी कहना अज्ञान समझना चाहिये ।

बोल ४ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम विध्वंसन पृष्ठ २५७ के ऊपर लिखते हैं—

“दश वैकालिक अध्ययन ३ गृहस्थनी साता पूज्या सोलमो अनाचार लागतो कश्चो । तथा गृहस्थनी व्यायच कीधा अट्टाईसमो अनाचार कश्चो । तथा निशोध उद्देशा १३ गृहस्थनी रक्षा निमित्तो भूति कर्म क्रिया प्रायश्चित्त कश्चो तो गृहस्थनी सायच साता वोळ्या तीर्थङ्कर गोत्र किम वधे । (भ्र० पृ० २५७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गृहस्थसे साता पूजना तथा उसका व्यायच करना साधुके लिये अनाचार कहा है गृहस्थके लिये अनाचार नहीं कहा है । देखिये दश, वैकालिक सूत्रमें आचारों की गणना करते हुए पहले पहल यह गाथा लिखी है—

“संजमे सुद्धि अप्पाणं विप्पमुक्काणताहणं
तेसिमेयमणा इन्नं निग्गंथाण महेसिणं”

अर्थ —

संयमके अन्दर अपनी आत्माको स्थिर रखने वाले और घाटा तथा अन्तरसे मुक्त हुए अपनी आत्माकी रक्षा करने वाले निग्रह महर्षियोंके लिये ये बातें अनाचार हैं ।

इस गाथामे स्पष्ट कहा है कि अग्रिम गाथाओमें कहे हुए ५२ अनाचार भ्रमण निग्रन्थोके हैं गृहस्थोके नहीं हैं । इस लिये गृहस्थका साता पूजना और गृहस्थका व्यायच करना दश वैकालिक सूत्रके पाठानुसार गृहस्थके लिये एकान्त पाप नहीं हो सकता । अतः दशवैकालिक सूत्रका नाम लेकर साधुसे इतरकी साता और व्यायचको सावध कायम करना अज्ञान है ।

यदि कोई ऐसी शंका करे कि गृहस्थकी साता पूजने और व्यायच करनेसे जब कि साधुको अनाचारका पाप लगता है तो फिर श्रावकको पाप क्यों नहीं लगेगा ? तो इसका उत्तर यह है कि साधु और श्रावकका कल्प जुदा जुदा है एक नहीं है । इसलिये पूर्वोक्त कार्य साधुके कल्पसे विरुद्ध होनेके कारण साधुके लिये ही अनाचार है गृहस्थ के कल्पसे विरुद्ध नहीं होनेसे गृहस्थके लिये अनाचार नहीं है । जैसे अपने सामौगिक साधुसे इतर प्राणीको उत्सर्ग मार्गसे आहार पानी देना साधुके लिये प्रायश्चित्तका कारण कहा है परन्तु गृहस्थके लिये नहीं । गृहस्थके लिये तो अपने आव्रित पशु नौकर आदि को भात पानी नहीं देनेसे उसका पहले प्रथमे अतिचार होना कहा है । उसी तरह साधु

क लिये गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना अनाचार है पर श्रावकके लिये नहीं। यदि कोई उक्त कार्य्यकी गृहस्थके लिये भी अनाचार कहे तो फिर उमक हिसाबसे अपने आश्रित प्राणीको भात पानी देना भी गृहस्थके लिये प्रायश्चित्तका कारण कहना चाहिये। क्योंकि साधु अपने सामोगिक साधुसे इतरको आहार पाना इनसे प्रायश्चित्ती हो जाता है तो फिर गृहस्थ अपने आश्रित पशु आदिको आहार पानी देनेसे प्रायश्चित्ती क्यों नहीं होगा ? पर बात ऐसी नहीं है। गृहस्थ यदि अपने आश्रित पशु आदिको भात पानी न देवे तो प्रायश्चित्ती होना है और साधु यदि सामो-गिक साधुस भिन्नको उत्सर्ग मार्गमे आहार पानी देने तो प्रायश्चित्ती होता है। अतः साधुके लिये गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना अनाचार है श्रावकके लिये नहीं है।

दशैकालिक सूत्रमें उद्दिष्ट भक्त लेना साधुके लिये पहला अनाचार कहा है इस लिये जो साधु उद्दिष्ट भक्त लेना है वह प्रायश्चित्ती होता है परन्तु आदिम और अन्तिम तीर्थकरके साधुओंको छोड कर दूसरे साधु यदि उद्दिष्ट भक्त लेते तो वे पापक भागी नहीं होते क्योंकि उद्दिष्ट भक्त लेना उनके करपसे विरुद्ध नहीं है। अतः जैसे उद्दिष्ट भक्त लेना आदिम और अन्तिम तीर्थ करके साधुओंके लिये अनाचार है दूसर तीर्थ-करोंके साधुओंके लिये अनाचार नहीं है उसी तरह गृहस्थकी साता पूछना और उसका व्यावच करना साधुके लिये अनाचार है श्रावकके लिये अनाचार नहीं है। अतः गृहस्थकी साता पूछने और उसका व्यावच करनेसे गृहस्थको भी अनाचार बतलाना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये।

२४ वें तीर्थकरके साधु तेइसमें तीर्थ करके साधुको आहार पानी नहीं देते। क्योंकि उनका यह कल्प नहीं है। यदि देवे तो उनको प्रायश्चित्त आता है। परन्तु गृहस्थ यदि तेइसमें तीर्थ करके साधुओंको आहार पानी देवे तो उसको पाप नहीं होता किन्तु धर्म होता है। इस लिये जो कार्य्य साधुके लिये अनाचार है वह गृहस्थके लिये भी अनाचार ही यह कल्पना मिथ्या समझनी चाहिये।

इसी तरह निशीथ सूत्र उद्देशा १३ का दाखला देकर जीवरक्षा करनेमे पाप कहना भी मिथ्या है निगोथ सूत्र उद्देशा १३ के अन्दर किसी प्राणीकी रक्षा करना वर्जित नहीं की है किन्तु भूति कर्म करनेका निषेध किया है। इस लिये साधु भूति कर्म नहीं करते। यदि भूति कर्म करे तो उनको अवश्य प्रायश्चित्त आता है परन्तु अपनी कल्प मर्यादाके अनुसार जीवरक्षा करनेसे पाप नहीं होता। क्योंकि जीवरक्षा करनेका कहीं भी शास्त्रमे निषेध नहीं है। प्रत्युत प्रश्नव्याकरणादि सूत्रोमे जगह जगह

इसका विधान क्रिया है। अतः निजीय उद्देशा १३ का नाम लेकर जीवरक्षा करनेमें पाप का स्थापन करना एतन्त अज्ञान समझना चाहिये। इस विषयका विशेष रूपसे स्पष्टीकरण अनुकम्पाधिकारके २५ वें बोलमे किया गया है। इस लिये यहा बहुत सक्षेपसे लिखा गया है।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

गृहस्थसे साता पूटना और उसका व्यावच करना गृहस्थके लिये अनाचार नहीं है यह ज्ञात हुआ। परन्तु श्रावकके लिये श्रावकके व्यावचका विधान कहीं शास्त्रमें किया हो तो उसे बतलाइये।

(प्ररूपक)

उपाई सूत्रके मूलपाठमे श्रावकके लिए श्रावकके व्यावचका विधान किया गया है वह पाठ यह है—

“सैकितं वेयावच्चे, दसविहे पन्नत्ते तंजहा—आयारिय वेयावच्चे, उवज्जाय वेयावच्चे, सेह वेयावच्चे, गिलाण वेयावच्चे, तवस्ति वेयावच्चे, धेर वेयावच्चे, साहम्मिय वेयावच्चे, कुल वेयावच्चे, गण वेयावच्चे, संघ वेयावच्चे,”

(उपाई सूत्र)

अर्थ —

अर्थात् व्यावच दश प्रकारके कहे हैं।

साचाप्यका व्यावच करना, उपाध्यायका व्यावच करना, नववीक्षित शिष्यका व्यावच करना, रोगादिसे पीडित हुएका व्यावच करना, तपस्वीका व्यावच करना, स्थविर का व्यावच करना, साधर्मिक का व्यावच करना, गणका व्यावच करना, कुलका व्यावच करना, और संघ का व्यावच करना।

यह उक्त गाथाका अर्थ है।

यहा दश प्रकारके व्यावचोमे साधर्मिक व्यावच कहा गया है और श्रावकसे श्रावकका व्यावच किया जाना भी साधर्मिक व्यावच है क्योंकि साधुका साधर्मिक जैसे लिङ्ग और प्रवचन के द्वारा साधु होता है उसी तरह श्रावक का साधर्मिक प्रवचन के द्वारा श्रावक भी होता है। व्यवहार सूत्र दूसरे उद्देशे के भाष्य मे यह गाथा लिखी हुई है—

“पवयणसंवे गयरो लिङ्गे रयहरण मुहपत्ती”

इसकी टीका यह है—

“पवयण” त्ति प्रवचनतः साधर्मिक सधमध्ये एकतर अमण अमणी
वक आविकाचेनि । लिगे लिङ्गत साधर्मिक रजोहरण मुहपोत्तिका युक्त ”
अर्थ—

अमण, अमणी, आवक और आविका इनमें से कोई भी प्रवचन के द्वारा साधर्मिक
होता है और रजोहरण तथा मुखवस्त्रिका से युक्त लिङ्ग के द्वारा साधर्मिक होता है ।

यह उपर्युक्त गाथाका टीकानुसार अर्थ है ।

यहां प्रवचनके द्वारा माधु, साध्वी, आवक और आविका इनमेंमें किसी को भी
साधर्मिक होना कहा है । इस लिये प्रवचन के द्वारा आवक का साधर्मिक आवक भी
ज्ञा है ।

तथा इसी भाष्यके १५ वीं गाथाकी टीकामें टीकाकारने लिग और प्रवचन के
साधर्मिका की एक चतुर्भुगी कही है । उस के दूसरे भगों में आवक को वत-
या है ।

वह टीका यह है—

“तथा प्रवचनतः साधर्मिको न पुन लिगे लिङ्गत एष द्वितीय । केते एव भूता
इत्याह—दशभवति सशिखाका अमुण्डित गिरस्का आनका इति गम्यते । आवकाहि
अन भ्रतादि प्रतिमा भेदेन एकादशविधा भवन्ति । तत्र दश सनेशा—एकादश—
प्रतिमा प्रतिपन्नम्तु लुब्धिनशिरा अमणभूतो भवति । ततस्तद्व्यवच्छेदाय सशिखाक
हृग्म् । एतेहि दश सशिखाका आनका प्रवचनतः साधर्मिका भवति तेषा सवान्त-
तत्त्वान् नतु लिङ्गतो रजोहरणादि लिङ्ग रहितत्वात्”

अर्थात् प्रवचनके द्वारा जो साधर्मिक होता है और लिङ्गके द्वारा नहीं होता वह
दूसरा भागावाला साधर्मिक है । अतः यह वनलाया जाता है कि इस दूसरे भागावाले
साधर्मिक कौन होते हैं ।

जिनके केश मुण्डित नहीं हैं जो शिखाधारी हैं ऐसे दश प्रकार के आवक इस
दूसरे भागके स्वामी हैं क्योंकि आवक, दर्शन, भ्रतादि, और प्रतिमाके भेदसे एकादश
प्रकारके होते हैं । उनमें दश शिखाधारी होते हैं । और एकादशही प्रतिमाप्रतिपन्न,
लुब्धिनशिर और साधुके सदृश होता है । उसकी व्यावृत्तिके लिये इस दूसरे भाग में
लुब्धिनशिर और साधुके सदृश होता है । उसकी व्यावृत्तिके लिये इस दूसरे भाग में
शिखाधारी आवक कहा गया है । ये दश शिखाधारी आवक प्रवचनसे साधर्मिक होने हैं

क्योंकि वे सङ्घके अन्दर मौजूद हैं परन्तु लिङ्गसे साधर्मिक नहीं होते क्योंकि वे रक्षक
हरणादि लिङ्गसे युक्त नहीं होते ।

यहा टीकाकारने श्रावकको प्रवचनके द्वारा साधर्मिक कह कर उसको साधर्मिक
की चौभङ्गीके दूसरे भङ्गमें रक्खा है । इसलिये श्रावक भी श्रावकका साधर्मिक होता
यह बात निर्विवाद सिद्ध है । दश प्रकारके व्यावचोमें उपाई सूत्रके अन्दर साधर्मिक
व्यावच करना भी कहा गया है । इसलिये श्रावकसे श्रावकका व्यावच किया जाना
साधर्मिक व्यावच होने से धर्म का ही हेतु है । उसे पाप कहना अत्रानियोंका कार्य है ।

उक्त दश विध व्यावचोमें सङ्घका व्यावच भी कहा गया है और सङ्घ नाम
साधु साध्वी श्रावक और श्राविकाओं के समूह का । इसलिये सङ्घके अन्तर्भूत होने
साधु की तरह श्रावक का व्यावच भी सङ्घके व्यावच में गिना जाता है । इस लि-
श्रावक से श्रावक का व्यावच किया जाना भी देशसे सङ्घका व्यावच है । अत वह धर्म
है परन्तु पाप नहीं है ।

यदि कोई कहे कि साधुओं की १२ प्रकार की तपस्याओके भेदमें व्यावच
गया है । इसलिये उपाई सूत्रोक्त दश विध व्यावच साधुओंका ही है परन्तु श्रावक का
नहीं तो उसे कहना चाहिये कि श्रावकोंके लिये तपका विधान कहीं अन्यत्र नहीं करके
साधुओंके साथ ही किया गया है । कारण यह है कि तपके विषयमें साधु और श्रावकों
का कोई अन्तर नहीं है । इस लिये जैसे वारह प्रकार के तप साधुओं के समान
श्रावकों के भी हैं उसी तरह ये दशविध व्यावच साधुओं की तरह श्रावकोंके भी हैं ।

इस विषयमें भ्रमविध्वंसनकारका भी कोई मतभेद नहीं हो सकता क्योंकि अन्त
गुरु भीषणजीने लिखा है—

“साधारे चारे भेद तपस्या करता जहा जहा निरवद्य योग रु धायजी । तहा तहा
सवर होय तपस्यारे लारे, तिणसु पुण्य लागवा मिट जायजी । ४७ गाथा

इण तप माहिलो तप श्रावक करता । फटे अशुभ योग रु धायजी जब प्रत सक
हुवे तपस्यारे लारे लागता पाप मिट जायजी” ४८ गाथा

(नवसङ्गाव पदार्थ निर्णय)

इन पद्योंमें भीषणजीने १२ प्रकारकी तपस्याए साधुकी तरह श्रावकों की भी
मानी हैं । इस लिये इन तपस्याओं में आया हुआ व्यावच श्रावकों का भी
होता है । अत पूर्वोक्त दश विध व्यावच को श्रावकों के लिये नहीं
वाद समझना चाहिये ।

जब कि दश विप्र व्यावच करना आवको का भी फलव्य है तत्र फिर कोई आवक यदि अपने सावर्भिक आवक का व्यावच करे तो उनमें पाप या प्रायश्चित्त कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोको विचारना चाहिये ।

(बोल छट्टा समाप्त)

(प्ररूपक)

ठागाङ्ग सूत्र ठागा ५ उद्देशा २ के अन्दर आवकों को अवर्ण बोलनेसे दुर्लभ-बोधी और वर्ण बोलनेसे सुलभबोधी होना कहा है । वह पाठ—

“पचहिं ठाणेहि जीवा दुल्लभबोधियत्ताए कम्म पकरेंति ।
तजहा—अरिहंताणं अवन्नं वदमाणे अरिहंतपन्नत्तस्स घम्मस्स
अवन्न वदमाणे आयरिय उवज्जायाणं अवन्नं वदमाणे, चाउवण्ण
स्स संघस्स अवन्नं वदमाणे विवक्कनव धंभचेराणं अवन्नं वदमाणे ।
पंचहिं ठाणेहिं जीवासुल्लभबोधियत्ताए कम्मं पकरेंति अरि-
हंताणं वन्नं वदमाणे जाव विवक्क तव वभचेराणं वन्नं वदमाणे”

(ठागाङ्ग ठागा ५ उ० २)

अर्थ —

अथान् पाच स्थानान् जीव, दुर्लभबोधी होनेका कर्म बाधता है ।

अरिहंतको अवर्ण बोलना हुआ, और अरिहंत प्रणीत धर्मको अवर्ण बोलना हुआ, तथा
आचार्य और उपाध्यायको अवर्ण बोलना हुआ, एवं प्रातुर्गामिक सत्तको अवर्ण बोलना हुआ
और परिष्क ग्रहणाय और

श्रावक यदि किसी श्रावकको अन्नादिके द्वारा धार्मिक सहायता देने रूप व्यावच कर तो उससे पाप बन्ध कैसे हो सकता है ? बल्कि उससे और ज्यादा पुण्य ही होगा अतः श्रावको से क्रिया जाने वाला श्रावक के व्यावच को पाप बतलाना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ३ उद्देशा पहलेमें कहा है कि सनत्कुमार देवेन्द्र श्रावकके हित, सुख, पथ्य यावत् नि श्रेयसको इच्छा करनेसे भव सिद्धिसे लेकर यावत् चरम शरीरी हो गये हैं । वह पाठ यह है—

“सणं कुमारे देविंदे देवराया बहूणं समणाणं बहूणं समणोणं
बहूणं सावयाणं बहूणं साविषाणं हियकामए सुह कामए पथ्य का
मए अणुकम्पिए निस्सेयसिए हियसुहनिस्सेयसकामए से तेणद्वेणं
गोयमा ? सणं कुमारेणं भव सिद्धिए णो अचरिमे”

(भगवती शतक ३ उ० १)

अर्थ —

भगवान् महावीर स्वामी कहते हैं कि हे गोतम ! सनत्कुमार देवेन्द्र देवराज बहुत से साधु, साध्वी श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख, पथ्य, अनुकम्पा, आर मोक्षकी कामना करते हैं । इसलिये वह भवसिद्धिसे लेकर यावत् चरम है ।

यहां श्रावक और श्राविकाओंके हित, सुख, पथ्य आदिकी इच्छा करने मात्रसे सनत्कुमार देवेन्द्रको भवसिद्धिसे लेकर यावत् चरम शरीरी तक हो जाना कहा है ऐसी दशामे यदि कोई साक्षात् श्रावक और श्राविकाओंको हित, सुख और पथ्यका सम्पादन करके उसके धर्ममें सहायता पहुंचाने रूप व्यावच करे तो उसे पाप कैसे हो सकता है ? बल्कि उसको और ज्यादा धमे ही होगा । अतः श्रावकोसे क्रिया जाने वाला श्रावकके व्यावचको सावय कायम करना अज्ञान समझना चाहिये ।

[बोल ८ वां समाप्त]

नोट—इस पाठकी टीकामे हित, सुख और पथ्य शब्दका क्रमसे सुख, साथक वस्तु, तथा सुख और दुःखसे त्राण (रक्षा) रूप अर्थ क्रिया है । वह टीका दानाधि कार के २७ वें धोखेमे इस पाठके साथ छिप्री गयी है । जिज्ञामुओ को उसे वहीं दल छेना चाहिये ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २६२ के ऊपर भीषणजीके वार्तिकका दासला देत हुए लिखते हैं कि—

“ते कहे छै । पडिमाधारी साधु अग्नि माहि बलनाने बाहो पकडिने बाहिर काडे । अथवा सिंहादिक पकडताने झाल राखे । तथा हर कोई साधु साध्वी जिन कल्पी स्थविर कल्पी, त्याने बाहि पकडिने बाहरे काडे इत्यादि कार्य्य करीने साता उपजाने । अथवा जीवा बचाये । अथवा ऊचायो पडताने झाल बचाये । अथवा आरुड पडताने झाल बचावे अथवा ऊ चायी पडताने बैठो कर तिण गृहस्थने अरिहत भगवतरी पिण आज्ञा नहीं । अनता साधु साध्वी गये काल हुआ त्यारी पिण आज्ञा नहीं । जिण साधुर बचायो तिणरी पिण आज्ञा नहीं । इत्यादि (भ्र० २६०)

इनके कहनेका तात्पर्य्य यह है कि मरणान्त कष्टकी अवस्थामे भी यदि कोई गृहस्थ, साधुकी रक्षा कर देवे तो उमे एकात पाप होता है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

मरणान्त कष्टमें पड़े हुए साधुकी रक्षा करनेसे गृहस्थ को एकान्त पाप कहना शास्त्र विरुद्ध है क्योंकि बृहत्कल्प सूत्रके मूलपाठमे स्थविर कल्पी साधु या साध्वीको सर्प काटने पर गृहस्थसे झाडा दिलानेकी वीतरागने आज्ञा दी है । अत मरणान्त कष्ट से साधुकी रक्षा करना आज्ञा बाहर तथा एकातपाप नहीं है वह पाठ यह है—

“निर्गन्धं चणं राओवा वियालेवा दीहपोट्टे लूसेज्जा इत्थी पुरिसस पमज्जेज्जा पुरिसोवा इत्थिए पमज्जेज्जा । एवं से चिट्ठति परिहारंच नो पाउणति एसकप्पे थोर कप्पियाणं एव से नो कप्पति एवं से नो चिट्ठति परिहारंच पाउणति एसकप्पे जिण कप्पियाण”

(बृहत्कल्प सूत्र)

(इसकी व्याख्या)

“सम्प्रति सूत्र व्याख्या क्रियते—निर्गन्धं च शङ्खान्निर्गन्धो च गत्रौजा विपल्लवा दीर्घं पृष्ठ सर्पो लूपयेत् दशोत् । तत्र स्त्री वा पुत्रस्य हस्तन ता विषमपमार्जयेत् । पुत्रपोवा स्त्रिया हस्तन एव से तस्य स्थविर कल्पिकल्प्य कल्पत । स्थविरकल्पस्य अपयाद् घट्टत्वात् । एवचामुना प्रकार पापवादमासेयमास्य से तस्य तिष्ठति पन्थाय न स्थविर कल्पान् परिभ्रश्यति येन छेदादय प्रायश्चित्त विनोपा स्तरय न मति । परिहारां च

(उत्तर)—आचाराग श्रुत० २ अ० ३ उ० २ कश्यो विहार करता मार्ग माई वीज हरी पानी माठी होय तो छने रास्ते ते मार्गे जावणो नहीं । इण न्याय रस्तो न होय तो ते मार्गरो दोष नहीं । ऊ ची भूमि, खाई, गड्डने मार्गे छते रस्ते न जावणो रस्तो और न होय तो जावणो” ।

इत्यादि जीतमलजीके लेखसे भी यह सिद्ध होता है कि दूसरा रास्ता नहीं होने पर साधु गर्त आदि वाले मार्गस जाते हैं और वहा वे कागवग पथिकके हाथकी सहायता भी आचाराग सूत्रोक्त विधिके अनुसार लेते हैं । ऐसा करनेसे स्थविर कल्पो साधु का कृप भङ्ग नहीं होता क्योंकि यह कार्य जिन आहामें है । तथा उक्त मार्ग के अन्दर मुसीबतमें पडे हुए साधुको जो पथिक अपने हाथकी सहायता देकर उनकी प्राणरक्षा करता है वह भी आज्ञानुसार ही कार्य करता है आहामें बाहर या एकातपापका कार्य नहीं करता । अतः आगमें जलते हुए साधुकी बाह पकड कर बाहर निकालने वाले गृहस्थ को पाप कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये ।

यदि मरणान्त कष्ट उपस्थित होने पर भी गृहस्थ से शारीरिक सहायता लेना स्थविर कल्पो साधुका कृप नहीं होता और उस हालतमें भी स्थविर कल्पोको शारीरिक सहायता देना गृहस्थके लिये बर्जित होता तो आचाराग सूत्रके इस पाठमें पथिक के हाथ की सहायता लेकर साधुको कठिन मार्गसे पार करने का विधान कैसे किया जाता ? तथा घृहकल्प सूत्रमें सर्पका जहर उतारनेके लिये साधु साध्वी को गृहस्थ से झाडा लगवाने का विधान क्यों किया जाता ? अतः साधु के लिये गृहस्थ से शारीरिक सहायता लेने को हर एक अवस्था में एकान्त निषेध करना शास्त्रविरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २६१ के ऊपर भीषणजीके वार्तिको का उल्लेख करते हुए लिखते हैं—

“बली कोई एक इसडी कहे छै । सुमद्रासवी साधुरो आर माहि थी फाटो काट्यो तिणमे धर्म कहे छै ।”

इसके आगे २६७ पृष्ठमें अपनी ओरसे लिखते हैं कि “केतला एक जिन आहामें ना अजाण छै । ते साधु अग्नि माहि बलतानी कोई गृहस्थी बाह पकडनी बाहिरै काटे तथा साधुरी फासी कोई काटे तिणमें धर्म कहे छै” इत्यादि । इनके कहनेका तात्पर्य

यह है कि सुमद्रा सतीने जिन कल्पी मुनिकी आरसे तिनका निकाला था, इससे उमको पाप हुआ तथा किसी दुष्टके द्वारा साधुके गलेमें लगाई हुई फासीको यदि कोई दयालु गृहस्थ काट देवे, तथा आगमें जलते हुए साधुको कोई दयावान गृहस्थ बाह पकड़ कर बाहर कर दे तो उसको एकान्त पाप होता है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सुमद्रा सतीने जिन कल्पी मुनिकी आरसे तिनका निकाला था इस काय्यसे मन्त्राजीको पाप बतलाना भीषणजीका अज्ञान है तथा साधुके गलेकी फासी काटने और आगमें जलते हुए साधुको बाह पकड़कर बाहर निकालनेसे दयालु गृहस्थको पाप बतलाना जीतमलजीका भी अज्ञान है । भगवती सूत्र शतक १६ उद्देश ३ के अन्दर साधुकी नासिकामें छटकते हुए अर्शका छेदन करने वाले वैशको शुभ क्रिया (पुण्यवन्ध) माना कहा है । वह पाठ यह है —

“अणगारस्सणं भन्ते ? भाविअप्पणो छट्ठं छट्ठेणं अणिविख-
णेणं जाव आयावेमाणस्स तस्सणं पुरच्छिमेणं अवड्ढ दिवसं णो
अप्पह हत्थंवा पायंवा उरुंवा आउंटावेत्तएवा पसारत्तएवा पच्च-
च्छिमेणं अवड्ढ दिवसं कप्पह हत्थवा पायंवा जावउरुंवा आउ टा
त्तएवा पसारत्तएवा” तस्स घ अंसिआओ लंपह तंचेव यिज्जे
दक्खु इंसिपाडेह । पाडेइत्ता अंसिआओ छिदेज्जा सेणूणंभन्ते ?
छिन्देज्जा तस्स किरिया कज्जइ । जस्सछिन्दइ णोतस्स किरिया
ज्जइ णणत्थेगेणं घम्मं तराएणं ? हन्त । गोयमा ! जेछिन्दइ जाव
म्मंतराएणं सेवं भन्ते भन्तेति”

(भ० श० १६ उ० ३)

पत्नी—

हे भगवन् ! निरन्तर घेले घडे तप करता हुआ यावत् आतापना लेता हुआ भाविता-
मन्त्राका दिनके पूर्वार्ध भागमें अपने हाथ, पाव, ऊरु आदि अङ्गोंको पसारना और संकोच
ना, नहीं करपता । तथा दिनके उत्तरार्धमें उक्त अङ्गोंको पसारना और संकोच करना करपता
उक्त साधुकी नासिकामें छटकते हुए अर्शको यदि कोई वैश साधुको नीचे बालरु काटे तो
वैशको क्रिया लगती है परन्तु साधुको एक धर्मान्तरायके सियाय और क्रिया नहीं लगती क्या
वात सत्य है ?

हा गौतम ! सत्य है । छेदन करने वाले वैद्यको ही क्रिया लगती है और उक्त साधुको एक धर्मान्तरायसे भिन्न दूसरी क्रिया नहीं छाती यह बात यथाय है ।

यहा भगवतीजीक मूल पाठमे साधुकी नासिकामें लटके हुए अर्शके छेद न करने से वैद्यको क्रिया लगना बतलाया है क्रियायें दो प्रकार की ठाणाङ्ग सुत्रमें कही गई हैं शुभ और अशुभ परन्तु इस मूल पाठमे शुभ अथवा अशुभ किसी एक क्रियाका नाम न लेकर समुच्चय रूपसे कहा है कि साधुकी नासिकामे लटके हुए अर्शके छेदन करने वाले वैद्यको क्रिया लगती है । इसका खुलासा करते हुए टीकाकार बतलाते हैं कि साधुकी नासिकामें लटके हुए अर्शको जो वैद्य धर्म बुद्धिसे छेदन करता है उसको तो शुभ क्रिया (पुण्यकी क्रिया) लगती है और जो लोभ आदिसे छेदन करता है उसको अशुभ क्रिया (पाप) होती है । वह टीका यह है—

“तच्चानगर कृत कायोत्सर्गं लम्बमानार्शसमद्राक्षीत् । ततश्चार्शसाछेदनार्थमनगर भूम्या पातयति । नापातितस्यार्शश्छेदं कर्तुं शक्यत इति । तस्य वैद्यस्य क्रिया व्यापार रूपा सा च शुभा धर्म बुद्ध्या छिन्दानस्य । लोभादिनात्त्व शुभा क्रिया तस्य भवति । यस्य साधोरर्शं सिद्धियन्ते नो तस्य क्रिया भवति निर्व्यापारत्वात् । किं सर्वथा क्रियाया अभावो नैव मित्याह नन्नत्थेत्यादि । न इति योऽय निषेध सोऽन्यत्र कस्माद्धर्मान्तरायाद् धर्मान्तराय लक्षणा क्रिया तस्याऽपि भवतीति भाव । धर्मान्तरायश्च शुभध्यानविच्छेदा दशश्छेदानुमोदनाद्वा इति”

अर्थात् कायोत्सर्ग किये हुए अनगरकी नासिकामे लटके हुए अर्शको देनकर उसका छेदन करनेके लिये कोई वैद्य साधुको नीचे डाले (क्योंकि नीचे डाले बिना अर्श का छेदन नहीं किया जा सकता) और नीचे डालकर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श छेदन करे तो उस वैद्यकी क्रिया शुभ समझनी चाहिये । अर्थात् उसको शुभ क्रिया (पुण्यकी क्रिया) लगती है । तथा वह यदि लोभ आदिके द्वारा अर्शका छेदन करे तो उसको अशुभ क्रिया लगती है परन्तु जिसका अर्श काटा जाता है उस मुनिको एक धर्मान्तर्गत के सिवाय दूसरी क्रिया नहीं लगती क्योंकि वह मुनि व्यापार रहित है और वह धर्मान्तराय रूप क्रिया भी मुनिके शुभ ध्यानके विच्छेद होनेसे और अर्श छेदनके अनुमोदन करनेसे लगती है अन्यथा नहीं ।

यहा टीकाकार भगवतीके उक्त पाठ का अभिप्राय बतलाते हुए लिखते हैं कि जो वैद्य धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श छेदन करता है उसको शुभ क्रिया यानी पुण्यकी क्रिया छाती है तब फिर सुभद्रा सतीने धर्म बुद्धिसे जो जिन कल्पी मुनिकी आँसुसे तिनका निकाला था उसमे सुभद्रा सतीको पाप कैसे हो सकता है ? तथा आगमें जलते हुए

साधुकी बांह पकड़कर धर्म बुद्धिसे याह्न करने वाले दयालु गृहस्थको तथा साधुकी गले की फासी काटने वाले धार्मिक दयालु पुरुषको पाप कैसे हो सकता है यह बुद्धिमानको मोचना चाहिये । यदि इन कार्योंमें पाप होता तो फिर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले वैशको भगवती सूत्रके उक्त पाठमें तथा उसकी टीकामें शुभ क्रिया (पुण्य कर्म) होना क्यों कहा जाता ? अतः भगवतीके पूर्वोक्त पाठ और उसकी टीकासे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुके गलेकी फासी काटना तथा आगमें जलने हुए साधुकी बांह पकड़कर उसको बाहर निकालना, मरणान्त कष्टमें पड़े हुए साधुकी शारीरिक सहायता देना तथा करना, धार्मिक गृहस्थोंके लिये पापका काय्य नहीं है किन्तु धर्मका काय्य है । अतः भीषणजीने, सुभद्रा सतीको जिन कल्पी मुनिनी आरासे तिनका निकालनेसे जो धार्मिकी कहा है तथा जीतमलजीने जो साधुके गलेकी फासी काटने वाले और आगमें पड़े हुए साधुको बाहर निकालने वाले दयालु गृहस्थको पाप कर्म करने वाला घतलाया है वह इन लोगोंकी प्ररूपगा नितान्त शास्त्र विरुद्ध समझनी चाहिये ।

(बोल १० वां)

(अर्थ)

आपने भगवती सूत्रके मूलपाठ और उसकी टीकासे यह सिद्ध कर दिया कि जो वैश साधुकी नासिकामें लटके हुए अर्शको धर्म बुद्धिसे काटता है उसको शुभ क्रिया करने में है परन्तु भ्रम विध्वंसनकार भ्रमनिष्वसन पृष्ठ २७० के ऊपर निशीथ सूत्र उद्देशात् पाठ ३१ का मूल पाठ छिप कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा कश्चो—साधु अन्य तीर्थों तथा गृहस्थ पासे अर्श छेदने तथा कोई साधुकी अर्श छेदवाने अनुमोदे तो मासिक प्रायश्चित्त आने । अर्श छेदना पुण्यनी होवे तो ए अर्श छेदन बालाने अनुमोदे तो दण्ड क्यूं कश्चो ? पुण्यरी करणी तो निरवच्य है । निरवच्य करणी अनुमोद्या तो दण्ड आवे नहीं । दण्ड तो पापरी करणी अनुमोद्या भीज आने” इत्यादि ।

(अ० पृ० २७०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

निशीथ सूत्रको उक्त पाठ देकर इसका समाधान किया जाता है । वह पाठ—

“जे भिक्खू अण्ण उत्थिएणवा गारत्थिएणवा अप्पाणी
 कापंमि गढंवा पलियंवा अरियंवा असियंवा भगदलंवा अण्णपरं-

णवा तिक्लेण सत्थजाएणवा आच्छिं देइ विच्छिं देइ आच्छिं दंतं
विच्छिं दंतं वा साहज्जइ”

(निशीथ १५ उ० वोल ३१)

अथ —

जो कोई साधु अन्य यूथिकसे अथवा गृहस्थसे अपने शरीरके गंडमालादिक, मेह, फोड़
अथ मगन्दर, इनको किसी तीक्ष्ण दाल्त्र जातिसे छेदाये तथा विशेष रूपसे छेदाये अथवा इन
छेदन कराने वाले साधुकी अनुमोदना करे तो उसको प्रायश्चित्त आता है ।

यहा निशीथ सूत्रके मूल पाठमें अन्य यूथिक और गृहस्थके द्वारा अर्श छेद
कराने वाले और उसका अनुमोदन करने वाले साधुको प्रायश्चित्त आना कहा है इ
लिये कोई साधु यदि गृहस्थसे अर्शका छेदन करावे तथा छेदन कराते हुए साधुको भल
जाने तो उसको प्रायश्चित्त आता है परन्तु धर्म बुद्धिसे उक्त साधुका अर्श छेदन कर
वाले गृहस्थको प्रायश्चित्त आना इस पाठमे नहीं कहा है क्योंकि भगवती सूत्र शतक १।
उद्देशा ३ के मूल पाठमे और उसकी टीकामे जब कि धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने
वाले गृहस्थको शुभ किया कही है तब उसके विरुद्ध यहा उक्त गृहस्थको पाप कैसे कह
जा सकता है । यद्यपि भ्रम निध्वसनकार इस विषयमे यह तर्क करते हैं कि “साधु
अर्श काटने वाले गृहस्थको यदि पुण्यकी क्रिया होती है तो फिर उसका अनुमोदन कर
से साधुको प्रायश्चित्त कैसे आता है” परन्तु उनका यह तर्क भी अज्ञान सूचक है ।
उक्त निशीथके मूलपाठमे अर्श छेदन करने वाले गृहस्थके कार्याका अनुमोदन करनेसे
साधुको प्रायश्चित्त आना नहीं कहा है किन्तु गृहस्थके द्वारा अर्श छेदन कराते हुए
साधुके कार्याका अनुमोदन करनेसे प्रायश्चित्त आना कहा है । इसलिये अनुमोदनका
नाम लेकर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श छेदन करने वाले गृहस्थको पापकी स्थापना करना
मिथ्या है ।

यदि कोई कहे “कि गृहस्थसे अर्श काटने वाले साधुको यदि पाप लगता है तो
साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको पुण्य कैसे होगा ? तो इसका उत्तर
यह है कि जैसे गृहस्थके द्वारा सत्कार सम्मान और पूजा प्रतिष्ठा की इच्छा रखना
उत्तराज्ययन सूत्रके अन्दर साधु को वर्जित की गयी है परन्तु श्रावक यदि साधुकी पूजा
प्रतिष्ठा बन्दना सत्कार करे तो उसका निषेध नहीं है किन्तु वह धर्म का कार्या है ।
उसी तरह साधु यदि गृहस्थसे अर्शछेदन कगवे अथवा कराते हुए साधुको अच्छा जान
तो उसको प्रायश्चित्त आता है परन्तु धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श काटने वाले गृहस्थको
पापश्चित्त नहीं आता ।

वत्तराध्ययन सूत्रकी मूलगाथा यह है—

“नोसक्रिय मिच्छई नपूअं नोविय वंदपागं कुओ पसंसं”

(उतरा० अ० १५)

अर्थ.—

“साधु अपनी पूजा और भक्तिकारकी इच्छा नहीं करे तथा वन्दन और प्रशंसा की चाहना भी न करे।”

परन्तु श्रावक लोग साधुकी पूजा सत्कार वन्दन और प्रशंसा करते हैं और उक्त कथ्यों से श्रावकोंको पाप नहीं होता किन्तु धर्म होता है। उसी तरह साधु यदि किसी गृहस्थसे अर्श फटवाना चाहे तो उसको पाप हो सकता है परन्तु अर्श फाटनेवाले गृहस्थको पाप नहीं हो सकता है बल्कि धर्म बुद्धिसे फाटने पर धर्म ही होता है। तथापि साधु, गृहस्थसे अर्श फटवाना नहीं चाहते, यह देख कर साधुके अर्श फाटनेसे गृहस्थको पाप होना यदि कोई हठी फहे तो फिर साधुकी वन्दना पूजा सत्कार सम्मान करनेवाले श्रावकको भी उसके हिसानसे पाप ही होना चाहिये क्योंकि साधु गृहस्थसे पूजा प्रतिष्ठा वन्दना नमस्कार आदिकी भी चाहना नहीं रखता। अतः निशीथ सूत्रका मनवाना तात्पर्य वतला कर धर्म बुद्धिसे साधुका अर्श फाटने वाले वैश को पाप होने की थापना करना एकमात्र अज्ञान का परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ११ वां समाप्त]

(प्रेरक)

अमविध्वमनकार ध्रम० पृ० २७० के ऊपर आचाराग सूत्र अध्ययन १३ श्रुत० के का मूलपाठ लाव कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ ईहा कह्यो जे साधुर प्रण ते गुमडो फुणमी आदिक तेहने कोई पर अनेरो अथ शन्त्रेकरी छेदे तो तेहने मनकरी अनुमोदे नहीं। अने वचन करी तथा काया ई कराये नहीं। जे काट्यर साधु मन करी अनुमोदना इन करे ते काट्यर करणवाला धर्म किम हुवे। इत्यादि।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जैसे वत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १५ की गायामें अपनी पूजा प्रतिष्ठा, भक्तिकार मान की चाहना करना साधुके लिये वर्जित की है परन्तु गृहस्थ यदि साधुकी पूजा

प्रतिष्ठा आदि करे तो उसको पाप नहीं कहा है । उसी तरह आचाराग सूत्रके इस पाठ में भी गृहस्थके द्वारा अपने फोड़े आदिको छेदन करानेकी इच्छा करना साधुको वर्जित की गयी है परन्तु गृहस्थको साधुके फोड़े आदिका छेदन करना वर्जित नहीं है । इस लिये धर्म बुद्धिसे गृहस्थ यदि साधुका व्रणको काटे तो उसको एकान्त पाप नहीं हो सकता क्योंकि जैसे साधु गृहस्थके द्वारा अपनी पूजा प्रतिष्ठा कराने की इच्छा नहीं करता पर गृहस्थ साधुकी पूजा प्रतिष्ठा करता है और उस गृहस्थको उस कार्यसे पाप नहीं होता धर्म होता है उसी तरह साधु, गृहस्थसे अपने फोड़े आदिका छेदन कराना नहीं चाहता यदि चाहे तो पाप होगा परन्तु गृहस्थ यदि धर्म बुद्धिसे साधुका व्रण छेदन करे तो उसको एकान्त पाप नहीं हो सकता ।

देरिये आचाराग सूत्रका यह पाठ यह है—

“सिया से परे कार्यसि वर्ण अणपरेण सत्य जाएणं आच्छि-
देज्जवा विच्छिदेज्जवा णो तं सातिए णो तं णियमे”

(आचाराग अ० १५ श्रु० २)

अर्थ—

जयोंत कदाचित् साधुके शरीरमें व्रण उत्पन्न हुआ देल कर गृहस्थ यदि उसका छेदन करे तो साधु उसकी इच्छा न करे । और छेदन न करावे ।

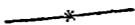
यहा साधुको गृहस्थसे फोड़े आदिके छेदन करानेकी इच्छा करना वर्जित की गई है । परन्तु गृहस्थको साधुका व्रण छेदन करना वर्जित नहीं किया है इसलिये इस पाठ का नाम लेकर साधुका अर्श छेदन करने वाले गृहस्थको एकान्त रूपसे पापी कहना मिथ्या समझना चाहिये ।

(बोल १२ वां समाप्त)

(इति वैवाच्य प्रकरण समाप्तम्)



अथ विनयाधिकारः ।



(रक)

विनय किसे कहते हैं । और उसके भेद कितने होते हैं ।

प्ररूपक)

“विनीयते कर्मानेनेति विनय । गुरुशुभ्रूपा विनय नीचैर्धृत्यनुत्सेके”
 अर्थात् जिससे कर्मग्रन्थ निवृत्त होता है उसे विनय कहते हैं । तथा गुरुजन की
 शुभ्रूपा करनेका नाम विनय है । एवं नम्रताको भी विनय कहते हैं ।
 यह सात प्रकार का होता है । इस विषयमें भगवती आदि सूत्रोंमें यह पाठ
 मिला है ।

“सत्तविहे विणए पणत्ते तंजहा—
 णोण विणए, दसण विणए, चारित्त विणए, मण विणए, वत्ति
 विणए, काय विणए, लोकोपचार विणए”

(ठागाङ्ग ठागा ७—भगवती शतक १५ उ० ७)

अर्थः—

अर्थात् विनय सात प्रकारके होते हैं ।

(१) ज्ञान विनय, (२) दर्शन विनय, (३) चारित्र विनय, (४) मनो विनय,
 (५) वचन विनय, (६) काय विनय, (७) लोकोपचार विनय ।

इनमें दर्शन विनयके विषयमें टीकाकारने यह लिखा है कि—

“दर्शनं सम्यक्त्व तदेव विनयो दर्शनं विनय । दर्शनस्यैवा तदव्यतिरेकार्दर्शनं
 गुणाधिकानां शुभ्रूपाऽनासातनारूपो विनयो दर्शनं विनय । उक्तञ्च—“सुस्तुसणा अणा-
 यणा य विणोउ दसणे दुविहो दसण गुणाहिणसु कज्जइ सुस्तुसणा विणो ।
 हारा बुद्धाणे सम्मानासण अभिगाहो तहय । आसणमणुप्पयाण कीवम्मं अज्जलि
 होम् । इत्तस्सगु गच्छंगया ठियस्सतह पज्जुवासणा भणिया । गच्छताणुव्वयणा एतो
 स्सुगा विणो”

अर्थात् दर्शन नाम सम्यक्त्वका है और तद्रूप जो विनय है उसे दर्शन विनय
 कहते हैं । अथवा गुण और गुणीके अभेदसे दर्शनरूप अधिक गुण वाले पुरुषकी शुभ्रूपा
 करना, तथा उनको असातना नहीं देना दर्शन विनय कहलाता है । कदा भी है—

दर्शन विनयके दो भेद होते हैं । शुश्रूषा विनय, और असातना विनय ।

दर्शनरूप अधिक गुण वाले पुरुषों की शुश्रूषा विनय करना चाहिये । शुश्रूषा विनय ये हैं—

सत्कार करना, सम्मुख खड़ा होना, सम्मान करना, सम्मुख जाना, आसन देना, वन्दन करना, हाथ जोड़ना, आते हुए गुरुजनके सामने जाना, बैठे हुए की सेवा करना और जाते हुएके पीछे जाना । यह शुश्रूषा विनय कहलाता है ।

इसी तरह भगवती शतक १४ उद्देश ३ के मूलपाठमें शुश्रूषा विनयके भेद बतलाये हैं वह पाठ यह है ।

“सकारेड्वा सम्माणेड्वा कीकम्मेड्वा अभ्युत्थाणेड्वा अंजलि-
प्पगहेड्वा । आसणाभिगहेड्वा असणाणुप्पदाणेड्वा इंतस्स पज्जु-
गच्छणया ठियस्स पज्जुवासणया गच्छंतस्सपडिसंहाणत्ता”

(भ० श० १४ उ० ३)

(इस पाठकी टीका)

सत्कारो विनयार्हंपु वंदनादिना आदर करणम् प्रवर वस्त्रादि दानञ्च “सकारो पवरवत्थादिहिं” इति वचनात् । सम्मानस्तथाविधप्रतिपत्तिकरणम् [कृतिकर्म वदन कार्या करणञ्च । अभ्युत्थान गौरवार्ह दर्शने विष्टरत्यागः । अजलिप्रमह अजलि करणम् । आसनाभिप्रह तिष्ठत एव गौरव्यस्यासनानयनपूर्वक सुपविशतेति भगनम् । गौरव्यमाश्रित्यासनस्य स्थानातरसंचारणम् । आगच्छतो गौरव्यस्याभिमुखगमन तिष्ठतो गौरव्यस्यसेवेति । गच्छतोऽनुगमनमिति ।

अर्थ —

विनय करने योग्य पुरुषका वदन आदिके द्वारा आदर करना और उसको उत्तमोत्तम वस्त्रादिका प्रदान करना सत्कार विनय कहलाता है ।

श्रेष्ठ पुरुषको स्वरूपानुरूप गौरव देना सम्मान विनय है ।

श्रेष्ठ पुरुष को वन्दन करना और उसका कार्या करना कृति कर्म कहलाता है ।

गौरव के योग्य पुरुष को देख कर आसन छोड़ खड़ा हो जाना अभ्युत्थान विनय है ।

गौरव के योग्य पुरुष को हाथ जोड़ना “अंजलि प्रमह” कहलाता है ।

रुड़े हुए गौरव योग्य पुरुषको आसन देकर बैठनेके लिये कहना आसनाभिप्रह कहलाता है । गौरव योग्य पुरुषके आसनको उसकी इच्छानुसार दूसरी जगह रखना

संज्ञानुप्रदान कहलाना है। इसी तरह आते हुए गौरव योग्य पुरुषके-सम्मुख जाना और बैठे हुए की सेवा करना, और जाने हुएके पीछे जाना ये सब शुश्रूषा विनय कहलाते हैं। यह टीकाका अर्थ है —

दर्शन विनयके अधिकारी सम्यग्दृष्टि, साधु और श्रावक सभी लोग होते हैं। सम्यग्दृष्टि अपनेसे अधिक गुण वाले सम्यग्दृष्टिकी और श्रावक अपनेसे अधिक गुण वाले श्रावककी, तथा ये सभी लोग सम्यग्दृष्टि साधुकी तथा कनिष्ठ साधु अपनेसे अधिक गुण वाले साधुकी जो शुश्रूषा करते हैं वह उनका दर्शन विनय समझा जाता है। यह दर्शन विनय निर्जराके भेदमें गिना गया है। इस लिये दर्शन विनय करना निर्जराका हेतु समझना चाहिये।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

अपनेसे अधिक गुण वाले श्रावकका दर्शन विनय करना श्रावकके लिये निर्जरा का हेतु आप बतलाते हैं पर किसी श्रावकने किसी श्रावकका दर्शन विनय किया हो या उदाहरण कोई मूलपाठसे बतलाइये !

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ११ उद्देशा १० के मूल पाठमें श्रावकोंका श्रावकसे विनय करनेका स्पष्ट कथन है। वह पाठ यह है—

“तएणं ते समणो वासगा समणत्स भगवओ महावीरस्स
मंतिआओ एयमट्ठं सोचाणिसम्म समणं भगवं महावीरं दंढंति ण-
संति वन्दित्ता जेणेव इसिभहपुत्ते समणोवासए तेणेव उवाग-
उंनि उवागच्छइत्ता इसिभहपुत्त समणोवासयं वंदंति णमंत्संति
एयमट्ठं विणएणं भुज्जो भुज्जो खामेंति”

(भ० श० ११ उ० १२)

अर्थ —

इसके अनन्तर वे श्रावक भ्रमण भगवाद् महावीर स्वामीम इस बातको उन कर भ्रमण भवान् महावीर स्वामीको घन्टना नमस्कार करके अपिमद पुत्र श्रावकके पास गये वहाँ जाकर अपिमद पुत्र श्रावकको घन्टना नमस्कार करके उनकी सही बात नहीं मानने रूप अपराधके लिये विनयके साथ बार बार क्षमा प्रायमा की।

इस पाठमें श्रावकोंका श्रावकसे विनय किया जाना स्पष्ट कहा गया है इस लिये अपनेसे उत्कृष्ट गुण वाले श्रावकोंका विनय करना श्रावकके लिये निर्जराका हेतु समझना चाहिये ।

इसी तरह भगवतीसुत्र श्लोक १२ उद्देशा १ के मूलपाठमें उपला श्राविकासे पोरलि श्रावकको दर्शन विनय किये जानेका उल्लेख है । वह पाठ यह है—

“तएणं साउपला समणोवासिघा पोखलिं समणोवासयं
एज्जमाणं पासइ पासइत्ता हट्टतुट्ठा आसणाओ अब्भुट्टहत्ता सत्तट्टपया-
हिं अणुगच्छइ अणुगच्छइत्ता पोखलिं समणोवासयं वंदइणमंसइ
णमंसइत्ता आसणेणं उवनिमंसइत्ता एवं वयासी”

(भ० श० १२ उ० १)

अर्थ :—

उपला नामक श्राविकाने पोखलि नामक श्रमणोपासकको आते हुए देखा कर हट्टाए हो अपने आसन से उठ कर सात भाग पैर तक उनके सामने जाकर उक्त श्रावकको वन्दना नमस्कार करके आसन पर बैठनेकी प्रार्थना करके इस प्रकार कहा ।

इसी तरह पोखली श्रावकने शय श्रावकको वन्दना नमस्कार किया था । वह पाठ यह है—

“तएणं से पोखली समणोवासए जेणेव पोसहसालाए जेणेव
हांखे समणोवासए तेणेव उवागच्छइत्ता गमणा गमणाए पडिकमइत्ता
हांखं समणोवासयं वन्दइ नमंसइत्ता एवं वयासी”

(भ० श० १२ उ० १)

अर्थ —

इसके अनन्तर पुष्कली श्रावकने पौष शालामें शय श्रावकके पास जाकर इय्यापधिक प्रतिक्रमण करके शय श्रावकको वन्दना नमस्कार करके इस प्रकार कहा ।

इस पाठमें भी पुष्कली श्रावकसे शय श्रावकने वन्दन नमस्कार करनेका स्पष्ट उल्लेख किया है । यह सब श्रावकके प्रति श्रावकके श्रुश्रूपा विनयका उदाहरण समझना चाहिये ।

[बोल २ समाप्त]

(प्रेरक)

आपने शास्त्रके प्रमाणमें यह सिद्ध कर दिया कि अपनेमें अधिक गुण वाले श्रावकोंको श्रावक लोग वन्दन नमस्कार आदि करते हैं, और यह उनका श्रावकके प्रति श्रद्धा विनय है अतः यह निर्गमका हेतु है परन्तु जीतमलजा और भीषणजी एक मात्र शत्रुकी श्रद्धा विनयको, निजराफ हेतु घतलाते हैं श्रावकके श्रद्धा विनयको निजराफा हेतु नहीं मानते। भीषणजीने स्वर्गचिन्तन टालने कहा है "दर्शन विनयरा दोय भेद छै। श्रद्धाने अगमसाधना तैहजी। श्रद्धा तो यदा साधुगी करणी ह्याने वन्दना करणी शीश नामती" (निर्गम प्रकरण भीषणजीकी छाल) तथा जीतमलजा ने धर्म ० क २७३ पृष्ठ पर लिखा है कि "येई पापगढी श्रावकको सावग चिन्तन दिया धर्म छह छ। विनय मूल पनी नाम हेई श्रावकी श्रद्धा विनय करणे थाप' इत्यादि (अ पृ० २७३)

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्युक्त)

भीषणजीका और जीतमलजाका श्रावकके प्रति श्रावक श्रद्धा विनयको सावग बताना शास्त्र विरुद्ध और अग्रगण्य है। हमने इसी पूर्व प्रकरणके धोखे भगवती सूत्रकी कई माश्रिया देकर श्रावकोंके विनयका प्रमाण बतलाया है। यदि भीषणजी और जीतमलजा के सिद्धान्तानुसार श्रावकके प्रति श्रावकका विनय करना सावग होना तो फिर भगवान् महावीर स्वामीकी मौजूदगीमें उनके समवसरणमें ही श्रावक लोग कपिभद्र पुत्र श्रावकका विनय क्यों करते ? और उसे भगवान् सावग कहकर क्यों नहीं रोकते ? अतः श्रावकके प्रति श्रावकके विनयको सावग कहना मिथ्या समझना चाहिये।

(प्रेरक)

धर्म विचसनकार धर्म विचसन पृष्ठ २७६ के ऊपर लिखते हैं—

"सामायक पोपामें सावग रा ह्याग छै। ते सामायक पोपामें श्रावक माहो माही नमस्कार करे नही। ते माटे ये विनय सावग छै। बली पोखलीने उत्पला नमस्कार कियो। ते पिण आवता कियो। अने पोखली जाता वन्दना नमस्कार न कियो। जे धर्म त नमस्कार फीपी हुये नो जाना पिण करवा। बली शरनो विनय पोखली कियो। पिण आवता कियो पिण पाछा जावता विणय कियो चाल्यो न थी। इण न्याय संसार त विणय कियो पिण धर्म हेते न थी। जिम साधुनों विनय करे त श्रावक आवता न कर अने पाछा जाना पिण करे तिम पोखलीने विनय उत्पला पाछा जावता न

कियो । तथा पोरली पिण शरकनाथी पाछा जाता विनय न कियो । ते माटे संसाग्नी
रीते ए विनय कियो छै ।”

(भ्र० पृ० २७६)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवतीसूत्रके मूलपाठमे यद्यपि पोरलीश्रावकको जाते समय उत्पलाका नमस्कार
करना, तथा शरके पाससे जाते समय शरको पोरलीका नमस्कार करना लिखा हुआ
नहीं है तथापि नहीं लिखनेसे यह नहीं निश्चय किया जा सकता कि उत्पलाने जाते समय
पोखली भी, और पोरलीने जाते समय शरको नमस्कार नहीं किये थे, क्योंकि उपासक
दशागसूत्रमें गोतमस्वामीको जातेसमयमेही आनन्दश्रावकसे नमस्कार किये जानेका उल्लेख
है जाते समय नमस्कार करनेका कथन नहीं चला है तथा रेवती धर्मपत्नी श्राविकाने सीह
अनगारको जाते समयमे ही नमस्कार करनेका उल्लेख है जाते समयका उल्लेख नहीं
है इस लिये जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि आनन्द श्रावकने जाते समय गोतम
स्वामीको नमस्कार नहीं किये थे तथा रेवती श्राविकाने जाते समय सीह अनगारको
वन्दन नमस्कार नहीं किये थे उसी तरह यह भी नहीं कहा जा सकता कि उत्पलाने
जाते समय पोखलीको और पोरलीने विदा होते समय शरको वन्दन नमस्कार नहीं
किये थे । अतः जाते समयके वन्दन नमस्कारका उल्लेख नहीं होनेसे उत्पलाने जाते
समयमें पोरलीको और पोरलीने जुदा होते समय शरको नमस्कार नहीं किये थे यह
निश्चय करना भ्रमविध्वसनकारका निर्मूल है ।

जाते समयके वन्दन नमस्कारका उल्लेख नहीं होने पर भी जैसे यह कहा जा
सकता है कि आनन्द श्रावकने गोतम स्वामीको और रेवती श्राविकाने सीह अनगारको
जाते समय भी वन्दना नमस्कार किये होंगे उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि
उत्पलाने पोरलीको और पोखलीने शरको जाते समय भी वन्दन नमस्कार किये होंगे ।
अस्तु—भ्रमविध्वसनकारके अनुयायियोंसे पूजना चाहिये कि उत्पला श्राविकाने जाते
समय पोखलीको और पोरलीने शरके पास जाते समय जो शरको वन्दना नमस्कार
किये थे यह लौकिक रीतिके पालनार्थ किये थे धर्मके निमित्त नहीं इसमे क्या प्रमाण है ?
क्योंकि मूल पाठमे जैसे साधुके वन्दन नमस्कारका उल्लेख पाया जाता है उसी तरह
पोरली और शरके भी वन्दना नमस्कारका उल्लेख है वहा यह नहीं कहा है कि साधु
वन्दन तो धर्मार्थ है और श्रावककी वन्दना लौकिक रीति पालनार्थ है । ऐसी दशा में
तुमने यह निर्णय किस आधार से कर लिया है कि 'उत्पलाने पोखली को और
पोरलीने शरको जो वन्दन नमस्कार किये थे वह लौकिक रीति पालनार्थ किये थे

विनयोधिकार ।

नहीं शास्त्रके अन्दर कहीं भी अपनेसे अधिक गुणवान् श्रावकको वन्दन-नमस्कार
नियेय नहीं है प्रत्युत श्रेष्ठ श्रावकको वन्दन करनेकी शास्त्रमें प्रशंसा की गई है ।
अधिक गुणवान् श्रावक के प्रति श्रावक के विनय को साधय कायम करना
त है ।

यदि सभी शुश्रूषा विनय साधुका ही किया जाना धर्मका हेतु है तो फिर श्रावक
कृतिकर्म, असनानुप्रदान, और आसनाभिप्रहरूप विनय किमत्ता करे ? कृतिकर्मका
कार्य है अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषका फार्ग्य करना परन्तु साधु लोग किमी गृहस्थ से अपना
कार्य नहीं कराते कि यह विनय श्रावक किस का करे ? यह भ्रमविध्वंसकार के
शिक्षामें पूजना चाहिये ।

अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषके आसनको उसकी इच्छानुसार अन्यत्र रखना आसनानुप्र
दान विनय है और अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषको बैठनेके लिये आमन दना आसनाभिप्रह रूप
विनय है परन्तु साधु लोग गृहस्थ से अपना आसन अन्यत्र नहीं रखाते और गृहस्थ
क दिये हुए आसन पर बैठते भी नहीं हैं । ऐसी दशामें श्रावक इन विनयों का व्यवहार
किसके साथ करे ? यह भी भ्रमविध्वंसकारके अनुयायियोंसे पूजना चाहिये । लाचार
कर उन्हें यह कहना ही होगा कि ये विनय श्रावकके साथ ही श्रावक करते हैं परन्तु
साधुके साथ नहीं ।

कदाचिन् कोई यह कहे कि "उक्त सभी शुश्रूषा विनय श्रावकके नहीं हैं इसलिये
श्रावक को यदि कृति कर्म, आसनानुप्रदान, तथा आसनाभिप्रह रूप विनय करने का
प्रसङ्ग नहीं आना तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि भग-
वती सूत्र शतक १४ उद्देश ३ में आसनानुप्रदान और आसनाभिप्रह रूप विनयको छोड़
कर शेष सभी विनयोंका सञ्जाव तिर्य्यच श्रावकोमें भी बतलाया है और मनुष्य श्रावको
में तो सभी विनयोंको सद्भाव कहा है । अतः मनुष्य श्रावकोमें सभी शुश्रूषा विनयों का
सद्भाव नहीं मानना शास्त्र से विरुद्ध है । श्रावक लोग अपनेसे श्रेष्ठ श्रावक के
जो कार्य कर देते हैं वह उनके कृतिकर्म रूप विनय है और उनके आसनको-उनकी
इच्छानुसार अलग रखना आसनानुप्रदान रूप विनय है और उन्हें बैठनेको आसन देना
आसनाभिप्रहरूप विनय है । यह निर्जाराका हेतु है । इमें पाप कहना उक्तसुत्रभाषियोंका
कार्य समझना चाहिये ।

भगवती सूत्र शतक १४ उद्देश ३ में मनुष्य श्रावकोमें सभी विनयों का और
तिर्य्यच पञ्चन्द्रिय श्रावकोमें आसनानुप्रदान और आसनाभिप्रहको छोड़ कर शेष सभी
विनयोंको सद्भाव बतलाया है वह पाठ यह है—

“अत्थिणं भंते ? पंचिन्द्रिय तिरिक्ख जोणियाणं सक्कारेइवा जाव पडिसंसाहणया ?

हंता ! अत्थि णो चेषणं आसणा भिग्गहेइवा आसणाणुत्पदाणे-
इवा । मणुस्साणं जाव वेमाणियाणं जहा असुर कुमाराणं”

(म० श० १४ उ० ३)

अर्थ —

हे भगवन् तिर्य्यञ्च पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंमें सत्कार आदि शुश्रूषा विनयका सद्भाव होता है ?
हा गोतम ! होता है । आमनानुप्रदान और आसनाभिग्रह को छोड़ कर सभी शुश्रूषा
विनय तिर्य्यञ्च पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंके भी होते हैं । तथा मनुष्य यावत् धैमानिक देशके अष्ट
कुमारकी तरह सभी शुश्रूषा विनय होते हैं ।

इस पाठमें मनुष्य श्रावकोंमें सभी वितयोंका सद्भाव कहा है और तिर्य्यञ्च
पञ्चेन्द्रिय श्रावकोंमें आसनानुप्रदान और आसनाभिग्रहको छोड़ कर शेष सभी विनय
कहे हैं । तिर्य्यञ्च पञ्चेन्द्रिय श्रावक अटार्ई द्वीपसे बाहर भी रहते हैं, जहा साधुओं का
गमनागमन नहीं होता फिर वह शुश्रूषा विनय किसका करते हैं यह भ्रमविध्वसनकार
के मतावलम्बियोंसे पूठना चाहिये । लाचार होकर उन्हें यह मानना ही पड़ेगा कि
अटार्ई द्वीपसे बाहर रहने वाले तिर्य्यञ्च पञ्चेन्द्रिय श्रावक जो अपनेसे श्रेष्ठ श्रावकका
सत्कार सम्मान आदि करते हैं वह उनका शुश्रूषा विनय है । अतः श्रावकके प्रति
श्रावकके शुश्रूषा विनयको सावय कायम करना अज्ञान का परिणाम समझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि “श्रावकको वन्दना नमस्कार करना सावय नहीं है तो सामा-
यकके अन्दर बैठे हुआ श्रावक किसी श्रावकको वन्दना नमस्कार क्यों नहीं करता ।”
तो इसका उत्तर यह है कि सामायकके अन्दर बैठे हुआ श्रावक सामायक और पोषा
में नहीं बैठे हुए श्रावकसे श्रेष्ठ होता है और श्रेष्ठ अपने से कनिष्ठ को नमस्कार नहीं
करता इसलिये सामायक और पोषामें बैठे हुआ श्रावक सामायक और पोषा में नहीं
बैठे हुए श्रावकको वन्दन नमस्कार नहीं करता परन्तु वह उसके वन्दन नमस्कार को
सावय नहीं समझता । जैसे बड़ा साधु छोटे साधुको वन्दन नमस्कार नहीं करता तथा
जिन कल्पी साधु स्वविर कल्पीको वन्दना नमस्कार नहीं करता एव पुरुष साधु स्त्री
साध्वीको वन्दना नमस्कार नहीं करता क्योंकि वे उनसे बड़े हैं परन्तु यदि कोई दूसरा

पूर्वोक्त मुनियोंको वन्दन नमस्कार करे तो उसे वे साजग नहीं जानते उसी तरह सामा-
यिक ब्रह्मा श्रावक श्रेष्ठ होनेके कारण दूसरे श्रावकोंको वन्दन नमस्कार नहीं करता
परन्तु उसके वन्दन नमस्कारको सावध नहीं जानता । अन्यथा बड़ा साधु छोटे साधुको
और भिनकूपी, स्थविर कूपी को पब पुरुष साधु स्त्री साध्वीको वन्दन नमस्कार नहीं
करत इसलिए छोटे साधु तथा स्थविर कूपी साधु और स्त्री साध्वीके वन्दन नमस्कार
को भी सावध मानना पड़ेगा ।

यदि छोटे साधुको और स्थविर कूपी साधुको तथा स्त्री साध्वीको कान्श वड़े
साधु तथा जितकूपी साधु और पुरुष साधुसे वन्दन नमस्कार नहीं किये जाने पर भी
उनका वन्दन नमस्कार सावध नहीं है तो अभी तरह सामायिक और पोषार्थें बैठे हुए
श्रावकसे श्रावकको वन्दन नमस्कार नहीं किये जाने पर भी श्रावक का वन्दन नम-
स्कार सावध नहीं है । अतः श्रावकके वन्दन नमस्कारको सावध बतलाना एकात मित्या
समझना चाहिये ।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

अम्बड सन्यासीके शिष्योंने संधारामहण करते समय अम्बडजीको वन्दन नम-
स्कार किया था । उस वन्दन नमस्कारको सावध सिद्ध करते हुए भ्रमविध्वंसनकार
लिखते हैं कि—

“अथ इहा चेला कश्यो नमस्कारथावो म्दारा धर्माचार्य्य धर्मोपदेशकने इहा अम्बड
परिव्राजकने नमस्कार थावो पद्दवू कश्यो । अम्बड भ्रमणोपासकने नमस्कार थावो इम
न कश्यो । ए भ्रमणोपासक पद छाडि परिव्राजक पद ग्रहण करी नमस्कार कीयो ते
माटे परिव्राजकता धर्मनी आचार्य्य अने परिव्राजकता धर्मनी उपदेशक है । तिणने
आगे पिण वन्दना नमस्कार करता हुन्ता । पछे जिन धर्म तिणकने पाम्या । पिण आग-
खो गुरुपणो मित्यो नहीं । ते माटे सन्यासी धर्मो उपदेशक कश्यो है ।”

इत्यादि लिख कर आगे लिखते हैं कि—

आचार्य्यना ३६ गुण क्य्या छै अने अम्बड में तो ते गुण पावे नहीं आचार्य्य
पद तो पाचपदा माहि छै । अने अम्बड तो पाचपदा माही नहीं छै । (ध्र० पृ० २७७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अम्बडजीके शिष्योंने संधारामहण करते समय अरिहत सिद्ध, और महावीर
स्वामीके नमस्कारके साथ ही अम्बडजीको भी नमस्कार किया था उन्होंने अरिहत,

सिद्ध और भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार तो मोक्षार्थ-क्रिया हो और अम्बडजी को नमस्कार मोक्षार्थ नहीं किया हो इसमें कोई प्रमाण नहीं है। उस पंथमें साफ साफ लिखा है कि जिस अम्बडजीसे हम लोगोंने आवज्ञीवन के लिये बाहर घृतको धारण किया है उनको नमस्कार है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अम्बडजी के शिष्यों ने अम्बडजीको वारह घृत धारण कथानेका उपकार मान कर ही वन्दन नमस्कार किया है पर दूसरे किसी कारणसे नहीं। अतः इस दाखले से वाइस घृत धारण कराने वाला अपनेसे श्रेष्ठ श्रावकको वन्दन नमस्कार करना धर्मका कारण सिद्ध होता है साव्य सिद्ध नहीं होता वह पाठ यह है—

“अण्णमण्णस्स अन्तिए एयमट्ठं पडिसुणंति । अण्णमण्णस्स अन्तिए पडिसुणित्ता तिदण्डएय जाव एगंते डे २ गंगं महाणह् ओगाहेति रत्ता वालुआ संधारए संधरंति । वालुयासंधारयं डुरुहिंति वा रत्ता पुरत्थाभिमुहा संपलियं क निसन्ना करयल जाव कट्टु एवं वपासो नमोऽश्रुण अरहंताणं जाव संपत्ताणं नमोऽश्रुणं अम्बडस्स परिव्वायगस्स अम्हं धम्मायरियस्स धम्मोवदेसगस्स पुब्बिणं अम्हे अम्बडस्स परिव्वायगस्स अन्तिए धूलग पाणाइवाए पच्चक्खाए जाव जीवाए धूलगे मुसावाए धूलगे अदिण्णादाणे पच्चक्खाए जावजीवाए सव्वेमेंट्टणे पच्चक्खाए जाव जीवाए धूलगे परिग्गहे पच्चक्खाए”

(७ उवाइ सूत्र प्रश्न १३)

अर्थ—

अम्बडजीके शिष्योंने परस्पर पूर्वोक्त प्रकारकी प्रतिज्ञा करके सन्यासी वैशेषितमम्पूर्ण त्रिण्ड आदिको एकातस्थानमें रख कर गङ्गा नदीके तटपर जाकर वहा वालुकामय सयारा बनाया। उस पर स्थित होकर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके पथ्य कासन जमाकर हाथ जोड़ कहने लगे कि—नमस्कार हो अरिहंतको यावत् मोक्षमें पहुँचे हुए सिद्धोंको तथा नमस्कार हो भगवान् महावीर स्वामीको जो मोक्षमें जानेकी इच्छा रखते हैं। हमारे धर्माचार्य धर्मोपदेशक अम्बडजीको नमस्कार हो जिनसे हमने स्थूलहिंसा, स्थूल मृपावाद, स्थूल अदत्ता दान, सब प्रकारका मैथुन और स्थूल परिग्रहको यावजीवनके लिये परित्याग किया है।

यहा अम्बडजीके शिष्योंने सधारा ग्रहण करते समय अरिहत, सिद्ध, और भगवान् महावीर स्वामीके समान ही अम्बडजीको भी नमस्कार किया है। यदि अपनेसे श्रेष्ठ श्रावकको नमस्कार करना पाप होता तो वे अम्बडजीको नमस्कार क्यों करते ?

यदि कहे कि "अरिहत, सिद्ध और भगवान् महावीर स्वामीको नमस्कार तो उन्होंने मोक्षार्थ किया और अम्बडजीको लोक रीतिके अनुसार किया" तो इसमें कोई प्रमाण नहीं है बल्कि अरिह त सिद्ध और महावीर स्वामीके साथ ही अम्बडजीका पाठ आनेसे उनको नमस्कार भी मोक्षार्थ ही सिद्ध होता है लौकिक रीतिके पालनार्थ नहीं ।

तथा अम्बडजीके शिष्य उस समय सधारा पर बैठे हुए थे वहाँ लौकिक रीतिके पालनका प्रसंग नहीं था । उस समय लोकोत्तर रीतिके पालनका प्रसंग था तदनुसार ही उन्होंने अरिहत सिद्ध और भगवान् महावीरको तथा अम्बडजीको भी नमस्कार किया था । अत अरिहत आदिके नमस्कारको धर्मका अ ग मानना और अम्बडजीके नमस्कारको धर्मसे बाहर कायम करना अज्ञान है ।

इस पाठमें अम्बडजीके लिये परित्राजक पदका प्रयोग देख कर संन्यास धर्मके नातेसे अम्बडजीको नमस्कार करनेकी कल्पना करना भी मिथ्या है क्योंकि इस पाठमें साफ साफ शिष्योंने कहा है कि जिनके पास हमने स्थूल प्राणातिपात यावत् स्थूल परिग्रहका प्रत्याख्यान किया था उन अम्बडजीको नमस्कार है । यदि संन्यास धर्मके सम्बन्धसे शिष्योंने नमस्कार किया होता तो यहाँ वे प्राणातिपात आदिके प्रत्याख्यान का उपकार क्यों बँतेलाते बल्कि यह कहते कि जिस अम्बडजीसे हमने संन्यास धर्म ग्रहण किया था उनको मेरा नमस्कार ही । यहाँ मूल पाठमें साफ साफ बारह व्रत धारण करनेका उपकार मीन कर ही अम्बडजीको शिष्योंके द्वारा नमस्कार किये जानेका कथन है परन्तु संन्यास धर्मका उपदेशक गुरु मानकर अम्बडजीको नमस्कार करनेका कथन नहीं है । अत इस पाठमें अम्बडजीके लिये परित्राजक पदका प्रयोग देख कर संन्यासे धर्मके सम्बन्धानुसार उनके शिष्योंका नमस्कार बतलाना अज्ञान है ।

यदि कोई कहे कि "अम्बडजीके शिष्योंने संन्यास धर्मके सम्बन्धानुसार यदि अम्बडजीको नमस्कार नहीं किया था तो यहाँ मूल पाठमें उन्होंने अम्बडजीके लिये श्रमणोपासक ऐसा विशेषण क्यों नहीं लगाया ?" तो इसका उत्तर यह है कि "जिन" धर्म का महत्त्व प्रकट करनेके लिये शास्त्रमें जगह जगह अम्बडजीके लिये "श्रमणोपासक" यह विशेषण नहीं लगाकर परित्राजक यह विशेषण ही लगाया है तदनुसार यहाँ भी श्रमणोपासक ऐसा नहीं कह कर परित्राजक ही कहा है क्योंकि इस विशेषणसे शीघ्र ही यह बान बुद्धिगोचर हो जाती है कि संन्यास धर्मकी अपेक्षासे श्रमणोपासकोंका धर्म भी श्रेष्ठ है अतएव अम्बडजीने संन्यास धर्मका परित्याग करके श्रावक धर्मको स्वीकार किया था अन्यथा शास्त्रमें जो अम्बडजीके लिये परित्राजक पद दिया है वह सर्वथा असंगत ठहरेगा क्योंकि जिस समय अम्बडजीके शिष्योंने सधारा पर बैठ करे अम्बड

जीको परिव्राजक कहा है उस समय अम्बडजीने परिव्राजक कर्माको छोड़ दिया था, वे परिव्राजक धर्माका आवरण उस समय नहीं करते थे फिर उन्हें परिव्राजक ऐसा विशेषण लगा कर कहनेका कोई दूसरा कारण नहीं है। जैसे कोई गृहस्थ गृहस्थाश्रमको छोड़ कर साधु हो जाता है तो उसे साधु ही जानेपर गृहस्थ ऐसा विशेषण लगाकर नहीं कहते क्योंकि उस समय उसने गृहस्थाश्रमको छोड़कर साधुता ग्रहण कर ली है। उसी तरह अम्बडजी सन्यास धर्माको छोड़कर उस समय श्रमणोपासक हो गये थे फिर उस समय उन्हें परिव्राजक ऐसा विशेषण लगा कर बतलाना उचित नहीं हो सकता। अतः यह मानना होगा कि जिन धर्माके पूर्वोक्त महत्त्वको प्रकट करनेके लिये ही मूलपाठमें अम्बडजीको श्रमणोपासक नहीं कह कर परिव्राजक कह कर बतलाया है। अतः अम्बडजीके लिये परिव्राजक पदका प्रयोग होनेसे परिव्राजक धर्माके सम्बन्धसे अम्बडजीको नमस्कार करनेकी प्ररूपणा मिथ्या समझनी चाहिये।

जिस समय भावक धर्मानुसार अम्बडजीके शिष्य सधारा ग्रहण कर रहे थे उस समय कुप्रावचनिक धर्माका उपकार मानकर कुप्रावचनिक धर्माचार्य्यको वे किस प्रकार नमस्कार कर सकते थे यह बुद्धिमानोंको विचारना चाहिये क्योंकि इस कार्यमें वही वन्दनीय पूजनीय हो सकता है जो इसका समर्थन करता हो परन्तु सधारा ग्रहण करनेको युग बतलाने वाला कुप्रावचनिक धर्माचार्य्य सधारा ग्रहण करने वालोंको वन्दनीय और नमस्कार करने योग्य नहीं हो सकता है। इस लिये अम्बडजीके शिष्योंने वागह व्रत ग्रहण करानेका उपकार मान कर ही अम्बडजी को वन्दन नमस्कार किया था परिव्राजक धर्माका उपकार मानकर नहीं।

तथा जिसमें ३६ गुण विद्यमान हों वही धर्माचार्य्य होता है यह कोई नियम नहीं है क्योंकि ठाणाग सूत्रके अन्दर कई आचार्य्य ऐसे भी कहे हैं जिनमें ३६ गुण नहीं पाये जाते तथापि शास्त्र उक्त धर्माचार्य्य बतलाता है।

वह पाठ यह है—

“पञ्चायणायरिये नाम मेगे नो उवट्ठावणायरिए उवट्ठावणा-
यरिए नाम मेगे नो पञ्चायणायरिए । एगे पञ्चायणायरिएवि उवट्ठा-
वणायरिए वि । एगे नोपञ्चायणायरिए नो उवट्ठावणायरिए धम्मा-
यरिए”

“वत्तारि आयरिया पन्नत्ता तंजहा—उद्दे सनायरिए नाम मेगे
नो वायणायरिए धम्मा यरिए । वत्तारि अन्तेवासी पं० तं० पञ्चाय-

शान्तेवासी नाम भोगो उक्त्वावशान्तेवासी धम्मतेवासी । चत्वारि
अन्तेवासी पं० नं० उद्देशान्तेवासी धम्मतेवासी नाम तेरे ते
वायशान्तेवासी धम्मतेवासी”

(अध्याय १ पृष्ठ ३)

अर्थ—

आचार्य चार प्रकारके होते हैं । जो दीक्षा देने हैं पन्तु उद्देशान्तर चरित्र को
देते । व प्रजाजनाचार्य कहलते हैं जो उद्देशान्तर चरित्र देने हैं न इतनी ही देने के
उपस्थापनाचार्य कहलते हैं जो दीक्षा तथा उद्देशान्तर चरित्र दोनों ही देने हैं न
उभवाचार्य कहलते हैं । इन जो दीक्षा उद्देशान्तर चरित्र नहीं देते किन्तु अर्थोक्त
मात्र देते हैं वे धर्माचार्य कहलते हैं ।

द्वि दूरी सखने आचार्य चार प्रकारके होते हैं । जो अर्थोक्त देने योग्य रत्न देने
हैं पन्तु पन्ते नहीं हैं यह उद्देशान्तराचार्य कहलते हैं जो अर्थोक्त पन्तेके योग्य नहीं रत्नने
पन्तु अर्थोक्त पन्ते हैं वे वाचनाचार्य कहलते हैं । जो पूर्वोक्त दोनों ही कार्य करते हैं यह
उभवाचार्य कहलते हैं । जो न अर्थोक्त पन्ते योग्य बनाते हैं और न अर्थोक्त पन्ते ही हैं
किन्तु धर्मका उपदेश देते हैं वे धर्माचार्य कहलते हैं ।

इसी प्रकार त्रिप्योक्त भी चार भेद करे हैं । जो एक आचार्यसे दीक्षा मात्र ग्रहण करना
है पर उन्हींसे उद्देशान्तराचार्य चरित्र नहीं ग्रहण करता यह प्रजाजनान्तेवासी कहलाता है । जो उद्देश
उपस्थापन चरित्रका ग्रहण किसी एकसे करता है पन्तु दीक्षा ग्रहण नहीं करता यह उपस्थापना
न्तेवामी कहलाता है जो दोनों ही एक आचार्यसे ग्रहण करता है यह उसका उभवान्तेवासी
कहलाता है । जो न तो किसी एक आचार्यसे दीक्षा ग्रहण करता है और न उद्देशोपस्थापन चरित्र
ग्रहण करता है किन्तु धर्मापदेश मात्र लेता है यह उसका धर्मान्तेवासी कहलाता है ।

द्वि भी शिष्य चार प्रकारके होते हैं । जो जिससे अर्थोक्त पन्तेकी योग्यता प्राप्त
करता है पन्तु अर्थोक्त उपदेश पढ़ता नहीं यह उसका उद्देशान्तराचार्य कहलाता है जो
जिससे अर्थोक्त पढ़ता है पर उपदेश पढ़नेकी योग्यता दूसरेसे प्राप्त किया होता है यह उसका
वाचनान्तेवासी कहलाता है । जो दोनों ही कार्य एक ही आचार्यसे करता है यह उसका उभ
वान्तेवासी कहलाता है । जो जिससे न तो अर्थोक्त पन्तेकी योग्यता ही प्राप्त करता है और न
अर्थोक्त पढ़ता ही है किन्तु धर्मापदेश मात्र लेता है यह उसका धर्मान्तेवासी कहलाता है ।

यहां ठाण्णसूत्र मूल पाठमें जो न तो दीक्षा देता है और न उद्देशोपस्थापन
चरित्र देता है तथा जो न तो अर्थोक्त पढ़ने योग्य ही बनाता है और न अर्थोक्त
पढ़ता ही है ।
है उसे धर्माचार्य कहा है । इसलिये जो

कोई मनुष्य धर्मोपदेश करता है वह धर्माचार्य होता है अतएव इस पाठकी टीकामें लिखा है कि

“आचार्य्यं सूत्र चतुर्थं भगो यो न प्रत्राजनया नचोत्थापनयाचार्य्यं सक इत्याह धर्माचार्य्यं इति प्रतिबोधक इत्यर्थं आह च धम्मो जेणुवइट्ठो सो धम्म गुरु तिहीव समणोवा कोवि तिहिं संपउत्ते दोहिवि एक्केण्णोणेव”

अर्थात् आचार्य्यं सूत्रके चतुर्थांशमें जो न दीक्षा देता है और न उद्घोषस्थापन चारित्र ही देता है वह कौन है ? तो इसका उत्तर यह है कि वह धर्मका प्रतिबोध देने वाला पुरुष है। कहा भी है जिसने धर्मका उपदेश दिया है वह चाहे गृहस्थ हो या श्रमण हो वह धर्माचार्य्य कहलाता है। इनमें कोई तो दीक्षा, उद्घोषस्थापन चारित्र और धर्म इन तीनोंके आचार्य्य होते हैं और कोई दो के आचार्य्य होते हैं और कोई एक एक के आचार्य्य होते हैं।

यहा टीकाकारने उक्त गाथा लिख कर स्पष्ट बतला दिया है कि जो धर्मोपदेश देता है वह चाहे श्रमण हो या गृहस्थ हो धर्माचार्य्य कहलाता है अम्बडजीने अपने शिष्योंको वारह व्रत रूप धर्मका उपदेश दिया था फिर वह उनके धर्माचार्य्य क्यों नहीं हो सकते ? अतएव मूलपाठमें अम्बडजीके शिष्योंने अम्बडजीको धर्माचार्य्य बतला कर उनसे वारह व्रत धारण करनेकी बात कही है इसलिये यह नि संदेह सिद्ध होता है कि अम्बडजीके शिष्योंने उन्हे लोकोत्तर धर्मका आचार्य्य समझ कर ही नमस्कार किया था सन्यास धर्मका उपदेशक ममज्ञ कर नहीं।

वारह व्रत धारी श्रावक कुप्रावचनिक धर्माचार्य्यकी राजाभियोगादि छ कारणों के बिना वन्दन नमस्कार नहीं करते जैसे कि शकटाल पुत्र पहले गोशालकका शिष्य था पश्चान् महावीर स्वामीसे वारह व्रत धारण करनेपर उसने गोशालकको वन्दन नमस्कार नहीं किया था क्योंकि ऐसा करनेसे उसके समकितमें अतिचार आता। उसी तरह अम्बडजीके शिष्योंने भी अम्बडजीको कुप्रावचनिक धर्माचार्य्य समझ कर वन्दन नहीं किया था क्योंकि ऐसा करनेसे उनके समकितमें अतिचार आता किन्तु उन्हें वारह व्रत रूप धर्मका उपदेशक जान कर नमस्कार किया था। अतः अम्बडजीके शिष्यों मे अम्बडजीको कुप्रावचनिक धर्माचार्य्यके सम्बन्धसे नमस्कार करनेकी प्ररूपणा करके अपनेसे अधिक गुणवान् श्रावकको नमस्कार करनेमें पाप बतलाना अज्ञानियोंका कार्य्य समझना चाहिये।

[बोल ४ समाप्त]

(मूलपत्र)

ठागाङ्ग सूत्र ठागा ५ के अन्दर पाच कारणोंसे जीवको सुलभबोधी होना कहा है। वह पाठ यह है—

“पंचद्विं ठाणेहिं जीवा सुलभ बोधिपत्ताए कम्मं पकरंति ।
तंजहा अरिहंताणं वन्नं वदमाणे जाव विवक्खववंभचेराणं देवाणं
वन्न वदमाणे”

(ठागाग ठागा ५ उद्देशा २)

अर्थ —

अर्थात् पांच कारणोंसे जीव सुलभबोधी होनेके कर्म करते हैं। जैसे कि—अरि तो को कष्ट परिपक्व अन्नवर्ष्य वाके देवों को धर्म (प्रज्ञा) बोलतेसे ।

ब्रह्मा जिनके अन्नवर्ष्य और तप परिपक्व हो गये हैं ऐसे देवोंके गुणानुवाद करने से भी सुलभबोधी होना कहा है परन्तु वे देवता मायु नहीं हैं फिर उनकी प्रशंसा करनेसे भी सुलभबोधी कर्म क्यों वापता है ? इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधुसे इतर का विनय करना भी एकान्त पाप नहीं है किन्तु सम्यग्दृष्टि पुरुषके प्रति विनय करना सुलभ बोधी होनेका कारण है । इस प्रकार जब कि सम्यग्दृष्टि पुरुषके गुणानुवाद करनेसे जीव सुलभबोधी हो जाता है तब फिर उसकी सेवा भक्ति और वन्दन नमस्कार आदि शुश्रूषा विनय करनेसे पाप कैसे हो सकता है ? इससे तो और अधिक धर्म ही होगा ।

जिस समय तीर्थंकर जन्मधारण करते हैं उस समय वह साधु नहीं होते तथापि इन्द्रादि देवता उनको अपनेसे अधिक सम्यक्त्व आदि गुणोंसे युक्त जान कर भक्ति-पूर्वक वन्दना और स्तुति करते हैं परन्तु भ्रमविध्वंसनकारके हिसाबसे यह वन्दना सावध रहती है क्योंकि वह साधुसे इतरको फी जाती है लेकिन शास्त्र ऐसा नहीं कहता वह तो इस वन्दनाको कन्यागणका कारण बतलाता है तथा दिक्कुमारियोंने भी अपनेसे सम्यक्त्व आदि गुणोंमें श्रेष्ठ जान कर जन्मते तीर्थंकर और उनकी माताको वन्दना नमस्कार और गुणमाम किया है । इस द्वाखलेसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि अपनेसे सम्यक्त्व आदि गुणोंमें श्रेष्ठ पुरुषको वन्दन नमस्कार करना धर्मका ही कारण होता है भ्रमविध्वंसनकार के कथनानुसार एकान्त पाप नहीं होता वन्दना इन्द्रादि देवता जन्मते तीर्थंकर की, और दिक्कुमारी गण तीर्थंकर की वन्दना और स्तुति क्यों करते हैं ? अतः साधुसे इतर अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुषके प्रति शुश्रूषा विनय करनेमें पाप बतलाना अज्ञानियोंका फार्य समझना चाहिये

दिकुमारियो ने तीर्थकर और उनकी माता का गुण ग्राम किया था वह यह है—

“जेणेव भगवं तित्थयेरं तित्थयेर माया य तेणेव उवागच्छं
 २ ता भगवं तित्थयेरं तित्थयेर मायेरं च तिकखुत्तो आयाहिणं पय
 हिणं करेतित्ता पत्तेयं करयल परिग्गहियं सिरलावत्तं मत्थए अंजति
 कहु एवं वयासो णमोऽत्थुते रयण कुच्छि धारिके जगप्पईव दीवि
 सब्व जग मंगलस्स चक्खुणो अमुत्तस्स सब्वजगजीव वच्छलस्स
 हियकारग मग्गदेसिय पागिद्धि विभुय भुस्स जिण्णस्स णाणिस्स नाय
 गस्स बुहस्स वोहगस्स सब्व लांग नाहस्स निम्ममस्स पवरकुलसम
 वभवस्स जाईए खत्तिथस्स जंसि लोगु त्तमस्स जणणी धण्णासि ते
 पुण्णासि कयत्थासि अम्हेणं देवाणुप्पिए अहेलोगवत्थव्वाओ अह
 दिसा कुमारी महत्तरिआओ भगवओ तित्थयेरस्स जम्मण महिं
 करिस्सामो तण्णं तुब्भेहिं न भीहव्वं”

(श्री जम्बूद्वीप पन्नत्ति)

अर्थ —

दिकुमारियो ने भनवान् तीर्थकर और उनकी माताके पास आकर तीन बार परिक्रमा
 कर तिरपर अजलि बाध कर कहा कि—हे रत्नकुक्षिधारिके ? तुम्हारे लिये मेरा नमस्कार है।
 देवि । संसार की सम्पूर्ण बन्तुओ को दोषकी तरह प्रकाशित करने वाले तीर्थकर देवकी तुम उ
 त्पन्न करनेवाली हो जो जगत्के सम्पूर्ण पदार्थों का यथाथ स्वरूप दिखलाने वाले नेत्रके समान
 हैं जिनकी घाणी सत्र प्राणियोंका उपकार करने वाली सम्यग्ज्ञान, ध्यान, और धारित्र का
 उपदेश देने वाली, सब व्यापक तथा सबके हृदयमें प्रवेश करनेवाली है। जो तीर्थकर देव
 राग द्वेषकी जीतनेवाले उत्कृष्ट ज्ञानके स्वामी नयक और बुद्ध यामी सब पदार्थों के यथार्थ स्वर
 रूप को जानने वाले हैं जो सत्र प्राणियों के हृदयमें घोधि घोज के स्थापक और सबकी
 रक्षा करन वाले और सबके घोधक हैं जो ममतारहित उत्तमकुलमें जन्मे हुए क्षत्रिय वंश
 धर हैं। ऐसे तीर्थकर देवकी तू जन्मी है इसलिये हे देवि । तू धन्य है पुण्यवती है और
 कृतार्थ है। हे देवि ! हम लोग अधोर्लोकमें निवास करनेवाली दिकुमारिका हैं हम तीर्थकर
 देवके जन्मकी महिमा करेंगी अत आप किसी प्रकारका भय न करें।

यहा दिकुमारियों द्वारा तीर्थकर और उनकी माताको वन्दना नमस्कार किया
 जाना तथा उनका गुणग्राम किया जाना कहा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि

से अधिक गुणवान् सम्यग्दृष्टिको वन्दना नमस्कार करना तथा उसका गुणानुवाद करना धर्म है पाप नहीं है तथापि भ्रमविध्वंसनकार अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टिके गुणानुवादको तो धर्म और वन्दना नमस्कार को पाप बतलाते हैं यह इनका व्यामोह है। जब कि अपने से अधिक सम्यग्दृष्टिके गुणप्राप्त करनेमें धर्म होता है तब फिर वन्दना नमस्कार करने से पाप कैसे हो सकता है ? यह विचारना चाहिये। अतः अपनेसे श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुष की वन्दना नमस्कार को पाप कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये।

[बोल ५ वां समाप्त]

(प्रेरक)

जन्मते तीर्थं करको इन्द्रने, तथा जन्मते तीर्थंकर और उनकी माता को दिक्षुमारियोने वन्दन नमस्कार और गुणप्राप्त किये थे इस दाखलासे यद्यपि अपने से श्रेष्ठ सम्यग्दृष्टि पुरुषका वन्दन नमस्कार करना तथा उनका गुणप्राप्त करना धर्म सिद्ध होता है तथापि भ्रमविध्वंसनकार इस बातको मिथ्या सिद्ध करनेके लिये भ्रम० पृ० २८४ के ऊपर जम्बूद्वीप पत्रति का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ इहा कश्यो तीर्थंकर जन्म्या ते द्रव्य तीर्थंकरने इन्द्र नमोऽस्थुण गुणे नमस्कार करे ते पिण इन्द्रनी रीति हुन्ती ते साचवे पिण धर्म जाणे नहीं। तीण ज्ञान सद्दिग्द इन्द्र एकावतारीने पिण पर पुठे जनम्या छता द्रव्य तीर्थंकर नो विनय करे नमोऽस्थुण गुणे ते लौकिक संसारनी रीति साचवे पिण मोक्ष हेते नहीं।” (भ्र० पृ० २८४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जन्मते तीर्थंकरको वन्दना नमस्कार, इन्द्र धर्म जान कर नहीं करते इसमें कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहे कि मूलपाठमें “जीय मेयं” ऐसा पाठ आया है और इस पाठका अर्थ यह है कि इन्द्र जन्मते समय तीर्थंकरको वन्दना नमस्कार करना अपना पुराना आचार बतलाता है अर्थात् पुराने इन्द्रोने पुराने तीर्थंकरको वन्दन नमस्कार किया है इसलिये वर्तमान इन्द्र भी वर्तमान तीर्थंकरको वन्दना नमस्कार करके पुरातन रीतिका पालन करता है पर इस काट्यको वह धर्म समझ कर नहीं करता तो यह मिथ्या है क्योंकि केवल-ज्ञान उत्पन्न होने पर जहा देवताओंने तीर्थंकर को वन्दना नमस्कार किया है वहा भी “जीय मेयं देवा” यही पाठ आया है। ‘अर्थात् ई देवताओं। तीर्थंकरोंको वन्दन नमस्कार करना तुम्हारा पुराना आचार है।’ फिर तो भ्रम-वालों के हिसाबसे केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी तीर्थंकरको वन्दना नमस्कार

करना धर्म नहीं होना चाहिये क्योंकि उस समय भी पुराने आचारके अनुसार ही वन्दन नमस्कार करना कहा है परन्तु यदि केवल ज्ञान होने पर तीर्थंकरको वन्दना नमस्कार करना पुराने रिवाजके अनुसार किये जाने पर भी पाप नहीं है किन्तु धर्म है तो उसी तरह जन्मते तीर्थंकर को पुराने रिवाजके अनुसार कियो जाने वाला इन्द्रका वन्दन नमस्कार भी पाप नहीं है किन्तु धर्म है ।

जैसे जन्मते समय इन्द्रादि देव भगवान्की जन्म महिमा करनेके लिये आते हैं उसी तरह केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी केवल ज्ञानकी महिमा करनेके लिये भगवान्के पास वे आते हैं । शास्त्र के अन्दर जन्म महिमाके पाठोंका संकोच करके पाचों कल्याणोंका पाठ आया है अब सभी पाठोंमें जन्म महिमाके पाठके समान ही "जिय मेयं" यह पाठ समझना चाहिये । तथा लोकान्तिक देवता जहा तीर्थंकर को प्रतिबोध देनेके लिये आते हैं वहां भी पूर्व पाठका सङ्कोच करके "जिय मेयं" यह पाठ आया है । इस लिये जो लोग "जिय मेयं" ऐसा पाठ आनेसे जन्मते तीर्थंकर को इन्द्र का वन्दन नमस्कार किया जाना पाप बतलाते हैं उनके दिसासे पाचों कल्याणोंके समय जो देवता भगवान्को वन्दन नमस्कार करते हैं उन सभीको पाप ही कहना चाहिये तथा लोकान्तिक देवता पुराने रिवाजके अनुसार जो तीर्थंकर देवको प्रतिबोध देते हैं वह भी पाप ही कहना चाहिये । जहा लोकान्तिक देवता तीर्थंकरको प्रतिबोध देनेके लिये आये हैं वहाका पाठ यह है—

“तत्तेषां तेषिं लोगतियाणं देवाणं पत्तेयं २ आसणाहं चलंति ।
 तहेवजाव अरहंताणं निक्खममाणं संवोहणं करंसेएत्ति तंगच्छामोणं
 अम्हेएवि मल्लिस्स अरहतो संवोहणं करेमित्ति कट्टु एवं संपेहंति २
 उत्तर पुरच्छिमं दिसिभायं वेउब्बिय समुग्घाएणं समोहणंति २ संखि-
 ज्जाहं जोयणाहं एवं जहा जंभगा जाव जेणेव मिहिला रायहाणी
 जेणेव कुम्भगस्स रण्णो भवणे जेणेव मल्ली अरहा तेणेव उवाग-
 ळ्ळंति २ अंतलिक्खपडिवन्नां सल्लिखिणिआहं जाववत्थातिं पव
 रपरिहिया करंयल ताहिं इट्ठा एवं वयोसी वुज्जाहिं भगवं लोण
 नाहा पवत्तेहिं घम्मतित्थां जीवाणं हिय सुख निस्सेयसकरं भविस्स-
 तीत्ति कट्टु दोबं पि तच्चं पि एवं वयंति २ मल्लि अरहं वदंति नमं-
 सीत्ति २ जामेव दिसं पाउमुया तामेव दिसिं पडि गया ।”

इस पाठम जाव शब्दसे जिस पूरे पाठका संकोच किया गया है। यह पाठ यह है—

“तएणं लोमंतिया देवता आसणाहं चलिताहं पारांति पारांतित्ता जोहिं पाउज्जंति २ मल्लिं अरहं ओहिणा आभोएंति २ । इमेयाखे अज्जत्थिए जाव समुत्पब्बित्था एव खलु जन्मू द्वीवे दीवे भारए वासे मिथिलाए कुम्भगस्स मल्लो अरहा निधखमिस्सामोत्ति मन्ं पहारंति तंजीयमेयं तीय पच्छुपन्न मणागयाणं लोमंतियाणं”

इस पाठमें “जीयमेयं” यह वाक्य आया है और पूरे लिखित पाठमें जाव शब्द ३ इमं पाठका संकोच किया है। इस लिये उस पाठमें भी “जीय मेय” इस वाक्यका उद्भाव है। ऐसी दशामे लोकान्तिक देवताओंने जित आचारके अनुसार जो महिनाय भोको प्रतिबोध दिया है उसे भी भ्रम० कारके हिसाबसे सावध ही कहना चाहिये। यदि ‘जीयमेय’ इस पाठके होनेपर भी प्रतिबोध देना सावध नहीं है तो जित आचारके अनुसार जन्मने तीर्थकरको इन्द्रका वन्दन नमस्कार भी सावध नहीं है। अथ उक्त पाठ का पाठकाके ज्ञानार्थ अर्थ किया जाता है—

अर्थ —

इसके अनुसार लोकान्तिक देवताओंके प्रत्येक आसन डोलने लगे। यह देखकर दश-भोने अवधि नामका प्रयोग करके अरिह त महिनायजीको समझा। पश्चात् उनका मनमें यह विश्व उल्लन्न हुआ कि जन्म द्वीपके भारतवर्षमें मिथिला नगरीके राजा कुम्भकी पुत्री भगवान् महिनायजी की शा एनेका विचार कर रहे हैं। अतः भूत भविष्यत और वर्तमान कालका हमारा जित आचार है कि तीर्थकरके पास जाकर हम उनको प्रतिबोध देते हैं। इस आचारके अनुसार भगवान् महिनायजीके पास भी जाना चाहिये। यह सोचकर लोकान्तिक देवताओंने ईशान कोण में जाकर वैश्विय समुत्पात किया। और सज्जात योजनस्व दण्ड निकाल कर उत्तर वैश्विय शरीर बनाया। उसे बनाकर ये देवता जन्मक देवोंकी तरह मिथिला नगरीके कुम्भक राजाक मकानपर भगवान् महिनायजीके पास आये। वहाँ आकाशमें स्थित घुघूरु बनाते हुए उत्तम वस्त्र पहने हुये हाथ जोड़कर सधुर धचनोंसे कहने लगे कि हे भगवान् ! हे लोवनाय ! प्रतिबोध प्राप्त करो और धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करो जिसमें जीयोंकी हित छल और ति श्रेयसकी प्राप्ति हो। इसी प्रकार दो तीन बार कहकर और वन्दना नमस्कार करके लोकान्तिक देवता जहासे आये थे वहाँ वापस चले गये।

यहां भी जित आचारके अनुसार ही लोकान्तिक देवताओंका महिनाय भग-वानको प्रतिबोध देना कहा है। फिर इसे भी भ्रमविध्वसनकारको सावध ही समझना चाहिये।

यदि कही कि भगवान्के जन्म समयमे देवता लोग बहुतसा आरभ समारभ भी करते हैं वह जैसे सावद्य है उसी तरह उस समयका वन्दन नमस्कार भी सावद्य है तो फिर केवल ज्ञान होने पर भी भगवान्को वन्दना नमस्कारों देवता लोग आते हैं और आरंभ समारभ करते हैं फिर उस आरभ समारंभकी तरह उस समयका वन्दना नमस्कार सावद्य क्यों नहीं माना जाता ? अत जैसे केवल ज्ञान होने पर देवता लोगोवे गमना गमन आदि रूप क्रियाके सावद्य होने पर भी भगवान्का वन्दना नमस्कार सावद्य नहीं होता उसी तरह जन्मोत्सवमें भी आरभ समारंभके सावद्य होने पर भी भगवान्के वन्दन नमस्कार करना सावद्य नहीं होता किन्तु धर्म होता है इस प्रकार शास्त्रीय प्रमाणसे अपनेसे अधिक गुणवान सम्यग्दृष्टि का शुभ्रूपा विनय करना धर्म सिद्ध होत है पाप नहीं । अत साधुके सिवाय दूसरोके विनयको सावद्य कहना एकान्त मिथ्य समझना चाहिये ।

बोला ६ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८१ के ऊपर लिखते हैं कि “इहाँ चक्र उपनो सुण्यो तिहा भरतजी इसो विनय कीधो पछे चक्र कने आवी पूजा कीधी । ते ससागरी रीते पिण धर्म हेते नहीं । तिम अम्बडने चेला पिण आपरो निज गुरु जाण गुरुनी रीति साचवी पिण धर्म न जाण्यो” इत्यादि । (ध० पृ० २८१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भरतने जो चक्रकी पूजा की थी उसका दृष्टान्त अम्बडजीके साथ देना अज्ञान है क्योंकि चक्र तो प्रत्यक्ष ही स्थावर एकेन्द्रिय और मिथ्यात्वी है । उसकी पूजा करना मिथ्यात्वीकी पूजा करना है जो सम्यग्दृष्टिके लिये धर्मका कारण नहीं है अपितु उसके व्रतका अतिचार है । परन्तु अम्बडजी वारह व्रत धारी श्रायक और सम्यग्दृष्टि थे । उनको वन्दना नमस्कार करना सम्यग्दृष्टिको वन्दना नमस्कार करना है । अत, वह चक्र पूजाकी तरह लौकिक रीतिके पालनाथ नहीं है किन्तु धर्मार्थ है । अत चक्र पूजाका दृष्टान्त देकर अम्बडजीके वन्दन नमस्कारको सावद्य बतलाना अज्ञान है ।

(प्रेरक)

आवककी सेवा भक्ति करनेसे क्या फल मिलता है । यह सप्रमाण बतलाइये ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र श्लोक २ उद्देशा ५ मे श्रावककी सेवा भक्ति करनेका शास्त्र श्रवणसे उक्त मोक्ष पर्यन्त फल बतलाया है। वह पाठ यह है—

“तद्वा स्वैणं भन्ते ! समणवा माहनवा पञ्जुवासमाणस्स किं फला पञ्जुपासणा ? गोयमा ! सवणफला सेण भन्ते ! सवणे कं फले । पाणफले, सेणं भन्ते ! पाणे किंफले विण्णाणफले । सेणं त्ते विण्णाणे किं फले पच्चक्खाण फले । सेणं भन्ते ! पच्चक्खाणे कि फले, संजम फले । सेणं भन्ते ! संजमे कि फले, अणहणय फले । एवं अणहणय तव फले तवे वोदारण फले वोदारणे अकिरियाफले । सेणं भन्ते ! अकिरिया किं फला सिद्धिपल्लवसाणफला पण्णात्ता गोयमा !”

(भ० श० २ उ० ५)

अर्थ —

हे भगवन् तथा रूपके श्रमण और माहनकी सेवा करनेसे क्या फल होता है ? (उत्तर) गोयम ! शास्त्रका (धर्मका) श्रवण फल होता है । (प्रश्न) हे भगवन् ! शास्त्रके श्रवणसे क्या फल होता है ? (उत्तर) हे गोयम ! शास्त्रीय सिद्धान्तका ज्ञान प्राप्त होता है । (प्रश्न) श्रवणसे क्या फल मिलता है ? (उत्तर) ज्ञानसे त्यागने योग्य और स्वीकार करने योग्य वस्तुका भेद (विज्ञान) फल प्राप्त होता है । (प्रश्न) विज्ञानका क्या फल होता है ? (उत्तर) ज्ञानसे पापोंका प्रत्याख्यान होता है । (प्रश्न) पापोंके प्रत्याख्यानसे क्या फल होता है ? (उत्तर) पापोंके प्रत्याख्यान करनेसे संयमकी प्राप्ति होती है । (प्रश्न) संयमका क्या फल होता है ? (उत्तर) संयमसे आश्रयका निरोध होता है । (प्रश्न) आश्रय निरोधसे क्या फल होता है ? (उत्तर) आश्रयके निरोधसे तप रूप फल होता है । (प्रश्न) तपसे क्या फल मिलता है ? (उत्तर) तपसे कर्मों की निवृत्ति होती है । (प्रश्न) निवृत्तिका क्या फल है ? उत्तर) निर्जात योगोंका निरोध होता है । (प्रश्न) योग निरोधका क्या फल है ? (उत्तर) योग निरोधसे मोक्षका अन्त स्वरूप मोक्ष प्राप्त होता है ।

इस पाठमे तथा रूपके श्रमण और माहनकी सेवा भक्ति करनेसे धर्म श्रमणसे उक्त मोक्ष पर्यन्त फल मिलना कहा है और इस पाठकी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि गोयम नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है। वह टीका यह है “श्रमण साधुना-मना भक्ति करना धर्म सिद्ध होता है। अतः श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है। वह टीका यह है “श्रमण साधुना-मना भक्ति करना धर्म सिद्ध होता है। अतः श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावक” । अत इम पाठसे

इस पाठमे श्रावकको धर्माग्यायी कहकर बतलाया है । धर्माख्यायो उसे कहते हैं जो धर्मका उपदेश देता है जैसे कि इस शब्दका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है ।

धर्म माग्याति भव्याना प्रतिपादयति इति धर्माख्यायी”

अर्थात् भव्य लोगोंके समक्ष जो धर्मका प्रतिपादन करता है वह धर्माख्यायी कहा जाता है । इस प्रकार इस पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी धर्मका उपदेश करता है अतः परतीर्थी धर्मोपदेशरुकी तरह स्वतीर्थी धर्मोपदेशरु भी दो तरहके होते हैं अतः भगवतीके उक्त पाठमें भी श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ समझना चाहिये परन्तु दोनोंका एक साधु ही अर्थ नहीं । अतः माहन शब्दका साधु ही अर्थ करना हठवादियोंका काम समझना चाहिये ।

[बोल ८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

किसी श्रावकने धर्मोपदेश देकर यदि किसीको धार्मिक बनाया हो तो बतलाइये ।

(प्ररूपक)

प्रथम तो अम्बडजीने ही अपने ५०० शिष्योंको उपदेश देकर बारह व्रत धारण कराये थे यह बात सुन भ्रमविध्वंसनकारने भी लिखी है । दूसरी बात यह है कि सुबुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजाको धर्मोपदेश देकर बारह व्रतधारी श्रावक बनाया था । वह पाठ यह है—

“तत्तेणं सुबुद्धी जितसत्तुस्स विचित्रं केवलपन्नत्तं चावज्जामं धम्मं परिकहेह । तमाइक्खति जहाजोवा बुज्झंति जाव पंच अणुव्वयातिं । तत्तेणं जित सत्तु सुबुद्धिस्स अंतिए धम्मं सोच्चाणिसम्म हह सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासो—सद्धामिणं देवाणुप्पिया ! णिगंथां पावयणं ३ जाव से गहेयं तुभे वयह । त इच्छामिणं तव अ पंचाणुव्वहय सत्तसिक्खावहयं जाव उवसंपज्जित्ताणं अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिवधं करेह । तएणं से द्विस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वहयं जाव दुचालसविहं पडिचज्जड । तत्तेणं जित सत्तु समणोवासए पडिलभमाणे विहरह”

(ज्ञाता

अर्थ —

इसके अनन्तर छत्रुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजासे केवलसे कहा हुआ चार महामत वाला विचित्र धर्म कहा और इस प्रकार राजाको समझाया जिससे जीव प्रतिघोष प्राप्त करके आराधक बन जाते हैं। तथा पाच अनुव्रत रूप श्रावक धामका नी सपिस्तर उपदेश किया। इसके अनन्तर जित शत्रु राजाने छत्रुद्धि प्रधानसे कहा कि हे देवानुप्रिय। मैं निर्पथ पंचनमें श्रद्धा धारण करता हूँ और तुम्हारे उपदेशानुसार श्रावकोंके बारह व्रतोंको तुमसे ग्रहण कर रहना चाहता हूँ। यह उन कर छत्रुद्धि प्रधानने कहा कि हे देवानुप्रिय। तुम्हारे साथ यह कार्य करो विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। तदनन्तर जित शत्रु राजाने छत्रुद्धि प्रधानसे बारह प्रकारके श्रावकोंके व्रत ग्रहण किये और यह श्रमणोपासक होकर जीव तथा अजीवको जानकर यावत् साधुओंको दान देता हुआ विचरने लगा।

यहां सुबुद्धि प्रधानके उपदेशसे जित शत्रु राजाका बारह व्रत धारण करना स्पष्ट रूपसे कहा गया है। यह श्रावकोंके धर्मापदेशक होनेका मूल सूत्रोक्त उदाहरण है। इस लिये स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी साधु और श्रावक दोनो ही होते हैं तथापि भ्रमविध्वसनकार जो स्वतीर्थी धर्मोपदेशक एक साधुको ही बतलाते हैं श्रावकोंको निषेध करते हैं यह इनका अज्ञान समझना चाहिये अतः भगवती सूत्र शतक २ उ० ५ के मूलपाठमें जो श्रमण और माह्नकी सेवा भक्ति करनेसे शास्त्र श्रमणमें लेकर मोक्ष पर्यन्त फल मिलना कहा है उसके अनुसार श्रावककी सेवा भक्ति भी मोक्ष फल देने वाली सिद्ध होती है इसीलिये श्रावककी सेवा भक्तिको एकान्त पाप कहना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २९६ के ऊपर लिखते हैं कि “अने किण्डीक ठामे टीकामें माह्नना अर्थ प्रथम तो साधु इज कियो। अने धीजो अर्थ अथवा श्रावक इम कियो छै। पिण मूल अर्थ तो श्रमण माह्न नो साधु इज कियो”

इसका समाधान ?

इस पाठमे श्रावकको धर्माख्यायी कहकर बतलाया है । धर्माख्यायी उसे कहते हैं जो धर्मका उपदेश देता है जैसे कि इस शब्दका अर्थ टीकाकारने इस प्रकार किया है ।

धर्मं मारयाति भग्याना प्रतिपादयति इति धर्माख्यायी”

अर्थात् भव्य लोगोंके समक्ष जो धर्मका प्रतिपादन करता है वह धर्माख्यायी कहा जाता है । इस प्रकार इस पाठसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावक भी धर्मका उपदेश करता है अतः परतीर्थी धर्मोपदेशककी तरह रवतीर्थी धर्मोपदेशक भी दो तरहके होते हैं अतः भगवतीके उक्त पाठमे भी श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ समझना चाहिये परन्तु दोनोंका एक साधु ही अर्थ नहीं । अतः माहन शब्दका साधु ही अर्थ करना हठवादियोंका काम समझना चाहिये ।

[बोल ८ वां समाप्त]

(प्रेरक)

किसी श्रावकने धर्मोपदेश देकर यदि किसीको धार्मिक बनाया हो तो बतलाइये ।

(प्ररूपक)

प्रथम तो अम्बडजीने ही अपने ५०० शिष्योंको उपदेश देकर बारह व्रत धारण कराये थे यह बात सुद्ध भ्रमविध्वंसनकारने भी लिखी है । दूसरी बात यह है कि सुबुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजाको धर्मोपदेश देकर बारह व्रतधारी श्रावक बनाया था । वह पाठ यह है—

“तत्तेणं सुबुद्धी जितसत्तुस्स विचिन्तां केवलपन्नत्तं चाउज्जामं धम्मं परिकहेह । तमाइक्खति जहाजोवा वुज्झंति जाव पच अणुव्वयातिं । तत्तेणं जित सत्तु सुबुद्धिस्स अंतिए धम्मं सोच्चाणिसम्म हट्ट सुबुद्धिं अमच्चं एवं वयासो—सद्धामिणं देवाणुप्पिया ! णिगंधं पावयणं ३ जाव से गहेयं तुव्वे वयह । त इच्छामिणं तव अंतिए पंचाणुव्वहयं सत्तसिक्खावहयं जाव उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए । अहा सुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिवंधं करेह । तएणं से जितसत्तु सुबुद्धिस्स अमच्चस्स अंतिए पंचाणुव्वहयं जाव दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जह । तरोणं जित सत्तु समणोवासए अभिगयजीवा जीवे जाव पडिलभमाणे विहरह”

(ज्ञाता अध्ययन १२)

अर्थ —

इसके अनन्तर सुबुद्धि प्रधानने जित शत्रु राजासे संबलिते कहा हुआ चार महाव्रत वाली वित्तिर धर्म कहा और इस प्रकार राजाको समझाया जिससे जीव प्रतिबोध प्राप्त करके आराधक बन जाते हैं। तथा पात्र अनुजत रूप श्रावक धर्मका भी मविस्तर उपदेश किया। इसके अनन्तर नित शत्रु राजाने सुबुद्धि प्रधानसे कहा कि हे देवानुप्रिय ! मैं निर्भय भूषचनमें श्राद्ध धारण करता हूँ और तुम्हारे उपदेशानुसार श्रावकोंके चारह व्रतोंको तुमसे ग्रहण कर रहना चाहता हूँ। यह सुन कर सुबुद्धि प्रधानने कहा कि हे देवानुप्रिय ! छत्रक साथ यह कार्य करो विलम्ब करनेकी आवश्यकता नहीं है। तदनन्तर जित शत्रु राजाने सुबुद्धि प्रधानसे चारह प्रकारके श्रावकोंके व्रत ग्रहण किये और वह श्रमणोपासक होकर जीव तथा अजीवको जानकर याचक साधुओंको दान देता हुआ विचरने लगा।

यहां सुबुद्धि प्रधानके उपदेशसे जित शत्रु राजाका चारह व्रत धारण करना स्पष्ट रूपसे कहा गया है। यह श्रावकोंके धर्मोपदेशक होनेका मूल सूत्रोक्त उदाहरण है। इस लिये स्वतीर्थी धर्मोपदेशक भी साधु और श्रावक दोनों ही होते हैं तथापि भ्रमविध्वसनकार जो स्वतीर्थी धर्मोपदेशक एक साधुको ही बतलाते हैं श्रावकको निषेध करते हैं यह इनका अज्ञान समझना चाहिये अतः भगवती सूत्र शतक २ उ० ५ के मूलपाठमें जो श्रमण और माहनकी सेवा भक्ति करनेसे शास्त्र श्रवणसे लैकर मोक्ष पर्यन्त फल मिलना कहा है उसके अनुसार श्रावककी सेवा भक्ति भी मोक्ष फल देने वाली सिद्ध होती है इसीलिये श्रावककी सेवा भक्तिको एकान्त पाप कटना मिथ्या समझना चाहिये।

(बोल ९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ २९६ के ऊपर लिखते हैं कि 'अने किय-हीक ठामें टीकामें माहनना अर्थ प्रथम तो साधु इज कियो। अने धीजो अर्ग अथवा श्रावक इम कियो छै। पिण मूल अर्थ तो श्रमण माहन नो साधु इज कियो'

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

टीकाकारने पहले श्रमण और माहन शब्दका साधु ही अर्थ किया है और पीछे अथवा कह कर श्रावक अर्थ किया है यह बान मिथ्या है भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ की टीकामें पहले ही टीकाकारने माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है। बड़ टीका यह है।

"माहन"—ति माहनेत्वेनमादिशति स्वयं स्थूलद्राणानिपात्रादितिपृथग्भाष समाहन ।"

अर्थात् जो पुरुष स्थूल प्राणातिपात आदिसे निवृत्त होकर दूसरेको भी नहीं मारने का उपदेश करता है वह माहन कहलाता है ।

यहा टीकाकारने पहले ही पहल माहन शब्दका श्रावक अर्थ किया है । दूसरी बात यह है कि इस टीकाके आगे भगवती शनक २ उद्देशा ५ के अन्दर जो टीका आई है उसमें भी पहले पहल माहन शब्दका अर्थ साधु नहीं किया है । देखिये वह टीका यह है ।

“तथा रूप मुचित्त स्वभाव कश्चन पुरुष श्रमण वा तयोयुक्त मुपलक्षणत्वा दस्योत्तर गुणवन्त मित्यर्थः । माहनंवा स्वयं हनन निवृत्तत्वात्परप्रतिमाहनेतिवादिनम् उपलक्षणत्वा देव मूल गुण युक्त मित्यर्थ । वाञ्छद्वौ समुच्चये । अथवा श्रमण साधुर्माहन श्रावक ”

अर्थात् जो कोई पुरुष उचित स्वभाव वाला तपस्यासे युक्त यानी उत्तर गुणसे युक्त हो वह श्रमण कहलाता है और जो स्वयं हिंसामे निवृत्त होकर दूसरेको नहीं मारनेका उपदेश देने वाला, यानी मूल गुणसे युक्त हो वह “माहन” कहलाता है । अथवा श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है ।

यहा टीकाकारने पहले पहल श्रमण शब्दका “उत्तर गुण युक्त” और माहन शब्दका “मूलगुण युक्त” अर्थ किया है । मूल गुण और उत्तर गुण साधु और श्रावक दोनों के होते हैं केवल साधुके ही नहीं इस लिये पहले अर्थमें श्रमण और माहन शब्दसे मूल गुण और उत्तर गुणसे युक्त साधु और श्रावक दोनों ही का ग्रहण होता है केवल साधुका ही नहीं । दूसरे अर्थमें तो टीकाकारने साफ साफ खोलकर लिख दिया है कि “श्रमण नाम साधुका और माहन नाम श्रावकका है ।” अतः उक्त टीकाका नाम लेकर माहन शब्दका श्रावक अर्थ होनेमे टीकाकारकी अरुचि घताना अज्ञानका परिणाम है ।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २८७ के ऊपर भगवती सूत्र शतक १५ वें का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं कि—

“अथ अठे सुनक्षत्र सर्वाभूति मुनि गोशालने कथ्यो । हे गोशाला ! जे तयारूप श्रमण माहन कने एक वचन सीखे तेहने पिण वादे नमस्कार करे कल्याणिक मागलिक देवयं खेइय जाणीने घणी सेवा करे । इहा श्रमण माहन कने सीखे तेहने बन्दना नमस्कार करणी कही । पिण श्रमणोपासकने सीखे तेहने बन्दना नमस्कार करणी इम न कथ्यो । श्रमण माहननी सेवा कही पिण श्रमणोपासकरी सेवा न कही । एतो प्रत्यक्ष

श्रावकने टाल दियो । अने श्रमण माहनने वदना नमस्कार फणो कहो ते माटे श्रावक ने नमस्कार करे ते कार्य्य आजा चाहिरे छै । (अ० पृ० २८७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १५ वें के मूलपाठका प्रमाण लेकर यह कहना कि "श्रावकसे मीचे, पर उसको वदना नमस्कार नहीं कर" एकान्त मिथ्या है । उक्त पाठमें साधु और श्रावक इन दोनोंसे सीखना, और दोनोंको ही वदन नमस्कार करना कहा है श्रावकको नमस्कार करनेका निषेध नहीं किया है । इस पाठमें भगवती शतक २ उद्देश ५ क पाठके समान ही श्रमण और माहनसे सीखना तथा उनको वदना नमस्कार करना कहा है । इसलिये यहाँ भी पूर्ववत् ही श्रमण शब्दका साधु और माहन शब्दका श्रावक अर्थ है । भगवतीके इस पाठसे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधु और श्रावक इन दोनों ही से सीखे और दोनों ही को वदन नमस्कार करे तथा यह बात साधारण मनुष्य भी समझ सकता है कि जज श्रावकसे सीखना मना नहीं है तब फिर उसको वदन नमस्कार करना मना कैसे हो सफता है ? परन्तु भ्रमविध्यसनकार जो श्रावकसे सीखने का निषेध न करते हुए भी उसको वदन नमस्कार करनेका निषेध करते हैं यह एकमात्र जनका हठराद और जनतामें कृतप्रताका प्रचार करना है क्योंकि श्रावक से सीख कर उससे अपना कार्य्य तो करा लेना पर उसको वदन नमस्कार नहीं करना इससे घट कर कृतप्रता और क्या हो सकती है ? अतः श्रावकसे धर्म सीख कर भी उसको वदन नमस्कार नहीं करनेकी प्ररूपणा एकान्त मिथ्या और शास्त्र विरुद्ध है ।

यदि कोई कहे कि "इस पाठमें श्रमण माहनका विशेषण "अत्याण मगल देव्य इय" यह आया है । और यह विशेषण श्रावक आदि किसी दूसरेमें न आकर एकमात्र साधु और तीर्थकरोंमें ही आता है इसलिये वहा माहन शब्दका श्रावक अर्थ नहीं है बल्कि साधु ही है तो यह मिथ्या है । उवाई सूत्रके मूलपाठमें पूर्ण भद्र नामक यज्ञी में भी "अत्याण मगल देव्य चेइय" ये विशेषण आये हैं । वह पाठ यह है—

"बहुजणस्स आहुरस्स आहृणिज्जे पाहृणिज्जे अचणिज्जे वद-
ज्जे नमंसणिज्जे पूयणिज्जे सप्पारणिज्जे सम्माणणिज्जे कट्ठाण
लं देव्यां चेइय विणएण पज्जुवासणिज्जे"

(उवाई सूत्र)

यह पाठ पूर्ण भद्र नामक यज्ञके लिये आया है। इसमें पूर्ण भद्र नामक यज्ञके लिये “कल्याण मङ्गल देवयं चेद्भ्यं” यह विशेषण आया है। इसलिये ये विशेषण साधु और तीर्थकरोंके लिये ही आते हैं यह नियम नहीं है इसलिये इन विशेषणोंका नाम ले कर भगवतीके १५ वें शतकके मूलपाठमें माहन शब्दका श्रावक अर्थ होनेका निषेध करना अज्ञानमूलक समझना चाहिये।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार उत्तराध्ययन सूत्रकी बहुतसी गाथाओं को लिख कर उन की साक्षीसे माहन शब्दका एक मात्र साधु ही अर्थ होना बतलाते हैं श्रावक नहीं।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंमें जो “माहन” या ब्राह्मणका लक्षण लिखा है वह लक्षण केवल साधुमे ही मिलता हो श्रावकमें न मिले यह बात नहीं है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्रमे माहन (ब्राह्मण) का लक्षण यह लिखा है—

“समयाए समणो होई । वंभचरेण वंभणो ।

नाणेणय मुणि होई । तवेण होई तावसो”

(उत्तराध्ययन सूत्र)

अर्थ —

अर्थात् सब जीवोंमें समता रखनेसे भ्रमण होता है और ब्रह्मचर्य्यं धारण करनेसे ब्राह्मण (माहन) होता है। तथा ज्ञानसे मुनि और तपस्या करनेसे साधु होता है।

यहा ब्रह्मचर्य्यं धारण करनेसे ब्राह्मण (माहन) होना कहा है और श्रावक भी ब्रह्मचर्य्यं धारण करते हैं जैसे कि अम्बहजी और उनके शिष्य, श्रावक हो कर भी पूर्ण ब्रह्मचारी थे। तथा दूसरे श्रावक भी देशसे ब्रह्मचर्य्यं ब्रह्मको धारण करते हैं इस लिये इस गाथामें कहा हुआ माहन (ब्राह्मण) का लक्षण श्रावकमें भी मौजूद है। अत उत्तराध्ययन सूत्रकी गाथाओंका दाखला देकर एकमात्र साधुको ही माहन कहना और श्रावकको माहन होनेका निषेध करना अज्ञान समझना चाहिये।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २७७ के ऊपर लिखते हैं कि—

“इम जो धर्माचार्य्यं हुवे तो पुत्रकने पिता श्रावकरा व्रतधारे तो तिणरे लेखे पुत्रने धर्माचार्य्यं कही जै इम हिज स्त्री कने भर्तार श्रावकना व्रत धारे तो तिणरे लेखे

स्त्रीने पिण धर्माचार्य कही जौ । तथा सातू बहुकरने प्रन आदरे तथा सेठ गुमास्ताकरने
 प्रन आदरे तो तिणने पिण धर्माचार्य कहिजौ" अने जिणपासे धर्म सीखा तिणने वदना
 करणी कहै तिणरे ऐसी पाछे कहा तं सबने वन्दना नमस्कार करणी" (भ्र० पृ० २७७)

इसका क्या समाधान ?

(प्रहारक)

ठागाह सूत्रके उट्टे ठाणमे कहा है कि पुत्रव, कारणवश साध्वीसे दीक्षा ग्रहण
 कर सकना है पर वह दीक्षा ग्रहण करके माध्वीको वन्दन नमस्कार नहीं करता क्योंकि
 साध्वीको वन्दन नमस्कार करना साधुके कल्पसे विरुद्ध है उसी तरह पिता पुत्र से
 श्वश्रु पुत्रवतू से, और सेठ गुमास्तासे धर्मोपदेश ले सकते हैं पर लोक विरुद्ध होनेसे
 पिता पुत्रको श्वश्रु पुत्र वधूको और सेठ गुमास्ताको वन्दन नमस्कार नहीं करते किंतु
 जिस धर्मोपदेशक श्रावकको वन्दन नमस्कार करनेसे कोई लोकाचारका विरोध नहीं होता
 उसको वन्दन नमस्कार करनेमे कोई दोष नहीं है किंतु धर्म है अत धर्मोपदेशक पुत्र,
 वधू, और गुमास्ताको पिता, श्वश्रु, और सेठ नमस्कार नहीं करत यह दृष्टान्त देकर
 सभी धर्मोपदेशक श्रावकको वन्दन नमस्कार करनेका निषेध करना मित्या समझना
 चाहिये ।

(बोल १२ वां समाप्त)

(इति विनयाधिकार)



अथ पुण्याधिकारः ।

—०—

(प्ररक)

पुण्य किमे कहते ह, ओर उसके किनने भेद ह ।

(प्ररूपक)

“पुनाति पवित्री ऋगोत्सात्मान मिति पुण्यम् ।

अर्थात् जो आत्माको पवित्र करता है उसे पुण्य कहते हैं । वह नव प्रकारका कहे । जैसे कि ठाणाङ्ग सूत्रके नवम ठाणामे यह पाठ आया है—

“नवविहे पुण्णे पन्नत्ते तंजहा—अन्न पुण्णे, पाण पुण्णे, चत्थ पुण्णे, लेण पुण्णे, सयण पुण्णे, मण पुण्णे, वय पुण्णे, काय पुण्णे, नमोक्कार पुण्णे”

(ठाणाङ्ग ठाणा सूत्र)

अर्थ —

पुण्य नौ प्रकारका होता है । जैसे कि—

अन्न दान देना, जल दान देना, वस्त्र देना, मर्दान देना, शय्या आसनादि देना, गुणो पुरुषो में मन को तुष्ट रखना, वचन में प्रशंसा करना, शरीर से उन की सेवा करना, और श्रेष्ठ जनको नमस्कार करना ।

इस पाठका अर्थ करते हुए टीकाकार तथा ट्याकारने लिखा है कि पात्रको अन्नादि दान देनेसे तीर्थंकर नाम गोत्रादि विशिष्ट पुण्य प्रकृति धधती है और साधुसे इतरको दान देनेसे दूसरी पुण्य प्रकृति धधती है इसलिये साधु और उससे इतर पुरुषको दान आदि देनेसे उक्त नव प्रकारका पुण्य होना समझना चाहिये ।

इन पुण्योंके फल ४२ प्रकारके होते हैं । वे भी कार्श्य और कारण के अमेद से पुण्य ही कहलाते हैं । इस प्रकार पुण्य नाम शुभ करणो का भी है और पुण्य-कर्माका भी है ।

(प्रेरक)

पुण्य आदरने योग्य है अथवा त्यागने योग्य है ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके प्रथम ठाणेकी टीकामे पुण्यके दो भेद किये हैं । एक पुण्यानुबन्धी पुण्य, और दूसरा पापानुबन्धी पुण्य । उनमे पुण्यानुबन्धी पुण्य नौ माधन दशामे आदरने योग्य है और पापानुबन्धी पुण्य त्यागने योग्य है ।

(प्रेरक)

पुण्यानुबन्धी पुण्य किसे कहते हैं और उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ?

(प्ररूपक)

‘रोहाद्गोहान्तर कश्चिन् शोभनादधिकं नग याति यद्वन् सुधर्मण तद्वदेव मवाद्भवम्’

(श्लोक हरिभद्रसुरिद्वत्)

अर्था —

जैसे कोई मनुष्य सुन्दर मकानसे निकल कर उससे भी अधिक सुन्दर दूसरे मकानमें जाना है उसी तरह जिस पुण्यके द्वारा जीव, मनुष्यादि उत्तम योनियोंको छोड़ कर उससे भी उत्तम द्वादि योनियोमें जाता है उसे पुण्यानुबन्धी पुण्य कहते हैं। इस ग्यानुबन्धी पुण्यका कारण हरिभद्र सुरिने इस प्रकार बयलाया है।

“दया भूतेषु वैराग्य विधिवद्गुरु पूजनम् ।

विशुद्धा शील वृत्तिश्च पुण्य पुण्यानुबन्ध्यम्”

अर्थात् सत्र प्राणियोके ऊपर दया (अनुकम्पा) रखना, वैराग्य, और विधिवत् गुरु पूजन, तथा अतिचार रहित अहिंसा आदि व्रतोंका पालन करना, ये सब पुण्यानुबन्धी पुण्यके कारण होते हैं।

• आगे चल कर हरि भद्र सुरिने यह भी लिखा है कि मोक्षार्थियोंको पुण्यानुबन्धी पुण्यका आदर करना चाहिये। जैसे कि—

“शुभानुबन्ध्यत पुण्य कर्त्तव्य सर्वथा नरे यत्प्रभावादपातिन्व्यो आयन्त सर्वसम्पदः”

अर्थात् मनुष्योंको पुण्यानुबन्धी पुण्यका आदर करना चाहिये। क्योंकि इसके प्रभावसे अविनश्यर सब सम्पत्तिया प्राप्त होती हैं।

इसमें पुण्यानुबन्धी पुण्यको आदरणीय कहा है। अत मोक्षार्थी पुरुष भी इसका आदर करते हैं।

[बोल १ समाप्त]

(प्रेरक)

मोक्षार्थियोंको पुण्यका फल आदरणीय है या नहीं ?

(प्ररूपक)

साधन दृश्यामे मोक्षार्थियोंको भी पुण्य फल आदरणीय है। शास्त्रमें मोक्ष प्राप्तिके लिये मुख्य कारण कहे हैं। जैसे कि—

“वृत्तारि परमंगाणि दुल्लभाणीह जन्तुणो
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमिय वीरियं”

(उत्तरा० अ० ३)

अर्थ .—

चार घस्तु मुक्तिके परम साधन, और जीवोंके लिए दुर्लभ है। मनुष्य, योनिमें जन्म लेना, धर्म श्रवण करना, धार्मिक श्रद्धा, और संयमके अन्दर सामर्थ्य विशेष ।

यहा मनुष्य जन्मको मोक्ष प्राप्तिका परम साधन कहा है और वह मनुष्य जन्म पुण्य का ही फल है। इस लिये पुण्य फल मोक्षार्थियोंको भी साधन दशामे आदरणीय है। अत जो लोग पुण्य और उसका फलको एकान्त त्यागने योग्य बतलाते हैं वन्धे मिथ्यावादी जानना चाहिये ।

(प्रेरक)

पुण्य आदरणीय है यह बात कहा कही है—

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन अध्ययन १३ गाथा २१ में पुण्यको आदरणीय बतलाया है। वह गाथा यह है—

“इह जीविए राय असासयम्मि घण्णिणयां तु पुण्णाहं अकुब्ब-
माणे । से सोयइ मच्चु मुहो वणीए धम्मं अकाऊण परम्मिलोके”

(उत्तरा० अ० १३ गाथा २१)

अर्थ —

चित्त मुनि कहते हैं कि हे ब्रह्मदत्त ! अशादवत् अर्थात् अनित्य मनुष्यकी आयु पाकर जो पुत्र्य अतिदाय पुण्यका उपार्जन नहीं करता वह मृत्युमुखमें प्रवेश करके धर्मावरण नहीं करने का कारण परलोकमें पश्चात्ताप करता है ।

यहा चित्त मुनिने ब्रह्मदत्तसे मनुष्यकी आयु पाकर पुण्योपार्जन करनेकी आवश्यकता बतलाई है। अत साधन दशामे मोक्षार्थियोंको भी पुण्य आदरणीय सिद्ध होता है ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३०० के ऊपर इस गाथाको लिखकर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा तो बहो है राजन् । अशाश्वत जीवितव्यने विषे गाढा पुण्यना हेतु शुभ अनुष्ठान शुभ करणी न करे ते भरणान्तने विषे पश्चात्ताप करे । इहा पुण्य शब्दे पुण्य नो हेतु शुभ अनुष्ठानने कह्यो” इत्यादि ।

इनके कहनेका तात्पर्य यह है कि इस गायामे पुण्यको आदरणीय नहीं कहा है । अतः मोक्षार्थियोंको पुण्य आदरणीय नहीं है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रारम्भ)

पुण्यके हेतुभूत शुभ अनुष्ठान का आदरणीय होना भ्रमविध्वंसन कार स्वयं फल करते है और शास्त्रके अन्दर शुभ अनुष्ठान, और पुण्य फल इन दोनोंको पुण्य कहकर बतलाया है । इस लिये मोक्षार्थियोंको पुण्य आदरणीय नहीं है यह कहना भ्रमविध्वंसनकारका अपने कथनसे ही विरुद्ध है । यदि वह कहें कि हम पुण्यफलकी अपेक्षा से पुण्यको अनादरणीय कहते हैं परन्तु शुभ अनुष्ठान की अपेक्षासे पुण्यको अनादरणीय नहीं कहते तो इसका उत्तर यह है कि पुण्य फलकी अपेक्षासे भी पुण्यको अनादरणीय कहना भ्रमविध्वंसनकारका अज्ञान है क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्रके १३ वें अध्ययनके २१ वीं गाथामें मनुष्य जन्मको दुर्लभ कह कर मोक्षार्थियोंको भी आदरणीय बतलाया है । तथा उत्तराध्ययन सूत्रके २३ वें अध्ययनमें संसार सागरसे पार होने वाले प्राणियोंके लिये मनुष्य शरीरको नौकाकी तरह आदरणीय बतलाया है । यह पाठ यह है—

“शरीर माहुनावृत्ति जीवोउच्चह नाविओ संसारो अन्नवो उत्तो जं तरंति महेसिणो”

(३० अ० २३ गाथा)

अर्थात् मनुष्य शरीर नौका है जीव उस नावको चलाने वाला नाविक है और यह संसार अन्न है । इसे महर्षि छोड़ पार करते हैं ।

इसमें मनुष्य शरीरको नौकाका दृष्टान्त देकर संसार सागरसे पार जाने वाले प्राणियोंके लिये इसकी परम आवश्यकता बतलाई है । मनुष्य शरीर पुण्यका ही फल है । अतः स्पष्ट सिद्ध होता है कि साधन दशामें पुण्य फल भी मोक्षार्थियोंको आदरणीय है । भगवान् महावीर स्वामीने मनुष्य जन्म मिलना दुर्लभ बतलाते हुए यह कहा है कि—

“दुल्लभे खलु माणुसे भवे चिर काले णवि सव्वपाणिणं”

(३० अ० १०)

“चत्वारि परमंगाणि दुल्लभाणीह जन्तुणो
माणुसत्तं सुहं सद्दा संजमंमिय वीरियं”

(उत्तरा० अ० ३)

अर्थ —

चार घस्तु मुक्तिके परम साधन, और जीवोंके लिए दुर्लभ हैं। मनुष्य, योनिमें जन्म लेना, धर्म श्रवण करना, धार्मिक श्रद्धा, और संयमके अन्दर सामर्थ्य विशेष ।

यहां मनुष्य जन्मको मोक्ष प्राप्तिका परम साधन कहा है और वह मनुष्य जन्म पुण्य का ही फल है। इस लिये पुण्य फल मोक्षार्थियोंको भी साधन दशामे आदरणीय है। अत जो लोग पुण्य और उसके फलको एकान्त त्यागने योग्य बतलाते हैं उन्हें मिथ्यावादी जानना चाहिये ।

(प्रेरक)

पुण्य आदरणीय है यह बात कहा कही है—

(प्ररूपक)

उत्तराध्ययन अध्ययन १३ गाथा २१ में पुण्यको आदरणीय बतलाया है। वह गाथा यह है—

“इह जीविए राय असासयम्मि घणियं तु पुण्णाइं अकुव्व-
माणे । से सोयह मच्चु सुहो वणीए धम्मं अकाऊण परम्मिलोके”

(उत्तरा० अ० १३ गाथा २१)

अर्थ —

चित्त मुनि कहते हैं कि हे ब्रह्मवत्त ! असासवत्त अर्थात् अनित्य मनुष्यकी आयु पाकर जो पुत्र्य अतिशय पुण्यका उपाजन नहीं करता वह मृत्युमुखमें प्रवेश करके धर्माचरण नहीं करने के कारण परलोकमें पश्चात्ताप करता है ।

यहां चित्त मुनिने ब्रह्मवत्तसे मनुष्यकी आयु पाकर पुण्योपाजन करनेकी आवश्यकता बतलाई है। अत साधन दशामे मोक्षार्थियोंको भी पुण्य आदरणीय सिद्ध होता है ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

अम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३०० के ऊपर इस गाथाको लिखकर इसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“तद्धारुवस्त समणस्सवा माहणस्सवा अंतिए एगमपि आरिय
 धम्मिपं सुवयणं सोच्चाणिसम्म तओ भवइ संवेगजायसड्ढे तिच्च-
 प्पमाणुरागरत्ते । सेणं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए
 मोक्खकामए धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गमोक्खकंखिए धम्मपि-
 पासिए पुण्णसग्गमोक्ख पिपासिए तच्चित्तो तम्मणे तल्लेस्से तदज्झ-
 वसिए तत्तिच्चज्जवसाणे तदट्ठोवउत्ते तदप्पियरुणे तच्चभावणाभाविए
 एणंसिणं अंतरंसिकालं करे० देवलो० उव० सेतेणट्ठेणं गोयमा ?”

(म० श० १ उ० ७)

(टीका)

श्रमणस्य साधो वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्व प्रति श्रमणमाह्नवचनयो
 सुव्यत्य प्रकाशनार्थ । “माहण” चि माह्न इत्येव मादिदति स्वय रयूळ प्राणातिपातादि
 निवृत्त त्वाय समाह्न । अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्य्यस्य देशत सद्भावात् । प्राह्मणो दश
 वित तस्यवा अतिके समीपे एकमप्यास्ता तावदनेकम् आर्य्यम् आगथात पाप कर्म-
 इत्यार्य्यम् अतएव धार्मिकम् इति । तदनन्तरमेव “सवेगजाय सद्धिसि संवेगन भय
 मयेन जाता अद्वा अद्धानं धर्मादिपुयस्य म तथा । “तीच्च धम्माणुराग रत्ति” चि तीप्रो
 यो धर्मानुरागो धर्म बहुमान स्तेन रक्खइव य सतथा । “धम्मकामए” चि धर्म श्रुत
 चागिउ ल्यग पुण्य तत्फळ मूर्त शुभ कर्म इति”

अर्थ—

हे गौतम । तथा रूपके श्रमण और माह्न के पास एक भो आर्य्य धर्म सम्प-
 न्धी सुवचनके मुननेसे जीवको उसके वाइ ही भव भय होनेमें धर्ममें अद्वा उत्पन्न होती
 है । और वह तीप्र धर्मानुरागसे गन्त ना हो जाता है । तथा वह जीव, धम्मकामी, पुण्य
 कामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्माकामी, पुण्य — की, स्वर्गप्राप्ति, मोक्षप्राप्ति, धर्म

अर्थात् हे गोतम ! चिरकालके अनन्तर भी मनुष्य जन्म मिलना प्राणियोंके लिये दुर्लभ है ।

ठाणाङ्ग सूत्रके तीसरे ठाणेमें भी मनुष्य जन्मको देव वाञ्छनीय कहा है । वह पाठ यह है—

“ततो ठाणाङ्गं देवेषोहेज्जा । तं० माणुसभवं, आरिये खेत्ते जम्मं, सुकुलपचायाति”

(ठाणाङ्ग ठाणा ३)

अर्थात् देवता भी तीन बातोंको अभिलाषा करते हैं । मनुष्य योनिमें जन्म पाना, आप्य क्षेत्रमें जन्म पाना, और अच्छे कुलमें जन्म लेना ।

यहां मनुष्य जन्मको देव वाञ्छनीय कहा है । तथा उत्तराध्ययनके १०वें यनमें साक्षात् भगवान् महावीर स्वामीने मनुष्य जन्मको दुर्लभ बतलाया है जन्म पुण्यका ही फल है । इस लिये पुण्य फलको एकान्त त्यागने अज्ञान समझना चाहिये ।

(बोल ३ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ २१९ के ऊपर ७ के मूलपाठको लिख कर उसकी समालोचना करते हुए

“इहा नरक जाय ते जीवने अर्थानो राज्यनो मो तीर्थकरे क्हो पिण अर्थ, भोग, राज्य, कामनी वाछा करे ते भोग, राज्य, कामनी वाछा करे ते आज्ञामे नहीं । जिम अर्थ सरावे नहीं तिम पुण्यनी वाछाने स्वर्गनी वाछाने पिण सरावे कामए” ए पाठ कहा माटे पुण्यनी वाछाने सराई कहे तो वाञ्छक क्हो ते पिण स्वर्गनी वाछा सराई क्हणी ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ७ के मूलपाठका नाम बतलाना मिथ्या है । वहाक पाठका अभिप्राय, पाठ और टीका है । वह पाठ यह है—

“तद्गुरुवत्स समणस्सवा माहणस्सवा अंतिए एगमपि आरिय धम्मियं सुवयणं सोच्चाणिसम्म तओ भवइ सवेगजायसद्धे तिव्व-धम्माणुरागरत्ते । सेणं जीवे धम्मकामए पुण्णकामए सग्गकामए मोक्खकामए धम्मकंखिए पुण्णकंखिए सग्गमोक्खकंखिए धम्मपि-पासिए पुण्णसग्गमोक्ख पिपासिए तच्चित्ते तम्मणे तल्लेस्से तदज्झ-वसिए तत्तिव्वज्झवसाणे तदद्दोवउत्ते तदप्पियकरणे तव्भावणाभाविए एयंसिणं अंतरंसिकालं करे० देवलो० उव० सेतेणट्ठेणं गोयमा ?”

(भ० श० १ उ० ७)

(टीका)

श्रमणस्य साधो वाशब्दो देवलोकोत्पादहेतुत्व प्रति श्रमणमाहनवचनयो स्तुल्यत्व प्रकाशनार्थ । “माहण” ति माहन इत्येव मादिशक्ति स्वय स्थूल प्राणातिपातादि निवृत्त त्वाय समाहन । अथवा ब्राह्मणो ब्रह्मचर्य्यस्य देशत सद्भान्त । ब्राह्मणो देश विरत तस्यवा अतिके समीप एकमप्यास्ता तावदनेकम् आर्य्यम् आराशात पाप कर्म-इत्यार्य्यम् अतएत्र धार्मिकम् इति । तदनन्तरमेव “सवेगजाय सद्दित्ति सवेगेन भय मयेन जाता श्रद्धा श्रद्धान धर्मादिपुयस्य स तथा । “तीव्व धम्माणुराग रत्ति” ति तीप्रो यो धर्मानुरागो धर्म बहुमान स्तेन रत्तइव य सतथा । “धम्मकामए” ति धर्म श्रुत चारित्र लक्षण पुण्य तत्फल मूत शुभ कर्म इति”

अर्थ —

हे गौतम ! तथा रूपके श्रमण और माहन के पास एक भो आर्य्य धर्म सम्य-न्धी सुवचनके सुननेसे जीवको उसके बाद ही भव भय होनेसे धर्ममे श्रद्धा उत्पन्न होती है । और वह तीव्र धर्मानुरागसे रक्त सा हो जाता है । तथा वह जीव, धर्मकभी, पुण्य कामी, स्वर्गकामी, मोक्षकामी, धर्मकाक्षी, पुण्य काक्षी, स्वर्गकाक्षी, मोक्षकाक्षी, धर्म पिपासित, तथा उनमे चित्त, देह्या, अध्यवसाय, और तीव्र अध्यवसाय (प्रयत्न विशेष) वाला होता है । एव उक्त धर्मादि अर्थों में उपयोग रगता हुआ तथा बन्धीमें अपने इन्द्रियोको अर्पण किया हुआ और उनकी भावनासे भावित (वासित) होता हुआ यदि उधी कालमें मरणको प्राप्त होता है तो वह देवलोकेमें उत्पन्न होता है ।

यहा तथा रूपके श्रमण और माहनसे आर्य्य धर्म गी.सुवचन
सुननेसे जीवको वैराग्य, धर्मप्रेम तथा धर्म पुण्य स्वर्ग और
होकर स्वर्ग प्राप्त करना बतलाया है । यह बतलाकर रूपके

वाक्यके श्रवण करनेसे ही जीवको पुण्य कामना होना यहा कहा है । वह पुण्य कामना यदि बुरी है तब तो तथा रूपके श्रमण माह्नसे सुवाक्य सुनना भी बुरा ही कहना होगा क्योंकि उसीके सुननेसे जीवको पुण्य कामनाका होना इस पाठमें कहा है । यदि तथा रूपके श्रमण माह्नसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुनना बुरा नहीं है तब फिर उस वाक्यके सुननेसे उत्पन्न होने वाली पुण्य भावना या पुण्य कामना भी बुरी नहीं हो सकती है । तथा पुण्य शब्दका अर्थ करते हुए टीकाकार लिखते हैं—

“धर्मा श्रुत चारित्र लक्षण पुण्यं तत्फलभूतं शुभ कर्म”

अर्थात् श्रुत और चारित्रको धर्म कहते हैं और उस श्रुत चारित्र रूप धर्मका जो शुभ कर्म रूप फल है वह पुण्य कहलाता है । उस पुण्यको जो बुरा बतलाता है उसके हिसाबसे तो श्रुत और चारित्र रूप धर्म भी बुरा ही ठहरता है क्योंकि श्रुत और चारित्र लक्षण धर्मका ही फल यहा पुण्य कहा है । वह पुण्य यदि त्याज्य होगा तो फिर उसका कारण श्रुत चारित्र रूप तथा उसका भी कारण श्रमण माह्नसे सुवाक्य सुनना त्याज्य ही ठहरेंगे । अत इस पाठका नाम लेकर पुण्यको त्याज्य कायम करना मिथ्या है ।

यदि कहो कि इस पाठमें तो आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे स्वर्गकामना होना भी लिखी है वह स्वर्ग कामना जैसे अच्छी नहीं कही जा सकती उसी तरह पुण्य कामना भी अच्छी नहीं कही जा सकती है तो यह भी मिथ्या है क्योंकि जो स्वर्ग कामना मोक्षकी प्रतिबन्धिका नहीं है किन्तु उसमें सहायता पहुचाने वाली है उसीका यहा कथन है । जो मोक्षको रोकती है उसका नहीं । पहले पहल इस पाठमें श्रमण माह्नके सुवाक्य सुननेसे जीवको वैराग्य उत्पन्न होना कहा है । तदनन्तर स्वर्ग कामना लिखी है । वह स्वर्ग कामना मोक्षको सहायता देने वाली ही यहा समझनी चाहिये उसमें विघ्न डालने वाली नहीं क्योंकि जिसको ससागसे वैराग्य हो जाता है वह जीव मोक्ष प्राप्तिके बाधक वस्तुकी अभिलाषा नहीं करता किन्तु उसके अनुकूल वस्तुकी ही इच्छा करता है । इसलिये इस पाठमें जो स्वर्ग कामना कही है वह भी मोक्षके अनुकूल होनेसे अच्छी ही है बुरी नहीं है । अत उसका दृष्टान्त देकर पुण्य कामनाको बुरी बतलाना मिथ्या है । वास्तव में तथा रूपके श्रमण माह्नसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवाक्य सुननेसे जो वैराग्य उत्पन्न होकर जीवके हृदयमें धर्म कामना पुण्य कामना स्वर्ग कामना और मोक्ष कामना होती हैं ये सभी अच्छी हैं । इनमें एक भी बुरी नहीं है ।

यहा टीकाकारने लिखा है कि श्रमण और माह्न इन दोनों शब्दोंके बाद जो मूल पाठमें वा शब्द दिया है वह विकल्पका बोधक नहीं है किन्तु श्रमणसे सुवाक्य सुना जाय अथवा माह्नसे सुवाक्य सुना जाय दोनोंसे एक समान ही स्वर्ग प्राप्ति होती

है यह तुल्यता बनलानेके लिये यहा वा शब्द दिया गया है । श्रमण नाम साधुका है । और स्थूल प्रागादिपानसे सिद्ध होकर जो दूम्बरेको नहीं मारनेका उपदेश करता है वह माहन कहलाता है । अथवा प्राद्वगका नाम माहन है । क्योंकि उसमें दश विरति होती है और जिसमें दश विरति होती है वही यहा प्राद्वग समझा जाता है । शेष टीका का अर्थ मूल पाठके अर्थमें मिलाकर दे दिया गया है ।

यहा जो टीकाकार यह लिखते हैं कि इस पाठमे श्रमण माहन शब्दके साथ वा शब्द जोड़नेका यह भाव है कि चाहे श्रमणसे आर्य्य धर्म सम्बन्धी सुवास्य सुना जाय चाहे माहनसे सुना जाय दोनोंसे एक समान ही स्वर्ग प्राप्ति होती है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रमण दूसरा है और माहन दूसरा है । इस लिये श्रमण माहन इन दोनोंका एक साधु ही अर्थ बतलाना भी मिथ्या समझना चाहिये ।

इति पुण्याधिकारः ।



अथ आश्रवाधिकारः ।

(प्रेरक)

आश्रव किसे कहते हैं, वह जीव है या अजीव है ?

(प्ररूपक)

आत्म रूपी तालाबमें कर्म रूपी जल जिसके द्वारा प्रवेश करता है उसे आश्रव कहते हैं । आश्रव, जीव भी है और अजीव भी है । ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकामें टीकाकारने आश्रवका लक्षण और भेद बतलाते हुए यह लिखा है —

“आश्रवन्ति प्रविशन्ति येन कर्माण्यात्मनीत्यामाश्रव कर्मबन्ध हेतु रिति-भाव । सचेन्द्रिय कपाया व्रत क्रिया योग रूप क्रमेण पंच चतु पंच पञ्चविंशति त्रिभेद उक्तञ्च “इन्द्रिय कसाय अव्वय फिरिया पण चउर पंच पणुवीसा जोगा तीन्नेव भवे आसव भेमाओ वयाला” इति तदेवमय द्विचत्वारिंशद्विधोऽथवा द्विविधो द्रव्य भाव भेदात् । तत्र द्रव्याश्रवो यज्जलान्तर्गत नवादौ तथा विधच्छिद्रैर्जल प्रवेशनम् भावाश्रवस्तु यज्जीव नावीन्द्रियादिच्छिद्रत कर्म जल सचय इति सचाश्रव सामान्यादेक एव”

यह ठाणाङ्ग सूत्रके “एगे आसने” इस पाठकी टीका है । इसका अर्थ यह है—

जिसके द्वारा आत्मामें कर्म प्रवेश करता है उसे “आश्रव” कहते हैं जो कर्मबन्ध का हेतु है वह आश्रव है । पाच इन्द्रिय, चार कपाय, पाच अग्रत, पचीस क्रिया, तीन योग, ये वेयालीस आश्रवके भेद हैं । ये वेयालीस आश्रव, भाव आश्रव कहलाते हैं इनसे अलग द्रव्याश्रव भी होता है । छिद्रोंके द्वारा नाव आदिमें जलका प्रवेश होना द्रव्य आश्रव है । पूर्वोक्त ४२ वस्तुओंके द्वारा जीव रूपी नौकामें कर्म रूपी जलका प्रवेश होना भाव आश्रव है ।

यहां टीकाकारने भाव आश्रवके वेयालीस भेद बतलाये हैं इनमें पचीस प्रकारकी क्रिया भी शामिल हैं । ये क्रियाएँ केवल जीवकी ही नहीं किन्तु अजीवकी भी बतलाई गई हैं इस लिये आश्रव अजीव भी है ।

उक्त टीकामें इन्द्रियोंको आश्रव बतलाया है । इन्द्रिया दो तरहकी हैं द्रव्य इन्द्रिय और भाव इन्द्रिय, द्रव्य इन्द्रिय अजीव हैं और भाव इन्द्रिय जीव हैं । इस लिये

भाव इन्द्रिय स्वरूप आश्रव भी जीव हैं। इस प्रकार आश्रव अजीव और जीव दोनों ही प्रकारका है।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

ठाणाङ्ग की उक्त टीकामे आश्रवका भेद बतलाते हुए पचीस क्रियाओंको आश्रव का भेद बतलाया है वे क्रियाएँ कौनसी हैं और वे अजीवकी क्रिया क्यों मानी जाती हैं ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग सूत्रके दूसरे ठाणेमे क्रियाके दो भेद बतलाते हुए कहा है कि क्रिया द्विविध होती है एक जीवकी क्रिया और दूसरी अजीवकी क्रिया। वह पाठ यह है—

“दो किरिआओ पन्नत्ताओ तंजहा—जोव किरियाचेव अजीव किरियाचेव”

(ठाणाङ्ग ठाणा ०)

“तत्र जीवस्य क्रिया व्यापारो जीव क्रिया, तथा अजीवस्य पुद्गल समुदायस्य परमरूपतया परिणमन सा अजीव क्रियेति”

अर्थ —

क्रिया दो प्रकारकी है। जीवकी ओर अजीवकी, जोवक व्यापारको जीव क्रिया कहते हैं और पुद्गल समूहके कर्म रूपसे परिणाम होनेको अजीव क्रिया कहते हैं।

अजीव क्रिया दो तरहकी होती है एक ऐर्यापधिकी और दूसरी साम्परायिकी, ऐर्यापधिकी का कोई अवान्तर भेद नहीं होता परन्तु साम्परायिकी क्रियाके चौबीस भेद होते हैं। चौबीस प्रकारकी साम्परायिकी क्रिया और एक ऐर्यापधिकी ये २५ क्रियाएँ अजीवकी कही गई हैं। ठाणाङ्ग ठाणा ५ मे क्रियाका भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है —

“पंच किरियाओ पन्नत्ताओ तंजहा—ज्ञायिया, अहिकरणिया, आसिया, परितावणिया, पाणातिवायकिरिया। पच किरियाओ पन्नत्ताओ तंजहा—आरभिया, परिग्गहिजा, मायावत्तिया, अपचत्तिया, मिच्छादंसणवत्तिया, पचकिरियाओ पन्नत्ताओ तंजहा—दिट्ठिया, पुट्ठिया, पाहोच्चिया, सामन्तोवणिया, साएत्थिया।

यहा शास्त्रकार और टोकाकारने टेय्यापयिकी और साम्परायिकी दोनों ही क्रियाओंको अजीव की क्रिया कहा है इसलिये आश्रयको एकान्त जीव बनलाना मिथ्या है क्योंकि उक्त २५ क्रियाए अजीव आश्रय हैं ।

भगवती सूत्र शतक १७ उद्देशा दूसरेमें भगवान् महावीर स्वामीने अन्य यूथिकों का मत खण्डन करते हुए प्राणाति पातादि ९६ बोलोंको और जीवको एक होना बतलाया है वह पाठ—

“अण्ण उत्थिआणं भन्ते ! एव माइक्खांति जाव परूवेति एवं खलु पाणाइवाए मुसावाए जाव मिच्छा दंसण सल्ले वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवा या । पाणाइवाय—वेरमणे जाव परिग्गह वेरमणे कोह विवेगे जाव मिच्छा दंसण सल्लु विवेगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया । उप्पत्तियाए जाव परिणामियाए वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया दुग्गहे ईहा अवाए वट्टमाणस्स जाव जीवाया उट्ठाणे जाव परक्कमे वट्टमाणस्स जाव जीवाया णेरइयत्ते तिरिक्ख मणुस्स देवत्ते वट्टमाणस्स जाव जीवाया णाणावरणिज्जे जाव अंतराए वट्टमाणस्स जाव जीवाया एवं कण्हलेस्सा ए जाव सुक्खलेस्साए समदिट्ठि ए ३ एवं चवखु दंसणे ४ आभिणिवोहियणाणे ५ मह खण्णाणे आहार सण्णाण ४ एवं आरोलिय सरीरे ५ एवं मण जोए ३ सगारो वयोगे अणागारोवयोगे वट्टमाणस्स अण्णे जीवे अण्णे जीवाया से कह्केयं भन्ते ! एवं गोयमा ! जण्णंते अण्ण उत्थिया एव माइक्खांति जाव मिच्छते एव माहंसु अह पुण गोयमा ! एव माइक्खामि जाव परूवेमि एवं पाणाइवाए जाव मिच्छा दंसण सल्ले वट्टमाणस्स सचेव जीवे सचेव जीवाया जाव अणागारो वयोगे वट्टमाणस्स सचेव जीवे सचेव जीवाया”

(भगवती शतक १७ उद्देशा २)

अर्थ —

(प्रश्न) हे भगवन् ! अन्य यूथिक कहते हैं कि “प्राणातिपात और शृपावादसे लेकर मिथ्यादर्शन शाल्य पर्यन्त अठारह बोलोंमें बतमान रहने वाले देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं तथा प्राणातिपातसे लेकर मिथ्या दर्शन शाल्य पर्यन्त अठारह पापोंके विरमणर्म वर्त

मान देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे है । चार प्रकारकी बुद्धि, अवप्रहाणिक चार मति ज्ञान, उत्पानात्रिक वीर्यों के भेद, नरक आदि चार गति, ज्ञानावरणीयादि आठ कर्म, कृष्णादि छ व्रतार्ण, चक्षुर्दर्शनादि चार दर्शन, अभिनिर्बोधिक आदि पाच ज्ञान, मति आदि तीन अज्ञान आहारादिक चार सन्नायें, शोदाय्य धादि ५ परीर, मन आदि तीन योग, सागर और अनागर दो प्रकारक उपयोग, इन सब मोलोंमें वर्तमान राधादे देहधारीका जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे है" ह भगवन् । आप इमे क्या समझते है ?

(उत्तर) है गोतम । अन्य यूथिकाया यद कथन मिथ्या है उक्त ९६ बोल और जीवात्मा एक हा है परन्तु एकान्त भिन्ना भिन्न नहीं हैं ।

यह भगवतीके उक्त पाठका अर्थ है ।

यदा भगवानने पूर्वोक्त ९६ बोलोंको जीव कहा है और ९६ बोलों में मनोयो-गादि आश्रव भी हैं इसलिये आश्रव कथचित, जीव भी है और पूर्व वर्णन की हुई क्रिया क हिसाबसे कथचित अजीव भी है अन आश्रवको एकान्त जीव मानना शास्त्रविरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल २ रा)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार और उनके गुरु भीषणजीने पुण्य, पाप और वन्धको एकव-रूपी और अजीव, तथा आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव कहा है । भीषणजीने अपने तेरह द्वारके छठे द्वारमें लिखना है कि—

“पुण्यते शुभ कर्म तेहने पुण्य कहीजे तेहने अजीव कहीजे तेहने वन्ध कहीजे । पापते अशुभ कर्म तेहने पाप कहीजे अजीव कहीजे वन्ध कहीजे । कर्म प्रहते आस्र कहीजे तेहने जीव कहीजे । जीव सधाते कर्म बधाणा ते वन्ध कहीजे अजीव कहीजे”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)]

पाप पुण्य और वन्धको एकान्त अजीव कहना मिथ्या है क्योंकि ये तीनों ही अर्थात् जीवात्मामें दूध और पानीकी तरह मिल कर एकाकार बने रहते हैं इसलिये व्यवहार दशामें इन्हें जीवका लक्षण माना है और व्यवहार नयसे इन तीनोंको शास्त्रमें जीव कहा है इसलिये पाप, पुण्य, और वन्धको एकान्त अजीव कहना मिथ्या है । दूसरी बात यह है कि पाप, पुण्य और वन्ध रूप कर्मकी प्रकृतिसे ही जीवको चार गति और पाच गति आदि प्राप्त होती हैं और चार गति पाच जाति और छ पापको भगवती आदि

सूत्रोंमें जीव कह कर बतलाया है इसलिये शुभाशुभ कर्मोंसे बचा हुआ जीवात्मा ही व्यवहार दशामें जीव कहलाता है । गति और जाति आदि जीवसे अलग कहे जाते हैं और जीव उनसे अलग कहा जाता हो यह बात नहीं है अतः पुण्य, पाप, और बन्ध भी व्यवहार दशामें जीव ही हैं अजीव नहीं हैं इन्हे एकांत अजीव कहना अज्ञान है ।

[चोल ३ समाप्त]

(प्रेरक)

पुण्य पाप और बन्ध रूपी हैं और जीव अरूपी है फिर ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ?

(प्ररूपक)

व्यवहार दशामें जीव भी रूपी माना गया है । भगवती शतक १७ उद्देश २ में जीवको रूपी होना बतलाया है । वह पाठ यह है—

“देवेणं भन्ते ! महिद्दिए जाव महिसक्खे पुब्बामेव रूवी भवित्ता पभू अरूवीविउ भवित्ताणं चिट्ठित्तए ? णो इणट्ठे समट्ठे सेक्केणट्ठेणं भन्ते ! एवं बुच्चइ देवेणं जावणो पभू अरूवीविउ भवित्ताणं चिट्ठित्तए ? गोयमा ! अहमेयं जाणामि अहमेयं पासामि अहमेयं वुज्झामि अहमेयं अभिसमण्णागच्छामि मए एवं णायं मए एयं दिट्ठं मए एयं बुद्धं मए एयं अभिसमण्णागयं जण्णं तहागयस्स जीवस्स सरूवित्तस्स सकम्मस्स सरागस्स सधेदगस्स समोहस्स सल्लेस्सस्स ससरीरस्स तआ सरीराओ अविप्पमुक्कस्स एवं पण्णायाति तंजहा कालत्तेवा जाव सुक्किलत्तेवा, सुब्भिगंधतेवा, दुब्भिगंधतेवा तित्तत्तेवा जाव महुरत्तेवा कक्खइत्तेवा जावल्लुक्खत्तेवा सेतणट्ठेणं गोयमा ! जाव चिट्ठित्तए”

(भगवती शतक १७ उद्देश २)

अर्थ—

हे भगवन् ! महेश नामक देवता जो कि बड़ा समृद्धि शाली और शरीरादि पुद्गलोंके सम्बन्धसे रूपी है वह अरूपी होकर रह सकता है या नहीं ?

(उत्तर) हे गोतम ! यह सम्भव नहीं है ।

(प्रश्न) इसका क्या कारण है ?

(उत्तर) हे गोतम ! मे इत्ते जानता हू यावा अनुभव करता हू यह बात मेरी जानी हुई याव अनुभव की हुई है । जो जीव मूर्तिमान् है सरागो है सवेद है और जिसमें मोह, तथा ऐदया विद्यमान है जा शरीरसे छुटा हुआ नहीं है उसमें ये बातें अध्यय पाई जाती हैं जैसे कि यह काल है, यह शुक्ल है, इसमें दुर्गन्ध आता है, इसमें एगन्ध आता है यह तिक है, यह मधुर है यह कर्कश है यह सूक्ष्म है इत्यादि । जिमम पूर्वोक्त बातें पाई जाती हैं यह रूपी ही बना रहता है कदापि अरूपी नहीं हो सकता ।

यह इस पाठका सरल अर्थ है ।

इस पाठमें भगवान् ने सराग, समोह, और सत्त्वय जीवको रूपी कहा है इसलिये व्यवहार दशमें सराग जीव भी रूपी है । जब कि सराग जीव भी रूपी है तब फिर पुण्य, पाप और वन्ध, इन रूपी पदार्थों के साथ उसका अभेद व्यवहार होनेमें क्या संदेह है ? जो लोग रूपी होनेके कारण पाप, पुण्य और वन्धको जीवसे एकान्त भेद मानते हैं वे शास्त्रके रहस्यको नहीं जानने वाले अज्ञानी हैं ।

इस पाठसे आश्रवके एकान्त अरूपी होनेका सिद्धान्त भी स्पष्ट हो जाता है । इस पाठमें सराग सत्त्वय और समोह जीवको रूपी कहा है अत आश्रव रूपी भी सिद्ध होता है क्योंकि जब जीव भी रूपी है तब जीवस्वरूप आश्रव क्यों नहीं रूपी होगा ? इसलिये जो लोग आश्रवको एकान्त जीव मान कर उसे एकान्त अरूपी बतलाते हैं वे मिथ्यावादी हैं ।

[बोल ४ समाप्त]

(प्रेरक)

क्या पाप, पुण्य और वन्ध अजीव नहीं हैं ?

(प्ररूपक)

पाप, पुण्य और वन्ध व्यवहार दशमें जीव और निश्चय नयके अनुसार अजीव हैं इसलिये इन्हे एकान्त अजीव या एकान्त जीव कहना मिथ्या है किन्तु ये कथंचित् जीव और कथंचित् अजीव हैं यही बात यथार्थ समझनी चाहिये जो इन्हें एकान्त अजीव कहता है वह अज्ञानी है ।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकारका यदि व्यवहारनयसे नहीं किन्तु निश्चयनयके अनुसार पाप पुण्य और वन्धको अजीव कहनेका तात्पर्य ही तो इसमें क्या आपत्ति है ?

(प्ररूपक)

यदि भ्रमविध्वसनकारका यह तात्पर्य ही कि पाप, पुण्य और वन्ध निश्चय नय के अनुसार अजीव हैं परन्तु व्यवहारनयके अनुसार नहीं तो उनके कथनमें कुछ भी

दोष नहीं है किन्तु वह विलकूल यथार्थ है परन्तु एकान्त रूपसे पाप पुण्य और बन्ध अजीव कहना मिथ्या है । यही बात आश्रवके विषयमे भी है आश्रवको भी यदि अविध्वंसनकार एकान्त रूपसे जीव और अरूपी न कहें तो कोई भी आपत्ति नहीं है वह आश्रवको एकात अरूपी और जीव कहते हैं यह बात भगवान् के कथनसे ही प्रति कूल है शास्त्रका कथन यह है कि आश्रव न तो एकात जीव है और न एकात अजीव ही है किन्तु वह जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका है । मिथ्यात्व, कृपाय, और योग्ये, आश्रव माने जाते हैं और मिथ्यात्व कृपाय और योग्यो चतुस्पर्शी और कृपाय योग्यो अष्ट स्पर्शी पुद्गल माना है अत आश्रव कदापि एकात रूपसे जीव नहीं हो सकता क्योंकि मिथ्यात्व, कृपाय और योग्य जीव नहीं हैं । यदि आश्रवको कोई एकात अजीव कहे तो वह भी ठीक नहीं कहता क्योंकि मिथ्यादृष्टिभी आश्रव माना गया है और मिथ्या दृष्टि, अरूपी और जीवका परिणाम है इसलिये आश्रव जीव भी सिद्ध होता है अत आश्रवको एकान्त जीव, या एकान्त अजीव, एकान्त रूपी, या एकान्त अरूपी कहना मिथ्या है ।

(बोल ५ वां)

(प्रेरक)

अमविध्वंसनकारने ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा ५ वें का मूलपाठ लिख कर आश्रव को एकात अरूपी जीव सिद्ध किया है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अमविध्वंसनकारने ठाणाङ्ग ठाणा ५ वें का जो मूलपाठ लिखा है उससे आश्रव एकात अरूपी और एकात जीव सिद्ध नहीं हो सकता । वह पाठ लिख कर बतलाया जाता है ।

“पंच आश्रव द्वारा पन्मत्ता तंजहा—मिच्छत्तं, अविरती, पमादो, कसायो, जोगा”

(ठाणाङ्ग ठाणा ५)

अर्थ—

मिथ्यात्व, अमत्त, पूमात्, कृपाय, और योग्ये पांच आश्रव द्वारके भेद है ।

इस पाठमे आश्रव द्वारके भेद मात्र का वर्णन है परन्तु आश्रव जीव है या अजीव है यह निर्णय नहीं किया है इसलिये इस पाठका नाम लेकर आश्रव को एकान्त जीव या अरूपी कहना भोले जीवोंको धोखा देना है ।

भगवती सूत्र शतक १० उद्देश ५ में मिथ्यात्वको चतुस्पर्शी पुद्गल माना है फिर मिथ्यात्व आश्रव एकात जीव कैसे हो सकता है ? बरिष्ठ इस पाठसे तो आश्रवका अजीव होना ही सिद्ध होता है । दूसरा आश्रव द्वार अव्रत है । अठारह पापोंसे विलकुल नहीं हटनेका नाम अव्रत है । अठारह पाप चतु स्पर्शी पुद्गल मान गये हैं इसलिये दूसरा आश्रव द्वार भी अजीव ही सिद्ध होता है । प्रमाद और कषाय, मोहसे उत्पन्न हुई कर्म को प्रकृतिके नाम हैं और मोह कर्मको शास्त्रमे चतु स्पर्शी पुद्गल माना है इसलिये मोह कर्मसे उत्पन्न होने वाले प्रमाद और कषाय भी चतु स्पर्शी पौद्गलिक होनेसे अजीव ही सिद्ध होते हैं । पाचवा आश्रव द्वार योग है यह मन, वचन, और कायके भेदसे तीन प्रकारका है । मन और वचनके योगको चतु स्पर्शी और काय योगको अष्टम्पर्शी कहा है इसलिये योगाश्रव भी अजीव सिद्ध होता है वात ठाणाद्ग सूत्र क उक्त पाठका नाम लेकर आश्रवको एकात जीव बनलाना अज्ञान समझना चाहिये ।

(बोल छट्टा समाप्त)

(प्रेरक)

श्रमविध्वसनकारने तीन दृष्टियोंका नाम लेकर मिथ्यात्व आश्रवको एकात जीव और अरूपी बनलाया है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रश्नक)

भगवती सूत्र शतक १० उद्देश ५ क मूलपाठमे तीन दृष्टियोंको अरूपी और मिथ्यादर्शन शल्यको रूपी कहा है इसलिये मिथ्यात्व आश्रव एकात अरूपी नहीं हो सकता । भगवतीका पाठ यह है —

“अहभते । पेज्जे दोसे कलहे जाव मिच्छा दंसण सल्ले एसणं कइवणणे ४ जहेव कोहे तहेव चउफासे” (भग० शतक १० व० ५)

इस पाठमें भगवान्ने मिथ्यादर्शन शल्यको चतु स्पर्शी पौद्गलिक कहा है अत मिथ्यात्व आश्रव रूपी भी है और अजीव भी है उसे एकात अरूपी और जीव बनाना अज्ञान है ।

(प्रेरक)

भगवती सूत्र उक्त मूलपाठमें मिथ्यादर्शन शल्यको रूपी कहा है परन्तु यह आश्रव नहीं है आश्रव तो केवल मिथ्यादृष्टि है और वह अरूपी है फिर मिथ्यादर्शनके रूपी होनेसे आश्रव कैसे रूपी हो सकता है ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा ५ के मूलपाठमे आश्रव द्वारका भेद वतलानेके लिये “मिच्छत्” यह पाठ आया है इसका अर्थ है मिथ्यात्व, मिथ्यात्वसे जैसे मिथ्यादृष्टिका ग्रहण होता है उसी तरह मिथ्यादर्शन शल्यका भी—ग्रहण होता है इसलिये मिथ्यादृष्टि और मिथ्यादर्शन शल्य ये दोनों ही आश्रव हैं केवल मिथ्यादृष्टि ही नहीं अत मिथ्यात्व पदसे केवल मिथ्यादृष्टिका ही ग्रहण करना और मिथ्यादर्शन शल्यका ग्रहण नहीं करना अप्रामाणिक है । मिथ्यादर्शन शल्य भी आश्रव है और वह रूपी है इसलिये मिथ्यात्व आश्रव को एकाव अरूपी वताना अज्ञान है ।

आश्रवके विषयमें भीषणजी और जीतमलजीने कई विरुद्ध वाते भी कह डाली हैं । भीषणजीने आश्रवको उदयभावमें माना है और मिथ्यादृष्टिको क्षयोपशम भावमें माना है अत इनके मतानुसार मिथ्यादृष्टि आश्रव ही नहीं हो सकता क्योंकि मिथ्यादृष्टि क्षयोपशम भावमे है और आश्रव उदयभावमे है फिर ये दोनों एक कैसे हो सकते हैं ? अत भीषणजीकी यह प्ररूपणा पूर्वापर विरुद्ध है । भीषणजीके उक्त आशय का लेख यह है—

“आश्रवभाव द्योय, उदय और पारिणामिक । मोहनीय कर्मरो क्षयोपशम द्योय तो आठ घोल पामे चार चारित्र, एक देश व्रत और तीन दृष्टि”

इस लेखमें भीषणजीने आश्रवको उदयभावमें और मिथ्यादृष्टिको क्षयोपशमभाव में माना है तो भी मिथ्यादृष्टिको आश्रवमे मानना इनके अविवेकका पूर्ण उदाहरण समझना चाहिये ।

(बोल ७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३०९ पर उत्तराध्ययन सूत्रका मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ इहा पाच आश्रवने कृष्णलेश्याना लक्षण क्ख्या ते माटे जे कृष्णलेश्या अरूपी तेहना लक्षण पाच आश्रव ते पिण अरूपी उँ” (भ्र० पृ० ३०९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

कृष्णलेश्या ससारी जीवका परिणाम है और ससारी जीवको भगवती शतक १७ उद्देशा २ मे रूपी होना भी कहा है इसलिये कृष्णलेश्या रूपी भी सिद्ध होती है अत

सके लक्षण पाच आश्रव रूपी भी हो सकते हैं इसलिये कृष्णलेख्याके लक्षण होनेके कारण पाच आश्रवको एकाव अरुणी कहना मिथ्यात्वका परिणाम है। संसारी जीव रूपी भी हैं इस विषयमें भगवती शतक १७ उद्देशा २ का मूलपाठके सिवाय भगवती शतक २ उद्देशा १ का मूलपाठ भी प्रमाण है वह पाठ यह है —

“जेऽवियते खंदयो ! जाव सअते जीवे अणतेजीवे तस्सवि-
पर्यं अयमट्ठे एवं खलु जाव दब्बओणं एगे जीवे सअंते खेत्तओणं
जीवे असंखेज्ज पएसिए असंखोज्जपएसोगाढे अत्थिपुण से अन्ते ।
काल ओणं जीवे नक्कदाह न आसी णिच्चे नत्थिपुण से अन्ते । भाव
ओणं जीवे अणंता णाणपज्जवा अणंता दंसण पज्जवा अणंता चारित्त
पज्जवा अणता अगुरु लह्हु पज्जवा णत्थिपुण से अन्ते । सेत्त दब्बओ
जीवेसअंते खेत्तओ जीवे सअन्ते कालओ जीवे अणंते भावओ
जीवे अणंते”

(भ० श० २ व० १)

अर्था—
हे स्कन्दक ! जीव सात है या अनन्त है तुम्हारे इस प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—जीव
व्यसे एक और सान्त है क्षेत्रसे अर्धमत्य प्रदेशी और असंख्य आकाश प्रदेशको ध्यात किया हुआ
अन वह सात है । कालसे जीव अनन्त है क्योंकि वह सब कालमें विद्यमान रहता है कभी भी
इसका अभाव नहीं होता । भावसे जीव अनन्त है अनन्त ज्ञानपर्याय, अनन्त दर्शन पर्याय, अर्धम
चारित्त पर्याय, अनन्त लघु गुरु पर्याय, और अनन्त अगुरु अलघु पर्याय जीवके होते हैं अत
भावसे जीव अनन्त है । सारांश यह है कि द्रव्य और क्षेत्रसे जीव सात और काल तथा भावसे
अनन्त है ।

यहा मूल पाठमें कहा है कि “जीवके अनन्त लघु गुरु पर्याय और अनन्त
अलघु अगुरु पर्याय होते हैं” इनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि संसारी जीव रूपी भी है
क्योंकि अरुणी पदार्थके ल गुरु पर्याय और अगुरु अलघु पर्याय नहीं हो सकते ।
इस पाठकी टीकामें टीकाकारने लिखा है—

“अनन्ता गुरुलघुपर्याया औदारिकादिशरीराण्यथित्थ इतरेणु कामणादि
द्वयाणि जीव स्वरूपचात्रित्येति”
अर्थात् औदारिकादि शरीरकी अपेक्षासे जीवके अनन्त लघु गुरु पर्याय ऋदे गये
हैं और कामेण वादि द्रव्य तथा जीवके स्वरूपकी अपेक्षासे अनन्त अगुरु अलघु पर्याय
कहे गये हैं ।

इस टीकासे भी जीवका रूपी होना सिद्ध होता है । यद्यपि निश्चयनयसे निज स्वरूपापन्न जीव रूपी नहीं है किन्तु अरूपी है तथापि इस पाठमे उसका वर्णन न करके ससारी जीवका वर्णन किया गया है ससारी जीव औदारिकादि शरीरके साथ दूध पानी की तरह मिलकर एकाकार हुआ रहता है इस लिये इस पाठमे उसके अनन्त गुरु लघु और अनन्त अगुरु लघु पर्यायोक्ता वर्णन है । कृष्ण रेश्या ससारी जीवका ही परिणाम है और ससारी जीव इस पाठमे रूपी भी कहा गया है इस लिये कृष्ण रेश्या रूपी भी है । कृष्ण रेश्या रूपी है इस लिये उसके लक्षण पाच आश्रव रूपी भी है उन्हे एकान्त अरूपी कहना शास्त्रसे विरुद्ध समझना चाहिये ।

उक्त पाठमे ससारी जीवका औदारिकादि शरीरके साथ अभेद होना सिद्ध होता है और औदारिकादि शरीर, पुण्य पाप तथा बंधकी प्रकृति माना जाता है इस लिये पुण्य पाप और बंधका भी कथंचित् जीव होना सिद्ध होता है । अतः इनको सर्वथा जीवसे भिन्न मानना मिथ्या है ।

शुभाशुभ कमकी प्रकृतिको भी पुण्य, पाप और बंध कहते हैं और वह कर्मकी प्रकृति, चतु स्पर्शी पौद्गलिक है इस लिये वह रूपी और जीवसे कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है उसे जीवसे एकान्त भिन्न मानना मिथ्या है । मिथ्यात्व, कपाय और योगको चतु स्पर्शी और काययोगको अष्ट स्पर्शी पुद्गल माना है । इस लिये ये सप्त रूपी और अजीव भी सिद्ध होते हैं एकान्त अरूपी और जीव नहीं अतः आश्रवमात्र को एकान्त अरूपी और एकान्त जीव कहना अज्ञानका परिणाम है । वस्तुतः किसी अपेक्षासे आश्रव, जीव और अरूपी है और किसी अपेक्षासे अजीव और रूपी है परन्तु एकान्त पक्षका आश्रय लेकर इसे एकान्त अरूपी और जीव मानना मिथ्यात्वका परिणाम है ।

(बोल ८ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

मिथ्यात्व आश्रवको एकान्त जीव कहना भी भ्रमविध्वंसनकारका दुराग्रह और अपने सिद्धान्तसे ही प्रतिकूल है । ठाणाग सूत्रका मूल पाठ लिख कर पहले बतलाया जा चुका है कि ऐर्यापथिकी और साम्परायिकी ये दो क्रियाएँ अजीवकी हैं और साम्परायिकी त्रियाके भेदमें मिथ्यात्व और अत्रत भी शामिल हैं इस लिये मिथ्यात्व और अत्रतकी क्रिया अजीवकी क्रिया हैं इन्हें एकान्त जीवकी क्रिया मानना शास्त्रसे सर्वथा प्रतिकूल है ।

यद्यपि शास्त्रमें सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया जीवकी कही हैं तथापि जगत् स्पष्ट अर्था टीकाकारने यह किया है—

“सम्यग्दर्शन मिथ्यात्वयो सतोर्ये भजनस्ते सम्यक्त्व मिथ्यात्व त्रियेति”

(ठाणाग ठाणा २ की टीका)

“सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शनके होनेपर जो क्रिया की जाती है वह सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया है ।”

यहा टीकाकारने सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शनके होनेपर जो क्रिया की जाती है वह क्रिया चाहे जीवकी हो या पुद्गल की हो दोनोंको ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की क्रिया कहा है केवल जीवकी ही क्रियाको सम्यक्त्व और मिथ्यात्व क्रिया नहीं कहा है इन लिये केवल जीवकी ही क्रियाको सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया कहना मिथ्या है । वास्तवमें ज्ञान और इच्छाको छोडकर सभी क्रियाएँ जीव और पुद्गल दोनों के व्यापारसे होती हैं कोई भी क्रिया अजीवके व्यापारको छोडकर नहीं हो सकती, अन्तर सिर्फ इतना ही है कि किसी क्रियामें जीवके व्यापारकी मुख्यता होती है और किसीमें अजीवके व्यापारकी मुख्यता होती है । साम्प्रतिकी और ऐश्वर्यापथिकी क्रियामें अजीवके व्यापारकी ही प्रधानता है इस लिये वे दोनों अजीवकी क्रिया कही गई हैं इसी तरह सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रियामें अजीवका व्यापार अग्रय रहता है परन्तु अजीवकी अपेक्षासे जन्में जीवका व्यापार ही प्रधान होता है इस लिये सम्यक्त्व क्रिया और मिथ्यात्व क्रिया जीवकी कही गई हैं उनमें सबेथा अजीवका व्यापार न हो यह बात नहीं है । ज्ञान और इच्छाको छोडकर सभी क्रियाओंमें जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापार होते हैं परन्तु जीवके व्यापारकी मुख्यताको लेकर किसीको जीवकी क्रिया और अजीवके व्यापारकी प्रधानताको लेकर किसीको अजीव क्रिया कहा है परन्तु दोनों ही प्रकार की क्रियाओंमें जीव और पुद्गल दोनोंके व्यापार होते हैं । आश्रव, क्रिया स्वरूप है और क्रिया जीव और पुद्गल दोनोंकी हैं इस लिये आश्रव जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका है उसे एकान्त जीव कहना अज्ञान है ।

[बोल ९ समाप्त]

(प्रेरक)

धर्म विध्वंसनकार ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा १० के पाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव मतलबते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा १० के मूल पाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव सिद्ध करना मिथ्या है । वह पाठ लिख कर यह बतलाया जाता है—

“धम्मो अधम्म सन्ना अधम्मो धम्म सन्ना”

अर्थ —

(ठाणाङ्ग)

धर्ममें अधर्मका और अधर्ममें धर्मका ज्ञान अज्ञान कहलाता है ।

यहा विपरीत ज्ञानका स्वरूप समझाते हुए यह लिखा है कि “धर्ममें अधर्मका और अधर्ममें धर्मका ज्ञान अज्ञान है” इससे आश्रवका जीव होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि इस पाठमें कहा हुआ विपरीत ज्ञान, क्षयोपशम भावमें है और आश्रव उदयभावमें है । भीषगजीने आश्रवको उदयभावमें माना है यह उनका लेख उद्धृत करके पहले बतला दिया गया है अत उदयभावमें होने वाला आश्रव, अज्ञान या विपरीत ज्ञानकी तरह कदापि एकान्त जीव नहीं हो सकता । आश्रव, मोहकर्मके उदयभावमें माना गया है और मोहकर्म चतु स्पर्शी पुद्गल है अत आश्रव भी चतु स्पर्शी पुद्गल है उसे एकान्त जीव मानना अज्ञान है ।

(बोल १० वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भगवती सूत्र शतक १७ उद्देश २ का मूलपाठ लिखकर उसकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाते हैं ।

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १७ उद्देश २ के मूलपाठकी साक्षीसे आश्रवको एकान्त जीव बतलाना मिथ्या है । उस पाठमें आश्रवको एकान्त जीव नहीं कहा है वह पाठ इसी प्रकारके सातवें बोलमें लिख दिया गया है उसका भाव यह है—

१८ पाप और उनसे निवृत्ति, बुद्धिके चार भेद, अवप्रहादिक मति ज्ञानके चार भेद, उत्थानादिक पाच, चार गति, आठ कर्म, छ लेश्या, तीन दृष्टि, चार दर्शन, पाच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार सज्ञाएँ, पाच शरीर, तीन योग और साकार तथा अनाकार इन ९६ बोलोंमें रहने वाला जीव दूसरा है और ये बोल दूसरे हैं, यह अन्य तीर्थियोंका मत है इसका खण्डन करते हुए भगवान्ने कहा है कि “एव खलु पाणाइवाए जाव मिच्छादसणसल्लेवट्टमाणे सच्चेव जीवे सच्चेव जीवाया”

अर्थात् प्राणातिपातसे लेकर मिथ्या दर्शन शल्य पर्यन्त ९६ बोलोंमें रहनेवाला वही जीव है और वही जीवात्मा है। इस पाठसे आश्रवको एकान्त जीव घताना भोले जीवोंको धोखा देना है। इस पाठसे ९६ बोलोंके साथ जीवात्माका कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद घतलाया है आश्रवको एकान्त जीव नहीं कहा है। अतः इस पाठके आश्रय से आश्रवको एकान्त जीव मानना अज्ञान है।

इस पाठसे जो ९६ बोल कहे गये हैं उनमें १८ पाप भी शामिल हैं। उक्त ९६ बोल और जीवात्मा कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न हैं इस लिये अठारह पाप भी कथंचित् जीव और कथंचित् अजीव हैं परन्तु तेरह पथके आचार्य जीतमलजी १८ पापको जीवसे एकान्त भेद मानते हैं यह इनका प्रत्यक्ष इस पाठसे विरुद्ध प्ररूपणा सम-श्ली बाहिये।

(बोल ११ वां समाप्त)

(प्रेरक)

शास्त्रमें रूपी अजीवको वही जीवका परिणाम कहा हो तो उसे घतलाइये।

(प्ररूपक)

ठाणाङ्क सूत्रके दशवें ठाणेमें रूपी अजीवको जीवका परिणाम कहा है यह पाठ टीकाके साथ लिखा जाता है।

“दसविहे जीवपरिणामे प० तं० गतिपरिणामे, इन्द्रिय परिणामे, कसाय परिणामे, लेस्सा परिणामे, जोगपरिणामे, उद्योग परिणामे, णाण परिणामे, दंसणपरिणामे, चरित्तपरिणामे, वेप-परिणामे”

(ठाणाङ्क ठाणा १०)

अर्थ —

जीवके परिणाम दस प्रकारके हैं—(१) गति परिणाम (२) इन्द्रिय परिणाम (३) कसाय परिणाम (४) लेस्सा परिणाम [५] योग परिणाम [६] उद्योग परिणाम [७] जोग परिणाम [८] दंसण परिणाम [९] चारित्र परिणाम [१०] वेप परिणाम।

टीका —

“परिणामने परिणाम स्तव्भात् नमनमित्यर्थः यद्वा—“परिणामोऽप्यस्यैव । नच सर्वानव्ययस्थानानच सर्वथा विनाश परिणामरतत्त्वित्वादिभिः । राय प्रायोगिकान्तरव परिणामो गति परिणामः पथे सर्वान गतिशेपेद गतिनामकगौरवान्तरवदिति कथय-

दश हेतु । तत्परिणामश्चाभवक्षयादिति सचनरकगत्यादिश्रुतुर्विध गतिपरिणामेच सत्येवेन्द्रिय परिणामो भवतीति तमाह “इन्द्रिय परिणामे” चि सचश्रोत्रादिभेदात्पचथा इन्द्रिय परिणतौचेष्टानिष्टविषयसम्बन्धाद्रागद्वेष परिणति गिति तदनंतर ऋपाय परिणाम उक्त. सच क्रोधादिभेदाश्चतुर्विध । ऋपाय परिणामेच सति ऐश्या परिणतिर्नतु ऐश्य परिणतौ ऋपाय परिणति येन क्षीण ऋपायस्यापि शुक्ल परिणतिर्देशोन पूर्वकोटि यावद्भवति यतउत्तम्” मुहुचद्द तु जहन्ना उकोसा होई पुव्व कोडीओ नरहिं वरिसेहिं उणा ना यव्वा शुक्लेस्साय (शुक्ल ऐश्याया जघन्यास्थिति मुहुर्त्तार्धं नव्वपोंना पूर्व कोटी उत्तुष्ट ज्ञावज्या भवति) अतो ऐश्या परिणाम उक्त । सच कृष्णादिभेदात्पोठेति । अयश्च यो परिणामेसति भवति यस्मान्निरुद्धयोगस्य ऐश्या परिणामोऽपैति यत समुच्छिन्नक्रि ध्यानमलेश्यस्य भवतीति ऐश्यापरिणामानन्तर योगपरिणाम उक्त सचमनोराक्षा भेदान्त्रिधेति । ससारिणाश्च योगपरिणतापुपयोग परिणति भवतीति तदनतरमुपयोग परिणाम उक्त सच साकारानाकार भेदाद्द्विधेति । सतिचोपयोगपरिणामे ज्ञानपरिणामोऽस्तदनतरमसावुक्त । सचाभिनिवोधिकादि भेदात्पञ्चधा तथा मिथ्यादृष्टे ज्ञानमप्यज्ञानमित्यज्ञानपरिणामो मत्यज्ञानश्रुताज्ञानविभगाज्ञानलक्षणस्त्रिविधोऽपि विशेषप्रहण माधर्म्याद्ज्ञान परिणाम प्रहणेन गृहीतो द्रष्टव्य इति । ज्ञानाज्ञानपरिणामेचसति सम्यक्त्वादिपरिणतिरिति ततोदर्शन परिणामउक्त सचत्रिधा सम्यक्त्वमिथ्यात्वमिश्रभेदान् । सम्यक्त्वेसति चरित्रमिति ततस्तत्परिणामउक्त । सच सामायिकादिभेदात्पचधेति । स्त्र्यादिवेद परिणामे चारित्र परिणामो ननुयाग्नित्रपरिणामे वेदपरिणतिर्यस्माद्वेदकस्या यथाख्यात चारित्र परिणतिर्दृष्टति चारित्र परिणामान्तरं वेद परिणाम उक्त । सचस्त्र्यादि भेदान्त्रिविध इति ।”

अर्थ —

रूपान्तर प्राप्ति का नाम परिणाम है कहा है कि न तो सर्वथा अपने रूपमें स्थित रहना और न सर्वथा नाश हो जाना, किन्तु अपनेसे भिन्न किसी दूसरे रूपमें आ जाना परिणाम है । जीवका दूसरे रूपमें आना जीव परिणाम है वह गति आदिके भेदसे दस प्रकारका है । गति रूप जो जीवका परिणाम है वह गति परिणाम है इसी तरह सभी परिणामोमे समझना चाहिये । गति नामक कर्मके उदयसे नरक आदि व्यवहारका कारण जो जीवका परिणाम होता है वह गति परिणाम है । यह परिणाम जब तक भवका क्षय नहीं होता तब तक बना रहता है । यह नरक आदिके भेदसे चार प्रकारका होता है । गति परिणाम होनेके बाद इन्द्रिय परिणाम होता है इस लिये मूल पाठमें गति परिणामको कहकर पश्चात् इन्द्रिय परिणाम कहा है । श्रोत्र आदिके भेदसे इन्द्रिय परिणाम पाच प्रकार

का है। इन्द्रिय परिणाम होनेके बाद इष्ट और अनिष्ट वस्तुके सम्बन्धसे राग और द्वेष रूप परिणाम होता है अत इन्द्रिय परिणामको कहकर कषाय परिणाम कहा गया है। वह श्रोत्र आदिके भेदसे चार प्रकारका है। कषाय परिणाम होने पर लेश्या परिणाम होता है अत्र कषाय परिणामके बाद लेश्या परिणाम कहा गया है। वह लेश्या परिणाम कृष्ण आदिके भेदसे छ प्रकारका होता है। योग परिणाम होनेके बाद लेश्या परिणाम होता है क्योंकि जिसके योग रूढ़ आते हैं उसको लेश्या परिणाम नहीं होता इस लिये लेश्या परिणामके बाद ही योग परिणाम कहा गया है। योग परिणाम मन, वचन और कायक भेदसे तीन प्रकारका है। सम्तारी जीवोका योग परिणाम होनपर उपयोग परिणाम होता है इस लिये योग परिणामके बाद उपयोग परिणाम कहा है। उपयोग परिणाम साकार और अनाकारके भेदसे दो तरहका होता है। उपयोग परिणाम होनेके बाद ज्ञान परिणाम होता है इस लिये उपयोग परिणामको कहकर ज्ञान परिणाम कहा गया है। ज्ञान परिणाम, अग्निनिबोधिक आदिके भेदसे पाच प्रकारका है। मिथ्या दृष्टियोंक मत्यज्ञान भुनाज्ञान और विभवाज्ञान भी ज्ञान परिणामसे ही ग्रहण किये जाते हैं। ज्ञान और अज्ञान रूप परिणाम होने पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्व आदि परिणाम होता है इस लिये ज्ञान परिणामको कहकर दशन परिणाम कहा है, यह सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और मिथ्र भेदसे तीन प्रकारका है। सम्यक्त्व परिणाम होनपर बाद चारित्र परिणाम होता है अत सम्यक्त्व परिणामको कहकर पश्चात् चारित्र परिणामको कहा है। चारित्र परिणाम सामयिक आदि भेदसे पाच प्रकारका होता है। चारित्र परिणाम, वेद परिणाम होनेपर होता है परन्तु चारित्र परिणाम होनेपर वेद परिणाम होनेका कोई नियम नहीं है क्योंकि वेद परिणाम रहित जीव में भी यथाख्यात चारित्र द्रष्टा जाता है अत चारित्र परिणामके अनन्तर वेद परिणाम कहा गया है। वेद परिणाम स्त्री आदि मनुष्य तीन प्रकारका है।

यहा मूल पाठ और टीकामे जीवके दश विध परिणाम कहे हैं उनमे ज्ञान, दर्शन, और चारित्र परिणाम तो अरूपी और एकान्त जीव हैं और गति, कषाय, योग और वेद परिणाम रूपी और अजीव हैं। गति, कषाय, योग और वेद आत्माय साथ क्षीर नीर न्यायसे मिलकर एकाकार होकर रहते हैं इस लिये इन्हे जीवका परिणाम कहा है यहा जो गति परिणाम कहा है वह गति नाम कर्मक उदयसे प्र प्र होने वाली नाक आदि चार गतियाँ समझनी चाहिये। टीकाकारने लिखा है—

“गतिश्चेह गतिनामकर्माद्ययान्तरकानि व्यपदेशात् ।”

अर्थात् गति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरक आदि व्यवहारका कारण यहा गति समझनी चाहिये” नरक आदि चार गतिया रूपी और अजीव हैं तो भी यहा वे जीवका परिणाम कही गई हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि रूपी और अजीव भी जीवका परिणाम होता है ।

(बौल १२ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविघ्नसतकार भ्रमविघ्नमन पृष्ठ ३१४ पर ठाणाग ठाणा दशका मूलपाठ लिख कर उसकी समाखेचना करते हुए लिखत ह —

“इहा तो गति परिणामने भाये गतिने जीव कही, भाव इन्द्रिय, भाव कषाय, भाव योग, भाव वेद, ये सब जीवता परिणाम हैं” (भ्र० पृ० ३१४)

इनके कहनेका आशय यह है कि गति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरक आदि चार गतिया अजीव हैं व जीवका परिणाम नहीं हो सकती इसलिये ठाणाग ठाणा दशके मूलपाठमे जो जीवका गत्यादि परिणाम कहा है वह भावरूप गत्यादि सम-समझना चाहिये द्रव्य रूप नहीं । इसी तरह द्रव्य इन्द्रिय, द्रव्य कषाय, द्रव्य योग और द्रव्य वेद भी अजीव हैं वे कदापि जीवके परिणाम नहीं हो सकते इसलिये ये भी भाव रूप ही जीवके परिणाम समझने चाहिये द्रव्य रूप नहीं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाग ठाणा दशके मूलपाठमे जो गति, कषाय, और इन्द्रिय आदिको जीवका परिणाम बतलाया है उसका अभिप्राय भाव गति, भाव, कषाय, और भाव इन्द्रिय बतला कर द्रव्य गति, द्रव्य कषाय और द्रव्य इन्द्रियको जीवका परिणाम नहीं मानना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध होनेसे अप्रामाणिक है । टीकाकारने गतिके विषयमें स्पष्ट लिखा है कि—

“गतिश्चोह गतिनाम कर्मोदयान्नारकादिव्यपदेशहेतु ”

अर्थात् “यहा गति शब्दसे, गति नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरकादि व्यवहारका कारण जो गति है वह समझनी चाहिये”

यहा टीकाकारने नाम कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाली नरकादि गतिको जीवका परिणाम बतलाया है इसलिये भाव गत्यादिको ही जीवका परिणाम मान कर द्रव्यगत्यादिको जीवका परिणाम न मानना मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये ।

दूसरी बात यह है कि रूपी अरूपी सिद्ध करनेके लिये द्रव्य और भावकी वृत्तना करना व्यर्थ है । द्रव्य होनेके कारण कोई वस्तु रूपी नहीं होती और भाव होनेसे अरूपी नहीं हो जाती । द्रव्य होनेसे यदि रूपीकी वृत्तना की जाय तो धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य और काल द्रव्य भी रूपी मानने पड़े ग क्योंकि ये सब द्रव्य हैं । यदि भाव होनेके कारण किसीको अरूपी मान लिया जाय तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि तोष, मान, माया, लोभ आदि भाव रूप हैं उन्हें औदयिक भावोंमें गिना गया है, परन्तु व अपृष्ण रूपी हैं । तात्पर्य यह है कि कोई कोई द्रव्य भी अरूपी होता है और कोई कोई भाव भी रूपी होता है । ऐसी हालतमें भ्रमविध्वंसनकार जो अरूपी सिद्ध करनेके लिये भाव की वृत्तना करत हैं वह सर्वथा असंगत और शास्त्र न जानने का परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल १३ वां समाप्त)

(प्ररूपक)

यहा यह शङ्का होनी है कि गति, कषाय और योग चतु र्पर्णा और अपृष्णानी पुत्र्गल माने गये हैं पुत्र्गल जीव नहीं किन्तु अजीव हैं फिर गति, कषाय और योग को जीवका परिणाम यहा कैसे कहा है ? तो इसका उत्तर यह है —

गुरु लघु पर्याय, अपृष्णानी और अगुरु अलघु पर्याय चतु र्पर्णा पुत्र्गल हैं तथापि जैसे जीवके साथ एकाकार होकर रहनेसे इन्हे भगवती शतक २ उद्देश १ में जीवका पर्याय कहा है उसी तरह जीवके साथ मिल कर एकाकार होकर रहनेसे गति आदिको ठाणाग ठाणा दशमें जीवका परिणाम कहा है । भगवती शतक २ उद्देश १ का मूल पाठ यह है —

“भावजोषां जीवे अनंता नाण पञ्जवा अनता द सण पञ्जवा
अनंता चारित्त पञ्जवा अनता गुरु लहु पञ्जवा अनता अगुरु अलहु
पञ्जवा”

(भगवती शतक २ उ० १)

अर्थ —

भाव जीवक अनंत ज्ञान पर्याय, अनन्त दर्शन पर्याय, अनन्त चारित्त पर्याय, अनन्त गुरु लघु पर्याय और अनन्त गुरु अलघु पर्याय होते हैं ।
यहा भाव जीवके अनन्त गुरु लघु पर्याय और अनन्त अगुरु अलघु पर्याय कहे हैं । गुरु लघु पर्याय और अगुरु अलघु पर्याय प्रमश अपृष्णानी और चतु र्पर्णा

पुद्गल है तथापि जीवके साथ एकाकार होकर रहनेसे जैसे इन्हें भाव जीवका पर्याय कहा है उसी तरह दुग्ध जलवत् जीवके साथ मिल कर एकाकार होकर रहने से गति आदिको ठाणाग ठाणा १० में जीवका परिणाम कहा है अत गति आदि को भावरूप मान कर द्रव्य गति को जीव का परिणाम नहीं मानना मिथ्या समझना चाहिये ।

[बोल १४ वां समाप्त]

(प्रम्पक)

पञ्चावणा सूत्रके पाचवें पदमे मनुष्य जीवके वर्ण, गन्ध, आदि पर्याय भी कहे हैं वह पाठ यह है —

“मनुस्साणं भन्ते ! केवड्या पज्जवा पणत्ता ? गोयमा ! अनंता पज्जवा पणत्ता । सेकेणट्ठेणं भन्ते ! एवं बुच्चइ मणुस्साणं अणंता पज्जवा पणत्ता ? गोयमा ! मणुस्से मणुस दध्वट्ठयाए तुल्ले पएसट्ठयाए तुल्ले ओगाहण ट्ठयाए चउट्ठाण वड्ढिए ठीए चउट्ठाण वड्ढिए वन्नगंधरसफासआभिणिवोहियणाणओहिणाणमनपज्जवणाण केवल णाण पज्जवेहिं तुल्ले तिंहिं दंसणेहिं छट्ठाण वणिए केवल दंसण पज्जवेहिं तुल्ले”

(पञ्चावणा पद ५)

इस पाठमे मनुष्य जीवके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, पर्याय कहे हैं । वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रूपी और पौद्गलिक हैं तो भी क्षीर नीरकी तरह जीवके साथ मिले हुए होनेसे इन्हें जीवका पर्याय कहा है उसी तरह ठाणाग ठाणा दशमें, जीव के साथ मिले हुए होनेसे गति आदिको जीवका परिणाम कहा है ।

भगवती शतक १२ उद्देशा १० में आत्माको रूपी और अरूपी दोनो ही प्रकार का कहा है वह पाठ यह है ।

“कइ विहाणं भन्ते ! आया पणत्ता ? गोयमा ! अट्ठविहा आया पणत्ता तंजहा—दवि आया, कसायाया, जोगाया, उपयो-गाया, णाणाया, दंसणाया, चरिताया, वीरियाया”

(भगवती शतक १२ उ० १०)

अर्थ —

हे भगवन् ! आत्मा के प्रकारका होता है ?

हे गोतम ! आत्मा आठ प्रकारका है [१] द्रव्यात्मा [२] कषयात्मा [३] योगात्मा [४] अष्टस्पर्शात्मा [५] ज्ञानात्मा [६] इन्द्रानात्मा [७] चारित्र्यात्मा [८] धोष्यात्मा ।

यहां आठ प्रकारका आत्मा कहा गया है। इनमें कषाय, और योग क्रमशः चतुःस्पर्शा और अष्टस्पर्शा पुद्गल हैं और दोनों ही रूपी हैं इसलिये आत्मा रूपी भी सिद्ध होता है। कषाय और योग रूपी हैं इसलिये कषयाश्रय और योगाश्रय भी रूपी हैं अत आश्रयको अकाल्प अरूपी मानना सर्वथा शास्त्रमे प्रतिबन्ध समर्थता चाहिये ।

बोल १५ वां समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमनिर्व्विध्वंसनकार भ्रम० पृष्ठ ३१५ पर लिखत हैं कि—

त मष्टि कषाय अने योग आत्मा कही ते भाव कषाय भाव योगने क्या छै ।।

भाव कषाय तो आश्रय छै ।”

इन्को कहनेका तात्पर्य्य यह है कि उक्त भगवती सूत्र क मूलपाठमें जो कषाय और योगको आत्मा कहा है वह भाव कषाय भाव योग समझना चाहिये। भाव कषाय ही आश्रय है और वह अरूपी है इसलिये आश्रय अरूपी है।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक १२ उद्देश १० का मूलपाठ १५ वें बोलमें लिख दिवा गया है उस पाठमें सामान्य रूपसे लिखा है कि “कषाय और योग आत्मा हैं।” भाव कषाय और भाव योग आत्मा हैं ऐसा कहा नहीं लिखा है इसलिये भाव कषाय और भाव योगको आत्मा मान कर द्रव्य कषाय और द्रव्य योगको आत्मा न मानना भ्रमनिर्व्विध्वंसनकार का अज्ञान है। उस पाठकी टीका और टिप्पणमें भी नहीं कहा है कि “भाव कषाय और भाव योग ही आत्मा हैं” तथा दूसरी जगह भी कषाय और योगका द्रव्य भाव रूप में नहीं किया गया है अतः भ्रमनिर्व्विध्वंसनकार की पूर्णतः कल्पना अप्रामाणिक और मिथ्या है।

यदि कोई कहे कि “कषाय और योग क्रमशः चतुःस्पर्शा और अष्टस्पर्शा रूपी हैं, वे आत्मा नहीं हो सकते क्योंकि आत्मा अरूपी है” तो यह ठीक नहीं है। भगवती आदि सुत्रोंका प्रमाण देकर यह बतला दिया गया है कि ससारी आत्मा रूपी भी होता है इसलिये कषाय और योगके क्रमशः चतुःस्पर्शा और अष्टस्पर्शा रूपी होने पर भी आत्मा होनेमें कोई सन्देह नहीं है।

(बोल १६ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भगवती शतक १२ उद्देशा १० मे भाव आत्माके आठ भेद कहे हैं द्रव्य आत्मा के नहीं । भाव आत्मा अरूपी है इसलिये कषाय और योग भी भावरूप ही आत्माके भेद हैं, द्रव्य कषाय योग नहीं । भाव रूप कषाय योग अरूपी हैं इसलिये कषाय-श्रव और योगाश्रव भी अरूपी हैं रूपी नहीं । अतः भ्रमविध्वंसनकारने जो भाव रूप कषाय और योगको आत्माका भेद माना है वह ठीक ही मालूम होता है ।

(प्ररूपक)

भगवती शतक १२ उद्देशा १० मे आत्ममात्रके आठ भेद कहे हैं केवल भाव आत्माके ही नहीं । वहा द्रव्य और भावका कुछ जिक्र भी नहीं है इस लिये भगवती सूत्रोक्त आत्माके आठ भेद भाव आत्माके हैं यह कल्पना निर्मूल है । यदि तुम्हारी बात मानकर भगवती सूत्रमे भाव आत्माके ही आठ भेद मान लिये जाय तो योग नामक तीसरा भेद व्यर्थ ठहरता है क्योंकि भाव योगको भीषणजीने वीर्य्य स्वरूप माना है, वह वीर्य्य नामक आठवा भेद अलग कहा गया है उसीमे भाव योग भी शामिल हो जाता है फिर उसे अलग करनेकी क्या आवश्यकता है ? भीषणजीने भाव योगको वीर्य्य स्वरूप माना है वह गाथा यह है—

“योग वीर्य्य तणो व्यापार तिणसुं अहपी छे भाव जीव ”

भ्रम विध्वंसन पृष्ठ ३१८ में जीतमलजीने लिखा है —

“अने उत्थान, कर्म, बल, वीर्य्य, पुरुषाकार पराक्रम, फोडवे तेहिज भाव योग छै”

भीषणजी और जीतमलजीने भाव योगको वीर्य्य स्वरूप माना है वह वीर्य्य नामक आत्माका भेद जब कि कह दिया गया है तो उससे अलग योग नामक भेद कहने की क्या आवश्यकता है क्योंकि वीर्य्य नामक भेदमे ही भाव योग भी गतार्थ हो जाता है अतः भीषणजी और जीतमलजीका भाव योगको ही आत्माका भेद मानकर द्रव्य योगको आत्माका भेद नर्हा मानना नितान्त अज्ञान समझना चाहिये ।

भगवती शतक १३ उद्देशा ७ मे संसारी आत्माका शरीरके साथ कश्चित् अमेद कहा गया है । वह पाठ—

“आयाभन्ते ! काया अण्णे काया ? गोयमा ! आयाविकाए
अण्णे वि काए । रूवी भन्ते ! काए अरूवीकाए ? गोयमा ! रूवीवि-
काए अरूवीविकाए”

(टीका)

“आयामते । काय” इत्यादि । आत्मा काय कायेन कृतस्यानुभवना न्नहान्येन-
कृतमन्योऽनुभवत्यकृताभ्यागमप्रसगात् । अथान्य आत्मन काय कायैकदेशच्छे-
दपि संवेदनस्य सम्पूर्णत्वेनाभ्युपगमादिति प्रश्न । उत्तरतु आत्मापि काय कथञ्चित्त-
द्व्यतिरेकान् क्षीर नीरघत्, अग्नयय पिण्डघत्, काथनौपल्यद्वा अतएव कायस्पर्शे
सत्यात्मन सवेदन भवति । अतएव कायेन कृत मात्मना भवान्तरे वेशते अत्यन्त भेदे-
वाऽकृताभ्यागम प्रसग इति । “अग्नेऽपिना” त्ति अत्यन्ता भेदहि शरीराशच्छेदे जीवा-
गच्छे प्रसग तथाच मवेदनस्यामपूर्णतात्वात् तथा शरीर दाहे आत्मनोऽपिदाहेन पर
लोका भाग प्रसग इत्यत्र कथ चिदन्योऽप्यात्मन काय इति । अन्यैस्तु कर्मण काय-
मात्रित्यात्माकाय इति उच्यते । कर्मण कायस्य ससाय्यात्मनश्च परस्परान्यभि-
षातित्वेनैकरूपत्वात् । “अग्नेऽविकाण” त्ति औदारिकादिकाया पेश्या जीवादन्य काय
तद्विमोचनेन तद्देह मिद्वे तिति “रूवीकाण” त्ति रूप्यपि काय औदारिकादि कायस्थूल
रूपापेश्या । अरूप्यपिकाय कर्मण कायस्यातिसूक्ष्मरूपित्वेनारूपित्व विवक्षणात् ।”

अथ —

हे भगवन् ! आत्मा शरीरमे भिन्न हं या शरीर स्वरूप हे ?

हे गोतम ! आत्मा कथञ्चित शरीर स्वरूप हे और कथञ्चित शरीरसे भिन्न भी है ।

इस प्रश्नोत्तरका अभिप्राय यह है —

आत्मा शरीर स्वरूप है क्योंकि शरीरसे किये हुए का अनुभव आत्माको होता
है । यदि आत्मा शरीरसे जुड़ा होता तो शरीरसे किये हुए का आत्माको अनुभव नहीं
होता क्योंकि दूसरेसे किये हुएका अनुभव दूसरे को नहीं होता अत आत्माका शरीर
स्वरूप होना सिद्ध होता है ।

आत्मा शरीरसे भिन्न है क्योंकि शरीरके किसी अवयवका विच्छेद होने पर भी
ज्ञानका विच्छेद नहीं होता किन्तु ज्ञान पूर्णरूप में ही होता है । यदि आत्मा और शरीर
एक होते तो शरीरके किसी अवयवका विच्छेद होने पर सम्पूर्ण रूपसे ज्ञानका उदय नहीं
होता । अत आत्मा शरीरसे भिन्न है । ये दो परस्पर विरुद्ध बातोंको देख कर आत्मा
और शरीरके भेद और अभेदका प्रश्न किया गया है । इसका उत्तर यह है —

आत्मा, कथञ्चित् शरीर स्वरूप भी है क्योंकि मिले हुए दूध, जलकी तरह आग
और लौह पिण्डकी तरह पत्थर और सोनेकी तरह आत्मा शरीरसे एकाकार होकर रहता
है । अतएव शरीरका स्पर्श होने पर उसका ज्ञान आत्माको होना है और शरीर से
किये हुएका फल आत्माको जन्मान्तरमें मिलता है । यदि शरीर के साथ आत्मा का

अत्यन्त भेद हो तो शरीरके कर्मका फल आत्माको कदापि नहीं मिल सकता । दूसरोंके कर्मका फल दूसरोंको नहीं मिलता । अतः आत्मा शरीरसे कथञ्चित् अभिन्न है ।

यदि आत्माको शरीरके साथ सर्वथा अभेद मान लिया जाय तो शरीरके विरुद्ध अवयवका छेद हो जाने पर आत्माके अंगका भी छेद मानना पड़ेगा और आत्माके अंगका छेद मानने पर सम्पूर्ण रूपमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और शरीरके दाह होने पर आत्माका भी दाह मानना पड़ेगा ऐसी दृश्यामे आत्माके परलोक होने का अभाव होगा अतः आत्मा कथञ्चित् शरीरसे भिन्न भी है ।

किसी किसी टीकाकारने कर्मण शरीरके साथ आत्माका अभेद मान कर 'आयुर्विज्ञान' इत्यादि व्याख्या की है । उनका आशय यह है कि "ससारी आत्मा और कर्मण शरीर क्षीर नीरकी तरह मिले हुए होनेसे अभिन्न मालूम होते हैं—इसलिये यह आत्माको शरीर स्वरूप कहा है ।"

"औदारिकादि शरीरको आत्मा छोड़ देता है इसलिये औदारिकादि शरीरके आत्माको जुदा मान कर "अणुविकाण" यह पाठ कहा है ।" औदारिकादि स्थूल शरीरकी रूपी है उसकी अपेक्षासे कषायको रूपी कहा है । कर्मण शरीरका रूप अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिये उस रूपकी अविज्ञप्ता करके कषाय को अरूपी भी कहा है । यह उक्त मूलपाठके टीकाका अर्थ है ।

यहा मूलपाठ और टीकामें ससारी आत्माको शरीरसे कथञ्चित् अभिन्न माना है, अतः ससारी आत्माका रूपी होना भी सिद्ध होता है । जब कि ससारी आत्मा कथञ्चित् रूपी भी है तब फिर रूपमाले कषाय और योगके भेद क्यों नहीं हो सकते हैं ? अतः भाव कषाय और भाव योगको आत्माका भेद मान कर द्रव्य कषाय और द्रव्य योगको आत्माका भेद न मानना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

अनुयोग द्वारा सूत्रमें, कर्मके उदयसे कषाय और योगकी उत्पत्ति कही गई है । कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाले पदार्थ न तो एकान्त जीव हैं और न एकान्त अजीव हैं वे कथञ्चित् जीव और कथञ्चित् अजीव दोनों ही तरहके हैं इसलिये कषाय और योगको एकान्त अजीव या एकान्त जीव बताना मिथ्या है ।

शास्त्रकारोंने मिथ्यात्व अत्रत कषाय और योगको कहीं तो जीव, और कहीं अजीव कहा है । जहा जीव कहा है वहा जीवाशकी प्रधानता और जहा अजीव कहा है वह मुद्गलाश की प्रधानता समझनी चाहिये परन्तु एकान्त जीव या अजीव शास्त्रका आशय नहीं है ।

(बोल १७ वां समाप्त)

(प्रेरक)

धर्मविध्वंसनकार अनुयोग द्वार सूत्रकी मूल्पाठ लिख कर उमकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ ईहां उदयरा दो भेद कहा उदय, अने उदय निष्पन्न, उदय ते आठ कर्म नी प्रकृति से उदय, अने उदय निष्पन्नरा दो भेद जीव उदय निष्पन्न अजीव उदय निष्पन्न” यह लिख कर आग लिखते हैं —

“इहा तो चौंढे कपाय, मिथ्यादृष्टि, अज्ञा, योग इया सर्वानि जीव कहा छै त माटे सर्व आश्रम छै ण न्याय आश्रम जीव छै (ध्र० पृ० ३१७)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

मिथ्यात्व, कपाय, अज्ञत और योगकी, जीवाशकी मुख्यताको लेकर जीवोदय निष्पन्न कहा है । ये एकान्त जीव हैं इनमें पुद्गलोका सर्वथा अभाव है यह शास्त्रका त स्पर्श नहीं है क्योंकि कारणके अनुरूप ही कार्य होता है मिट्टीसे मिट्टीका ही घडा बनता है—मोनेका नहीं बनता । आठ प्रकारकी कर्मकी प्रकृतियोंका उदय चतु स्पर्शी पौद्गलिक माना गया है इसलिये उससे उत्पन्न होने वाले पदार्थ भी चतु स्पर्शी पौद्गलिक ही होंगे एकात अरूपी और एकात अपौद्गलिक नहीं हो सकते । मिथ्यात्व, अज्ञत कपाय और योग आठ प्रकारकी कर्मकी प्रकृतियोंके उदयसे उत्पन्न होते हैं इस लिये अपने कारणके अनुसार ये रूपी और चतु स्पर्शी पौद्गलिक हैं एकात अरूपी और अपौद्गलिक नहीं हैं तथापि जीवाशकी मुख्यताको लेकर शास्त्रमें इन्हे जीवोदय निष्पन्न कहा है । इसलिये इन्हें एकात जीव और अरूपी मानना मिथ्या है । टीकाकारने स्पष्ट रूपसे यह बात दर्शायी है वह टीका यह है —

“ननुयथा नरकत्वादय पर्याया जीवे भवतीति जीवोदय निष्पन्ने औदयिके पठ्यन्ते एव शरीराण्यपि जीवे एव भवतीति तत्रापि तत्रैव पठनीयानिश्चु किमिति अजीवोदयनिष्पन्ने अधीयन्ते ? । अस्त्येतत् किन्त्वौदारिकादिशरीरनामकर्मोदय स्व मुरयतया शरीर पुद्गलेष्वेव विपाक दर्शनात् तन्निष्पन्न औदयिको भाव शरीर लक्षणोऽजीवे एव प्राधान्या इति इत्यदोष ।”

(प्रश्न) अर्थात् जैसे नरक आदि पर्याय जीवमें होते हैं इसलिये वे जीवोदय निष्पन्न औदयिक भावमें पडे गये हैं उसी तरह शरीर भी जीवमें ही उत्पन्न होता है इसलिये उसे भी जीवोदय निष्पन्न औदयिक भावमें ही पढना चाहिये ।

उसे अजीवोदय निष्पन्न औदयिक भावमें क्यों पढा गया है ?

(उत्तर) ठीक है परन्तु औदारिक आदि शरीर नाम धर्मके उदयका विपाक, मुख्य रूपसे शरीर पुद्गलोंमें ही देखा जाता है इसलिये उससे (शरीर नाम कर्मके उदय से) उत्पन्न हुए भाव को शरीर रूप अजीवमें ही प्रधानतासे दिखलाया गया है इसलिये कोई दोष नहीं ।

इस टीकामे टीकाकारने शरीरको अजीवोदयनिष्पन्न औदयिक भावमें कहने का कारण बतलाते हुए यह स्पष्ट लिखा है कि “यद्यपि शरीर भी जीवोदय निष्पन्न औदयिक भाव कहा जा सकता है तथापि उसमे पुद्गलाशकी मुख्यता होनेसे अजीवोदय निष्पन्न कहा है ।”

इस टीकाकारकी उक्तिसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि शास्त्रमें जीवाशकी मुख्यताको लेकर जीवोदय निष्पन्न और पुद्गलाशकी मुख्यताको लेकर, अजीवोदय निष्पन्न कहा है परन्तु किसीको एकात अजीव या एकात जीव कहनेका तात्पर्य नहीं है । जीवोदय निष्पन्न पदार्थों मे जीवाशकी मुख्यता और अजीवोदय निष्पन्नमें पुद्गलाशकी मुख्यता मात्र समझनी चाहिये परन्तु जीवोदय निष्पन्नमे पुद्गलाशका और अजीवोदय निष्पन्न मे जीवाशका सर्वथा अभाव नहीं है । इसी प्रधानताको लेकर ही शास्त्रमें उदयभावके जीवोदय निष्पन्न और अजीवोदय निष्पन्न नामक दो भेद किये हैं एकात जीव या एकात अजीवको लेकर नहीं अतः जीवोदयनिष्पन्न भावको एकात जीव और अजीवोदय निष्पन्नको एकात अजीव बतलाना मिथ्या है ।

(बोल १८ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वसनकार भ्रम विध्वसन पृष्ठ ३२० पर अनुयोग द्वारा सूत्रके पाठकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अने भाव सयोग जे ज्ञानादिक ना भला भावने सयोगे तथा क्रोधादिक माठा भावने सयोग नाम ते भाव सयोग कइया तिहा भाव क्रोधादिकने सयोगे क्रोधी मानो मायी लोभी कइयो ते माटे ए ज्ञानादिक भाव कइया ते जीव छै तिम भाव क्रोधादिक विण जीव छै । एतला भाव क्रोधादिक ४ कइया ते जीवरा भाव छै ते कपाय आश्रव छै ते माटे कपाय आश्रवने जीव कही जे”

(भ्र० पृ० ३२०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

यद्यपि क्रोध, मान, माया और लोभ भाव रूप कहे गये हैं तथापि ये सिर्फ आत्माके ही धर्म नहीं हैं क्योंकि सिद्धात्माओंमें इनका सर्वथा अभाव है और केवल

पुद्गलोंके भी धर्म नहीं है क्योंकि आत्म ससर्ग गहित पुद्गलोम इनका सद्भाव नहीं दखा जाना इस लिये पुद्गल संसर्ग विशिष्ट आत्माके ये धर्म हैं । पुद्गल ससर्ग विशिष्ट आत्मा रूपी ससारी और वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदिस युक्त माना गया है इस लिये उसके धर्म क्रोधादि भाव भी एकान्त अरूपी नहीं हो सकने । दूसरी बात यह है कि क्रोधादि भाव कर्मों के उदयसे उत्पन्न होते हैं । कर्म रूपवान् है इस लिये उससे उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भाव भी रूपवान् हैं एकान्त अरूपी नहीं हैं । यदि कोई ज्ञानादि गुण का दृष्टान्त देकर क्रोधादि भावको भी एकान्त अरूपी कह तो उसे कहना चाहिये कि ज्ञानादि गुण कर्मके उदयसे नहीं किन्तु कर्मके क्षय, उपशम और क्षयोपशमसे उत्पन्न होते हैं और सिद्ध जीवोंमें भी पाये जाते हैं इस लिये ज्ञानादि, अरूपी और आत्माके मौलिक गुण हैं परन्तु क्रोधादि भाव ऐसे नहीं हैं वे कर्मों के उदयसे उत्पन्न होते हैं और सिद्धात्माओंमें नहीं होते इस लिये वे ज्ञानादि गुणके समान एकान्त अरूपी नहीं हो सकते । यदि भाव रूप कहे जानेसे कोई क्रोधादि भावको एकान्त अरूपी कहे तो उसे कहना चाहिये कि भाव रूप होनेसे न कोई एकान्त अरूपी हो जाता है और न द्रव्य रूप होनेसे रूपी ही होता है यह हम पहले ही उदाहरणके साथ बतला चुके हैं अतः भाव रूप होनेसे क्रोधादिको एकान्त अरूपी कहना अज्ञात है ।

(बोल १९ वां समाप्त)

(प्रेरक)

१ भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३२१ पर अनुयोग द्वार सूत्रका मूलपाठ लेख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखने हैं—

“अथ इहा भाव लाभरा २ भेद कथा । प्रशस्तभावनो लाभते ज्ञान, दर्शन, चारित्र-
तो अने अप्रशस्त माठा भावनीलाम क्रोध, मान, माया, लोभनो लाभ । इहा क्रोधादिकने
भाव लाभ कथा है त माटे ए भाव क्रोधादिकने भाव कपाय कहीजे ते भाव कपायने
कपाय आश्रव कहीजे । तथा अनुयोग द्वार सूत्रमे इम कथो—सावज्ज जोग विरद्द” ते
सावज्ज योगधकी निवर्तते सामायक । इहा योगाने सावज्ज कथा अने अजीवने तो सावज्ज
पिण न कहीजे । सावज्ज निरवज्ज तो जीवने इज कहीजे । इहा योगाने सावज्ज कथा ते
माटे ए भाव योग जीवणै अने योग आश्रवणै इण न्याय योग आश्रवने जीव कहीजे”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

अनुयोग द्वार सूत्रके मूल पाठमे क्रोध, मान, माया और लोभके लाभको अप्रशस्त भावका लाभ कहा है । यहा क्रोधादिको भाव रूप कहा है यह देखकर जीतमलजी इन्हें अरूपी बतलाते हैं परन्तु यह मिथ्या है । पहले बतला दिया गया है कि भाव रूप होनेसे न कोई एकान्त अरूपी होता है और द्रव्य रूप होनेसे न कोई एकान्त अरूपी ही हो जाता है किन्तु अपने कारणके अनुरूप सभी कार्य्य होते है क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मों के उदयसे उत्पन्न होते हैं इस लिये अपने कारणके अनुसार ये रूपी और पौद्गलिक हैं । यदि ये रूपी और पौद्गलिक नहीं हैं तो फिर इन्हे आत्मा का मूलगुण कहना होगा और आत्माका मूलगुण माननेपर सिद्धात्माओंमें भी इनको स्वीकार करना पडेगा क्योकि आत्माके मौलिक गुणोंका कभी भी नाश नहीं होता जैसे ज्ञानादि गुण आत्माके मौलिक गुण हैं अत वे सिद्ध होनेपर भी आत्मामे मौजूद रहते हैं उसी तरह क्रोध, मान, माया और लोभ भी सिद्धात्मामे मानने हगे परन्तु यह बात जीतमलजीको भी इष्ट नहीं है अत कर्मके उदयसे उत्पन्न होने वाले क्रोधादि भाव पौद्गलिक हैं एकान्त अरूपी नहीं हैं यद्यपि ये आत्माके गुण कहे गये हैं तथापि इन्हें पुद्गल ससर्ग विशिष्ट आत्माका गुण समझना चाहिये शुद्ध आत्माका गुण नहीं । तात्पर्य यह है कि क्रोधादि भाव आत्माके मौलिक गुण नहीं किन्तु पुद्गल और आत्मके ससर्ग से उत्पन्न होते है इस लिये ये एकान्त जीव और एकान्त अरूपी नहीं हो सकते । ज्ञान दर्शन और चारित्र तो आत्माके मौलिक गुण हैं और ये पुद्गलके ससर्गसे उत्पन्न नहीं होते हैं तथा उनके कारण भी कर्मों का क्षय, उपशम और क्षयोपशम हैं कर्मों का उदय नहीं है इसलिये ज्ञानादि गुण एकान्त अरूपी और जीव हैं इनके दृष्टान्तसे क्रोधादि भावोंको एकान्त अरूपी और जीव बताना अज्ञान है ।

इसी तरह सावद्यको एकान्त अरूपी और जीव बताना भी मूर्खता है । सुयगढाग सूत्रमें १२ प्रकारकी साम्परायिकी क्रिया और १ प्रकारकी ऐर्यापथिकी इन १३ क्रियाओं को अजीव कहा गया है और भ्रमविध्वंसनकारने भी ३० पृ ३१० मे ठाणागका मूल पाठ लिखकर इन क्रियाओंको अजीव त्रिया कहा है और ये १३ क्रियाएँ सावद्य मानी गई हैं इसलिये सावद्यका अजीव होना भी सिद्ध होता है । सुयगढाग सूत्रमें उक्त क्रियाओंको सावद्य कहा है । वह पाठ यह है—

“एव खलु तस्स तप्पत्तिपं सावज्जंति आहिज्जइ दुवालसमे किरियट्ठाणे लोभवत्तिएत्ति आहिए”

(सुयगढाग)

यही पाठ साम्परायिकी त्रियाके लिये भी आया है इस पाठमे साम्परायिकी और एर्थापयिकी त्रियाको भी सावग कहा है अत निश्चित होता है कि सानद्य रूपी और अजीव भी है उसे एकान्त अरूपी और जीव मानना अज्ञानियोका काम है ।

(वोल २० समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३०० पर उवाह सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा अकुशल मनने माठा मनने रु धवो कछो । कुशल मन प्रवर्तवणो कछो । इमपिण वचन कछो । अकुशल मनने रु धवो कछो ते अजीवने किम रु धे पिण एतोजीव है ।”

इनके कहनेका भाव यह है कि योग प्रतिसलीनता नामक तपमे आया हुआ योग एकान्त अरूपी और जीव है इस लिये आश्रव एकान्त जीव और अरूपी है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उवाह सूत्रके मूलपाठमे मन, वचनका योगके समान कायका योग भी कहा हुआ है परन्तु भ्रमविध्वंसनकारने काय योगके पाठको छोड़कर अधूरा पाठ लिखा है । काय योग प्रत्यग ही रूपी और अजीव है और वह भी योगप्रतिसलीनता नामक तपमें कहा हुआ योगमे शामिल है इस लिये योग प्रतिसलीनता नामक तपमे आये हुए योग को एकान्त अरूपी और एकान्त जीव बताना मिथ्या है । उवाह सूत्रका पूर्ण पाठ इस प्रकार है—

“सेकितं मणजोगपडिसंलीनया ? अकुशलमनगिरोहोवा, कुशल मनउदीरणवा सेत मणजोगपडिसलीनया । सेकितं वयजोगपडिसंलीनया ? असकुलवयगिरोहोवा कुशलवयउदीरणवा सेतं वय जोगपडिसंलीनया । सेकित कायजोगपडिसलीनया ? जण्णं सुस-माहितापाणिण कुम्भोइव गुत्तिदिण सव्वगायपडिसंलीने विट्ठइ से तं कायजोगपडिसलीनया”

(उवाह सूत्र)

अर्थ —

[प्रश्न] मनोयोग प्रतिसलीनता किसे कहते हैं ?

[उत्तर] अकुशल मनको रोकना और कुशल मनको प्रवृत्त करना, मनोयोग प्रतिसलीनता है ।

[प्रश्न] वचनयोग प्रतिसलीनता किसे कहते हैं ?

[उत्तर] अकुशल वचनको रोकना और कुशल वचनको प्रवृत्त करना वचनयोगप्रतिसलीनता है ।

[प्रश्न] काययोगप्रतिसलीनता किसको कहते हैं ?

[उत्तर] हाथ पैर आदि अवयवोंको सुसमाहित रखना तथा बच्चपकी तरह अपनी इन्द्रिया और अवयवोंको संकुचित रखना “काययोग प्रतिसलीनता” है ।

यहा अकुशल मन वचन और कायके योगको रोकना तथा कुशल मन वचन और कायके योगको प्रवृत्त करना योगप्रतिसलीनता नामक तप कहा गया है परन्तु जीतमलजी लिखते हैं कि “अजीवने किम रू धे पिण एजीव छै” यदि अजीव नहीं रोका जा सकता तो इस पाठमें अकुशल कायके योगका निरोध करना क्यों कहा गया है ? क्योंकि शरीर और उसकी इन्द्रिया तो जीतमलजीके मतमें भी प्रत्यक्ष ही एकान्त अजीव और पौद्गलिक है । यदि अजीव होनेपर भी शरीर और इन्द्रिया रोकी जा सकती हैं तो फिर मन और वचन भी अजीव होनेपर क्यों नहीं रोके जा सकते ? अत इस पाठमें अकुशल मन वचनको रोकनेके लिये कथन होनेसे मन और वचनके योगको एकान्त जीव और अरूपी धताना भिद्यया है ।

दूसरी बात यह है कि भगवती शतक १३ उद्देशा ७ में वचनको अजीव और रूपी कहा है इसलिये वचनका योग रूपी और अजीव है । वह पाठ यह है—

“आयाभते ! भासा अण्णा भासा ? गोयमा ! णो आया भासा
अण्णा भासा ! रूपी भंते ! भासा अरूपो भासा ? गोयमा ! रूपी
भासा णो अरूपी भासा”

अर्थ —

[प्रश्न] हे भगवन् ! भाषा, (वचन) आत्मा है या अन्य है ?

[उत्तर] हे गोतम ! भाषा आत्मा नहीं है, आत्मासे अन्य है ।

[प्रश्न] हे भगवन् ! भाषा (वचन) रूपवती है या अरूपवती है ?

[उत्तर] हे गोतम ! भाषा रूपवती है अरूपवती नहीं है ।

इसी तरह मनके विषयमें भी पाठ आया है । वह पाठ यह है—

“आया भन्ते ! मणे अण्णे मणे णो आया मणे अण्णे मणे”

अर्थ —

हे भगवन् ! मन आत्मा है या आत्मासे भिन्न है ?

हे गौतम ! मन आत्मा नहीं है किन्तु वह आत्मासे भिन्न है ।

उक्त पाठमें मन और वचनको रूपी और आत्मासे भिन्न कहा है इस लिये उनके योग भी रूपी और अजीव हैं इस लिये मन वचन और योगको एकान्त अरूपी और जीव मान कर आश्रवको एकान्त जीव कहना अज्ञान है । भाव मन और भाव वचनकी क्युक्ति लगा कर आश्रवको एकान्त जीव और अरूपी बताना भी मिथ्या है क्योंकि मूलपाठमें भाव होनेसे किमीको एकान्त अरूपी और जीव नहीं कहा है और प्र य होनेसे किसीको एकान्त रूपी और अज व भी नहीं कहा है अतः शास्त्र विरुद्ध आश्रवको एकान्त अरूपी और जीव मानना मिथ्यात्वका परिणाम समझना चाहिये ।

[बोल २१ समाप्त]

(प्रेरक)

आश्रवको जीव और अजीव दोनों ही प्रकारका कहीं कहा हो तो उसे उदाहरण सहित बतलाइये ?

(प्ररूपक)

ठाणाग सूत्रकी टीकामें आश्रवको जीव और अजीव दोनोंमें ही माना है । वह टीका यह है—

“नव सन्नाये” त्यादि सद्विभवेन परमार्थेनानुपचारेणेत्यर्थं पत्न्या यस्तूनि नव सद्विभावपदार्थास्तद्यथा जीवा सुमदु सज्जानोपयोगलक्षणा अजीवास्तद्विपरीता पुण्य शुभप्रवृत्तिरूप कर्म, पापं तद्विपरीत कर्म च । आश्रयते गृह्यते कर्माज्जेत्याश्रव शुभाशुभ कर्मादान हेतुगिति भाव । सवर आश्रवनिरोधो गुप्त्यादिभि निर्जग विपावाचपसावा कर्मणा देशत क्षपणा चन्ध आश्रवैरागतस्य कर्मण आत्मना सयोग । मोक्ष घृत्स्न कर्म-क्षयादात्मन स्वात्मन्यधिष्ठानम् । ननु जीवाजीव व्यतिरिक्ता पुण्यादयोनसति तथा मुन्दमानत्वात् तथाहि—पुण्य पापे कर्माणि चण्णोऽपि तदात्मकत्व । कर्मस्य पुद्गल परिणाम पुद्गलान्नाजीवा इति । आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामो जीवस्य सधामानं पुद्गलान्दय विरह्यकोऽन्य । सवरोऽपि आश्रवनिरोधलागो देशनरोधेदानामन परिणामो निवृत्तिरूप । निर्जर तु कर्म परिशदीजीव कर्मणा यत्पार्थस्य मापद्वयि रय-क्षपत्या । मोक्षोऽप्यात्मा सदस्व कर्म विरहित इति सम्भाजीवार्जो जी सद्विभवेणार्थादिभि

वक्तव्यम् अतएवोक्तमिदं “यदतिथि चण लोए संसन्ध दुष्पडोयारं तजहा—जीवञ्चेअ अजीवञ्चेअ अथोच्यते सत्यमेतत् त्रिन्तु हावेव जीवाजीव पदार्थौ सामान्येनोक्तौ तावे-
वेह विज्ञेयतो नवधोक्ताविति”

अर्थ —

पदार्थ नौ प्रकारके हैं (१) जीव (२) अजीव (३) पुण्य (४) पाप (५) आश्रय (६) संवर (७) निर्जरा (८) बन्ध (९) मोक्ष । सुख दुःख ज्ञान और उप-
योग रक्षण पदार्थको जीव कहते हैं और उससे भिन्न पदार्थका नाम अजीव है । शुभ प्रकृति रूप कर्म ‘पुण्य’ और अशुभ प्रकृति रूप कर्म पाप कहलाते हैं । शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकारके कर्मोंका ग्रहण जिससे होता है उसे “आश्रय” कहते हैं । गुप्ति आदिके द्वारा आश्रयको रोक देना ‘संवर’ है । विपाक या तपस्यासे देशसे कर्मों का क्षण करना निर्जरा है । आश्रयके द्वारा ग्रहण किये हुए कर्मों का आत्माके साथ संयोग होना ‘बन्ध’ कहलाता है । सब कर्मों के क्षय होनेपर आत्माका अपने स्वरूपमें स्थित हो जाना ‘मोक्ष’ है ।

(शका)

उक्त नव ही पदार्थ जीव और अजीव नामक दो ही पदार्थमें शामिल हो जाते हैं । इन्हें अलग कहनेकी क्या आवश्यकता है ? पाप और पुण्य कर्मस्वरूप हैं और बन्ध भी कर्म स्वरूप ही है कर्म पुद्गलका परिणाम है पुद्गल अजीव हैं इसलिये पाप, पुण्य और बन्ध ये तीनों पदार्थ अजीवमें गतार्थ होते हैं । मिथ्या दर्शनादि रूप आश्रय जीवका परिणाम है वह जीव और पुद्गलोंको छोड़कर अन्य क्या हो सकता है ? (अर्थात् आश्रय कोई तो जीवका परिणाम है और कोई पुद्गलका परिणाम है अतः वह जीव और अजीव दोनोंमें ही गतार्थ है) देश या सर्वसे आश्रयको रोकने वाला निवृत्ति-स्वरूप संवर भी जीवका ही परिणाम है । कर्मों का परिशासन रूप निर्जरा भी जीव स्वरूप ही है क्योंकि जीव ही अपनी शक्तिसे कर्मों को अपनेसे पृथक् कर देता है । मोक्ष भी जीवस्वरूप ही है क्योंकि समस्त कर्मों से रहित हुआ जीव ही मोक्ष माना जाता है इस प्रकार उक्त नौ ही पदार्थ जीव और अजीव नामक दो ही पदार्थमें शामिल हो जाते हैं । यहा भी है—छोकमें जो कुछ देखा जाता है वह कोई तो जीव और कोई अजीव है ।

(उत्तर)

यह सत्य है परन्तु सामान्य रूपसे संक्षेपमें बतलाये हुए जीव और अजीव पदार्थों का ही यहा विशेष रूपसे उल्लेख करके उनका प्रपञ्च सम्झाया गया है इस लिये यहा जो

पदार्थोंका नौ भेद किया है इसमें कोई दोष नहीं है । वास्तवमें पदार्थ जीव और अजीव दो ही हैं ।

यहा टीकाकारने आश्रयके विषयमें लिखा है कि “सचात्मान पुद्गलाश्च विरह्य्य कोऽन्य” अर्थात् वह आश्रय आत्मा और पुद्गलोंको छोड़कर अन्य क्या है ? अर्थात् कुछ भी नहीं है । आश्रय, आत्मा और पुद्गल इन दोनोंका परिणाम स्वरूप ही है यह टीकाकारका आशय है इस लिये आश्रयको एकान्त जीव मानना इस टीकासे विरुद्ध समझना चाहिये । यद्यपि टीकाके इस पूर्वोक्त वाक्यके पहले आश्रयके सम्बन्धमें यह वाक्य आया है कि “आश्रवस्तु मिथ्यादर्शनादिरूप परिणामो जीवस्य” तथापि इस वाक्यमें “परिणामो जीवस्य” इसमें दो तरहका सन्धि विच्छेद है—“परिणाम जीवस्य” परिणाम अजीवस्य” इन दोनों ही प्रकारका छेद करके आश्रयको जीव और अजीव दोनोंका परिणाम बनाना टीकाकारको इष्ट है । यदि आश्रयको केवल जीवका ही परिणाम बनाना इष्ट होता तो टीकाकार यह कैसे लिखत कि “सचात्मानं पुद्गलाश्च विरह्य्य कोऽन्य । अत टीकाकारका “परिणामो जीवस्य” इसमें पूर्वोक्त रीतिसे द्विविध सन्धिका विच्छेद करना तात्पर्य है । परन्तु जीवमलजिने भोले जीवोंको भ्रममें डालनेके लिये इस टीकाके “सचात्मानं पुद्गलाश्च विरह्य्य कोऽन्य इस वाक्यका अर्थ नहीं करके केवल “आश्रवस्तु मिथ्या दर्शनादिरूप परिणामो जीवस्य इसीका अर्थ करके छोड़ दिया है और वह अर्थ भी “परिणाम जीवस्य” इस विच्छेदके अनुसार ही किया है “परिणाम अजीवस्य” इस विच्छेदके अनुसार नहीं किया है अत आश्रयको एकान्त अजीव कहना उरका अज्ञान समझना चाहिये ।

बोल २२ वां समाप्त

(प्ररूपक)

भगवती सूत्र शतक ७ उद्देशा १ में पाठ आया है कि—“दुस्ती दुस्तेण फुडे नो अदुस्ती दुस्तेण फुडे” अर्थात् कर्मों से युक्त पुरुष ही कर्मका स्पर्श करता है परन्तु अकर्म पुरुष, कर्मका स्पर्श नहीं करता” यदि अकर्म (कर्म रहित) पुरुषको भी कर्मका स्पर्श हो तो सिद्धात्मा पुरुषोंमें भी कर्मका स्पर्श मानना पड़ेगा । परन्तु यह बात नहीं होती अत निश्चित होता है कि कर्म भी कर्मक ग्रहण करनेके कारण होनेसे आश्रय हैं । तथा भगवती में इस पाठके आगे यह पाठ आया है कि “दुस्ती दुस्तेण पत्तियायद” अर्थात् कर्मसे युक्त मनुष्य कर्मका ग्रहण करता है” इस पाठसे कर्मका आश्रय होना सिद्ध होता है । कर्म पौद्गलिक अजीव है इस लिये आश्रय, पौद्गलिक अजीव भी सिद्ध होता है अत एकान्त जीव मानने बाते अज्ञानी हैं ।

इसके पहलेके धोल्मे ठाणाङ्ग सूत्रकी टीकाकी साक्षी देकर जो पाप, पुण्य और बन्धको अजीवमे, और सवर, मोक्ष तथा निर्जराको जीवमे एव आश्रवको जीव ओर अजीव दोनो ही में गतार्थ किया है वह निश्चय नयके अनुसार सम्झना चाहिये क्योंकि व्यवहारनय में पाप, पुण्य और बन्ध को आत्मा का परिणाम भी कहा है । वह पाठ यह है ।

“अहंभंते ! पाणाइवाए सुसावाए जावमिच्छादंसणसल्ले, पाणाइवायवेरमणे जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे उप्पत्तिया जाव परिणामिया उग्गहे जावधाग्णा उट्ठाणे कम्मे वले वीरिए पुरिसक्कार परक्कमे णेरइयत्ते असुर कुमारत्ते जाव वेमाणियत्ते णाणावरणिज्जे जाव अन्तराहए कण्हत्तेस्सा जाव सुक्कलेस्सा समदिट्ठिए ३ चक्खु दंसणे ४ ओरालिय सरीरे ५ मण जोगे ३ सागारोवयोगे जेयावण्णे तहप्पगारा सव्वेत्ते णणत्थ आत्ताए परिणमन्ति ? हंता ! गोयमा ! पाणाइवाए जाव सव्वेत्ते णणत्थ आत्ताए परिणमन्ति ।”

अर्थ —

(भगवतो शतक २० उद्देश ३)

हे भगवन् ! प्राणातिपात और मृदा वादसे लेकर मिथ्यादर्शन शल्य पर्यन्त, और प्राणातिपात विरमणसे लेकर यावत् मिथ्या दर्शन शल्य विनेक पर्यन्त, ओत्पातिकी यावत् परिणामिकी, अवग्रह यावत् धारणा, उत्थान, बल, पीर्य्य, कम्मं, पुरपाकार पराक्रम, नैरयिकत्व, वासुर कुमारत्व, यावत् धैमानिकत्व, ज्ञानावराणीय यावत् आन्तरायिक, कृष्ण ऐश्या यावत् शुक्ल ऐश्या, सम्यग्दृष्टि आदि तीन, चतुर्दमादि चार, आभिनिधोधिकादि पाच ज्ञान, यावत् विभंग ज्ञान आहारादि चार संजाए औदारिकादि पाच शरीर, मनोयोगादि तीन योग, साकार और अनाकारोपयोग ये सब पर्याय क्या आत्माके ही परिणाम हैं ?

[उत्तर] हा गोतम ! प्राणातिपातसे लेकर उक्त सभी बोल आत्माके ही परिणाम हैं दूसरेके नहीं ।

इस पाठमे प्राणातिपातसे लेकर अनाकारोपयोग पर्यन्त सभी आत्माके ही परिणाम कहे हैं इसलिये पुण्य पाप और बंध भी व्यवहारनयमें जीव हैं इन्हें एकांत अजीव कहना अज्ञानका परिणाम है ।

बोल २३ वां समाप्त

(इति आश्रवाधिकारः समाप्तः)

अथ जीवाजीवादि पदार्थ विचारः ।

(प्ररूपक)

जैन शास्त्रमें, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रय, संवर, निर्जरा वध और मोक्ष ये नव तत्त्व माने गये हैं । ये नव ही तत्त्व, किसी न्यायसे रूपी और किसी न्यायसे अरूपी हैं । इसका विवेक नीचे लिखे अनुसार समझना चाहिये ।

जीव, निश्चयनयसे अरूपी और व्यवहार नयसे रूपी है । कौए बगले आदि शरीर धारी प्राणियोंको जीव कहते हैं और वे रूपी हैं अतः व्यवहार नयसे जीव रूपी है । सिद्धात्मा, रूपरहित होते हैं और वे भी जीव हैं इसलिये निश्चय नयसे जीव निर्गुण निर्गुण और रूप रहित है । ठाणाङ्ग सूत्र ठाणा दोमे जीवके दो भेद किये हैं एक संसारी और दूसरा मिद्ध उनमें संसारी जीव रूपी और सिद्ध अरूपी हैं ।

अजीव पदार्थ भी रूपी और अरूपी दो तरहका है । धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये अरूपी हैं और पुद्गल रूपी है ।

पुण्य और पाप, रूपी और अरूपी दो तरहके हैं । आत्माका, अन्नादि दान करनेके लिये जो शुभ अध्यवसाय होता है वह पुण्य है । उक्त शुभ अध्यवसाय अरूपी है इसलिये पुण्य अरूपी है । ४२ प्रकारकी पुण्यकी प्रकृति अनन्त पुद्गलोंके स्वन्धसे उत्पन्न होती हैं अतः शुभकरनीसे उत्पन्न हुआ पुण्य रूप फल रूपी है । हिंसा आदि करनेके लिये जो बुरा अध्यवसाय या आत्मपरिणाम होता है वह पाप है वह अध्यवसाय अरूपी है इसलिये पाप अरूपी है । पापका फल जो ८२ प्रकृतियोंका उदय है वह भी पाप फल-छाता है और वह रूपवान् है इसलिये पाप रूपी भी है ।

आश्रय भी रूपी और अरूपी दो तरहका होता है शुभ, और अशुभ अध्यवसाय, छ, भाव लेदयाए, मिथ्यात्व आदि जीवके परिणाम ये सब धर्मबन्धके कारण होने से आश्रय कहलाते हैं ये रूपी नहीं हैं इसलिये आश्रय अरूपी है । फर्मा और अजीवकी २५ क्रियाए, छ द्रव्यलेदया, मिथ्यात्व आदि फर्माकी प्रकृति ये सब कर्मबन्धके कारण होनेसे आश्रय कहे जाते हैं ये सब रूपी हैं इसलिये आश्रय भी रूपी है ।

संवर भी रूपी और अरूपी दो प्रकारका होता है । सम्यक्त्व, धर्म, अत्रमाद, अकपाय और अयोग ये सब संवर कहे जाते हैं । ये जीवके गुण और अरूपी हैं इस-

लिये सवर भी अरूपी है। जबरूपी तालानमे आने वाले कर्मरूपी जलको रोक देना संवर है और रुके हुए कर्मा, रूपी हैं इसलिये सवर रूपी भी है।

निर्जाराभी रूपी और अरूपी दो प्रकारकी होती है। आत्माके किसो एक देशसे कर्मों का झड़ जाना और कर्मों के झड़ जानेसे आत्म प्रदेशका निर्मल हो जाना निर्जारा है। वह आत्म प्रदेश अरूपी है इसलिये निर्जारा अरूपी है। आत्म प्रदेशसे झड़े हुए कर्म पुद्गल भी निर्जारा कहलाते हैं वे रूपी हैं इसलिये निर्जारा भी रूपी है।

बन्ध भी रूपी और अरूपी दो तरहका होता है। शुभ और अशुभ कर्मों के बन्ध का हेतु जो आत्म परिणाम है वह "बध" कहलाता है वह आत्म परिणाम अरूपी है इसलिये बध भी अरूपी है। शुभ और अशुभ कर्मकी प्रकृतियोंके बन्धनको भी "बध" कहते हैं। कर्मकी प्रकृति रूपी है इसलिये बध भी रूपी है।

मोक्ष भी रूपी और अरूपी दो प्रकारका है। आत्मा का कर्मबन्धन से सर्वथा छुट कर अपने सहज रूपमे स्थित हो जाना मोक्ष है वह आत्माका स्वाभाविक रूप है और आत्मा अरूपी है इसलिये मोक्ष अरूपी है। जो कर्म, आत्मासे पृथक् हो जाते हैं वे भी मुक्त कहे जाते हैं वे कर्म रूपी हैं इसलिये मोक्ष भी रूपी है। इस प्रकार नौही पदार्थ किसी अपेक्षासे रूपी और किसी अपेक्षासे अरूपी है।

(बोल १ समाप्त)

(प्ररूपक)

सुरयनयसे चार पदार्थ रूपी चार अरूपी और एक मिश्र है।

भगवती शतक १२ उद्देशा ५ मे, आठ कर्म, अठारह पापस्थानक, दो योग, तैजस और कार्माण शरीर, सूक्ष्म स्कन्ध, इन तीस घोलोंमे पाच वर्ण, पाच रस, दो गध और चार स्पर्श बतलाए हैं। घनोदधि घनवात, तनुवात, चार शरीर, वादर स्कन्ध, छद्म द्रव्यदेइया, और फाय योग इनमे पाच वर्ण, दो गध, पाच रस और आठ स्पर्श कहे गये हैं। आठरह पापोसे विरमण, वारह उपयोग, ७ भाव देइया, चार सज्ञाए औत्पत्यादिक बुद्धिके चार भेद, अवग्रहादिक चार मतिज्ञान, उत्थानादिक चार, तीन दृष्टि, धर्मास्ति-फाय, अधर्मास्तिफाय, जीरान्तिफाय, और फाल इनको वर्ण, गध, रस और स्पर्श रहित होनेसे अरूपी कहा है। अत पुण्य, पाप, और बंध ये तीन कर्म स्वरूप होनेसे रूपी हैं। छद्म द्रव्यदेइया, तीन योग, पाच शरीर, हिंसा, मृपावाद, चोरी, मिथुन, परिग्रह ये सब रूपी हैं और आश्रय हैं इसलिये आश्रय भी रूपी है।

यद्यपि छ भावदेश्या, मिथ्यादृष्टि, और चार मत्ता आदि भी आश्रव हैं और वे अरूपी हैं तथापि मुख्यतयमे ये रूपी ही माने जाते हैं क्योंकि आश्रवको त्यागनेयोग्य कहा है और त्याग रूपी वस्तुधा ही होता है इसलिये मुख्यतयमें आश्रव रूपी है अरूपी नहीं । आश्रव उदयभाजमे माना गया है इसलिये परगुण होनेसे वह रूपी है अरूपी नहीं । मन, और भाषा, चतु स्पर्शा और अष्टस्पर्शा माने गये हैं और वे भी आश्रव हैं इसलिये निश्चयनयमें आश्रव रूपी ही है अरूपी नहीं है । अठारह पापोंसे निवृत्त हो जाना सवर है वह अरूपी है । निर्जारा और मोक्ष आत्माके स्वाभाविक गुण हैं इसलिये अरूपी हैं । जीव, निश्चयनयसे निराकार और निरञ्जन है इसलिये जीव, सवर, मोक्ष, और निर्जारा ये चार निश्चय नयमें अरूपी हैं ।

अजीव पदार्थमें धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल ये चार अरूपी हैं और पुद्गल रूपी है इसलिये निश्चयनयमें अजीव तत्त्व, रूपी और अरूपी दोनों ही प्रकारका है ।

[बोल २ रा]

उक्त नौ ही पदार्थ किसी अपेक्षासे जीव माने जाते हैं । किसी अपेक्षा से एक जीव और आठ अजीव माने जाते हैं । किसी अपेक्षासे आठ जीव और एक अजीव माना जाता है । किसी अपेक्षासे चार जीव और पांच अजीव माने जाते हैं परन्तु मुख्यतयमें एक जीव, एक अजीव और शेष सात पदार्थ जीव और अजीव इन दोनोंके पर्याय माने जाते हैं ।

इमना सुलासा इस प्रकार स्पष्टना चाहिये ।

जीव और अजीव आदि पदार्था व वास्तविक स्वरूपको "तत्त्व" कहते हैं उसके ज्ञानका नाम तत्त्वज्ञान है वह तत्त्वज्ञान जीवरूप है इसलिये तत्त्वज्ञानकी अपेक्षासे नौ ही पदार्थ जीव माने जाते हैं । जैसे अनुयोग द्वार सूत्रमें शब्दादि तीन नयनालोक मतमे आत्माके उपयोगको "पायली" कहा है और आत्माका उपयोग आत्मस्वरूप है इसलिये पायलीको भी आत्मा कहा है उमी तरह नवतन्त्रोंका जो उपयोग है वही नवतत्त्व है और वह उपयोग जीव है इसलिये शब्दादि तीन नयनालोक मतमे नव ही तत्त्व जीव हैं ।

किसी अपेक्षासे एक जीव और आठ पदार्थ अजीव है । एक तो अजीव पदार्थ स्वतः सिद्ध ही है बाकीके सात पदार्थोंका द्रव्य, पुद्गल स्वरूप है इसलिये एक जीव और आठ पदार्थ अजीव हैं ।

(किसी अपेक्षासे एक अजीव और आठ जीव हैं)

इसका विचार इस प्रकार है — उक्त नव तत्त्वोमे एक तो जीव सिद्ध है चाकी, अजीव तत्वको ओडकर मय जीव हैं क्योंकि पन्नायगा सूत्रके पाचने पदमें ३६ बोलो को आत्माका पर्य्याय कहा है । भगवती शतक १३ उद्देशा ७ मे कायको आत्मा, सचे-
तन और जीव कहा है । आवश्यक सूत्रमें “सचित्त आहारे” यह पाठ देकर आहारको सचित्त कहा है । भगवती शतक २० उद्देशा २ में ११६ बोलोंको जीवात्मा कहा है । वे बोल ये हैं—

अठारह पाप और अठारह पापोसे विरमण, औत्पातिकी आदि चार बुद्धि, अब-
महादिक मति ज्ञानके चार भेद, उद्घाणादिक पाच वीर्य्य नारकी आदि चौबीस दण्डक,
ज्ञानावरणादिक आठ कर्म, छ लेख्या, त न दृष्टि, चार दर्शन, पाच ज्ञान, तीन अज्ञान,
चार संज्ञा, पाच शरीर, तीन योग, दो उपयोग ये ११६ बोल जीवात्माके परिणाम हैं ।

इन बोलोमें पाप, पुण्य, आश्रव, संवर, वन्ध, मोक्ष, निर्जरा सभी शामिल हैं इस
लिये आठ जीव हैं और एक अजीव है ।

ठाणाम सूत्रके दूसरे ठाणामें कालको जीव और अजीव दो तरहका माना है वहा
कहा है कि जीवके साथ सम्बन्ध रखने वाले काल, धूप, छाया, भवन, विमान आदि
जीव हैं और अजीवके साथ सम्बन्ध रखने वाले पूर्वोक्त काल आदि अजीव हैं । ससारी
जीव पुण्य, पाप आश्रव, संवर, निर्जरा, वन्ध और मोक्ष ये आठ पदार्थ कर्म और काया
को छोडकर नहीं रहत किन्तु इनके साथ ही रहते हैं । अत ये आठ पदार्थ जीव, हैं
और एक अजीव है ।

[बोल ३]

(किसी अपेक्षासे चार जीव और पाच अजीव हैं)

पुण्य, पाप, आश्रव और वन्ध, जीवके निज गुण नहीं हैं किन्तु कर्मके परिणाम
रूप होनेसे ये दूसरेके गुण हैं । अत निश्चय नयमे ये चारो अजीव हैं संवर, निर्जरा
और मोक्ष ये आत्माके निज गुण हैं इन लिये गुण गुणीके अभेद न्यायसे निश्चय नयमें
ये जीव हैं । अनुयोग द्वार सूत्रमें लिखा है कि—

“जीवगुणप्पमाणे तिविहे पन्नत्ते तजहा—नाणगुणप्पमाणे
दंसणगुणप्पमाणे चरित्तगुणप्पमाणे”

अर्थात्, ज्ञान, दर्शन और चारित्र ये तीनो आत्माके निजगुण हैं इस लिये गुण
गुणीके अभेद होनेसे ये भी जीव हैं । उत्तराध्ययन सूत्रके २८ वें अध्ययनमे जीवका
लक्षण बताते हुए लिखा है कि—

“जीव उपयोग लक्षणं” नाणं च दंसणं चैव चरित्तव तवो
तहा वोरियं य उवधोगो य एयं जीवस्स लक्षणं”

अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र्य तप वीर्य और उपयोग, ये जीवके लक्षण हैं। अतः गुण गुणोंके अभेद होनेसे ये भी जीव हैं।

आचाराग सूत्रके पाचवें अध्यायमें मूलपाठ आया है कि “जे आया से विन्नाया” अर्थात् जो आत्मा है वही विज्ञान है। इस लिये विज्ञान भी आत्मा है।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देश ९ में महावीर स्वामीके स्थितिरोने कालाङ्ग-वैशिक मुनिसे कहा है कि “आयाण अजो सामाइए आयाण अजो सामाइयस्स अट्ठो” अर्थात् हे आर्य्यो ! आत्मा ही सामायक है और आत्मा ही सामायकका प्रयोजन है। इसी तरह समय, प्रत्याख्यान, चारित्र्य और व्युत्सर्ग ये सब भी आत्मा कहे गये हैं। अतः सत्त्व, निर्जरा और मोक्ष आत्माके निज गुण होनेसे जीव हैं। पाप, पुण्य, आश्रय और बन्ध ये कहीं भी निश्चय नयमें आत्माके निज गुण नहीं कहे हैं किन्तु कर्मक परिणामस्वरूप होनेसे ये दूसरेके गुण हैं। अतः जीव, सत्त्व और मोक्ष तथा निर्जरा ये चार पदार्थ जीव हैं और अजीव, आश्रय, पाप, पुण्य और बन्ध ये पांच अजीव हैं।

[बोल ४ समाप्त]

(किमी अपेक्षासे एक जीव, और एक अजीव और सात इन दोनोंके पर्याय हैं)

पन्नावणा सूत्रके पाचवें पदमें कहा है कि द्रव्य, प्रदेश, पांच वर्ग, पांच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श, बारह उपयोग, पुद्गल जनित शरीरका अवगाहन, आयुष्यकी स्थिति, ये ३६ बोल जीवके पर्याय हैं। किसीमें जीवकी और किसीमें अजीवकी प्रगति होनेसे किसीको जीव और किसीको अजीव कहा है। इन बोलोंमें कई तो सत्त्व निर्जरा और कई मोक्ष स्वरूप हैं और कई पुण्य, पाप, आश्रय और बन्ध स्वरूप हैं अतः जीव और अजीव तत्त्वको छोड़ कर शेष सात पदार्थ इन दोनोंके ही पर्याय हैं यह बात सिद्ध होती है।

यहां कई नयोंका आश्रय लेकर रूक्षेपसे नव हत्वोंका विचार किया गया है। क्योंकि किसी एक नयना आश्रय लेकर शेष नयोंकी अवहेलना करना जैन शास्त्रमें विरुद्ध है। अतः किसी नयको मुख्य और किसीको गौण मानकर पदार्थोंका स्वरूप बनाता ही जैन धर्मका सिद्धान्त है इस लिये बुद्धिमानोंको पक्षपात छोड़ कर अनेकान्त नगम्यस्व जैन सिद्धान्तानुसार इन पदार्थोंका स्वरूप जानना चाहिये। यदि किसी कोमलबुद्धि वाले

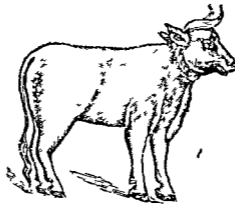
पुत्रको उक्त बातें समझ न पड़े तो उसे पक्षपात रहित होकर भगवती सूत्रोक्त वाक्यानुसार अपनी आत्माको पवित्र करना चाहिये ।

“तमेवसर्चं नि सफ ज जिगेहिं पञ्चपदय”

अर्थात् जिनबरोने जो कहा है वही सत्य है उसमे थोड़ी भी शका नहीं है । ऐसी भावना रखनेसे भी पुरुष भगवानकी आज्ञाका आगवक हो सकता है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

इति नव तत्व_विचार ।



अथ जीवभेदाधिकारः ।

—०—०—०—

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वसन वृष्ट ३३६ पर लिखते हैं कि “केनला एक अज्ञानी भुवनपति चाण व्यन्तरमें अने प्रथम नरकमे जीवरा तीन भेद कहे” इनके कहनेका आशय यह है कि “प्रथम नारकी, भुवनपति और व्यन्तर देवोमें जीवके दोही भेद होत हैं । अर्सहीका अपर्याप्त नामक तीसरा भेद नहीं होत”

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम नारकी, भुवनपति और व्यन्तर देवोमे जीवका तीसरा भेद न मानना मूर्खता है क्योंकि शास्त्रके मूलपाठ और टीकासे प्रथम नारकी, भुवनपति और व्यन्तर देवोमे जीवोंक तीन भेद सिद्ध होते हैं । इस विषयमें पन्नावणा सूत्रमे यह पाठ आया है—

“जीवाण भन्ते ! किं सन्नी किं असन्नी नो सन्नी नो असन्नी ? गोयमा ! जीवा सन्नीवि असन्नीवि नोसन्नी नोअसन्नीवि । नेरहयाणं पुच्छा ? गोयमा ! नेरहया सन्नीवि असन्नीवि नो नोसन्नी नो असन्नी”

(पन्नावणा)

अर्थ —

हे भगवन् ! जीव सन्नी होते हैं या असन्नी होते हैं अथवा सन्नी असन्नी इन दोनोंमें भिन्न होते हैं ? [उ०] हे गोतम ! जीव सन्नी भी होते हैं असन्नी भी होत हैं और इन दोनोंमें भिन्न भी होते हैं । [प्र०] हे भगवन् नारकि जीवके विषयमें प्रश्न है ? [उ०] हे गोतम ! नारकि जीव सन्नी और असन्नी दो प्रकारके होते हैं परन्तु इससे भिन्न नहीं होते ।

इसके आगे चटकर पन्नावणा सूत्रमे व्यन्तर देवोके विषयमें भी ऐसा ही पाठ आया है और असुर कुमारसे लेकर स्तनिष्ठ कुमार पर्यन्त भुवनात्मा देवताओंके विषय में भी यही बात कही है इस लिये प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवताओंमें अर्सहीका भेद होना भी शास्त्रमे सिद्ध होना है तथापि उसे न सारा सास्त्र विष्ट समझना चाहिये ।

भगवती सूत्र शतक १३ उद्देशा १ मे यह मूलपाठ आया है -

“गोयमा ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवोए तीसाए गिरयावास
सय सहस्सेसु संखेज्जावि पत्थडेंसु नरयेसु संखेज्जा गेरया पण्णत्ता
संखेज्जा काउलेस्सा पण्णत्ता एवं जाव संखेज्जा सन्ती पण्णत्ता असंज्ञी
सिय अत्थि सिय णो अत्थि जइ अत्थि एक्कोवा दोवा तीणिवा उक्को-
सेणं संखेज्जा पण्णत्ता”

(भगवती शतक १३ उद्देशा १)

अर्थ —

हे गोतम ! रत्नप्रभा नामक पृथिवीयम कुल सीस लाख नारकि जीवोंके निवास स्थान है उनमें कई संख्यात योजन और कई असंख्यात योजन विस्तृत हैं । संख्यात योजन विस्तृत नरका-
वासोमें संख्यात नारकि और संख्यात कापोतलेशी जीव रहते हैं । संख्यात नारकि जीव संज्ञी हैं
परन्तु अमंज्ञी जीव इन नरकोमें कभी होते हैं और कभी नहीं भी होते हैं यदि होते हैं तो १-२-३
और उत्कृष्ट संख्यात होते हैं ।

इस पाठमें नारकि जीवोमे जघन्य १-२-३ और उत्कृष्ट संख्यात असंज्ञी जीव
फहे गये हैं । तथा असंख्यात योजन वाले नरकावासोमे असंख्यात असंज्ञी जीव माने गये
हैं । भगवती शतक १३ उद्देशा २ मे भुवनपति और व्यन्तर देवोंके लिये भी इसी तरह
का पाठ आया है इसलिये प्रथम नारकी भुवनपति तथा व्यन्तर देवोमे असंज्ञीका
अपर्याप्त नामक भेद न मानना अयुक्त है । ऊपर लिखे हुए पाठमें जो “सिय अत्थि
सिय णो अत्थि” यह असंज्ञीके विषयमे पाठ आया है इसका अभिप्राय बताते हुए टीका-
कारने यह लिखा है “असंज्ञिभ्यउद्धृत्य ये नारकत्वनोत्पन्नास्तेऽपर्याप्तावस्थायामसंज्ञि-
नो भूतभावत्वात्तेषात्पा इति कृत्वा” “सिय अत्थि” इत्याहुवत्तम्” अर्थात् जो जीव
असंज्ञीसे निकलकर नरकोमे जाते हैं व अपर्याप्तावस्थामें असंज्ञी ही होकर रहते हैं वे
जीव बहुत अल्प होते हैं इस लिये मूलपाठमें लिखा है कि “सिय अत्थि” इत्यादि ।

यहां टीकाकारने मूलपाठका आशय समझाते हुए नारकि जीवोमे असंज्ञीके अप-
र्याप्त नामक भेदका स्पष्ट उल्लेख किया है अतः नारकि जीवोमें असंज्ञीके अपर्याप्त
नामक भेदको न मानना उक्त मूलपाठ और टीकासे विरुद्ध होनेके कारण अप्रामाणिक
समझना चाहिये ।

भगवती सूत्र शतक १ उद्देशा ४ में सज्ञी नारकि और देवताम काळा देशके छ
भङ्ग घतलाये हैं एव जीवाभिगम सूत्रमें नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर दोवोके संज्ञी
और असंज्ञी दोनों ही भेद रूहे गये हैं । वहाका पाठ यह है—

“तेसिर्ण अन्ने जीवा किं सन्तो असन्तो ? गोयमा ! सन्तोवि असन्नोवि”

इस पाठमें प्रथम नरकके जीवोंको सही और असही दोनों ही तरहका कहा है । एवं इसी जीवाभिगम सूत्रमें नारकि जीवोंका ज्ञानके विषयमें प्रश्न करने पर भगवान्ने यह उत्तर दिया है—

“जे अण्णाणी ते अत्थोगहया दुअण्णाणी अत्थोगहया ती अण्णाणी । जेय दुअण्णाणी ते णियमा महअण्णाणी सुअण्णाणीय”
(जीवाभिगम सूत्र)

(टीका)

ये नारका असङ्गिनस्तेऽपर्याप्ताप्रस्थाया द्वयज्ञानिन पर्याप्तावस्थायान्नुत्थज्ञानिन ”

अर्थात् जो नारकि जीव असही हैं वे अपर्याप्ताप्रस्थामे दो अज्ञानवाले होते हैं और पर्याप्तावस्थामें तीन अज्ञानवाले होते हैं । जो नारकि दो अज्ञानवाले होते हैं वे नियमसे मति अज्ञान और श्रुत अज्ञानवाले होते हैं । यह उक्त मूलपाठ और उसकी टीकाका मिलित अर्थ है ।

इस मूलपाठमें असही नारकि जीवोंको दो अज्ञानवाला कहा है और टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि असही नारकि अपर्याप्तावस्थामें दो अज्ञानसे युक्त होते हैं यहा टीकाकारने तो नारकि जीवोंमें असहीके अपर्याप्त नामक भेदका स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन किया है इसलिये नारकि जीवोंमें असहीके अपर्याप्त नामक भेदको न मानना ब्राह्म विरुद्ध समझना चाहिये । इस पाठके आगे भुवनपति और व्यन्तर देवोंने लिये भी इसी तरहका पाठ आया है इसलिये भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें भी असहीके अपर्याप्त नामक भेद होना स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि उसे न मानना अपने अपानका परिचय देना समझना चाहिये ।

(बोल १)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वमनकार भ्रमविध्वमन पृष्ठ ३३७ पर पन्नावणा सूत्र पद १५ उद्देश १ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखने हैं—

“इहा फत्तो मनुष्यना दो भेद । सन्नीमून त विशिष्ट अबधितान सद्धि मनुष्य”
इत्यादि लिख कर आगे लिखने हैं—

“ते अवधिज्ञान रहितने असन्नीभूत कस्यो पिण असन्नीरो भेद न पावे तिम नेर-
इयाने असन्नीभूत कस्या पिण असन्तीरो भेद न पावे । ए नेरइया अने देवताने असन्नी
कस्या ते सज्ञावाचो छे । जे अवधि विभग रहित नेरइयानो नाम असज्ञो छे । जिम
विशिष्ट अवधि रहित मनुष्य निर्जरया पुद्गल न देखे तेहने पिण असन्नीभूत कस्यो”
(भ्र० पृ० ३३७)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गर्भज मनुष्यको शास्त्रमे जगह जगह सज्ञीभूत कहा है और पन्नावणा सूत्रमे
उसे असज्ञीभूत भी कहा है, इससे सशय उत्पन्न होता है । क शास्त्रमें जन कि जगह
जगह गर्भज मनुष्यको सज्ञीभूत कहा है तब पन्नावणा सूत्र में उसे असंज्ञीभूत क्यों
कहा ? इसका समाधान यह किया जाता है कि पन्नावणा सूत्रमें जो गर्भज मनुष्यको
असज्ञीभूत कहा है उसका अभिप्राय अवधिज्ञान रहित होना है सज्ञीका विरोधी असज्ञी
होना नहीं है क्योंकि ऐसा माननेसे पन्नावणा सूत्रके साथ दूसरे सूत्रोका विरोध पडता
है अतः विशिष्ट अवधि ज्ञान रहित होनेकी अपेक्षासे ही पन्नावणामें गर्भज मनुष्यको
असज्ञी भूत कहा है सज्ञीका विरोधी असज्ञी होनेसे नहीं परन्तु यह दृष्टात, असज्ञीसे मर
कर नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवोमे उत्पन्न होने वाले जीवोमें नहीं घटता है क्यों
कि उन जीवोको सभी जगह असज्ञी हो कहा है संज्ञीभूत नहीं नहीं कहा है । यदि
किसी जगह उन्हे सज्ञी भी कहा होता तो मनुष्यके विषयमें कहेहुए पन्नावणा सूत्रके उक्त
पाठका दृष्टान्त देकर नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर देवोमे असज्ञीके भेदका निषेध
क्रिया जा सकना था परन्तु असज्ञासे मर कर नारकि आदिमे उत्पन्न होनेवाले जीवोको
कहीं भी सज्ञी नहीं कहा है अतः पन्नावणा सूत्रका दृष्टात देकर नारकि भुवनपति और
व्यन्तर देवो मे असज्ञी के अपर्याप्त भेद को न मानना अज्ञान का परिणाम समझना
चाहिये ।

(बोल २ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३३९ पर पन्नावणा पद ११ के मूलपाठको
लिपि कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ अठे पिण कस्यो—न्दाना वालक वालिका मनपटुता पण न पाम्यो विशिष्ट
ज्ञान रहितन सन्नी न कस्यो पिण जीवरो भेद तेरमो छे तिणमें असन्तीरो भेद न थी तिम
नेरइयाने असन्नीभूत कस्या पिण असन्तीरो भेद न थी” (भ्र० पृ० ३३९)

इसका क्या समाधान ?

(प्रश्नक)

बालक और बालिका, मनोयुग्म होते हैं मनोविकल नहीं होते इसलिये वास्तवमें व सती ही हैं असती नहीं हैं परन्तु पन्नावणा सूत्रमें विशिष्ट ज्ञान रहित होनेसे उन्हें असती कहा है। अतएव शास्त्रमें उक्तानशय बालक, और बालिकाओंको सती कह कर लिया है परन्तु असतीसे निकल कर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न हुए जीवोंको कहीं भी सती नहीं कहा है इसलिये छोटे बालक और बालिकाका दृष्टांत देकर उन जीवोंमें अमतीके भेदका निषेध करना अज्ञान मूलक है। यदि असतीमें मरकर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंको किसी जगह भी शास्त्रमें सती कह कर घनलाया होता तो कदाचि् छोटे बालक और बालिकाके विषयमें आये हुए पन्नावणा सूत्रके मूलपाठका दृष्टांत देकर उक्त जीवोंमें असतीके अपर्याप्त भेदका निषेध किया जा सकता था परन्तु कहीं भी असतीसे मर कर नरक आदि में उत्पन्न होने वाले जीव को सती नहीं कहा है अतः जिनमें अमती के भेद का निषेध करना मिथ्या है।

(बोल ३)

(प्रश्नक)

ध्रमचित्रमनकाग्र धमविध्वसन पृष्ठ ३४० पर दश वैकालिक सूत्रकी गाथा लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं।

“अग इत्ता ८ सूत्रम कथा धू वर प्रमुत्तनी सूत्रम स्नेह न्दाना फल कु युष्वा उत्तिग तीडी नागरा नीलग फूलग वीज खसमसाडिकाना न्दाना अटुर किडी प्रमुखना (ण्डा सूत्रम कथा) । ते न्दाना माट सूत्रम छै पिण सूत्रमरो जीवरो भेद नहीं तिम नेर-या अने देवनाने अमन्ती कथा पिण असन्तीरो भेद नहीं” (अ० पृ० ३४०)

इसका क्या उत्तर ?

(प्रत्यक)

किडी आदि जीव, शास्त्रमें जगह जगह, उन जीवोंमें गिने गये हैं सूत्रम जीवोंके भेदमें नहीं गिने गये हैं इसलिये छोटा होनेके कारण उन्हें दशवैकालिक सूत्रमें सूत्रम कहा परन्तु यह दृष्टांत असतीमें मर कर नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंमें नहीं घटता क्योंकि अमतीसे मर कर नरक भुवनपति, और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंको कहीं भी सती नहीं कहा है किन्तु सत्त्व अमती ही कहा है

अतः दशवैकालिक सूत्र के दृष्टांतसे नरक, भुवनपति और व्यन्तर देवोमि असञ्जीके अपर्याप्त नामक भेद को न मानना अज्ञान है ।

(बोल ४)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३४२ पर अनुयोगद्वार सूत्रका मूल पाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखत है —

“अथ इहा विशेष अविशेष ए वे नाम क्खा तिणमे अविशेषयी तो मनुष्य विशेषयी समूर्च्छिम गर्भज । अने अविशेषयी तो समूर्च्छिम मनुष्य अने विशेषयी पर्याप्तो अपर्याप्तो क्खो । इहा संमूर्च्छिम मनुष्यने पर्याप्तो अपर्याप्तो ते केतलीक पर्याय वाधी ते पर्याय आशी पर्याप्तो क्खो । अने सम्पूर्णत. वाधी ते न्याय अपर्याप्तो क्खो । समूर्च्छिम मनुष्यने पर्याप्तो क्खो पिण पर्याप्तोमे जीवरा सात भेद पाये ते माहिलो भेद न थी । जे देवताने असञ्जी क्खा माटे असन्तीरो जीवरो भेद क्हे तो तिणरे लेखे समूर्च्छिम मनुष्यने पिण पर्याप्तो क्खा माटे पर्याप्तारो भेद क्हिणो अने समूर्च्छिम मनुष्यने पर्याप्तारो भेद न थी क्हे तो देवतामें पिण असन्तीरो भेद न क्हिणो” (भ० पृ० ३४२)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

समूर्च्छिम मनुष्यका दृष्टांत देकर प्रथम नारकि, भुवनपति और व्यन्तर देवोमि असञ्जीके भेदका निषेध करना अयुक्त है क्योंकि अन्य सूत्रोमे समूर्च्छिम जीवोमे पर्याप्तपनेका स्पष्ट निषेध किया है इसलिये समूर्च्छिम मनुष्योमे पर्याप्तका भेद नहीं माना जा सकना परन्तु प्रथम नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर देवोमे असञ्जीके अपर्याप्त भेदका कहीं भी निषेध नहीं किया है इसलिये प्रथम नारकि, भुवनपति, और व्यन्तर देवोमे असञ्जीके अपर्याप्त नामक भेद का निषेध करना अप्रामाणिक है ।

यदि कोई कहे कि समूर्च्छिम मनुष्योमे पर्याप्तपनेका जब कि अन्य सूत्रोमे निषेध किया है तब फिर अनुयोग द्वार सूत्रमे उसे पर्याप्त कैसे कहा है ? तो इसका समाधान यह है कि—जैसे अनुयोग द्वार सूत्रमे उदय आदि भावोंके २६ विकल्प, विकल्प मात्र दिखानेके लिये किये हैं परन्तु सभी विकल्पोक उदाहरण नहीं मिलते उसी तरह समूर्च्छिम मनुष्योमे दो भेद भी सभावना मात्रसे किये हैं परन्तु समूर्च्छिम जीवोमे पर्याप्त नामक भेदके होनेसे नहीं क्योंकि अन्य सूत्रोमें समूर्च्छिमजीवोमे पर्याप्तपने

का स्पष्ट निषेध किया गया है परन्तु यह बात प्रथम नारिक भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें नहीं घटती क्योंकि कहीं भी शास्त्रमें उनमें असह्यके भेदका निषेध नहीं किया है अतः विविध कुतर्कों का आश्रय लेकर प्रथम नारिक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असह्यके अपर्याप्त नामक भेदको निषेध करना अयुक्त है ।

(बोल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भगवती सूत्र शतक १३ उद्देश २ के मूलपाठमें लिखा है कि "असुर कुमार देवतामें नपु सकवेद नहीं पाया जाता है" यदि भुवनपतिमें असह्यका अपर्याप्त भेद होता है तो उसमें नपु सक वेद भी पाया जाना चाहिये परन्तु यह बात भगवतीका उक्त शतक और उद्देशके मूलपाठसे विरुद्ध है इस लिये भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असह्यके अपर्याप्त नामक भेदको मानना अयुक्त है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

प्रथम नारिक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असह्यके अपर्याप्त नामक भेदका शास्त्रमें स्पष्ट उल्लेख किया है इसलिये प्रथम नारिक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असह्यका अपर्याप्त भेद होता है और असह्यके अपर्याप्त भेदका उनमें सद्भाव होने से नपु सक वेद भी उनमें पाया जाता है परन्तु वह अवस्था अन्तर्मुहूर्त की होती है इस लिये उक्तकी अविवक्षा करके भगवती सूत्रके मूलपाठमें असुर कुमार देवतामें नपु सक वेदका निषेध किया है । जैसे भगवती सूत्र शतक ३० उद्देश पहलमें सम्यग्दृष्टि द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवको विशिष्ट सम्यक्त्वके अभावसे क्रियावादी और विनयवादी होनेका निषेध किया है सर्वथा सम्यक्त्वके अभाव होनेमें नहीं उसी तरह भगवती सूत्रमें भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें विशिष्ट रूपसे असह्यके अपर्याप्त भेदक न होने से नपु सक वेदका निषेध किया है सर्वथा असह्यके अपर्याप्त भेदके न होनेसे नहीं अतः प्रथम नारिक, भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें असह्यके अपर्याप्त भेदका निषेध करना अज्ञान मूलक है । इस प्रकरणका सार यह है—

असह्यसे मरकर प्रथम नारिक भुवनपति और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होना वाडे जीवोंमें असह्यका अपर्याप्त नामक भेद होता है क्योंकि शास्त्रमें जगद् जगद् उन्हें असह्य कहकर ही बुलाया है, कहीं भी सह्य नहीं कहा है । यदि उनमें असह्यका भेद मानना शास्त्रनारिको दृष्ट न होना तो जैसे उत्तमशय (छोटा) मालकको असह्य कह

कर भी सझी कहा है उसी तरह अर झीसे मर कर प्रथम नारकि और भुवनपति आदिमें उत्पन्न होने वाले जीवोंको भी अवश्य सझी कहते परन्तु कहीं भी उक्त जीवकी मझी नहीं कहा है सभी जगह उसे असझी कहकर ही बतलाया है और कई टीकाकारोंन तो साफ साफ उक्त जीवोंमें असझीके भेदका तथन किया है इस लिये पूर्वोक्त दृष्टान्तोंके आश्रयसे प्रथम नारकि भुवनपति और व्यन्तर देवताओंमें अगझीके अपर्याप्त भेदका खण्डन करना अज्ञान समझना चाहिये ।

(बोल ६ द्वा समाप्त)

इति जीवभेदाधिकारः ।



अथ सूत्रपठनाधिकारः ।

— ०२० —

(द्रष्टक)

भ्रम विध्वंसनस्य भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६१ पर लिखत हैं—

“केतला एक कहं गृहस्थ सूत्रभगे तहनी जिन आज्ञा छै ते सूत्रना अजाण छै ।
अने भगवन्तनी आज्ञा तो साधुनी इज छै पिण सूत्रभणजारी गृहस्थने आज्ञा दीधी नथी ।

इसका क्या समाधान ?

(भ्र० पृ० ३६१)

(प्ररूपक)

समुच्चय गृहस्थका नाम ले कर श्रावकको भी सूत्र पढनेका निषेध करना स्वार्थ तथा अज्ञानका परिणाम ह क्योकि शास्त्रमे शास्त्र पढनेके चौन्ह अतिचार साधु और श्रावक दोनोका रहे है यदि श्रावकको शास्त्र पढनेका अधिकार ही नहीं है तो फिर वसक लिये शास्त्र पढनेके अतिचारोके कहनेकी क्या आवश्यकता है ? अत एकान्त रूपसे श्रावकको शास्त्र पढनेका निषेध करना अज्ञान मूलक है ।

शास्त्रोका भेदके साथ चौदह अतिचार बताये जाते हैं । नन्दी सूत्रमें शास्त्रोका भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है—

“अहवा त समासो दुविह पण्णत्तं तजहा—अङ्गपविह
अङ्गवाहिरच से वित्त अङ्ग वाहिरं ? अङ्गवाहिर दुविह पण्णत्तं तजहा-
आवस्सयच आवस्सयवहरित्तच । सेकित्तं आवस्सयं ? आवस्सयं
छव्विह पण्णत्तं तजहा—सामाहयं जाव पच्चक्खाणं सेतं आवस्सयं ।
सेकित्तं आवस्सयवहरित्त आवस्सयवहरित्त दुविह पण्णत्तं तजहा-
कालियच उक्कालियं”

(नन्दी सूत्र)

अथ —

अथवा प्रकारानुसारे गमिक और अगमिक वाक्यों दो भेद हैं । एक अग प्रविष्ट और दूसरा अग वाद्य अ ग वाद्य भी दो प्रकार के होते हैं एक आवश्यक और दूसरा आवश्यक भिन्न आवश्यकके छ भेद हैं सामायकते लेकर प्रत्यापान पद्यन्त । आवश्यकके भिन्न भी दो तरह होते हैं कालिक और उक्कालिक ।

कर भी रागी कदा है गयी तब हार होमे नर पर प्रथम नागकि और गुणपति आदि
उत्पन्न होने मात्र जीवोंको भी अच्युत राजी करन परम्पु नहीं भी उक्त ज्ञेयको रागी
नहीं कदा है रागी तब हार प्रथम अरुणी कदा ही दयाग्या है और नई हीक-रागेने जो
साक साक क्वन जीवोंम अरुणी भारत क्वन विद्या है इन विने पूर्णिकर एतन्नाद
भाभ्रयम प्रथम नागकि गुणपति और क्वनार क्वनारभोम अरुणीक अरुणीक अरुणीक अरुणीक
स्वयन करना अरुणी समस्तता आदिय ।

(बोल ६ ट्टा समाप्त)

इति जीवभेदाधिकारः ।



अथ सूत्रपठनाधिकारः ।

—०२०—

(श्लोक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रमविध्वंसज्ञ पृष्ठ ३६१ पर लिखत है—

“वेतला एक कहे गृहस्थ सूत्रभंगे तेहनी जिन आज्ञा छै ते सूत्रना अजाण छै ।
अने भंगान्तनी आज्ञा तो साधुनो इज छै पिंग सूत्रभंगगामी गृहस्थने आज्ञा दीधी नथी ।

इसका क्या समाधान ?

(भ० पृ० ३६१)

(प्ररूपक)

समुच्चय गृहस्थना नाम लेकर आर्यको भी सूत्र पढ़नेका निषेध करना स्वार्थ तथा अज्ञानका परिणाम है क्योंकि शास्त्रमें शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार साधु और आर्य दोनोंना रहे हैं यदि आर्यको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो फिर उसके लिये शास्त्र पढ़नेके अतिचारोंक कहनेकी क्या आवश्यकता है ? अत एवान्त रूपसे आर्यको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञान मूलक है ।

शास्त्रोका भेदने साथ चौदह अतिचार बनावे जाते हैं । नन्दी सूत्रमें शास्त्रोका भेद बतलानेके लिये यह पाठ आया है—

“अहवा त समाप्तो दुविहं पण्णत्त तजहा—अङ्गपविट्ठ
अङ्गवाहिरच से किंत्त अङ्ग वाहिरं ? अङ्गवाहिर दुविहं पण्णत्तं तजहा-
आवस्सयच आवस्सयवहरित्तंच । सेकित्त आवस्सय ? आवस्सय
दुविहं पण्णत्तं तजहा—सामाहयं जाव पच्चक्खाण सेन आवस्सयं ।
सेकित्त आवस्सयवहरित्त आवस्सयवहरित्त दुविह पण्णत्त तजहा-
कालियच उक्कालियच”

(नन्दी सूत्र)

अथ —

अथवा प्रकारान्तरसे गमिक और अगमिक शास्त्रक दो भेद हैं । एक अग प्रविष्ट और दूसरा अग बाह्य अग बाह्य भा दो प्रकारके होते हैं एक आवश्यक और दूसरा आवश्यकते भिन्न आवश्यकते छ भेद हैं सामाहिकसे एकर प्रत्याख्यान पर्णान्त । आवश्यकते भिन्न भी दो तरहके होते हैं कालिक और उत्कालिक ।

जो प्रातः काल, मध्याह्न काल, साध्याकाल और मध्य रात्रिकी दो घडीको छोड़ कर शेष कालमें पढ़े जाते हैं वे उत्कालिक सूत्र हैं और जो दिन रातके पहले और पिछले पहरोमें ही पढ़े जाते हैं वे कालिक सूत्र कहलाते हैं । इन सभी सूत्रोंके पढ़नेमें चौदह तरहके अतिचारोंका त्याग करना शास्त्रमें कहा है । वे अतिचार ये हैं—

“जंवाइद्धं चचामेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरियं पयहीणं विणयहीणं घोसहीणं जोगहीणं सुट्ठ्वदिनां दुट्ठुपडिच्छियं अकाले कओसज्जाओ कालेनकओ सज्जाओ असज्जाए सज्जाहयं सज्जाए नसज्जाहयं तस्समिच्छामि दुक्कड ।

(आवश्यक सूत्र)

शास्त्र पढ़नेके चौदह अतिचार होते हैं वे ये हैं—

[१] व्याविद्ध—विपरीत गूधी हुई रत्नमालाकी तरह क्रमको छोड़कर व्युत्क्रमसे पढ़ना ‘व्याविद्ध’ कहलाता है । [२] व्यत्यास्रे डित—चार चार पुनरक्ति करके पढ़ना ‘व्यत्यास्रे डित’ है । [३] हीनाक्षर—अक्षर हीन पाठ करना हीनाक्षर कहलाता है । [४] अत्यक्षर—अक्षर बढ़ा कर पढ़ना अत्यक्षर नामक अतिचार है । [५] पद हीन—किमी पदको छोड़कर पढ़ना पद हीन कहलाता है । [६] विनय हीन—विनयको छोड़कर पढ़ना विनय हीन है । [७] घोप हीन—उदात्त अनुदात्त आदिसे हीन पाठ करना घोपहीन कहलाता है । [८] योगहीन—अच्छी तरहसे योगोपचार करके न पढ़ना योगहीन कहलाता है । [९] छत्रुवदत्त—गुरसे नहीं दिये हुएका पाठ करना छत्रुवदत्त है , [१०] दुट्ठु प्रतीच्छित—दुष्ट अन्त करणसे पाये हुएका पाठ करना ‘दुट्ठु-प्रतीच्छित’ कहलाता है । [११] अकाले कृतराध्याय—जिस उद्देशा आदि पढ़नेका जो काल नहीं है उसमें उसे पढ़ना ‘अकाले कृत स्वाध्याय’ कहलाता है । [१३] काले न कृत स्वाध्याय—जिस उद्देशा आन्तिक पढ़नेका जो काल है इसमें उसे न पढ़ना, ‘काले न कृत स्वाध्याय’ है । [१३] अस्वाध्याये स्वाध्यायित—अस्वाध्याय (अनध्याय) में स्वाध्याय करना ‘अस्वाध्याये स्वाध्यायित’ है । [१४] स्वाध्याये न स्वाध्यायित—स्वाध्याय कालमें स्वाध्याय न करना स्वाध्याये न स्वाध्यायित’ कहलाता है । ये चौदह शास्त्र पढ़नेके अतिचार हैं इनके प्रयोग हो जानेपर प्रायश्चित्तस्वरूप पाठको मिच्छामि दुक्कड देना पड़ता है ।

ये चौदह अतिचार साधुकी तरह श्रावकोंके भी रहे हैं । सब मिलकर ९९ अतिचार श्रावकोंके होते हैं उनमें ये चौदह अतिचार भी शामिल हैं । भीषणजीने अपनी धारद व्रतकी ढालमें लिखा है —

“चौदह अतिचार ज्ञानरा पाच समकिन ना जान ।

साठ वाग्द प्रना तथा पन्द्रह कर्माटान” ।

इस श्लोकमें भीषणजीने शास्त्र पढ़नेके उक्त चौदह अतिचार श्रावकोंके भी कहे हैं इससे स्पष्ट सिद्ध होना है कि शास्त्र पढ़नेका श्रावकोंको भी अधिकार है केवल साधुओंको ही नहीं अन्यथा आश्रवोंके उक्त चौदह अतिचार क्यों कहे जाते और भीषणजी भी उसे क्यों खोकार करते । अतः श्रावकोंका शास्त्र पढ़नेका अकाल्प रूपसे निषेध करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये ।

बोल १ समाप्त

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकारका मन है कि श्रावकोंको प्रतिक्रमण सूत्र पढ़नेका तो अधिकार है परन्तु दूसरे सूत्रोंके पढ़नेका अधिकार नहीं है इसलिये ये चौदह ज्ञानके अतिचार श्रावकोंके भी कहे हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक)

भ्रमविध्वंसनकारका यह मन अमंगल है क्योंकि उक्त चौदह अतिचारोंमें कालमें स्वाध्याय न करना और अकालमें स्वाध्याय करना भी गिने गये हैं । ये अतिचार आवश्यक सूत्रके पढ़नेमें नहीं लगते क्योंकि आवश्यक सूत्रके पढ़नेमें कोई फाल विशेष का नियम नहीं है जिसके पढ़नेमें काल विशेषका नियम है उन्हींके पढ़नेमें ये अतिचार लगते हैं । यदि श्रावकोंको आवश्यकसे भिन्न सूत्रोंके पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो फिर ये पूर्वोक्त दो अतिचार श्रावकोंके कैसे हो सकते हैं ? अतः अविद्यकके सिवाय दूसरे सूत्रोंके पढ़ने का श्रावकोंको अधिकार नहीं है यह कहने वालोंको अज्ञानी समझना चाहिये ।

भीषणजीने, अकालमें स्वाध्याय करने और कालमें स्वाध्याय न करनेरूप अतिचार श्रावकोंके भी कहे हैं—

“अकाले करे स्वज्ज्ञाय हो श्रावक, काले स्वज्ज्ञाय कर नहीं । अस्वज्ज्ञायमें करे स्वज्ज्ञाय हो श्रावक, स्वज्ज्ञाय वेला भालस करे जय ज्ञान धारो मलो धायहो भायक, अतिचार लागे ज्ञानन”

(कही तीसरी)

इस भीषणजीके पद्यसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि काल विशेषके साथ पढ़े जानेवाले आवश्यक सूत्रसे अतिरिक्त सूत्रोंके पढ़नेका अधिकार श्रावकोंका भी है अन्यथा अकाल

में स्वाध्याय करने और कालमें स्वाध्याय न करने रूप अतिचार श्रावकोक कैसे हो सकते हैं ? अतः आवश्यक सूत्रमें अतिरिक्त सूत्रोंके पढ़नेका श्रावकको अधिकार न मानना मिथ्या है ।

नन्दी सूत्र और समवायाङ्ग सूत्रमें श्रावकोंके लिये यह पाठ आया है—

“सुयपरिगृहा तपोवहाणाइ”

(टीका)

“श्रुत परिग्रहास्तप उपधानानि प्रतीतानि”

अर्थात् श्रावक सूत्र पढ़े हुए और उपधान रूप तपके करने वाले होते हैं ।

यहां मूलपाठ और टीकामें श्रावकको श्रुत परिग्रह (शास्त्र पढ़ने वाला) कहा है । यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो वह श्रुत परिग्रह कैसे हो सकता है ? अतः श्रावकोंको आवश्यक सूत्रसे भिन्न सूत्रोंके पढ़ने का अधिकार स्पष्ट सिद्ध होता है तथापि उसे न मानना मूर्खताका परिणाम है ।

(चोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

ध्रमविध्वंसनकार ध्रमविध्वसन पृष्ठ ३६८ पर लिखते हैं—

“जे जन्दी समवायाङ्गे साधाने सुयपरिगृहिया क्ख्या ते तो सूत्र श्रुत अने अर्थ श्रुत बँहूना ग्रहण करवा थकी क्ख्या छै अने श्रावकाने सुयपरिगृहिया क्ख्या ते अर्थ श्रुत नाहीज ग्रहण करणहार माटे जाणवा” (ध्र० पृ० ३६८)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

नन्दी और समवायाङ्ग सूत्रमें साधु और श्रावक दोनोंके लिये समान ही “सुयपरिगृहिया” यह पाठ आया है । साधुके लिये इसका अर्थ दूसरा ही और श्रावकके लिये दूसरा ही यह त्रिकालमें भी नहीं हो सकता । टीका और टिप्पणमें भी यह नहीं लिखा है कि साधु तो सूत्र अर्थ दोनों ही पढ़ता है और श्रावक केवल अर्थ ही पढ़ता है इसलिये साधुकी तरह श्रावकका भी सूत्र और अर्थ दोनों ही पढ़नेका अधिकार है ।

उत्तराज्ययन सूत्रमें पालिन नामक श्रावकके विषयमें यह पाठ आया है—“निगये पात्रपणे सावए सेवि कोविण”

अर्थात् वह पालिन नामक श्रावक, निग्रन्थ प्रवचनका कोविद (पण्डित) था । यदि श्रावकको सूत्र पढ़नेका अधिकार ही नहीं है तो पालिन श्रावक निग्रन्थ प्रवचनका कोविद कैसे हो सकता था ?

सूत्रपटाधिकार ।

उत्तगध्यन सूत्रके २२ वें अण्ययनमें राजमतीके लिये यह पाठ आया है कि—
वना बहुस्सुया”

अर्थात् राजकन्या राजमती नडी शीलपती और बहुश्रुत थी । यदि श्रावकको
पढनेका अधिकार ही नहीं है तो शास्त्र पढे बिना राजमती बहुश्रुत कैसे
थी ?

भगवती उगई और सुयगडाग आदि सूत्रोंमें श्रावकको वर्णन करनेके लिये
यह पाठ आया है कि—

“आस्सव सब निज्ज क्रिया अदिगणवन्धमोक्खलुस्सल”

इस पाठमें श्रावकको १२ प्रकारकी निर्जरामें कुशल होना कहा है और निजग
का दशवा भेद स्वाध्याय है । स्वाध्यायके पाच भेद होते हैं—(१) वाचना (२)
पुच्छना (३) पर्याटना (४) अनुत्प्रेक्षा (५) धर्मकथा । इन पाचो प्रकारके स्वाध्याय-
योंमें वही कुशल हो सकता है जो सूत्र भी पढना हो और अर्थ भी पढना हो, जो सूत्र
पढने का अधिकारी ही नहीं है वह उक्त स्वाध्यायके पाच भेदोंमें कुशल नहीं हो सकता ।
तो स्वाध्यायमें कुशल नहीं है वह बाह्य प्रकारकी निर्जरा में भी कुशल नहीं हो सकता ।
परन्तु श्रावक १२ प्रकारकी निर्जरामें कुशल होता है इसलिये वह पाच प्रकारके स्वाध्याय-
में भी कुशल है । श्रावक पाच प्रकारके स्वाध्यायमें कुशल होता है इसलिये वह शास्त्र पढने
का भी अधिकारी है । ज्ञाता सूत्रमें कहा है कि सुशुद्धि प्रधानने जितशत्रु राजाको विचित्र
प्रकारसे केवलि प्रणीत धर्मका उपदेश दिया था । यदि श्रावक सूत्र नहीं पढना तो सुशुद्धि
प्रधान शास्त्र पढे बिना केवलि प्रणीत धर्मका उपदेश राजाको किस प्रकार दे सकता था ?
शास्त्रमें जगह जगह श्रावकको “धम्मवस्साइ” कहा है । जो धर्मका यथार्थ प्रतिपादन करत
है वह धर्माट्यायी कहा जाता है । यदि श्रावकको शास्त्र पढनेका अधिकार ही नहीं है तो
शास्त्र पढे बिना वह धर्माट्यायी (धर्मको कहेनेवाला) कैसे हो सकता है ? अतः श्रावक
को शास्त्र पढनेका अधिकार नहीं मानने वाजे अज्ञानी हैं ।

बोल २ रा

(प्रेरक)

श्रमनिव्वसनकार श्रमनिव्वसन पृष्ठ २६१ पर प्रश्नव्याकरणसूत्रका मूल
लिख कर उसकी समाखोचना करते हुए लिखते हैं—
“अय इहा कश्चो उत्तम महर्षि मायुने इज सूत्र भगवारी आसा दीधी ते
सिद्धान्त भणीने सत्यवचन जाणे माये अने देवेन्द्र नरेन्द्रादिकने भाष्या अर्थ ते

सत्य वचन जाणे । ए तो प्रत्यक्ष साधुने इज सूत्र भगवारी आह्वा कही पिण गृहस्थने सूत्र भगवारी आह्वा नहीं । ते माटे श्रावक सूत्र भणे ते आपरे उदे पिण जिन आज्ञा नहीं” (भ्र० पृ० २६१)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

प्रश्नव्याकरण सूत्रका मूलपाठ लिख कर इसका समाधान किया जाता है । वह पाठ यह है —

“तं सच्चं भगवं तित्थयरसुभासियं दसविहं चोदसपूर्वोहिं पाउडत्थविदितं महरीसीणयसमयप्पदिज्जं देवेन्दनरेन्दभासियत्थं वेमाणियसाहियं महत्थं मतोसहिविज्जासाहणत्थं”

(प्रश्न व्याकरण सूत्र)

(टीका)

तमिनि यस्मादेवं तरमान् सत्या द्वितीयं महाव्रतम् भगवद्भट्टारकतीर्थङ्करसुभा-
पित जिनै सुपूक्तं दशविध दशप्रकार जनपदसम्मतसत्यादिभेदेन दशवैकालिकादि
प्रसिद्ध चतुदशपूर्विभि प्राभृतार्थवेदित पूर्वगनाशविज्ञेपाभिधेयतयाज्ञातं, महर्षीणाञ्च
समयेन सिद्धान्तेन “पद्मं” त्ति प्रदत्त समयप्रतिज्ञावा समाचाराभ्युपगमं । पाठान्तरे
“महरीरिसीसमयपद्मन्निचिन्” त्ति महर्षिभिः समय प्रतिज्ञा सिद्धान्ताभ्युपगम समा-
चाराभ्युपगमो वेति चरित यन् तत्तथा । देवेन्द्रनरेन्द्रैर्भाषित जनानामुक्तोऽर्णं पुरु-
पार्थं स्तत्साध्यो धर्मादिर्यस्य तत्तथा । अथवा देवेन्द्रनरेन्द्राणा भासित प्रतिभासितोऽ
र्थं प्रयोजन यस्य तत्तथा । अथवा देवेन्द्रादीना भाषिता अर्था जीवादयो जिनवचन
रूपेण येन तत्तथा । तथा वैमानिकात्ता साधित प्रतिपादितमुपादेयतया जिनादिभिर्भ्यं
त्तत्तथा । वैमानिकैर्वा साधितं कृत मासेवित समर्थितवा यत्तत्तथा । महार्थं महाप्रयो-
जनम् एतदेवाह मन्त्रौपधिविद्याना साधनमर्थं प्रयोजन यस्य तद्विना तस्या-
भावात् तत्तथा ।

अर्थ —

सत्य, दूसरा महाव्रत है इसे तीर्थकरोंने दश प्रकारका कहा है ।

जनपदसम्मत सत्यादिके भेदसे दश प्रकारका सत्य, दश वैकालिक आदि सूत्रों में प्रसिद्ध है । इसे चौदह पूर्वधारियोंने पूर्वान्तर्गत प्रभृत नामक श्रुत विशेषसे जाना है । बड़े बड़े ऋषियोंके सिद्धान्तसे यह सत्य दिया गया है अथवा बड़े बड़े ऋषियोंने सत्य भाषणकी प्रतिज्ञा की है । अथवा पाठान्तरके अनुसार, बड़े बड़े ऋषियोंने सत्य भाषणकी

प्रतिज्ञा और सत्य भाषण किया है। देवेन्द्र और नरेन्द्रोने सत्यभाषणका धर्मादिरूप प्रयोजन मनुष्योंको बतलाया है अथवा देवेन्द्र और नरेन्द्रोको सत्य भाषणका प्रयोजन प्रति-
भासित हुआ है अथवा सत्यने ही देवेन्द्र और नरेन्द्रो को जिनप्रवचनरूपसे जीवादि
पदार्थका ज्ञान कराया है। इस सत्यको वैमानिक देवोंने भी स्वीकार किया है अथवा
वैमानिक देवोंने सत्यका सेवन और समर्पण किया है। यह सत्य बड़े बड़े प्रयोजनों को
सिद्ध करता है। सत्यके बिना मन्त्र औषधि त्रिगुण भी सिद्ध नहीं होतीं। यह उक्त
मूलपाठका टीकानुसार भावार्थ है।

यहां मूलपाठमें सत्य रूप महाव्रतका साहाय्य बतलाया है, शास्त्र पढ़ने पढ़ानेका
कुल जिक्र भी नहीं है इसलिये इस पाठका नाम लेकर श्रावकोंको शास्त्र पढ़नेका निषेध
करना अज्ञान मूलक है। यहां मूलपाठमें सत्यकी प्रशंसा करतेहुए जो यह लिखा है
कि—“महर्षिसीणयममयपइन्द्रेविन्दनरिन्दभासियत्थ” इसका टीकाकार ने यह
अर्थ किया है—

“महर्षीणाञ्च समयेन सिद्धान्तेन प्रवृत्तम्” देवेन्द्रनगन्द्राणा भासिनोऽर्थं प्रयो-
जन यस्य तत्तथा ।”

अर्थान् बड़े बड़े ऋषियाक सिद्धान्तसे सत्य दिया हुआ है और देवेन्द्र और नरे-
न्द्रोको सत्यका प्रयोजन प्रतिभासित हुआ है।

इन पदोंसे सत्य रूप महाव्रतकी प्रशंसा की गयी है परन्तु शास्त्र पढ़ने पढ़ानेके
सम्बन्धमें कुछ नहीं कहा है तथापि इन्हीं पदोंका अर्थ करते हुए जीतमलजी बतलाते हैं
कि “उत्तम ऋषि महर्षियोंको ही शास्त्र पढ़नेका अधिकार है। देवेन्द्र और नरेन्द्रोको
सूत्रके अर्थ जाननेका ही अधिकार है इत्यादि,” परन्तु उक्त पदोंका ऐसा अर्थ त्रिकालमें
भी नहीं हो सकता अतः भ्रमविध्वसनकारका यह अर्थ करना उनके अज्ञानका सूचक
है। टीकाकारने “महर्षीणाञ्च समयेन प्रवृत्तम्” ऐसा तृतीया तत्पुरुष दिखलाकर साफ बतला
दिया है कि सत्य वचन, महर्षियोंके सिद्धान्तसे दिया गया है अतः महर्षियोंकोही सिद्धान्त
दिये जानेका अर्थ सर्वथा मिथ्या और व्युत्पत्तिसे विरुद्ध है। इसी तरह देवेन्द्र और
नरेन्द्रोको केवल अर्थ जाननेका ही अधिकार है, यह उक्त दूसरे विशेषणका तात्पर्य बत-
लाना भी अज्ञान है क्योंकि टीकाकारने साफ साफ कह दिया है कि “अर्थ” शब्दका यह
प्रयोजन अर्थ है शब्दका या सूत्रका अर्थ नहीं। अतः उक्त दोनों विशेषणोंका व्युत्पत्ति
विरुद्ध अनन्त प्रलाप जैसा मनमाना व्यर्थ करके श्रावकोंकी शास्त्र पढ़नेका निषेध करना
मूर्खताका परिणाम समझना चाहिये।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ३६२ पर व्यवहार सूत्रकी साक्षी देकर लिखत है—

“दश वर्ष दीक्षा लिया साधुने कल्पे भगवती सूत्र भणियो ए साधुने पिण मर्यादा सूत्र भणवारी फही जे तीन वर्षा दीक्षा लिया पठे निशीथ सूत्र भणयो कल्पे अने तीन वर्ष दीक्षा लिया पहिला तो साधुने पिण निशीथ सूत्र भणयो न कल्पे अने तीन वर्ष पहिले साधु निशीथ सूत्र भणे तेहनी जिन आज्ञा नहीं तो गृहस्थ सूत्र भणे तेहनी आज्ञा किम देवे” (भ्र० पृ० ३६२)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

व्यवहार सूत्रमें, तीन वर्ष दीक्षा लेनेके बाद निशीथ सूत्र पढ़नेका और दश वर्ष दीक्षा लेनेके बाद जो भगवती सूत्र पढ़नेका विधान किया है वह सबके लिये नहीं है क्योंकि त्रिशिष्ट योग्यतावाले मुनिको तीन वर्षकी दीक्षाके बाद ही शास्त्रमें जघन्य आचाराग, निशीथ और उत्कृष्ट द्वादशागको पढ़ने वाला बहुश्रुत और वह्वागम कहा है। वह पाठ यह है—

“तिवास पज्जाए समणे निग्गंथे आयारकुसले संजमकुसले पवयणकुसले पण्णत्तिकुसले संग्गहकुशल्ले उवग्गहकुशल्ले अक्ख-
घायारे असवलायारे अभिन्नायारे असंकिलिट्ठाचारचरित्ते बहुस्सुए
यह्वागमे जहण्णेणं आयारकप्पघरे कप्पह उवज्जायताए उदि-
सित्तए !,,

(व्यवहार सूत्र ३० ३)

अर्थ —

तीन वर्षकी दीक्षा पर्यायवाला जो भ्रमण निग्रथ, आचार कुशल, संग्रह कुशल, उपमह कुशल, अक्षताचार, (अखण्डित आचारवाला) अशयल्यचार अभिन्नाचार, अमंकिलिष्टाचार, बहुश्रुत और वह्वागम है अर्थात् अल्पसे अल्प आचाराग, निशीथ, और उत्कृष्ट द्वादशागधारी है उसे आचार्य्य पत्र देना कल्पता है।

इस पाठमें तीन वर्षकी दीक्षावाले साधुको बहुश्रुत और वह्वागम, कहा है इन का अर्थ करत हुए टीकाकारने लिखा है कि—

“तथा बहु भुने सूत्र यस्यामो बहु श्रुत तथा बहुरागमोऽर्णरूपोयस्यस यद्वा-
गम । जघन्येनाचारकनपरो निशीधाध्ययनसूनार्थपर इत्यर्थ । जघन्यत आचार
रूपप्रदगादुष्कर्यतो द्वादशांगनिद्रिति”

अर्थात् जिसने बहुत सूत्रोंका अध्ययन किया है वह बहुभ्रुत है और जो बहुत
अर्णरूप आगमका ज्ञाता है वह बहुवागम कहलाता है । तात्पर्य यह है कि तीन वर्षकी
दीक्षा वाला जो माधु, जघन्य निशीध सूत्र और उसका अर्थ जानता हो और उत्कृष्ट
द्वादशांगधारी हो वह आचार्य बनाया जा सकता है ।

यदि टीका और मूलपाठमें तीन वर्षकी दीक्षावाले माधुको उत्कृष्ट द्वादशांगधारी
कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि व्यवहार सूत्रमें तीन वर्ष दीक्षा लेनेके पश्चात
निशीध सूत्र पढ़ने और १० वर्ष दीक्षा लेनेके बाद जो भगवती सूत्र पढ़ने का विज्ञान
किया है वह एकानरूपसे नहीं है । विशेष योग्यतावाले माधु, तीन वर्षके अन्दर ही
उत्कृष्ट द्वादशांगधारी भी हो सकते हैं अतः व्यवहार सूत्रका नाम लेकर श्रावकको शास्त्र
पढ़नेका निषेध करना अज्ञानमूलक है ।

बाल ४

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३६४ पर निशीध सूत्र उद्देशा १९ का मूल
पाठ लिए कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“जे आचार्य उपाध्यायनी अणदीधी वाचणी आचर तथा आचारताने अनु-
मोद ती चौमासी दण्ड आवे तो गृहस्थ आपर मते सूत्र भणे ते तो आचार्यरी अण-
दीधी वाचणीछै तेहनी अनुमोदना किया चौमासी दण्ड आवे तो जे अणदीधा वाचणी
गृहस्थ आचरे तेहने धर्म किम कहिये । (अ० पृ० ३६४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

गुरुसे पढ़े बिना अपने मनसे शास्त्र पढ़ने पर “सुष्ट्वदिन्न” नामक ज्ञान का
अतिचार होता है उसकी निवृत्तिके लिये, निरतिचार शास्त्राध्ययन करनेवाले श्रावक,
गुरुमें पढ़कर ही शास्त्रका अध्ययन करते हैं । यह “सुष्ट्वदिन्न” नामक अतिचार,
साधुकी तरह श्रावकका भी कहा है इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रावकको भी गुरुमें
शास्त्र पढ़नेका अधिकार है । यदि श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अधिकार ही न होता तो
उसको “सुष्ट्वदिन्न” नामक अतिचार क्यों आता ? अतः निशीध उद्देशा १९

का नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़नेका अनधिकार बताना मिथ्या है। उन्त पाठमे गुरु ने पढ़े बिना शास्त्रका अध्ययन करनेसे प्रायश्चित्त कहा है इसलिये जो गुरुसे पढ़ कर शास्त्रका अध्ययन करता है उसके अध्ययनका अनुमोदन करनेसे प्रायश्चित्त नहीं हो सकता अतः श्रावक को शास्त्र पढ़ने का अनधिकार बताना मिथ्या-समझना चाहिये।

[बोल ५ वां]

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार ठाणाङ्ग ठाणा ३ उद्देशा ४ के मूलपाठको लिए कर उसको समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“इहा कस्यो ण तीन वाचणी देवायोग्य नहीं अविनीत, विवेना लोलुपी, समावो-वञ्जी २ उद्वेगं, एतीन साधुने वाचणी पिण देणी नहीं तो गृहस्थ तो क्रोधी मानी पिण हुवे अविनीत पिण हुवे विवेतो गृत्र स्त्री आटिकनो गृध्र पिण हुवे ते माटे श्रावकने वाचणी देणी नहीं” (भ्र० पृ० ३६५)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

ठाणाङ्ग ठाणा ३ का नाम लेकर सभी श्रावकको अविनीत, लोलुप और क्रोधी आदि टहरा कर शास्त्र पढ़ने का अनधिकारी कहना मूर्खता है। जैसे साधुओंमें कोई कोई अविनीत लोलुप और क्रोधी होता है उसी तरह श्रावकमें भी कोई कोई अविनीत, लोलुप और क्रोधी होता है। ऐसे साधु और श्रावकको ठाणाङ्ग ठाणा तीन में शास्त्र पढ़ाने का निषेध किया है परन्तु जो श्रावक अविनीत लोलुप और क्रोधी नहीं है उसको शास्त्र पढ़ानेका निषेध नहीं है। अतः ठाणाङ्ग ठाणा ३ का नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना अज्ञान है।

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३३६ पर उपाई और सुयगडाग सूत्रका मूल पाठ लिएकर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं —

“अथ इहा कस्यो अर्थो लाधा छै अर्थो प्रज्ञा छै अर्थो पूजा छै अर्थो जाणया छै। इहां श्रावकने अर्थाराज्ञाता कहा पिण इम न कस्यो “लद्धसुत्ता” जे लाधा भणया छै सूत्र इम न कस्यो ते माटे सिद्धान्त भगवानी आज्ञा साधुने इज छै पिण श्रावकने नहीं”

इसका क्या उतर ?

(भ्र० पृ० ३३६)

(प्ररूपक)

उवाई सूत्र और सुयगडाग सूत्रमे जैसे श्रावकको अर्थका ज्ञाता कहा है उसी तरह समवायाग सूत्र और नन्दी सूत्रमे श्रावकको सूत्रोका ज्ञाता भी कहा है । वह पाठ यह है — “सुयपरिगहिया तत्रोवहाणाइ ” अर्थात् श्रावक सूत्रको पढे हुए और उपधान नामक तप करने वाले होते हैं । यहा प्रत्यक्ष श्रावकको सूत्र पढनेवाला कहा है इसलिये श्रावकको सूत्र पढनेका अधिकार स्पष्ट सिद्ध होना है तथापि उवाई और सुयगडाग का नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढनेका अनधिकार बताना एकान्त मिथ्या है । उवाई और सुयगडाग सूत्रमे श्रावकको अर्थका ज्ञाता कहा है इसका अभिप्राय यह नहीं हो सकता कि वे अर्थ जाननेके ही अधिकारी हैं सूत्र पढनेके अधिकारी नहीं हैं किन्तु उवाई और सुयगडाग सूत्रसे अर्थ जाननेके और समन्याग सूत्रसे मूत्र पढनेके श्रावक अधिकारी सिद्ध होते हैं अतः श्रावकको सूत्र पढनेका अनधिकारी बताना अज्ञान है । इसी तरह सुयगडाग सूत्रके ११ वें अध्ययनकी २४वीं गाथा लिखकर भ्रमविध्वसनकारने जो यह लिखा है कि “आत्मगुप्त साधु इज्ज शुद्ध धर्मनो परुपग हार छै” यह भी मिथ्या है क्योंकि वस्तु गाथामें श्रावकको शुद्ध धर्मका उपदेशक होना वर्जित नहीं किया है और किया भी नहीं जा सकता क्योंकि उवाई सूत्रमे श्रावकको “धम्मकराइ” कह कर धर्मोपदेशक होना साफ साफ बतलाया है और भ्रमविध्वसनकारने भी प्र० पृ० २३५ पर श्रावकको धर्मोपदेशक माना है । जैसे कि वे लिखते हैं—“धमे श्रुत चारित्र रूपने सभलाज त धर्माख्यात कहीजै” यह लिखकर स्वयं भ्रमविध्वसनकारने भी श्रावकको धर्मोपदेशक होना स्वीकार किया है तथापि सुयगडाग सूत्रकी गाथाका नाम लेकर श्रावकको धर्मोपदेशक होनेका निषेध करना इनका शास्त्र और अपने कथनसे भी विरुद्ध है ।

(बोल ६ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन शृणु ३६८ पर सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रकी तीसरी और चौथी गाथा लिख कर उनकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा क्खो—ए सूत्र, अभाजनने सिघाणे ते बुल गग सघ घाहिर ज्ञानादिक् रहिन क्खो । अरिहत गणधर स्थविरानी मर्यादानो लोपहार क्खो । जो साधु अभाजन ने नमिसावणो तो गृहस्थतो प्रत्यक्ष पाच आग्रतो सेवणहार अभाजनइज्ज छै तेहने सिघाया धर्मकिम हुवे इत्यादि लिघरर श्रावकको एकान्तरूपमे अभाजन कायम कक्क उसको शास्त्र पढानेका अनधिकारी बतलात हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रकी दूसरी और तीसरी गाथाओमें अभाजनको शास्त्र पढानेका निषेध किया है परन्तु वह यह नहीं कहा है कि श्रावक अभाजन होता है इसलिये उसे नहीं पढाना चाहिये । अतः सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रकी गाथाओका नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढानेका अनधिकारी बताना मिथ्या है । सूर्यप्रज्ञप्ति सूत्रमें अभाजनको शास्त्र पढानेका निषेध किया है परन्तु श्रावक अभाजन नहीं है क्योंकि वह चतुर्विध तीर्थमें गिना गया है और शास्त्रकारोंने श्रावकको गुण रूपो रत्नका पात्र कहा है इस लिये श्रावक भाजन है अभाजन नहीं है । जैसे कोई कोई साधु शास्त्रमें अभाजन कहे गए हैं वसी तरह कोई कोई श्रावक भी अयोग्य होते हैं ऐसे अयोग्य साधु और श्रावकोंको शास्त्र पढानेका निषेध है परन्तु सभी श्रावकोंको अयोग्य कायम करके उन्हें शास्त्र पढानेका निषेध करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

ठागाङ्ग ठाणा दूसरेमें श्रुत और चारित्र धर्मका दो भेद बताकर श्रावकको श्रुत धर्म वाला और देश चारित्री बतलाया है तथा साधुको श्रुतज्ञान और सम्पूर्ण चारित्री कहा है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्रावकको भी शास्त्र पढानेका अधिकार है क्योंकि शास्त्र पढे बिना श्रावक श्रुत धर्मवाला कैसे हो सकता है ?

ठागाण ठाणा ४ में श्रुत और चारित्रको लेकर एक चौभगी कही गई है । वह पाठ यह है —

“सुय सम्पन्ने नाम मेगे नो चरित्तसम्पन्ने”

- (१) कोई पुरुष श्रुत सम्पन्न होते हैं चारित्र सम्पन्न नहीं होते ।
- (२) कोई चारित्र सम्पन्न होते हैं श्रुत सम्पन्न नहीं होते ।
- (३) कोई चाग्रि और श्रुत उभय सम्पन्न होते हैं ।
- (४) कोई न श्रुत सम्पन्न होते हैं और न चारित्र सम्पन्न होते हैं ।

यहा चारित्र रहित पुरुषको श्रुत सम्पन्न कहा है । यदि साधुसे इतरको शास्त्र पढनेका अधिकार ही नहीं है तो चारित्र रहित पुरुष श्रुत सम्पन्न कैसे हो सकता है ? अतः साधुसे इतरको भी शास्त्र पढनेका अधिकार है ।

भगवती शतक ८ उद्देशा १० में यह पाठ आया है —

“सुयसम्पन्ने नाम मेगे नो सीलसम्पन्ने”

उस पाठमें शील रहितको श्रुत सम्पन्न होना कहा है। यदि साधुसे इनको शास्त्र पढ़नेका अधिकार नहीं है तो शील रहित पुरुष श्रुतसम्पन्न कैसे हो सकता है ?
अन श्रावकको शास्त्र पढ़नेका निषेध करना शास्त्र विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बोल ७ समाप्त)

(प्रेरक)

निशीथ सूत्र उद्देशा १९ मे पाठ आया है कि—

“जेभिकखू पासत्थां वायइ वायंनं वा साइज्जइ”

जेभिकखू पासत्थां पडिच्छइ पडिच्छंतंवा साइज्जइ”

अर्थात् जो साधु पासत्थको पढाता है या पढाते हुए को अच्छा जानता है। जो साधु पासत्थसे शास्त्र पढता है या पढने हुएको अच्छा जानता है उसे प्रायश्चित्त आना है। इसी तरह उसन्न कुशील आदिके लिये भी पाठ आया है इन पाठोक अनुसार जब कि परिग्रह रहित रत्री आदिका त्यागी पासत्थ आदिको भी शास्त्र पढानेका निषेध है तब फिर श्रावक तो परिग्रही और स्त्री आदिको रखने वाला होता है उसको शास्त्र पढने का अधिकार कैसे हो सकता है ?

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उसन्न पासत्थ और कुशील आदि, केवल साधु ही नहीं होते श्रावक भी होते हैं इस लिये निशीथ सूत्र उद्देशा १९ के मूलपाठमें जो साधु और श्रावक, उसन्न पासत्थ और कुशील आदि हैं उनका शास्त्र पढानेका निषेध किया है पान्दु जो साधु और श्रावक उसन्न पासत्थ और कुशील आदि नहीं हैं उनको शास्त्र पढानेका निषेध नहीं है अतः निशीथके उक्त मूलपाठका नाम लेकर श्रावकको शास्त्र पढानेका निषेध करना असंगत है। भगवती सूत्र शतक दश उद्देशा चारमें श्रावकको भी उसन्न पासत्थ और कुशील आदि कहा है यह पाठ यह है —

“तण्ण ते तापतिसं सहाया गाहावइ समणोवासगा पुत्रियं उग्गा उग्गविहारी सविग्गा भंविग्गविहारी भवित्ता तवोपच्छा पासत्था पासत्थ विहारी उसन्ना औसन्नविहारी कुशीला कुशील विहारी अहाच्छन्दा अहाच्छन्द विहारी वट्टइं चासाइं समणोवासग परिपायं पाउणति”

(भ० श० १० २० ४)

अग और बाह्य उत्तमाध्ययन आदिके द्वारा सम्यक्त्वका लाभ करता है वह "सूत्र रुचि" कहा जाता है । वह गाथा यह है —

“जे सुत्त महिज्जंतो सुएण ओगाहइव संमत्त अंगेण बाहिरिण
य सोसुत्तवइत्ति नापच्चो”

(उत्तराध्ययन अ० २८ गाथा २१)

इस गाथामें, जो पुरुष साधु नहीं है परन्तु सूत्र पढ़ कर सम्यक्त्वका लाभ करता है उसे “सूत्र रुचि” कहा है इससे स्पष्ट मिद्ध होता है कि साधुसे इतर [पुरुष को भी शास्त्र पढ़नेका अधिकार है अतः साधुके सिवाय सभीको शास्त्र पढ़नेका अनधिकारी यत्नाना अज्ञानियोंका कार्य समझना चाहिये ।

[बोल ९ वां समाप्त]

इति मंत्रपठनाधिकारः)



(अथ क्रियाधिकारः)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ३७४ पर आज्ञा बाहरकी करनीसे पुण्य होनेका सङ्घटन करते हुए लिखते हैं —

“कतला एक अज्ञाण आज्ञा बाहरकी करणीकी पुण्य बधतो कहें ते सृजना जाण-णहार नहीं” (भ्र० पृ० ३७४)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आज्ञा बाहरकी करनीसे पुण्यबंध नहीं मानना शास्त्र न ज्ञाननेका फल है । क्यो कि जो, जैन धर्मक निन्दक और मिथ्यादर्शनमे श्रद्धा रखने वाले अपने शास्त्रके अनु-सार अकाम निर्जरा आदिकी करनी करते हैं उनकी करनी जिन आज्ञामे नहीं है तथापि वे अपनी उस आज्ञा बाहरकी करनीसे पुण्य बाध कर स्वर्गमे जाते हैं । यदि आज्ञा बाहर की करनीसे पुण्यबंध नहीं होता तो उक्त पुरुष स्वर्गमे कैसे जाते ? अतः आज्ञा बाहर की करनीसे पुण्यबंध नहीं मानना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

जैन धर्ममे श्रद्धा नहीं रखने वाले मिथ्या दर्शनियोंकी अकाम निर्जगदि क्रियाको भ्रमविध्वसनकार जिन आज्ञामे बतलाते हैं और उसे आज्ञामे बतला कर आज्ञा बाहरकी क्रियासे पुण्यबंध होनेका निषेध करते हैं ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

वीतराग भाषित धर्ममे श्रद्धा नहीं रख कर मिथ्यादर्शन आदिमे श्रद्धा रखनेवाले जो अज्ञानी अकाम निर्जरा आदिकी करनी करते हैं उनकी करनी यदि जिन आज्ञामे है तो फिर वे मिथ्यादृष्टि कैसे हो सकते हैं ? क्योकि जिन आज्ञाका आराधक पुरुष मिथ्या-दृष्टि नहीं होता अतः अकाम निर्जरा आदिकी करनी करने वालेको मिथ्यादृष्टि मानना और उसकी करनीको जिनआज्ञामे बताना परस्पर विरुद्ध और अज्ञान मिथ्या है ।

[बोल २ समाप्त]

(प्रेरक)

जो जीव वीतरागकी आज्ञाका आराधक नहीं है वह आज्ञा बाहरकी क्रिया करके स्वर्ग प्राप्त करता है यह कहा लिया है ?

(प्रत्युक्त)

उवाह सूर के मूल पाठमें स्पष्ट लिया है कि जो जीव वीतराग की आज्ञा का आराधक नहीं है वह भी आज्ञा बाहर की क्रिया करके स्वर्गगामी होता है वह पाठ यह है —

“सैजे इमे गामागर जाव सन्निवेशेसु पञ्चइया समणा भवति तंजहा आघरिपडिणीया उवज्जायपडिणीया कुलपडिणीया गणपडिणीया आघरिपउवज्जायाण अजसकारगा अवण्णकारगा अकीत्तिकारगा असवभावुवभावणाहिमिच्छताभिणिवेसेहिय अप्पाणंच परच तडुभयंच बुग्गाहे माणा बुप्पाए माणा विहरिता बहुइ वासाइ समणपरियागं पाउणंति तस्स ठाणस्स अणालोहय अपडिक्कता काल भासे कालं किच्चा उच्चोसेणं लंतए कप्पे देवकिणिएसु देवकिण्विसियत्ताण उववत्तारो भवति तर्हि तेसिं गनी तेरससागरो घमाइं ठीति अणाराहगा सेस तचोव”

(उवाह सूत्र)

अर्थ —

आघाच्छा, उपाध्याय, कुल और गणक साथ घरभाय रखन वाले और उनकी अवस्था, अकार्षि, तथा अयत्नका प्रचार करन वाले कई नामधारी प्रसूतित प्राप्त आदि याचन मंत्रियशा में रहते हैं व मिथ्यात्वक अभिनिवेश और असन्नायकी भावनासे अपन आपको और दूसरा को भी घुँटे आग्रहमें डालते हैं । व असन्नायनाका समधान करन वाले बहुत काल तक अपनी प्रसन्नता का पालन करके अपने घुँटे काट्यकी आलोचना नहीं करनेसे पापरहित नहीं होते । व श्यायु घुँटे होने पर मर कर अन्तक नामक देशलोक में उत्पन्ना होकर किलियर्षी नामक दशगा होत हैं । यहाँ उन की दार्शनिक सागर तक स्थिति होती है व परलोक सम्बन्धा भगवान का आग के आराधक नहीं हैं ।

इस पाठमें आघाच्छा उपाध्याय कुल, गण मय आरिषी निन्दा करन वाले मीन

तरागकी आङ्गाका अनारायक अझानी जीवोको आझा वाहरकी क्रियासे स्वर्ग प्राप्त करना कहा है अतः आङ्गा वाहरकी क्रियामे भी पुण्य बन्ध होना स्पष्ट सिद्ध होता है । तथापि अज्ञा वाहर की क्रिया से पुण्यबन्धका निषेध करके अज्ञानियोंकी अकाम निर्जरा आदि क्रियाओको आझामे कायम करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये । इस विषयका विस्तृत विवेचन मिथ्यात्विक क्रियाधिकारमे किया गया है विशेष जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिये ।

(बोल ३ समाप्त)

(इति क्रियाधिकारः)



(अथ अल्पपाप बहुनिर्जराधिकारः)

(प्रेरक)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें साधुको अप्रासुक [सौम्य] अनेपणिक आहार देनेसे अल्पतर पाप कर्म और बहुततर निर्जरा होना लिखा है उसका अर्थ कान्ते हुए भ्रमविध्वंसनकार लिखते हैं —

“तेहने अल्प पाप ते पापतो नहोंत्र छै अने हर्ष करी दीधा बहुत प्रगी निर्जरा हुई” (भ्र० पृ० ४४९)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सूत्रका वह मूलपाठ टीकाके साथ लिख कर इसका समाधान दिया जाता है वह पाठ यह है —

“समणोवासणं भन्ते ! तहाह्व समण वा माहर्न वा अफा-
सुणं अणोसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाहमेणं पड्डिलाभेमा-
णस्स किंज्जइ गोपमा ! बहुतरिया से निज्जरा कज्जइ अप्पतराए मे
पाव कम्मे कज्जइ”

(भगवती शतक ८ उद्देशा ६)

(टीका)

‘बहुतरिया’ति पाप कर्मापक्षया ‘अल्पतराण’ति अपत्तर निर्जरापेक्षया । अयमर्था गुणत्रयेपात्रायाप्राप्तुं क्वदिद्रव्येण चारित्रकायोपशान्तो जीवपानो व्यरहारतस्त-
चारित्रयाच भवति ततश्च चारित्रकायोपपत्तभास्निर्जरा जीवचानादश्च पापकर्म तत्रच
स्वहेतुसामर्थ्यात् पापापेक्षया बहुतरा निर्जरा निर्जरापेक्षयाचालपतरं पापं भवति । इहच
त्रिषेचका मन्वते अमस्तरणादिकारणतपवा प्रासुकादि दाने बहुतरा निर्जरा भवति ता-
कारणे यदुक्त ‘सयरणम्मि असुद्ध दोषइ विगेणत द्वितयागदिय

आउर दिट्ठ तेण सचेव दिथ असंयग्गेति”

अनेत्वाहुरकारणेऽपि गुणत्रयापात्रायाप्राप्तुं क्वदिद्रव्येण परिणामरगात् बहुतरा निर्जराभवति
अल्पतरं च पाप कर्मेति निर्जरापेक्षयात्सुत्रस्य परिणामरग्यच प्रमाणत्वात् आह—“पम
रहस्स मिमीण रुमत्त गणिदिहम विरिय साण । परिणामिय पमणं निरुत्तमवन्व-

माणान्" यज्ञोच्यते मथरणमि असुद्ध मित्यादिनाऽशुद्धं द्वयोरपि वागृपहीनो रहितायेति तद्ग्राहकस्य व्यवहारत मयमविराधनादायकस्यच लुब्धकदृष्टान्तभाषित्वेनवा, ददत शुभाल्यायुष्कता निमित्तत्वात् । शुभमपिचायुरल्प महित विपक्षया, शुभायुष्कता निमित्त चा प्रासुकादि दानस्य अल्पायुष्कता प्रतिपादकसूत्रे प्रायश्चित्त यत्पुनरिहत्तव तत्क्षेत्रलिग्नाभ्यम्' अथ —

हे भगवन् ! तयात्रिव श्रमण और माहनको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेवाले श्रमणोपासकको क्या फल होता है ?

(उत्तर) हे गोतम ! अल्पतर पाप और बहुतग निर्जग होती है । यह मूलपाठ का अर्थ है । टीकाका अर्थ निम्नलिखित है—

पाप कर्मकी अपेक्षा बहुत अधिक निर्जरा होती है और निर्जराकी अपेक्षा पाप कर्म बहुत थोडा होता है । इसका आशय यह है कि गुणवान पात्रको अप्रासुक अन्नादि दान देनेसे उसके चारित्र और शरीरको सहायता प्राप्त होती है और व्यवहारसे चारित्र की बाधा और जीवकी विराधना होती है अत चारित्र और शरीरकी सहायता होनेसे निर्जग होती है और जीव विराधना आदि होनेसे पाप होता है । चारित्र और शरीरकी सहायता बहुत अधिक होती है और जीव विराधना बहुत थोडी होती है । इस लिये अपने कारणानुसार बहुतर निर्जग और निर्जराकी अपेक्षासे अल्पतर पाप होता है । इस विषय मे विवेचक लोगोका मत यह है—

निर्वाह नहीं होने आदि कारणोसे अप्रासुक वस्तुका दान करना बहुतर निर्जराका हेतु होता है अन्यथा नहीं, जैसे किसी आचार्य्यने कहा है—निर्वाह होनेपर अशुद्ध आहार देना और लेना दाता और ग्राहक दोनोके अहितके लिये होता है परन्तु रोगीके दृष्टान्त से निर्वाह नहीं हो सकनेपर वह दान दोनोका इहकारक होता है । इस विषयमे दूसरे लोगोका कहना यह है—

कारण नहीं होनेपर भी गुणवान पात्रको अप्रासुकादि आहार देनेसे बहुत निर्जरा और अल्पतर पाप होता है क्योंकि मूल सूत्रमे कारण विशेषका उल्लेख नहीं किया गया है तथा गुणवान पात्रको श्रद्धापूर्वक अप्रासुक आहार देने वाले श्रमणोपासकका परिणाम शुद्ध है उम परिणामकी शुद्धिके कारण बहुतर निर्जरा, और अशुद्ध अन्न होनेके कारण अल्पतर पाप होता है । जैसे आचार्य्योने कहा है — परम रहस्यको जानने वाले सम्पूर्ण द्वादशाग के मारका ज्ञाता, निश्चय नयका अवलम्बन करने वाले ऋषियोंने (पाप और पुण्य आदिके विषयमें) परिणामको ही प्रमाण माना है । अत बिना कारण भी गुणवान पात्रको अमृगना आहार देनेसे बहुतर निर्जरा और अल्पतर पाप होता

समझना चाहिये । जो कि "सकृणामि अशुद्र" इत्यादि गाथामें अप्राप्त दानको देने वाले और देने वाले दोनोंके लिये अहित कहा है वह इस लिये कहा है कि अशुद्र आहार लेनेसे व्ययशरत समय विगधना होती है और लुब्धकके दृष्टान्तसे देनेवालेकी शुभ आयु घटती है यद्यपि वह आयु शुभ है तथापि थोड़ी होनेसे उसे अहित कहा है अप्राप्त दानका दान, शुभ आयु नष्टका भी कारण होता है यह पूर्व सूत्रमें पहले ही नत्वा दिया गया है ।

इस विषयमें जो नत्व यानी यथाथ दान है वह वेचलि गम्य है यह ऊपर लिखी हुई टीकाका अर्थ है ।

इस टीकामें टीकाकारने अल्पतर पाप शब्दका अर्थ निर्जगकी अपेक्षा थोड़ा पाप होना और बहुत निर्जगका अर्थ पापकी अपेक्षासे बहुत ज्यादा निर्जग होना धनलाया है परन्तु पापका अभाव, या पाप नहीं होना इत्यादि अर्थ नहीं किया है अतः अल्पतर पाप शब्दका पापका अभाव अर्थ बनाना मिथ्या समझना चाहिये ।

इस टीकामें विवेचक और अन्यके मतसे उक्त मूल पाठके दो आशय बतलाये हैं । विवेचक लोग कारण पडने पर अप्राप्त दानका अल्पतर पाप और बहुत निर्जग रूप फल बतलाते हैं और अन्य लोग कारण नहीं होनेपर भी अप्राप्त दानका अल्पतर पाप और बहुत निर्जग रूप फल मानते हैं परन्तु दोनों मतमालोको अल्पतर पाप शब्दके अर्थमें कोई मत भेद नहीं है दोनोंहीने अल्पतर पाप शब्दका निर्जगकी अपेक्षासे अल्प पाप होना ही अर्थ माना है अतः अल्पतर पाप शब्दका अर्थ पापका अभाव बनाना टीका से विरुद्ध और एकान्त मिथ्या है ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४४८ पर "यत्पुनरिह तत्र तत्वेचलिगम्यम्" इस टीकाके वाक्यको लिपि कर लिखते हैं—“अथ अठे पिण टीकामे एपाठो न्याय वेचलीने भलायो त माट अशुद्र लेवारी थाप करणी नहीं”

इसका क्या समाधान ?

(प्रत्यक्ष)

अल्पतर पाप और बहुत निर्जग शब्दका अर्थके विषयमें टीकाकारने फवलीपर न्याय करना नहीं छोड़ा है इनका अर्थ तो स्पष्ट रूपसे कर दिया है । निर्जगकी अपेक्षा अल्प पाप होना अल्पतर पाप शब्दका और पापकी अपेक्षा बहुत निर्जग होना बहुत

निर्जग शब्दका अर्थ कर दिया है इस लिये अल्पतर पाप शब्दका अर्थ निर्जगकी अपेक्षा से थोड़ा पाप होना ही है पापका अभाव या पाप न होना अर्थ नहीं है । उक्त टीकामें जो त्रिचक्रोंने कारण पड़नेपर अप्राप्त आहार देनेका फल अल्प पाप और बहुत निर्जग वतलाया है और अन्य लोग बिना कारण भी अप्राप्त दानका उक्त फल कहते हैं इन दोनोंमें कौनसा मत युक्त है इसका निर्णय टीकाकारने स्वयं कृत् नहीं करके लिखा है कि 'यत्पुनरिहतत्त्वं तत्त्रैवल्लिगम्यम्' अर्थात् उक्त दोनों मतोंमें कौन मत श्रेष्ठ है यह बात पेंवली जानें, परन्तु टीकाकारको अल्पतर पाप शब्दका अर्थके विषयमें कोई मशय नहीं है अतः 'यत्पुनरिहतत्त्वं तत्त्रैवल्लिगम्यम्' इस टीकाका नाम लेकर अल्पतर पापशब्दका पापका अभाव अर्थ करना टीकाका अर्थ नहीं समझनेका परिणाम समझना चाहिये ।

[बोल २ रा]

(प्रेरक)

भ्रमविश्वंसनकार इस पाठका तात्पर्य यह बनलाते हैं कि जो आहार असूयता हो गया है परन्तु श्रावक और साधुको इसका पना नहीं है । साधु सूझता समझकर लेता है और श्रावक उसे सूझना समझ कर देता है उस दानका फल इस णठमें अल्पतर पाप और बहुत निर्जग रही है क्योंकि श्रावक सूझता समझकर उस अन्नको देता है इसलिये उसका कोई अपराध नहीं है अतः उस दानसे श्रावकको अल्प पाप यानी थोड़ा भी पाप नहीं होता और बहुत निर्जग होती है । यह बात भ्र० पृ० ४४९ मे कही है ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

जिस अन्नको श्रावक असूयता नहीं जानता किन्तु सूझता जानकर साधुको देता है वह अन्न असूयता नहीं है वह सूझता ही है और उस दानका फल पूर्ण पाठमें एकान्त निर्जग और थोड़ा भी पाप न होना कह दिया गया है फिर उसी बातको इस पाठमें दुहरानेकी कोई आवश्यकता नहीं है इसमें तो असूयता आहार देनेका फल कहा है और टीकाकारने साक साक लिख दिया है कि साधुके चारित्र और शरीरकी सहायता होती है इस लिये असूयता आहार देनेमें बहुत निर्जग होती है और व्यवहारसे चारित्र की बाधा और हिंसा होनी है इस लिये असूयता आहार देनेसे थोड़ा पाप भी होता है । यदि श्रावक सूझता समझ ही साधुको देवे तो फिर टीकाकारको ऐसा लिखनेका क्या प्रयोजन था ? और कारण पड़नेपर असूयता आहार देनेका फल अल्पतर पाप, बहुत निर्जग है या, बिना कारण भी देने पर उक्तफल है, इस विषयका विचार

विचक और धन्यके मतसे जो टीकाकारने किया है उसका क्या प्रयोजन था ? अन असुसता आहार देनेका हो फल इस टीका और पाठमे कहा है सुसता आहार देनेका फल नहीं, इसमे किसी प्रकार का भी सशय नहीं करना चाहिये ।

अल्पतर पाप शब्दका अर्थ भी भ्रमविध्वसनकारने अशुद्ध किया है । टीकाकारने साक साक लिए दिया है कि निर्जराकी अपेभासे अल्प पाप होना अल्पतर पाप शब्दका अर्थ है । दूसरी बात यह है कि बहु शब्दके साथ आये हुए अल्प शब्दका अभाव अर्थ होता भी नहीं है । जैसे उत्तगध्वयन सूत्रमे बहु शब्दके साथ अल्प शब्द आया है उसका निषेध या अभाव अर्थ न होकर 'थोडा' अर्थ ही होता है वह पाठ यह है —

“बहुपापमगओ अप्पपएसग ओ पकरुद्” तथा भगवती शतक १ उद्देशा ९ मे पाठ आया है—अप्पपएसगओ बहुपएसगाओ’ दर्शनकालिक सूत्रमे पाठ आया है—“अप्यवा बहुजा’ टाणाद् टाणा चौथामे पाठ आया है—“चउत्तिहे अप्पा बहुण पण्णत्ते” भगवती शतक १९ उद्देशा ३ और उक्त सूत्र शतक २५ उद्देशा ३ मे पाठ आया है—“कयरे कयरे हितो अप्पावा बहुयाजा तुत्तावा” पन्नावणा सूत्रक वीसरे पदमे पाठ आया है “अप्पाजा बहुयाजा” उपाइ सूत्रमे पाठ आया है “अप्पतगोया भुज्जतरोया” इसी तरह शास्त्रमे अनेको जगह बहुशब्दके साथ अल्प शब्दका प्रयोग हुआ है और सभी जगह उसका “थोडा” अर्थ ही होता है अभाव या निषेध अर्थ नहीं होता अल्पता जहा बहु शब्दके साथ न आकर अरला अल्प शब्द आता है वहा फर्तों कहीं उसका अभाव अर्थ भी होता है परन्तु बहु शब्दके साथ आये हुए अल्प शब्दका कहीं भी अभाव अर्थ नहीं होना । भगवती शतक ८ उद्देशा ६ मे बहु शब्दके साथ अल्प शब्द आया है और उस पर भी उसके उत्तर तरप् प्रत्यय लगा है अन वहा अल्प शब्दका अभाव अर्थ करना एकान्त मिथ्या है ।

(बोल ३)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकारने अल्पपाप बहु निर्जाप प्रकरणमे पहले बोलमे अफासुक अने सणीक का अर्थ सचित्त यानी जीववाली चीज किया है और यह अर्थ फरके जनता को यह धनलानेकी चेष्टा की है कि श्रावक, माधुको सचित्त चीज यानी कच्चा पाणी आदि कैसे ले सकता है ?

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमे “अफासुअ अनेसणीज” यह

पाठ आया है यहा अकाल्पनिकको अप्रासुक कहा है और अकाल्पनिकको ही अनेपणिक कहा है परन्तु जीववाली चीजको अप्रासुक नहीं कहा है अतः जीतमलजीने जो उन पाठमे अप्रासुक शब्दका सचित्त अर्थ किया है वह मिथ्या है । दूसरी जगह स्वयं जीतमलजीने भी अप्रासुक शब्दका अकाल्पनिक अर्थ किया है । आचागग सूत्रके दूसरे श्रुत सूक्तके ऊपर जीतमलजीने टब्बा रची है उस टब्बामे “अफासुअ” इस पाठ पर उनकी लिखी हुई टब्बा यह है —

“अफासुक ए अणकाल्पनिक माटे सचित्त तुल्य, जिम उत्तराध्ययन अ० १ गाथा ५ अवनतिने क्यो—“दुसीले रम्मइ मिए” भू डा आचारने विगे रमे मिए कहिता मृग सरीखो अजाण ते माटे मृग क्यो तिम सचित्त पिण अकाल्पनिक छै अने जिहा गीजो आहार वस्त्रादिक सचित्त नही तेहने अफासुक क्यो अकल्पना माटे सचित्त सरीखो इमहीज (अणे सणीज) ते अकल्पना माटे असुझता सरीखो जाणवो”

इस टब्बा अर्थमे स्वयं जीतमलजीने “अफासुअ” का अर्थ सचित्त तुल्य अकल्पनीय किया है अतः भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमे “अफासुअ” का सचित्त अर्थ करना इनका जनताको धोखा देना है वास्तवमे इस पाठमे अकल्पनीय वस्तु को ही अप्रासुक कह कर बतलाया है जीववाली चीज को नहीं अतः जीतमलजी का पूर्वाक्त आशेष मिथ्या समझना चाहिये ।

(बोल ४)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४४४ पर भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशा ६ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

‘अथ इहा तो साधुने अप्रासुक अनेपणिक आहार दीधा अल्प आयुष वाधे क्यो इहां तो जे असुझतो दने ते जीवहिंसा अने झूठर चरोवर क्यो छै । अल्प आयुषो ते निमोदर छै जे जीव हणया झूठ बोलया साधुने अशुद्ध अज्ञानादिक दीधा बधतो क्यो इम हिज ठाणाङ्ग ठाणा ३ अशुद्ध दिया अल्प आयुषो बाधतो क्यो तो अशुद्ध दिया थोडो पाप घणी निर्जरा किम हुवे”

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ५ उद्देशा ६ का मूलपाठमें साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार दनसे अल्प आयुषा २१ होना लिखा है उक्त आयु, दीर्घ आयुकी अपेक्षा अल्प कही गई

है शुद्धरुभवमहत्कार्य निगोदकी आयु होनेसे नहीं। अतः भगवती शतक ५ उद्देश ६ के मूलपाठका नाम लेकर साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे निगोदकी आयु बन्ध बताना अज्ञान है। साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे भगवती शतक ५ उद्देश ६ के मूलपाठमें शुभ अरुण आयु ५ घ होना लिखा है यह जान भगवती शतक आठ उद्देश ६ के टीकामें भी कही है। वह टीका यह है —

“शुभायुः कृतानिमित्तं चाप्रासुकाद्विदानम्यात्पयुः कृताकल्पप्रतिपादकसूत्रे प्राक् चर्चितम्”

अर्थात् साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे शुभ अरुण आयुका बन्ध होना है यह पहले बतला दिया गया है। यहाँ टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि साधुको अप्रासुक और अनेपणिक आहार देनेसे शुभ अरुण आयुका बन्ध होता है निगोदकी आयु पाना नहीं कहा है तथा भगवती शतक ५ उद्देश ६ के पाठकी टीकामें भी यही बात कही है यह टीका यह है —

“अथप्रापेक्षिकी अल्पायुः कृता प्राप्या यतः किल जिनागमाभिसम्भूतमतयो मुनयः प्रथमवयसः भोगिनः कश्चन मृतदृष्ट्वा उत्तारो भवन्ति नूनं मनसः भवान्तरे किञ्चिदशुभं प्राणिरधादि चामरितम् अस्तप्यावा मुनिभ्यो दत्त येनाथ भोग्यप्यत्प्रायुः मृत्युत्तदिति ।”

अर्थात् भगवती शतक ५ उद्देश ६ के मूलपाठमें मुनिको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे जो अरुण आयु प्राप्त होना कहा गया है वह दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अरुण समझना चाहिये, क्योंकि जिनागमसे सम्भूत बुद्धिवाले मुनि, किसी भोगी पुण्यको पहली अपस्थामें मरा हुआ देखा कर कहते हैं कि इसने जन्मान्तरमें प्राणिरुध आदि अशुभ कर्मका अवश्य आचरण किया था अथवा मुनियोंका अकल्पनीय अन्नानि दिया था जिनमें भोगी होकर भी यह अरुणायु हुआ है।

यहाँ टीकाकारने मूलपाठका आशय बतलाने हुए दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अरुण आयु पाना लिखा है निगोदकी आयु पाना नहीं कहा है इस लिये भगवती शतक ५ उद्देश ६ का नाम लेकर साधुको अप्रासुक और अनेपणिक आहार देनेसे निगोदकी आयु पाना मिथ्या है। भगवती शतक ५ उद्देश ६ का मूलपाठ यह है —

“कण्ट भन्ते ! जीवा अप्पाउपत्ताण कम्म परुरंति ?

गोथमा ! तीहिं ठाणेदिं जीवा अप्पाउपत्ताण कम्म परुरंति त

जहा—पाणेअट्ठाइत्ता सुखवदित्ता तहास्य समणना मात्तणवा

पाठ आया है यहा अकाल्पनिकको अप्रासुक कहा है और अकाल्पनिकको ही अनेपणिक कहा है परन्तु जीववाली चीजको अप्रासुक नहीं कहा है अत जीतमलजीने जो उक्त पाठमे अप्रासुक शब्दका सचित्त अर्थ किया है वह मिथ्या है । दूसरी जगह स्वयं जीतमलजीने भी अप्रासुक शब्दका अकाल्पनिक अर्थ किया है । आचार्याग सूत्रके दूसरे श्रुत स्थानके ऊपर जीतमलजीने टब्बा रची है उस टब्बामें “अफामुअ” इस पाठ पर उनकी लिखी हुई टब्बा यह है —

“अप्रासुक ए अणकाल्पनिक माटे सचित्त तुय, जिम उत्तराध्ययन अ० १ गाथा ५ अग्रतितने रह्यो—“दुसीले रम्मइ मिए” भू डा आचारने विणे रमे मिए कहिता मृग सरीखो अजाण ते माटे मृग फह्यो तिम सचित्त पिण अकाल्पनिक छै अने जिहा बीजो आहार वस्त्रादिक सचित्त नहीं तेहने अफामुक रह्यो अकल्पता माटे सचित्त सरीखो इमहीज (अणे सणीज) ते अकल्पता माटे असज्जता सरीखो जाणयो”

इस टब्बा अर्थमे स्वयं जीतमलजीने “अफामुअ” का अर्थ सचित्त द्रव्य अकल्पनीय क्रिया है अत भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमे “अफामुअ” का सचित्त अर्थ करना इनका जनताको धोखा देना है वान्त्रमे इस पाठमे अकल्पनीय वस्तु को ही अप्रासुक कह कर बतलाया है जीववाली चीज को नहीं अत जीतमलजी का पूर्वाक्त आक्षेप मिथ्या समझना चाहिये ।

(बोल ४)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकार भ्रमविध्वसन पृष्ठ ४४४ पर भगवती सूत्र शतक ५ उद्देशा ६ का मूलपाठ लिख कर उसकी समालोचना करते हुए लिखते हैं—

“अथ इहा तो साधुने अप्रासुक अनेपणिक आहार दीधा अल्प आयुष वाधे बह्यो इहां तो जे असूक्ष्मतो दवे ते जीवहिंसा अने झूठर वरोवर बह्यो छै । अल्प आयुषो ते निगोदर छै जे जीव हृष्या झूठ बोलया साधुने अशुद्ध अज्ञानादिक दीधा वधतो बह्यो इम हिज ठाणाङ्ग ठाणा ३ अशुद्ध दिया अल्प आयुषो वाधतो बह्यो तो अशुद्ध दिया थोडो पाप घणी निर्जग किम हुवे”

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमें साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे अल्प आयुका उभ होना लिखा है नह आयु, दीर्घ आयुकी अपेक्षा अल्प कही गई

है शुद्धभयप्रदणरूप निगोदकी आयु होतसे नहीं। अत भगवती शतक ५ उद्देश ६ के मूलपाठका नाम लेकर साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे निगोदकी आयु बन्ध बनाना अज्ञान है। साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे भगवती शतक ५ उद्देश ६ के मूलपाठमें शुभ अल्प आयु बंध होना लिखा है यह बात भगवती शतक आठ उद्देश ६ के टीकामें भी कही है। वह टीका यह है —

“शुभायुष्मत्तानिमित्त चाप्रासुकान्निदानस्याल्प युक्तफलप्रतिपादकसुत्रे प्राक् चर्चितम्”

अर्थात् साधुको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे शुभ अल्प आयुका बन्ध होना है यह पहले बतला दिया गया है। यहा टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि साधुको अप्रासुक और अनेपणिक आहार देनेसे शुभ अल्प आयुका बन्ध होता है निगोदकी आयु पाना नहीं कहा है तथा भगवती शतक ५ उद्देश ६ के पाठकी टीकामें भी यही बात कही है वह टीका यह है —

“अथरहापेक्षिकी अल्पायुष्मत्ता प्राया यत्त किल जिनागमाभिमग्नमृतयो मुनय प्रथमवयस भोगित कश्चत् मत्तद्व्या वक्तारो भवन्ति नून मनेत भवान्तर चि- चिदशुभ प्राणिवशादि चासन्नितम् अरल्प्यवा मुनिभ्यो दत्त येनाय भोग्यर्ष्यत्पातु मवृत्तहति ।”

अर्थात् भगवती शतक ५ उद्देश ६ के मूलपाठमें मुनिको अप्रासुक अनेपणिक आहार देनेसे जो अल्प आयु प्राप्त होना कहा गया है वह दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प समझना चाहिये, क्योंकि जिनागमसे सञ्चल बुद्धिवाले मुनि, किसी भोगी पुत्रको पहली अपस्थामे मग हुआ देख कर कहत हैं कि इसने जन्मान्तरमें प्राणिवध आदि अशुभ कर्मका अवश्य आचरण किया था अथवा मुनियोंका अकल्पनीय बन्नादि दिया था जिसे भोगी होकर भी वह अल्पायु हुआ है।

यहा टीकाकारने मूलपाठका आशय बतलाते हुए दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प आयु पाना लिखा है निगोदकी आयु पाना नहीं कहा है इस लिये भगवती शतक ५ उद्देश ६ का नाम लेकर साधुको अप्रासुक और अनेपणिक आहार देनेसे निगोदकी आयु बताना मिथ्या है। भगवती शतक ५ उद्देश ६ का मूलपाठ यह है —

“कण्हं भन्ते ! जीवा अप्पाउयत्ताण कम्म पकरंति ?

गोयमा ! तीहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताण कम्म पकरंति त-

जहा—पाणेअड्वाइत्ता सुसवदित्ता तहारूव ममणवा मात्तणस

अस्मात्सृष्टं अणोसणिज्जोणं असणं पाणं खाइमं साइमं पडिलाभित्ता
भवइ एवं खलु जीवा अप्पाउवत्ताए कम्मं पकरेंति”

(भ० अ० ५ उ० ६)

अर्थ —

हे भगवन् ! जाव, अल्प आयु वैसे बाधते हे ?

(उत्तर) हे गोतम ! तीन कारणोंसे जीवको अल्प आयुका वन्ध होता है जीवहिंसा करने से, झूठ बोलने से और मुनिको अप्राप्तक अनेपणिक आशारादि देनेसे ।

इस पाठमे प्राणातिपात, मृषावाद और मुनिको असूझता आहार देनेसे अल्प आयुका वन्ध होना कहा है । यह अल्प आयु, क्षुब्धक भव ग्रहण रूप नहीं है किंतु दीर्घ आयुकी अपेक्षासे अल्प है यह पहले टीकाका प्रमाणके साथ लिख दिया गया है । यहा प्राणातिपात और मृषावाद भी सत्र प्रकारके नहीं लिये गये हैं किंतु मुनिको आहार देने के लिये जो आधाकर्मी अहार तय्यार किया जाता है उसमें जो प्राणातिपात होता है वह प्राणातिपात, और उस आधा कर्मी आहारको देनेके लिये जो मिथ्या भाषण किया जाता है वह मिथ्या भाषण, इन्हींका ग्रहण है सब प्राणातिपात और सत्र मृषावादका ग्रहण नहीं है । इसका सुझासा ठाणाङ्ग सूत्रके पाठकी टीकामें किया है वह टीका यह है —

“तथाहि प्राणानतिपात्यानाकर्मादिहरणतो मृतोक्त्वा यथा अहो साधो ! स्वार्थो मिद्व मिद्व भक्तादि रूपनीय वो नगद्धा काट्योत्त्यादि”

अर्थात् प्राणियों का विनाशके द्वारा आधाकर्मी आहार तय्यार करके झूठ धोल कर साधुको दना “अर्थान् हे साधो ! यह अन्न हमने अपने लिये बनाया है यह आपका कल्पके योग्य है” इत्यादि मिथ्या धोल कर आधा कर्मी आहार साधुको दना, इस प्रकार जो झूठ बोला जाता है और आधा कर्मी आहार तय्यार करनेमे जो प्राणातिपात होता है उन्हीं प्राणातिपात और मृषावादसे शुभ अल्प आयुका वन्ध होना समझना चाहिये सत्र प्राणातिपात और मृषावादसे नहीं । अतः भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमे सभी प्राणातिपात और सभी मृषावादोका ग्रहण करना एकान्त मिथ्या समझना चाहिये ।

यदि कोई कहे कि भगवती शतक ५ उद्देशा ६ के मूलपाठमे सामान्य प्राणातिपात और मिथ्या भाषणका फल अल्प आयुका वन्ध होना लिखा है

आ. “... करनेमे जो जीवहिंसा होती है और उसे साधुको दना

... है उन्हींसे अल्प आयुका वन्ध नहीं कहा है

? तो इसका उत्तर यह है कि भगवती शतक ५

पाठके निकटवर्ती पाठमें कहा है कि प्राणातिपात और मृषावादसे अशुभ दीर्घ आयुका वन्ध होता है। परन्तु एक ही कारणसे परस्पर विरुद्ध दो कार्य नहीं हो सकते इसलिये टीकाकारने इस पाठकी टीकामें इसका निर्णय स्पष्ट रूपसे कर दिया है कि आधाकर्मी आहार तैयार करनेमें जो जीवहिंसा होती है उस जीव हिंसासे और झूठ बोलकर जो साधुको आधाकर्मी आहार दिया जाता है उस मृषावादसे शुभ अल्प आयुका वन्ध होता है इनमें अतिरिक्त जो प्राणातिपात और मृषावाद है उनमें अशुभ दीर्घ आयुका वन्ध होना है अतः टीकाकारका किया हुआ निर्णयसे इस पाठमें सभी प्राणातिपात और सभी मृषावादोंका ग्रहण न होकर आधाकर्मी आहार तैयार करनेमें जो जीवहिंसा होती है उमीका ग्रहण होता है। वह टीका यह है —

“यो जीवो जिनसाधुगुणपक्षपातितया तत्पूजार्थं पृथिव्यागारंभेण स्वभाण्डा मत्योत्कर्षादिनाऽभाकर्मादिकरणेनच प्राणातिपातादिषु वर्तते तस्य वधादि विरति निरवगमननिमित्तायुक्तापेक्षयेयमल्पायुष्कृता समप्रसेया । अथनैव निर्विशेषगत्वा- स्त्रस्य अल्पायुःकृत्वस्यच क्षुल्लकभवग्रहणरूपस्यापि प्राणातिपातादिहेतुतुयुज्यमानत्वा- दत्त कथमभिधीयते सविशेषण प्राणानिपातादिवतो जीवस्य आपेक्षिकी चात्यायुःकृतेति ? उच्यते—अविशेषण त्वेऽपिप्रस्य प्राणातिपातादिविदेषणमवश्य वाच्यम् । यत इतस्तृतीय- सूत्रे प्राणातिपातादितएव अशुभदीर्घायुष्कृता वच्यति नहि सामान्यहेनौ कार्यावैषम्य युज्यते सर्वत्रानाद्यवास प्रसगान् तथा “समणोवासण भन्ते । तहास्व ममण माहनवा अकासुण्ण असण ४ पड्डिलाभमाणस्तकि कज्जइ ? उहुतरिया निज्जा वज्जइ अप्पतरे से पावक्कमे कज्जइ” इतिवक्ष्यमाण वचनान्वसीयते नैत्रय क्षुल्लकभवग्रहणरूपा अल्पायुष्कृता नहिस्वल्पाप बहुनिर्जरा निबन्धनम्यानुष्ठानस्य क्षुल्लकभवग्रहणनिमित्तना मभाव्यते ।

अर्थ —

जो जीव, चैन साधुओंके गुणके पक्षपातसे उनकी पूजा और सत्कार करनेके लिये पृथिवी काय आदिका आरम्भ करके अपन पाप आदिको अत्यन्त पूर्वक रस और उठा कर आधाकर्मी आहार तैयार करता है और आधाकर्मी आहार तैयार करके प्राणा- तिपात करना है उस पुरुषकी, प्राणातिपात रहित निरवगमनसे उत्पन्न होने वाली आयु की अपेक्षामें अल्प आयु बधती है। यदि कोई कहे कि इस सूत्रमें प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अल्प आयु बन्ध होना कहा है परन्तु यह नहीं कहा है कि असुख प्राणातिपात या असुख मिथ्याभाषणसे अल्प आयु बधती है। तथा यह भी नहीं कहा है कि दीर्घ आयुकी अपेक्षामें अल्प आयु बधती है परन्तु क्षुल्लक भव ग्रहण रूप अल्प आयु की फिर यह किस प्रकार मान लिया जाये कि आधाकर्मी आहार तैयार करनेमें जो

विपात होना है और मिथ्या भाषण करके जो साधुको आधाकर्मा आहार दिया जाता है उन्हींसे अल्प आयुका वन्ध होना है दूसरे प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे नहीं ?” तो इसका उत्तर यह है—यद्यपि इस सूत्रमें सामान्य रूपमें प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अल्प आयुका वन्ध होना कहा है तथापि इनका विशेषण अशुभ कहना होगा अर्थात् आधाकर्मा आहार तैयार करनेमें जो प्राणातिपात होता है और झूठ बोलकर जो साधुको आधाकर्मा आहार दिया जाता है उन्हींसे अल्प आयुका वन्ध होता है यह कहना ही होगा क्योंकि इस सूत्रके तीसरे सूत्रमें कहा है कि “प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अशुभ दीर्घ आयुका वन्ध होता है ।” एक ही कारणसे परस्पर विरुद्ध दो कार्य्य उत्पन्न हो यह समझ नहीं है क्योंकि ऐसा माननेपर सभी जगह अव्ययस्था ही जायगी तथा भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें इसी अशुभपत्नीय अन्नके दानसे अल्पतर पाप और बहुततर निर्जरा होना कहा है इससे ज्ञात होता है कि इस पाठमें कहीं हुई अल्पायु वृकता क्षुल्लकभ्रम प्रहण रूपा नहीं है क्योंकि जिससे अल्पतर पाप और बहुततर निर्जरा होती है उस कार्य्यसे क्षुल्लकभ्रम प्रहण रूप अल्पायुवृकता होना समझ नहीं है । यह उक्त टीकाका अर्थ है ।

यहां टीकाकारने स्पष्ट लिखा है कि आधाकर्मा आहार तैयार करनेमें जो प्राणातिपात होता है और मुनिको झूठ बोलकर जो आधाकर्मा आहार दिया जाता है उन्हीं प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे अल्प आयुका वन्ध होता है सभी प्राणातिपात और मिथ्या भाषणसे नहीं तथा अल्प आयु भी दीर्घ आयुकी अपेक्षासे कही गई है क्षुल्लकभ्रम प्रहण रूप नहीं । अतः सभी प्राणातिपात और मिथ्या भाषणका इस पाठमें प्रहण करना और अल्प आयुसे निर्जराकी आयु बताना तथा भगवती शतक ८ उद्देशा ६ के मूलपाठमें अल्पतर पाप शब्दका पापका अभव अर्थ करना, यह सब एकान्त मिथ्या और मूल मत्त तथा टीकामें विरुद्ध समझना चाहिये ।

(बौल ५ वां समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमत्रिभ्रमनकार भगवती शतक १८ उद्देशा १० का मूलपाठ लिखकर लिखत हैं कि “त अमद्य आहार साधुने दीया प्रहतर निर्जरा किम हावे” इत्यादि ।

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

भगवती सत्र शतक १८ उद्देशा १० के मूलपाठमें उत्सर्गमार्गमें अनेपणिक आहार साधुको अमद्य कहा है कारण दशममें अमद्य नहीं कहा है अतएव सुयोगदाग

मृतके दूसरे श्रुतस्कन्धकी आठवी और नयी गाथामें आधाकर्मा आदार खानेवालेको एकान्त पापी कहनेका निषेध किया है । वे गाथाएँ टीकाके साथ लिखी जाती हैं—

“अहाकर्माणि भुंजन्ति अपणमणो सकम्मुणा
उबलित्तेति जाणिज्जा अपुवलित्तेति वापुणो”
एएहिं दोहिं ठाणेहिं चवहारो न विज्जह
एणहिं दोहिं ठाणेहिं अणापारं तु जाणण”

(सुप० ध्रु० २ गाथा ८-९)

टीका —

साधु च प्रधानकारणमाश्रित्य कर्माण्याधाकर्माणि तानिच वक्ष भोजन वस्तया-
दीन्पुच्यन्ते । एतान्याधाकर्माणि ये भुञ्जते एतैरुपयोग ये कुर्वन्ति अन्योऽन्य परस्पर तान्
स्वकीयेन कर्मणा उपल्लिन् विजानीयादित्येव नोवदेत् तथा अनुपशिक्षानितिवा नोव-
देत् । एनदुम्भ भवति—आधाकर्माऽपि श्रुतोपदेशेन शुद्धमिति कृत्वा भुजान कर्मणा
नोपलिप्यते तत्राधाकर्मोपभोगेनाप्रदय कर्मबन्धो भवतीत्येव नोवदेत् । यथास्थित
मौर्न न्द्रागमज्ञस्यत्वेवं युज्यते वस्तुम्—

आधाकर्मोपभोगेन स्यात्कर्मैर्ध म्यान्तेति । यत् उक्तम्—“किंचिच्छुद्धं फल्प्य
मफल्प्य वास्यादकल्प्यमपि फल्प्यम् । पिण्ड शय्या, वस्त्रं, पात्र वा भेषजाद्यवा” तथा-
ऽन्यैरप्यभिहितम् “उत्पद्यते हि साऽग्रमथा देशकालमयान् प्रति । यस्यामकार्ण्यं फार्ण्यं
स्यात्कर्म फार्ण्यञ्च वर्जयेत्” इत्यादि । गाथा ८

किमित्येदं याद्वाद प्रतिपाद्यते इत्याह—आभ्या द्वाभ्या स्थानाभ्यामाश्रिताभ्या
मनयोर्वा स्थानयो राराकर्मोपभोगेन कर्मबन्धभाराभाप्रभूनयो र्णवहारो न विद्यते ।
तथाहि यद्यत्रश्यामाधाकर्मोपभोगेनैकान्तेन कर्मबन्धोऽभ्युपगम्येत् एवचाद्वागभावेनापि
क्वचित्सुतगामनयो र्दय स्यात् । तथाहि क्षुत्पपीडितो नसम्यगीर्यापर्यं शोधयेत् तत्रश्च
प्रजन् प्राण्युपमर्दमपि कुर्यात् । मूर्च्छादि सद्भावतयाच देहपातेसत्यवश्यभावी प्रसादि
व्याधानोऽकालमरणेचाविरति रद्गीकृता भवत्यार्थध्यानापत्तौ चतिट्यर्ग वेरिति । आगमश्च
“सत्प्रत्य सज्जम सज्जमाओ अपपागमेव रक्त्वेजा” इत्यादिनाऽपि तदुपभोगे कर्मवधाभाव
इति । तथाहि आधाकर्माण्यपि निव्याद्यमाने पङ्जीवित्नायवच तद्वधेच प्रतीत कर्मवध
इत्यनयो स्थानयो र्नेकान्तेनारीयमाणयो र्णवहारो व्यग्रहागे न युज्यते तथाऽभ्यामेव
स्थानाभ्या समाश्रिताभ्या सर्वावपाचार विजानीयादिति स्थितम्”

अर्थ —

साधुके निमित्त जो प्रधानरूपसे कर्म किया जाता है उसे आधाकर्म कहते हैं । साधुके निमित्त वस्त्र, भोजन मकान आदि जो किये गये हैं वे सब आधाकर्म नहलते हैं । जो साधु इनका उपभोग करता है उसे एकान्त रूपसे कर्मसे उपलिप्त अथवा एकान्त रूपसे कर्मसे अनुपलिप्त न कहना चाहिये । इसका कारण यह है कि जो साधु शास्त्रोक्त रीतिसे आश्रमिकी का उपभोग करता है उसको कर्मबन्ध नहीं होता और जो शास्त्र विधिका उल्लंघन करके आहारके लोभसे आधाकर्मका उपयोग करता है उसको कर्मबन्ध होता है । अत आधाकर्मके उपभोग करनेसे अशुभ कर्मबन्ध होता है या मिलकुल कर्मबन्ध नहीं होता यह एकान्त रूपसे नहीं कहना चाहिये । इस विषयमें जैनागमके तत्त्वको जाननेवाले पुरुषोको यह कहना चाहिये कि आधाकर्मके उपभोगसे कथंचित् कर्मबन्ध होता है और कथंचित् नहीं भी होता है । पूर्वाचार्योंने कहा है कि पिण्ड, शय्या, वस्त्र, पात्र और भोजन आदि, शुद्ध और कल्पनीय होकर भी कदाचित् अशुद्ध और अकल्पनीय हो जाते हैं और अकल्पनीय होकर भी कदाचित् शुद्ध और कल्पनीय होते हैं । अन्य आचार्योंने भी कहा है कि—कोई ऐसी अवस्था आ जाती है जिसमें कार्य तो अकार्य और अकार्य ही कार्य हो जाता है । अत हर एक दशमे आधाकर्म आहार खाना वर्जित नहीं हो सकता ।

यदि सभी समयमें आधाकर्म आहार खाना अनुचित माना जाय तो महान् अनर्थाका उदय हो सकता है क्योंकि क्षुधासे पीडित साधु, अच्छी तरहसे ईर्ष्यापथका परिशोधन नहीं कर सकता है और ईर्ष्यापथका यथायत् परिशोधन नहीं होने पर प्राणियोंका उपमद होना भी सम्भव है तथा क्षुधासे पीडित साधु यदि मूर्च्छित होकर गिर पड़े तो अशुभ उसे ब्रह्म आदि प्राणियोंका विधात हो सकता है । कदाचित् क्षुधा कष्टसे साधुका मरण हो जाय तो उसकी चिरंति भी कायम नहीं रह सकती । कदाचित् क्षुधा कष्टसे मरते हुए साधुको आर्त्तध्यान आ जाये तो उसकी तिर्यग्गति होती है अत सभी दशमें आधा कर्म आहार खानेको वर्जित करना मित्या है । आगममें कहा है कि साधु को सर्वत्र समयकी रक्षा करनी चाहिये और समयसे भी अपनी रक्षा करनी चाहिये । यह आगम भी आधाकर्म आहारको कारणवश खाने पर कर्मबन्धका अभाव उतलता है यद्यपि आश्रमिकी आहारको तय्यार करनेमें छ कायक जीवोंका विधात होता है और जीवोंका विधान होनेसे कर्मबन्ध होना भी प्रसिद्ध है तथापि आधाकर्म आहार खाने से एकान्त रूपसे पाप खाना उचित नहीं है । इसी तरह सारे अनाचारोंके विषयमें समझना चाहिये । यह उक्त गाथा और उनकी टीकाका भावार्थ है ।

इन गाथाओंमें आधाकर्मा आहार रानेगलेको एकान्तरूपसे कर्मोपलभ्य कहने का विषय किया है इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भगवन्ती शनक १८ उद्देशा १० में जो अनेपणिक आहार साधुके लिये अभक्ष्य कहा है वह उत्सर्ग मार्गमें कहा है कारण दशममें नहीं । वृहत्कल्प सूत्र में सद्गोप आहार को एकान्त अभक्ष्य नहीं कहा है । वह पाठ यह है —

“निर्गन्धेणवा गाहावद्भुक्त्वा पिण्डवापपट्टियाए अणुप्पविट्ठेणं
अण्णारे अचित्ते अनेसणिज्जे पाणभोयणे पडिग्गारित्तए सिया ।
अत्थिया इत्थ केइ सेहत्तराए अणुवट्ठावित्तए कप्पइ से तस्स दाऊ वा
अणुप्पदाऊं वा णत्थिया इत्थ केइ सेहत्तराए अणुवट्ठाविएसिया त णो
अप्पणा भुंजेज्जा णो अण्णेसिं अणुप्पदेज्जा एगंते चहुक्कासुण धडिले
पडिलेहित्ता पमज्जित्ता परिट्ठवेयवेसिया”

(वृहत्कल्प)

इस पाठका भाव यह है कि भिक्षार्थ गये हुए साधुको यदि कोई गृहस्थ अचित्त अनेपणिक आहार लाकर देन तो साधु वह अन्न अपने नवदीक्षित शिष्य यानी सामायक चरित्रगलेको रानेके लिये दे देवे यदि नवदीक्षित शिष्य न हो तो उस अन्नको स्वयं न राने और किसी दूसरे साधुको भी न दे किन्तु एकान्त स्थानमें पूजन और प्रति-
लेपन करने परट देवे ।

इस पाठमें सद्गोप आहार नवदीक्षित शिष्यके राने योग्य कहा है अतः सद्गोप आहारको एकान्त अभक्ष्य कहना शास्त्र विरुद्ध है । जब कि सद्गोप आहार एकान्त अभक्ष्य नहीं है तब फिर सद्गोप आहार देने वाले श्रावकको एकान्त पाप कैसे हो सकता है ? यह बुद्धिमानोंको सोचना चाहिये । जीतमलजीने भी आधाकर्मा आहार नवदीक्षित शिष्यके राने योग्य कहा है । वृहत्कल्प सूत्रकी जोड़के चौथी डालमें जीतमलजी ने यह लिखा है —

“इमहि वक्रोण उपरत लेगयो आधाकर्मादि अचित्त रह्यो छै । नवदीक्षित तो तसुदीजे नहीं तर साटू पारिठ्यो क्यो”

अतः आधाकर्मा आहारको एकान्त अभक्ष्य कहना मिथ्या है ।

(बोल छट्टा समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वसनकारके मत्तानुयायी साधु, कारण पडने पर नित्य पिण्ड लेना पश्य-

नीय बनलाते हैं परन्तु कारण होने पर भी आधाकर्मी आहारको त्यागनेयोग्य कहते हैं प्रश्नोत्तर साधनानामे जीतमलजीने लिखा है कि—

“साधुने कारण पड्या आधाकर्मी उद्देशिक न लेणो तो कारणे नित्य पिण्ड भोग-
वगो कि नहीं । इति प्रश्न (५६)

(उत्तर) आधाकर्मी उद्देशिक तो वस्तुइ अशुद्ध छै अने नित्यपिण्ड वस्तु
अशुद्ध नहीं ते भणी कारण पट्या दोष नहीं । कोई कहे एवो अनाचार छै ते कारणे किम
सेवे ? तो अनाचार तो स्नान किया पिण कस्यो, सुगन्ध सुंध्या, वसन, गले हेठना,
वेश कापे, चूच, भजन, ए सर्व अनाचार छै पिण जितव्यवहारधी कारणे दोष न
कस्यो ।’ (प्रश्नो० सा० श०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

उद्दिष्ट भक्त और नित्य पिण्ड, इन दोनोको शास्त्रमे एक समान दुर्गतिका कारण
बताया है । उत्तराध्ययन सूत्रके वीसवें अव्ययनमे इस विषयमें यह गाथा आई है —

“उद्देशियां कीयगहं निधागं, नमुंचइ किंचि अनेसणिज्जं ।
अग्गीविवा सव्वभक्खो भवित्ता, ह्यो चुओ गच्छइ कट्टुपाव”
(उत्तरा० सू०)

अर्थ —

जो आहार साधुके लिये बनाया गया है, जो साधुके लिये परोदा गया है तथा एक ही
धनीका नित्य पिण्ड लेना, इन आहारोंको नहीं छोड़कर जो साधु अग्निकी तरह सबभक्षी हो जाता
है वह पाप कर्मका उपार्जन करता है और उसकी गति बुरी होती है ।

इस गायामे उद्दिष्ट भक्त और नित्य पिण्ड इन दोनोको दुर्गतिका कारण बतलाया
है । इसलिये कारण पडने पर नित्य पिण्ड लेनेका स्थापन करना और उद्दिष्टका स्वण्डन
करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये । वास्तवमे उत्सर्ग मार्गमे दोनों ही बर्जित
हैं परन्तु अपरादाकी बात न्यायी है । एक ही धनीके आहारको प्रति दिन लेना नित्यपिण्ड
कहलाता है परन्तु कई नामधारी साधु एक ही धनीके आहारको क्षेत्रभेद कायम करके
प्रतिदिन बिना कारण ही लेते हैं और रास्तेमे साधु सेवाका अधिक माहात्म्य बता कर
गृहस्थोंको अपने साथ लेकर विहार करते हैं । रास्तेमें प्रत्येक पडावोपर प्रतिदिन एक ही
धनीका आहार लेकर खाते हैं यह सब कार्य्य साधुताका विनाशक और प्रत्यक्ष शास्त्रसे
धिरुद्ध है इस लिये ऐसे आचरण वाले साधुओंको अज्ञानी समझना चाहिये ।

(बोल ७ वां सप्तम)

(इति अल्पपाप बहूनिर्जराधिकारः)

(अथ कपाटाधिकारः)

(प्रेरक)

भ्रमविध्वंसनकार भ्रमविध्वंसन पृष्ठ ४५६ पर लिखने हैं—

“कोई पालगढी, साधु नाम धरायने पोते हाथथकी किम्वद जडे उघाडे सान
सूत्रना झूठा नाम लेईने किमाड जडवानी अने उघाडवानी अणहुन्ती आप करे छै”

(अ० पृष्ठ ४५६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

प्रथम तो भ्रमविध्वंसनकारके मतानुयायी साधु ही कपाट खोलने और बन्द करने परहेज नहीं करते, वे अपने हाथसे रिडकीका कपाट खोलते हैं और बन्द करते हैं तथा इस कार्यको शास्त्रानुसूच बताते हैं परन्तु यदि दूसरा कोई साधु ऐसा करे तो उसे वे बुरा बताते हैं यह इनकी अद्भूत लीला है। यदि ऊहो कि वे रिडकीके कपाट को खोलते हैं और बन्द करते हैं परन्तु द्वारके कपाटको नहीं खोलने और नहीं बन्द करते हैं तो यह उनका मिथ्याचार है कहीं भी शास्त्रमे ऐसा नहीं कहा है कि साधुको रिडकीका कपाट खोलना और बन्द करना चाहिये परन्तु द्वारका कपाट खोलना और बन्द करना नहीं चाहिये। अत रिडकीके कपाटको खोलने और बन्द करनेको बुरा नहीं मान कर भी द्वारके कपाट को खोलने और बन्द करनेको बुरा बताना अज्ञान मूलक है।

भिक्षुशरणाथन पत्र ११८ पर जीतमञ्जरी लिखत है —

“पश्चात्तने वर्ण पूज्यजी सहर काकरोली सार

सेंहलेतारी पोलमें उनरिया तिम वार (१)

प्रत्यञ्ज वारी पोलरी जडी हुन्ती तिम वार

अपि भिक्षु रहिता थका एक दिवस अवधार (२)

वारी खोली वारणे दिशा जायया दक्ष

निगरिया भिक्षु निशा पूछे हेम सपत्त (३)

स्वामी वारी खोलग तणी नहीं काइ अटकाव

तन भिक्षु चोल्या तुरत प्रत्यञ्ज ते प्रस्ताव (४)

पूज कहे पूछे अनी इणरो नहीं अटकाव

अटकाव हुवे जो पहने रहे खोला किण न्याय (५)

तथा कुमति विह्वलत नामक ग्रन्थमें जीतमलजीने लिखा है—

“सम्बत् १८५९ सोजदमें वजूजी नाथाजी आदि सात आर्यानि भीपगजी स्वामी साथे आय छत्री आगलकानी उपासरागी अज्ञालिधी गृहस्थ और वासथी कूर्ची न्यायो आर्या माहे उत्तारी जितरे स्वामीजी कने ऊभा । आर्या उपसरामे गया पठे स्वामीजी ठीकाने आया ए वात नाथाजीरे सु हडा धी सुणी तिम लिखो । सम्बत् १८९४ चैत्र शुदी १५ वार सोम खेरवामे नाथाजी कने वैठा पूउने लिखियो ठै”

यहा पर जीतमलजीने साफ २ लिखा है कि भीपगजीने गृहस्थमे कृजी लाकर द्वारके फाटकका ताला खोला था और सतीओंको अन्दर प्रवेश कराया था । तथा पूर्व लिखित दोहोमे सिडकीका कपाट खोल कर भीपगजीका बाहर जाना और हेमजी के पूउने पर उसे शस्त्रानुकूल बताना साफ साफ लिखा है । यदि द्वारका कपाट खोलनेमें दोष था तो भीपगजीने छत्रीके फाटकका ताला खोल कर सतियोंको अन्दर कैसे प्रवेश कराया था ? तथा सिडकीका कपाट खोल कर वह रात्रमे बाहर कैसे गये थे ? अतः द्वारके कपाटको खोलनेमे साधुताका विनाश मानना इतका अज्ञान और इनके स्वयं आचरणसे भी भी विरुद्ध है ।

(बोल १ समाप्त)

(प्रेरक)

भ्रमविश्वसनकार भ्रमविश्वसन पृष्ठ ४५६ पर उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ४ के ३५ वीं गाथा लिख कर उसकी समालोचनामे लिखते हैं—

“अथ अठे इम कह्यो किमाण सहित रथानक मणकरिने पिण वाळणो नहीं तो जडवो किहाथकी” (भ्र० पृ० ४५६)

इसका क्या उत्तर ?

(प्ररूपक)

कपाट वाले मकानकी जन मनसे इच्छा भी बुरी है तब फिर उसमें उतरना तो और ज्यादा बुरा होगा फिर तेरह पन्ची माधु कपाट वाले मकानमे क्यों उतरते हैं ? इस कार्यसे उनकी साधुता कैसे रह सकती है ? जिसकी मनसे इच्छा रखना भी बुरा है उस कार्यको शरीरसे करना तो और अधिक हानिकर है परन्तु तेरहपन्ची सबु कपाट वाले मकानमे उतरते हैं, उसका परहेज नहीं रखने और कहते हैं कि कपाट सहित मकान की माधुको मनसे भी इच्छा नहीं रखनी चाहिये । इम प्रकार जो अपने कथनसे ही विपरीत आचरण करता है उसका सिद्धान्त कहातक सत्य है यह हर एक बुद्धिमान जीव

जान सकत है । उत्तगध्ययन मंत्र ही गाथा जो जीमलजीन लिखी है उसका अभिप्राय वह गाथा लिए कर बनाया जाता है । यह गाथा यह है —

मनोहर चित्तरं मल्लभूषेण वासिष्ठं

सकवाहं पाडुरुल्लोचं मनसावि न पत्थए”

इमका आगेकी गाथा यह है—

“इन्द्रियाणिउ भिक्खुस्म तारिसमिउवस्सण

डुकराहं निघारेउं कामरागविवड्डणे”

(उत्तगध्ययन अध्ययन ७ गाथा ३५ । ३६)

अर्थ —

मनोहर, विश्रामे युक्त, माल्य धारा धूमने वासिष्ठ, कपाटयुक्त, और दन्त घघको चान से दब हुए मकानकी साधु मनसे भी चाइया नहीं करे ।

क्योंकि एसे मकानमें रहने पर साधुकी इन्द्रिया जव चञ्चल होकर अपने अपने विषयों में प्रवृत्त होती है तब उनका निरोध करना कठिन हो जाता है क्योंकि पूर्वोक्त प्रकारका मकान काम रागसे बनाने वाला होता है ।

इस गाथाओमें, साधुको अपनी इन्द्रियोंका निग्रह करनेके लिये मनोहर, चित्र युक्त, सुशामित सकपाट, और दन्त चादनी वाले मकानमें रहना वर्जित किया है कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे रहना वर्जित नहीं किया है । अगली गाथामें साफ साफ लिखा है कि “मनोहर, चित्रयुक्त, मांस और धूपसे सुवासित मकानमें रहना, काम राग को घटाने वाला होता है इसलिये साधुको उक्त मकानमें नहीं रहना चाहिये” यदि कपाट खोलनेमें दीप होता तो जैसे शास्त्रकारने यह कहा है कि “ऐसे मकानमें रहने पर काम रागकी वृद्धि होती है” उसी तरह यह भी कह दते कि “ऐसे मकानमें रहने पर कपाट खोलना और बन्द करना पडता है इसलिये साधुको उक्त मकान में नहीं रहना चाहिये” परन्तु शास्त्रकारने यह नहीं कह कर काम वृद्धिके भयसे उक्त मकानमें रहना वर्जित किया है इसलिये उक्त गाथाका नाम लेकर कपाट खोलन और बन्द करन का निषेध करना अज्ञानमूलक समझना चाहिये । आजकल व्यवहारमें भी यही दृष्टा जाता है कि कपाटवाले मकानमें तो साधु उतरते है परन्तु अश्लील चित्र वाले माल्य और धूप से सुशामित मकानमें नहीं उतरते अतः कपाट खोलन और बन्द करनेके भयसे कपाट वाले मकानमें उतरनेका निषेध करना मिथ्या समझना चाहिये ।

(बोल २)

गो पीहेण घ नावपंगुणे दारं सुन्नभरस्स संजण
पुट्टेण उदाहरे चयं णसमुच्छे गो संघरे तणं”

(सुय० गाथा १२।१३)

अर्थ —

द्रव्यसे अकेला विहार करने वाला भावसे राग द्वेष रहित साधु, कायोत्तमादिक भङ्गला ही कर तथा बैठना, सोना, उठना आदि भी अकेला करे धमध्यानसे युक्त होकर तपस्यामें अने पराक्रमका पूर्ण उपयोग करे किसीके पूजने पर विचार कर वाक्य बोले अपने मनको गुप्त रखे, किसी कारणवश यदि शून्य गृहमें रहना पड़े तो उसका कपाट न बना करे और न पीले उम मकानके कच्चाको न बुहारे, तथा मोनेके लिये तृण आदिकी शय्या न बिठावे। यह इन गाथाभा का अर्थ है।

यहां “गोचर” यह लिपि कर अकेला विहार करनेवाले साधुके विषयमें गाथोक्त सभी नियम कहे गये हैं स्थविर कल्पीके लिये उक्त नियमोंका वर्णन नहीं है अत इस गाथाका नाम लेकर स्थविर कल्पीको कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध करना अज्ञान है। इस गाथामें मकानका कच्चा निकालना, तृणादिकी शय्या बिठाना इत्यादि बातें भी निषेध की गयी हैं फिर जितमलजीके सम्प्रदायवाले साधु अपने निवासस्थान के कच्चेको क्यों निकालते हैं तथा शयनके लिये तृणादिकी शय्या क्यों बिठाते हैं ? यदि कही कि यह सब नियम जिनकल्पीका है स्थविरकल्पीका नहीं तो उसी तरह यह भी समझो कि कपाट बन्द करने और खोलने का निषेध जिनकल्पीके लिये है स्थविरकल्पी के लिये नहीं। अत इस गाथाका नाम लेकर स्थविर कल्पीको कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध करना अज्ञानका परिणाम समझना चाहिये। यदि कोई दुराग्रही उक्त गाथाके तीन चरणोंको स्थविर कल्पीके लिये और एक चरणको जिनकल्पीके लिये कहा जाना बतावे तो उसे कहना चाहिये कि ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि यह बात शारत्र शैलीसे विरुद्ध है। उक्त गाथाके आरम्भ और समाप्तिमें जिनकल्पीका ही नियम बताया गया है फिर जिना किसी प्रकारकी सूचना दिये मध्यमें स्थविर कल्पीका नियम नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह है कि स्थविर कल्पीमें साध्वी भी शामिल हैं फिर तो उन्हें भी कपाट नहीं बन्द करना चाहिये। यदि साध्वियोंको कपाट बन्द करने में पाप नहीं होता तो फिर साधुओंको क्यों होगा ? अत जिनकल्पीके लिये कही हुई गाथाका नाम लेकर स्थविर कल्पीको कपाट बन्द करने और खोलने का निषेध करना जनताकी आराममें प्रत्यक्ष धूल शोकना है।

(बोल ४)

(प्रेरक)

आत्ममे यदि कहीं साधुको कपाट खोलने और बन्द करनेका विधान किया हो तो उसे बतलाइये ।

(प्ररूपक)

कपाट खोलने और बन्द करनेका विधान अनेको जगह पर मिलता है । कई यहा भी लिखे जाते हैं —

“साणो पाचार पिहियं अप्पणा नाव पंगुरे

कवाडं नो पणुलिज्जा उरगहंसि अजाइया,,

(दश वैकालिक अ० ५ उ० १ गाथा १८)

अर्थात्कि काण्डकी टट्टीसे या पदों आदिसे उके हुए मकानको गृहस्वामीकी आत्माके बिना साधु न खोले तथा धनीकी आज्ञाके बिना कपाट भी न खोले परन्तु गाढ कारण होनेपर गृहस्वामी की आत्मा ऐकर खोलनेमें कोई दोष नहीं है ।

इस गाथामे गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर विधिपूर्वक कपाट खोलनेका विधान किया गया है अत अपने निवास स्थानके कपाटको विधिपूर्वक खोलने और बन्द करनेमें कोई दोष नहीं है । आचारग सूत्रमे गृहस्थका द्वार खोलनेका विधान किया गया है । वह पाठ यह है—

“से भिक्खूवा भिक्खूणीवा गाहावइकुलस्स द्वुवारवाहं
कंटकवु'दियाए परिपिहियं पेहाए तेसि' पुव्वामेव उरगहं अणणुन्न-
विय अपडिलेहिय अप्पमज्जिय णो अवगुणिज्जवा पविसेज्जवा णि-
क्खमेज्जवा तेसि पुव्वामेव अणुन्नविय पडिलेहिय २ पमज्जिय तओ-
संजयामेव अवगुणेज्जवा पविसेज्जवा णिक्खमेज्जवा'

(आचाराग मूत्र)

अर्थ —

भिक्षाके निमित्त गया हुआ साधु, गृहस्थके मकानको कंटककी शाखासे ढका हुआ देख कर गृहस्थकी आत्माके बिना और बिना देते तथा रजोहरणादिसे प्रमाजन क्रिये बिना उसका द्वार खोलकर अन्दर न प्रवेश करे और न निकले क्योंकि इसमें गृहस्वामीका साधुपर क्रोधित होना संभव है परन्तु गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर देना भाल काके और रजोहरणादिके दवारा प्रमाजन करके द्वार खोलकर प्रवेश करनेमें कोई दोष नहीं है ।

इस पाठमे गृहस्वामीकी आज्ञा लेकर प्रमाजन आदि करके गृहस्थके मकानका द्वार खोलनेका विधान किया गया है अत कपाट खोलनेसे एकान्तरूपसे समयकी वि-

राधना बताना अज्ञान है। कारण होनेपर साधु जनकि गृहस्थके द्वारको भी खोलकर समयका विराधक नहीं होता तब फिर अपने स्थानके द्वारको विधिपूर्वक खोलने और बन्द करनेसे वह समयका विगमक कैसे हो सकता है ? अतः कपाट खोलने और बन्द करनेसे साधुना का विनाश कहना अज्ञान मूलक है ।

(बोल ५)

(प्रेरक)

भ्रम विध्वंसनकार भ्रम० ४६१ पर आचाराग सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी समालोचना करते हुए लिखने हैं —

“गत्रिने विपे अथवा त्रिकालने विपे आत्रावा पीडाता किमाड खोलना पडे तो खुलो देखि माय तरकर आयने त्रताया न बतया अवगुण उपजता कहा। सर्व दोषामे प्रथम दोष किमाड खोलनानो कखो तिग कारणथी साधुने कीमाड खोलनो पडे एहवो धानके रहिवो नहीं”

(भ्र पृ० ४६१)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

आचाराग सूत्रके मूलपाठमें साधु और साध्वी दोनोंको गृहस्थके संसर्गवाले मकान में रहनेका निषेध किया है। वह निषेध यदि कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे किया गया हो तो फिर साध्वीको भी अपने निवास स्थानका कपाट नहीं बन्द करना चाहिये। यदि साध्वीको कपाट खोलने और बन्द करनेका निषेध नहीं है तो उसी तरह साधुको भी कपाट बन्द करने और खोलनेका निषेध नहीं है। वास्तवमें आचाराग सूत्रके मूलपाठमें कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें साधुको उतरना वर्जित नहीं किया है किन्तु उस मकानका द्वार खुला हुआ देख कर यदि उसमें चोर प्रवेश करे तो उस चोरको बताने या न बताने दोनों ही हालतमें साधुको दोष लगना है उस दोषकी निवृत्तिके लिये साधु और साध्वीको गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें रहना वर्जित किया है। वह पाठ यह है—

“सेभिकसूवा भिन्नखूणीवा उच्चारपासवणेण उवाहिज्ज-
माणे राओवा धियालेवा गाहावड कुलस्स दुचारवाहं अवगुणिज्जा
तेणेय तस्संघिचारी अणुप्पविसिज्जा । तस्सभिकवृस्स णो कप्पइ
एवं चदत्तण अय तेणो पविसइवा णोवापचिसइ उवह्मिगइवा णोवा०
आवइवा० पयइवा नोवा० तेन हडं अन्नेन हडं अय इत्थमकासी तं

तवस्सिं भिक्खुं अतेणं तेणंति संकड अहभिकखूण पूवोवदिट्ठा
जाव णो चेतेज्जा ।

अर्थ —

साधु या साध्वी गृहस्थके संसर्गवाले मकानमें रहते हुए एषु नीति या बड़ी नीतिसे पीडित होकर बाहर जाके लिये यदि उस मकानका द्वार खोले और कपाट खोलनेकी प्रतीक्षमें बैठा हुआ चोर यदि उस मकानमें प्रवेश कर जाय तो साधुको यह कहना नहीं कल्पता है कि यह चोर घाके अन्दर प्रवेश करता है या नहीं प्रवेश करता है, छिपता है या नहीं छिपता है, भोला है या नहीं भोला है, इसने यह चीज चुराई है या नहीं चुराई है, यह चोर है या चोरका परिचारक है, यह हथियार लिया हुआ है या नहीं लिया है, यह मार डालेगा, इसने यह कार्य किया है इत्यादि। ऐसा कहनेपर चोरपर आपत्ति आयेगी अथवा क्रोधित होकर वह चोर साधुको ही मार सकता है और महा कहनेपर कटाक्ष साधुको ही वह गृहस्थ चोर समझ लेने तो इसमें महान् अनर्थ हो सकता है। अतः साधु और साध्वीको गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें नहीं रहना चाहिये।

इस पाठमें गृहस्थके मकानमें चोरके प्रवेश करनेपर होने वाले अनर्थके भयसे साधु और साध्वीको गृहस्थके संसर्ग वाले मकानमें रहना वर्जित किया है कपाट खोलने और बन्द करनेके भयसे नहीं अतः इस पाठका नाम लेकर साधुको अपने निवास स्थान के कपाटको खोलने और बन्द करनेका निषेध करना अज्ञान मूलक समझना चाहिये।

बोला ६ ट्ठा समाप्त

(प्रेरक)

भ्रम विचंसककां वृहत्कल्प सूत्रका मूलपाठ लिखकर उसकी ममालोचना करते हुए लिखते हैं —

“साध्वीने उघारे वारने रहणो नहीं किपाड न हवे तो चिलमिली बाधीने रहिणो पिण उघाड वाणो रहिवो न कल्पे तिणगे ए परमार्थ शीलादिक राखवा निमित्ते कीपाड जडणो पिण शीलादिक कारण पिना जडणो उवाडणो नहीं । अने साधुने तो उघारे द्वारे हीज गलिणो करणे श्मि फणो”

(अ० पृ० ४६०)

इसका क्या समाधान ?

(प्ररूपक)

वृहत्कल्पसूत्रका मूलपाठ लिखकर इसका समाधान किया जाता है। वह पाठ यह है —

“नो कप्पइ निगंथीणं अवंगुयडुवारए उवस्सए वत्थए एगं पत्थार आलोकिचा एगं पत्थार वाहिंकिचा जोहाडिय चिलमिलिया-

गंसि एवहणं कप्पइ वत्थए कप्पइ निगंथाणं अचंगुय दुवारए उवस्सए वत्थए ।

(वृहत्कल्प सूत्र)

अर्थ —

खुले द्वार वाले मकानमें साधुकी रहना नहीं कल्पता है परन्तु स्थानाभाजक कारण यदि खुले द्वार वाले उपाश्रयमें साधुकी रहना पड़े तो बाहर और भीतर घटाई आदिसे दो पद बाधकर साधुको उसमें रहे । साधुको खुले द्वार वाले मकानमें रहना कल्पता है ।

इस पाठमें कहा है कि “खुले द्वार वाले मकानमें साधुको रहना कल्पता है” इसका तात्पर्य यह नहीं है कि खुले द्वार वाले मकानमें ही साधु रहे, जिसका द्वार बन्द किया जा सके उस मकानमें न रहे क्योंकि इसी वृहत्कल्प सूत्रमें यह पाठ आया है —

“नो कप्पइ निगंथीणं अह आगमणगिहंसिवा, वियडगिहंसिवा, वसिमूलंसिवा, रुक्खमूलंसिवा, अभावगासियंसिवा, वत्थए । कप्पइ निगंथाणं अह आगमणगिहंसिवा, वियडगिहंसिवा, वंसिमूलंसिवा रुक्खमूलंसिवा, अभावगासियंसिवा वत्थए ।

अर्थ —

जहा पथिक गग आकर उतरते है, तथा खुले मकानमें, वासके वृक्षके नीचे, दूसरे किमी वृक्षके नीचे, कुछ खुले ओर कुछ ढके मकानमें, साधुको रहना नहीं कल्पता है, परन्तु साधुको रहना कल्पता है ।

इस पाठमें जहा पथिक लोग उतरते है, तथा वासके नीचे, वृक्षके नीचे, कुछ खुले ओर कुछ ढके मकानमें साधुको रहना कल्पनीय कहा है इसका आशय जैसे यह नहीं है कि “जहा पथिक लोग उतरते हैं और वासके नीचे, वृक्षके नीचे और कुछ ढके और कुछ खुले मकानमें ही साधु रहे अन्यत्र न रहे” उसी तरह पूर्ण पाठका भी यह आशय नहीं है कि खुले द्वार वाले मकानमें ही साधु रहे अन्यत्र न रहे । अतः वृहत्कल्प सूत्रका नाम लेकर खुले किनाड वाले मकानमें ही साधुको रहनेका कल्प घटाना मिथ्या है ।

यदि कोई दुरामही पूरे पाठका यही आशय बताय कि “साधुको खुले द्वार वाले मकानमें ही रहना कल्पता है वन्द्व द्वार वाले मकानमें रहना नहीं कल्पता” तो उसके हिसाबसे दूसरे पाठका भी यही आशय होना चाहिये कि “जहा पथिक लोग आकर उतरते हैं और वासके नीचे वृक्षके नीचे तथा कुछ खुले और कुछ ढके मकानमें ही साधुको रहना चाहिये अन्यत्र नहीं रहना चाहिये” फिर वे लोग, जहाँ पथिक आकर नहीं उतरते हैं ऐसे मकानमें क्यों रहते हैं ? तथा वासके नीचे और वृक्षके नीचे

ढके और कुछ खुले मकानमे ही वे क्यों नहीं रहते ? अन्यत्र क्यों रहते ह ? तथा माधु को अट्टमीमे, विकट दशमे विचरना नृपनीय कहा है फिर तेगह पन्थी साधु, अट्टमीमे और विकट देशमे ही सदा क्यों नहीं विचरते हे वे यामादिकोमे क्यों आते हैं ? यदि फडो कि यह घात एकान्त नहीं है, इसलिये माधु यदि अट्टमी और विकट देशोसे अतिरिक्त स्थानमे विचरे तो भी कोई क्षति नहीं है तो उसी तरह सरल बुद्धिमे यह भी समझो कि खुले द्वार वाले मकानमे रहना साधुके लिये एकान्तरूपसे नहीं कहा है आनन्द वन्द द्वारवाले मकानमे रहे तो भी कोई क्षति नहीं है वास्तवमे साध्वीकी अपेक्षासे साधुमे विशेषता बतलाई गई है कि साध्वो खुले मकानमे नहीं रह सकती है परन्तु साधु रह सकना है । इसका भाव यही है कि साध्वी तो एकमात्र वन्द द्वार वाले मकान मे ही उतरे ओर साधु वन्द द्वार वाले और खुले द्वार वाले दोनों ही प्रकारके मकान मे अपनी परिस्थितिक अनुसार उतर सकना है । अतः इस पाठका नाम लेकर साधुको कपाट वन्द करने ओर खोलनेका निषेध करना अज्ञान समझना चाहिये ।

कारण दशामें साधुको कपाट खोलने और वन्द करनेका विधान बृहत्कल्प सूत्र के चौदहवें और पन्द्रहवें सूत्रके भाष्यमे भी किया है वह यहा लिखा जाता है ।

“आह किंनत्कारणं येन द्वारं पिधीयते—

पडिणीय तेण सावय उभामग गोण साण सुणगादी

सोयं दुरद्वियासं दीहा पक्खी च सागरिये,, (२२६)

उद्घाटिते द्वारे पत्यनीक, प्रविश्य आहननमपद्रावण वा कुर्व्यात् । स्तेना शरीर-स्तेना वा प्रविशेषु एव श्यापदा, सिंह व्यात्रादय एद्भ्रामका पारदारिका गोवलीवर्दा श्यान प्राया तन एतेषा प्रविशेषु अनात्मवश क्षिप्तचित्तादि द्वारेऽपिहिते सति निर्गच्छेत् । शीत दुरधिसहं हिमकणानुसक्त निपतेत् दीर्घा वा सर्पा पक्षिणोवा काक फोत प्रभृतय प्रविशेषु सागारिकोवा कश्चिन् प्रतिश्रयमुद्घाटद्वार दृष्ट्वा प्रविश्य शयीत वा विश्रामवा गृहीयात्”

“एकौ क्कम्मि उठाणे चतुरो मासा हवति उग्घाया

अणोऽणोय दोसा विराहणा सयमाऽऽघाए,, (२२७)

द्वारमस्थगयना मातरोक्ता एकैश्चस्मिन् प्रत्यनीकप्रवेशादौ स्थानं चत्वारो मासः, उद्घातना प्रायश्चित्तं भवति । आजादयश्चात्र दोषा विराधनाच्च सयमात्मनिपया भावनीया यदुष्यन्त्यागो मासा उद्घाता इति तदेव नद्वादुःखं मगी कृत्य द्रष्टव्यम् अतोऽपवन्नाह अरि सावय पचत्थिसु शुरुगा सेसेसु होति चउलहुगा

